उत्तर-प्रदेश, बिहार, पंजाब तथा राजपूताना के
इन्टरमीजियेट तथा नॉर्मल के 'शिक्षा' एवं 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के
विद्यार्थियों के लिए अपूर्व पुस्तक

[मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त ग्रन्थ]

शिक्षा-मनोविज्ञान

[१ से ३५० पृष्ठ तक]

तथा

प्रारम्भिक मनोविज्ञान

[३५१ से ५३९ पृष्ठ तक]

EDUCATIONAL PSYCHOLOGY

Embodying

Principles of Elementary Psychology

[Revised, Enlarged and Illustrated with Special Reference to the Latest Syllabus of "Education" and "Educational Psychology and Elementary Psychology" Prescribed for Intermediate and Training Colleges and Normal & Basic Schools]

लेखिका
आचार्या चन्द्रावती लखनपाल, एम० ए०, बी०टी० (एम०पी०)
'विद्या-विहार', ४ बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून।

(लेखिका—'शिक्षा-शास्त्र', 'मदर-इण्डिया का जवाब' तथा 'स्त्रियों की स्थिति')

इ...
वैशा...
संवत्...

संशोधित तथा परिवर्धित
नवीन-संस्करण

मूल्य : पांच रुपया दस आना

शिक्षा-मनोविज्ञान

पर पारितोषिक में दिए गए ताम्र-पत्र की प्रति-लिपि

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

संवत् १९९१

श्री मंगलाप्रसाद पारितोषिक

रुपया १२००)

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के २४ वें अधिवेशन पर

श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल, एम० ए०, बी०

को

उनकी रचना

शिक्षा-मनोविज्ञान

के लिए सादर दिया गया

इन्दौर
शाख, सौर १०
संवत् १९९२

मोहनदास कर्मचन्द गांधी
सभापति

४. समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण

(Sociology and Child-Welfare)

लेखक—विद्यामार्तण्ड, कर्नल प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

भूमिका-लेखक—आचार्य जुगलकिशोर जी, शिक्षा तथा समाज-कल्याण मन्त्री, उत्तर-प्रदेश

इन्टरमीजियेट के बालिका-विद्यालयों में 'होम-साइन्स' (Home Science) नाम से एक विषय है जिसमें दो पर्चे हैं। एक पर्चा 'शरीर-रचना-विज्ञान' (Anatomy and Physiology) का है, दूसरा 'समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण' (Sociology and Child-Welfare) का है। पहले पर्चे पर तो अनेक पुस्तकें हैं, दूसरे पर अभी तक कोई पुस्तक नहीं थी। प्रो० सत्यव्रत जी की उक्त पुस्तक इस कमी को पूरा कर देती है। पुस्तक की विषय-सूची निम्नलिखित है जिसे देखकर स्पष्ट हो जायगा कि पाठ-विधि का कोई विषय इस सूची में से छूटा नहीं है :—

पुस्तक की विषय-सूची

पुस्तक की पृष्ठ-संख्या ३२६ है। बढ़िया कागज़ पर, मोनो टाइप में छपी सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया।

इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश सरकार से ८०० रु० पारितोषिक मिला है।

धारावाही हिन्दी में सचित्र

५. एकादशोपनिषद्

[मूल-सहित]

भूमिका-लेखक—श्री डा० राधाकृष्णन, उपराष्ट्रपति

लेखक—विद्यामार्तण्ड, कर्नल प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

आर्य-संस्कृति के प्राण उपनिषद् हैं। उपनिषदों के अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद सब अनुवादों से विशेषता रखता है। इस अनुवाद में हिन्दी को प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृत के बखेड़े में न पड़कर उपनिषद् का तत्व ग्रहण करना चाहे, वह सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ जाय। उसे कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरह की कोई भी उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरों में हिन्दी-भाग दिया गया है, यह हिन्दी-भाग धारावाही तौर पर दिया गया है, और जो-कोई हिन्दी तथा मूल संस्कृत की तुलना करना चाहे उसके लिए अंक देकर नीचे फुटनोट में संस्कृत भाग भी दे दिया गया है। फुटनोट में दिये संस्कृत-भाग को छोड़ कर जो सिर्फ़ हिन्दी-भाग पढ़ना चाहे वह धारावाही हिन्दी-भाग को पढ़ता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता जायगा, कहीं, किसी तरह का अटकाव नहीं आयगा। पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनुवाद में मक्खी-पर-मक्खी मारने की कोशिश नहीं की गई, विषय को खोल कर रख दिया गया है। साधारण पढ़े-लिखे लोगों तथा संस्कृत के अगाध पंडितों—दोनों के लिए यह नवीन ढंग का ग्रन्थ है। यही इस अनुवाद की मौलिकता है।

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ग्यारह मानी गई हैं। इन सभी उपनिषदों का धारावाही हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में मूल-सहित दे दिया गया है। पुस्तक को रोचक बनाने के लिए जगह-जगह चित्र भी दिये गये हैं। बढ़िया कपड़े की सजिल्द पुस्तक का मूल्य बारह रुपया।

यह पुस्तक अपने विषय की सर्वोत्तम है

६. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

लेखक—विद्यामार्तण्ड, कर्नल प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

'आर्य-संस्कृति' के विषय में आजकल बहुत चर्चा है। 'आर्य-संस्कृति' का नाम भी सभी लेते हैं, परन्तु यह संस्कृति क्या है, इसका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है, व्यावहारिक रूप क्या है—यह सब-कुछ जानना हो तो इस पुस्तक को पढ़िये। इस पुस्तक में 'आर्य-संस्कृति का केन्द्रीय-विचार', 'विचारों के संघर्ष में आर्य-संस्कृति का दृष्टि-कोण', 'निष्काम-कर्म', 'कर्म-का सिद्धान्त', 'आत्म-तत्व', 'स्वार्थ-परार्थ विवेचन में अहंकार तथा आत्म-तत्व', 'विश्व-बन्धुत्व का आधार आत्म-तत्व', 'जीवन-यात्रा के चार पड़ाव', 'नव-मानव का निर्माण', 'वर्ण-व्यवस्था का आध्यात्मिक आधार', 'भौतिकवाद बनाम अध्यात्मवाद'—आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पुस्तक अपने ढंग की एक है। दाम सजिल्द का चार रुपया।

इस पुस्तक पर ५०० रुपया पारितोषिक मिला है।

७. स्त्रियों की स्थिति

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०,
बी० टी० (एम०पी०)

इस पुस्तक की लेखिका को, इस पुस्तक के लिखने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर ५०० (पाँच सौ) रुपए का 'सेकसरिया-पुरस्कार' दिया था। इस पुस्तक में स्त्रियों सम्बन्धी प्रश्नों पर बिल्कुल मौलिक ढंग से विचार किया गया है। पुस्तक की विचार-धारा में एक प्रवाह है जो साहित्यिक पुस्तकों में कम देखने में आता है। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्री को, पति अपनी पत्नी को, भाई अपनी बहिन को भेंट दे, तो इससे बढ़कर दूसरी भेंट नहीं हो सकती। सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया।

८. ब्रह्मचर्य-संदेश

लेखक––विद्यामार्तण्ड, कर्नल प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

नवयुवकों को ब्रह्मचर्य-जैसे गम्भीर विषय पर सरल, सुन्दर भाषा में जो-कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। खण्डवा का 'कर्मवीर' पत्र लिखता है—"सबसे अधिक खोजपूर्ण, सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक ज्ञातव्य विषयों से भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।" इस पुस्तक में ८–१० चित्र आर्ट पेपर पर दिये गए हैं जिनका ब्रह्मचर्य जैसे कठिन विषय को समझने के साथ विशेष सम्बन्ध है। पुस्तक के तीन संस्करण समाप्त हो चुके हैं, यह चौथा संस्करण है। इस पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि गुजराती में इसके दो स्वतन्त्र अनुवाद हो चुके हैं। अंग्रेजी में ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं इसका अनुवाद किया था, जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं। अनेक नवयुवकों ने इस ग्रन्थ को पढ़कर लिखा है कि क्या ही अच्छा होता, कुछ दिन पहले यह पुस्तक मेरे हाथ पड़ जाती और मैं जीवन-मार्ग में पथ-भ्रष्ट होने से बच जाता। बड़े भाई को छोटे भाई के, पिता को पुत्र के और नवयुवकों के शुभ-चिन्तकों को अपने अभि-भावकों के हाथ में देने के लिए इससे उत्तम दूसरी पुस्तक नहीं है। कोई भी पुस्तकालय इस पुस्तक के बिना अधूरा है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य साढ़े चार रुपया।

विद्यामार्तण्ड, कर्नल प्रो० सत्यव्रत जी लिखित

समाज-शास्त्र पर हमारी अन्य पुस्तकें

९. समाजशास्त्र के मूल-तत्व	१२॥)
१०. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा	१२॥)
११. भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ	१२॥)
१२. मानव-शास्त्र	१२॥)
१३. सामाजिक विचारों का इतिहास	१२॥)

पता––विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी

विद्या-विहार, ४ बलबीर एवेन्यू, देहरादून

विषय-सूची

शिक्षा-मनोविज्ञान
(Educational Psychology)
(१ से ३५० पृष्ठ तक)

प्रारम्भिक-मनोविज्ञान
(Principles of Elementory Psychology)
(३५१ से ५३६ पृष्ठ तक)

चित्र-सूची

(ILLUSTRATIONS)

इस पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं उनकी सूची निम्न है :—

नवीन संस्करण की भूमिका

'मनोविज्ञान' तथा उसके साथ-साथ 'शिक्षा-मनोविज्ञान'—ये दोनों विकास के भिन्न-भिन्न क्रमों में से गुज़रे हैं। कोई समय था जब मनोविज्ञान का विषय 'आत्मा' (Soul) का अध्ययन करना था। उसके बाद यह समझा जाने लगा कि आत्मा एक अनिश्चित-सी सत्ता है, इसका अध्ययन वास्तव में 'मन' (Mind) का अध्ययन है, इसलिए आत्मा के अध्ययन का स्थान मनोविज्ञान में मन के अध्ययन ने ले लिया। परन्तु मन के अध्ययन का भी क्या अर्थ है? मन भी तो आत्मा की तरह ही अनिश्चित-सी सत्ता है। इसका परिणाम यह हुआ कि मन का स्थान 'चेतना' (Consciousness) के अध्ययन ने ले लिया। परन्तु चेतना अपने को किस प्रकार प्रकट करती है? चेतना प्रकट करती है—'तंतु-संस्थान' (Nervons System) के द्वारा। चेतना का अध्ययन तंतु-संस्थान के रूप में परिणत हो गया। तंतु-संस्थान का अध्ययन करते-करते मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षण शुरू किए। अब तक मनोविज्ञान के अध्ययन का तरीका 'अन्तःप्रेक्षण' (Introspection) का तरीका था, अब 'बाह्य-प्रेक्षण' (Observation and Experiment) के तरीके से, भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक-परीक्षणों से मनोविज्ञान का अध्ययन होना प्रारम्भ हो गया। तंतु-संस्थान का बाह्य-परीक्षणों से अध्ययन और आगे बढ़ा, तो मनोवैज्ञानिकों ने कहना शुरू कर दिया कि अब तक का मनोविज्ञान का सारा अध्ययन अनिश्चित-क्षेत्र में था, मनोविज्ञान का निश्चित क्षेत्र तो वही-कुछ है, जो दीखता है, जिसे मापा-तोला जा सकता है, जिसपर परीक्षण किए जा सकते हैं। यह क्षेत्र आत्मा, मन, चेतना, तंतु-संस्थान नहीं, परन्तु 'व्यवहार' (Behaviour) का, 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का क्षेत्र है, इसलिए अब मनोविज्ञान का क्षेत्र 'व्यवहार'

तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' का क्षेत्र हो गया—ऐसा क्षेत्र जिसमें भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हम कैसा व्यवहार करते हैं, इसका अध्ययन करना है। मनोविज्ञान की इन पलटियों के साथ-साथ शिक्षा-मनोविज्ञान ने भी पलटियाँ खाईं, और अब जहाँ मनोविज्ञान मानसिक-व्यवहार को अपने अध्ययन का विषय बनाए हुए है, वहाँ शिक्षा-मनोविज्ञान में भी बालक के मानसिक-व्यवहार को ही अध्ययन का विषय समझा जाता है।

मनोविज्ञान में इस नवीन दृष्टि-कोण के उत्पन्न हो जाने का परिणाम यह हुआ कि अब यह एक निश्चित दिशा की तरफ़ चल पड़ा है। मानसिक-व्यवहार यूं ही नहीं चलता। प्रकृति में जैसे विकास की प्रक्रिया हो रही है, वैसे मानसिक-क्षेत्र में भी विकास चल रहा है। यह विकास तो चल रहा है, परन्तु किधर ? विकास उन्नति की दिशा में जा रहा है। इस दृष्टि-कोण को सामने रखते हुए आज का मनोविज्ञान जहाँ 'व्यवहारवाद' (Behaviourism) की तरफ़ बढ़ रहा है, वहाँ यह एक नवीन मनोविज्ञान को, जिसका नाम 'विकास-मनोविज्ञान' (Developmental Psychology) कहा जा सकता है, जन्म दे रहा है। जैसा हमने शुरू में कहा, मनोविज्ञान के साथ-साथ शिक्षा-मनोविज्ञान भी अपना रुख़ बदलता रहता है। जब मनोविज्ञान सिर्फ़ आत्मा, मन आदि को अपने अध्ययन का विषय बनाये हुए था, तब अरस्तु का 'आत्मा की शक्तियों' (Faculty Psychology) का सिद्धान्त माना जाता था, यह समझा जाता था कि आत्मा में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं, और शिक्षा का काम बालक की तर्क, स्मृति, कल्पना आदि मानसिक-शक्तियों को अभ्यास द्वारा तेज़ करना है। जब मनोविज्ञान आत्मा, मन , चेतना आदि को छोड़कर आगे निकल गया, तब आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों का सिद्धांत भी छोड़ दिया गया, और 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) का सिद्धांत प्रमुख बन गया । यह समझा जाने लगा कि तर्क, स्मृति आदि आत्मा की शक्तियाँ नहीं, ये तो ज्ञान के भिन्न-भिन्न टुकड़ों का किन्हीं नियमों से सम्बद्ध हो जाना, आपस में जुड़ जाना मात्र

है। मनोविज्ञान के इन परिवर्तनों के साथ शिक्षा के क्षेत्र में विचारों ने इसी आधार पर पलटा खाया। अब मनोविज्ञान ने एक और पलटा खाया है, और यह विज्ञान 'विकास-मनोविज्ञान' (Developmental Psychology) की तरफ़ बढ़ता जा रहा है, और इसी पृष्ठ-भूमि में शिक्षा-मनोविज्ञान भी विकासोन्मुखी रुख धारण करता जा रहा है। इसीलिए उत्तर-प्रदेश तथा अन्य प्रान्तों के 'शिक्षा-बोर्डों' ने 'शिक्षा-विषय' की पाठ-विधि का निर्माण करते हुए 'विकास-मनोविज्ञान' (Devolopmental Psychology) को प्रमुख स्थान दिया है, और 'शिक्षा'-विषय के पाठ्यक्रम को 'विकास' (Development) के साँचे में ढाल दिया है। हमने, इसी दृष्टि से, इस पुस्तक के सभी अध्यायों को 'विकास-मनोविज्ञान' (Developmental Psychology) की ही दृष्टि से लिखा है। जिससे प्रत्येक विषय को 'विकास' (Devolopment) की पृष्ठ-भूमि में समझा जा सके। पुस्तक की विषय-सूची पर दष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

'शिक्षा-मनोविज्ञान' की रूप-रेखा को दिमाग़ में स्पष्ट बैठाने के लिए 'शिक्षा-मनोविज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले सब मनोवैज्ञानिक-सम्प्रदायों को विद्यार्थियों के लिए जानना आवश्यक है। इनके बिना जाने विद्यार्थी का 'शिक्षा-मनोविज्ञान'-सम्बन्धी ज्ञान अधूरा और उथला-उथला रहता है, उसके दिमाग़ में बात गहराई तक नहीं बैठती। इसी दृष्टि से पुस्तक में 'सत्तावाद' (Existentialism), 'व्यवहारवाद' (Behaviourism), 'मनोविश्लेषणवाद' (Psycho-analysis), 'प्रयोजनवाद' (Purposivism) तथा 'जेस्टाल्टवाद' (Gestalt-school) का वर्णन कुछ विस्तार से दिया गया है। इन वादों को समझ लेने से आधा 'शिक्षा-मनोविज्ञान' तो खुद-ब-खुद समझ आ जाता है, इसलिए इनका वर्णन करना हमने आवश्यक समझा है।

पुस्तक को दो भागों में बाँटा गया है—'शिक्षा-मनोविज्ञान' तथा 'प्रारम्भिक-मनोविज्ञान'। प्रारम्भिक-मनोविज्ञान के जो विषय 'शिक्षा-

मनोविज्ञान से मिले-जुले हैं, उन सबका संक्षिप्त परिचय प्रारम्भिक-मनोविज्ञान में दे दिया गया है, और मनोविज्ञान के मुख्य-मुख्य विषयों को शिक्षा की दृष्टि को सम्मुख रखते हुए लिखा गया है।

पुस्तक के अन्तिम अध्याय में शिक्षा-मनोविज्ञान-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य सोलह परीक्षण दे दिए गए हैं, जो इस विषय में विद्यार्थी की रुचि को आगे बढ़ाये रखने में सहायक सिद्ध होंगे—ऐसी पूरी आशा है।

पुस्तक में जगह-जगह ३८ चित्र दिए गये हैं। प्रायः प्रत्येक मुख्य शिक्षा-विज्ञ का चित्र पुस्तक में आ गया है। विषय को समझाने के लिए डायग्राम भी दिए गए हैं।

पुस्तक को अप-टु-डेट बनाने के लिए बहुत-सा मैटर बढ़ाया गया है तथा 'शिक्षा-मनोविज्ञान के कुछ परीक्षण'—शीर्षक प्रकरण को अधिक स्पष्ट करने के लिए ५ नये चित्र दिये गये हैं एवं कुछ परीक्षण पुनः लिखे गये हैं। इससे यह अध्याय अधिक स्पष्ट होगया है।

पुस्तक के अन्त में 'शब्द-सूची' तथा 'विषय-सूची' दे दी गई है, जो हर विषय को पुस्तक में ढूंढने में सहायक सिद्ध होगी।

अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद ने इस पुस्तक को शिक्षा-मनोविज्ञान की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर इस पर १२००) रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक देकर सम्मानित किया इसके लिए मैं सम्मेलन की आभारी हूं।

आशा है, पुस्तक इंटरमीजिएट के 'शिक्षा' विषय के छात्रों, नार्मल स्कूलों के विद्यार्थियों तथा अन्य शिक्षा-प्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

विद्या-विहार
४ बलबीर रोड
देहरादून

—चन्द्रावती लखनपाल

१

मनोविज्ञान तथा शिक्षा का सम्बन्ध

(RELATION OF PSYCHOLOGY AND EDUCATION)

'मनोविज्ञान' का 'शिक्षा' से क्या संबंध है—इसे समझने के लिए हमें युरोप के 'शिक्षा' के इतिहास पर एक सरसरी दृष्टि डालना आवश्यक है। इससे हमारे सम्मुख यह स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार 'मनोविज्ञान' की भिन्न-भिन्न लहरों के परिणामस्वरूप 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की स्थापना हुई।

प्रारम्भ में शिक्षा 'ह्यूमेनिस्टिक स्टडीज़' को कहते थे—

युरोप में, सोलहवीं शताब्दी में, ग्रीक तथा रोमन भाषा और साहित्य का पढ़ना ही 'शिक्षा' का उद्देश्य समझा जाता था। उस समय के लोगों का कथन था कि मानव-जाति की उन्नति के लिए इन भाषाओं का, और इन भाषाओं में पाये जाने वाले साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उनका पढ़ना ही वास्तविक शिक्षा है। वे लोग सिसरो (१०६–४३ ई० पू०) के ग्रन्थों को पाठशालाओं में पढ़ाते थे, ओविड (४३ ई० पू०–१८ ई० पू०) तथा टेरेन्स (१९४–१५८ ई० पू०) की कविताओं में विद्यार्थियों को लगाए रखते थे। क्योंकि वे इन भाषाओं तथा इनके साहित्य के शिक्षण को मानव-जाति की उन्नति के लिए आवश्यक समझते थे, इसलिए वे ग्रीक तथा लैटिन के अध्ययन को 'मनुष्योपयोगी शिक्षा'—'ह्यूमेनिस्टिक स्टडीज़' (Humanistic Studies)—का नाम देते थे। 'ह्यूमेनिस्टिक स्टडीज़'—शब्द ने शिक्षा-विज्ञान में एक पारिभाषिक रूप धारण कर लिया है, इसका अर्थ हो गया है, ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं और उनके साहित्य का अध्ययन। जो लोग ग्रीक तथा लैटिन के अध्ययन पर इस प्रकार बल देते थे, उन्हें शिक्षा-विज्ञान की पुस्तकों में 'ह्यूमेनिस्ट' कहा जाता है। ऐसे लोगों में 'इरेस्मस (१४६७–१५३६) का नाम विशेष

उल्लेखयोग्य है। उसका कहना था, अगर मेरे पास रुपया होगा, तो पहले मैं ग्रीक-पुस्तकें खरीदूंगा, फिर कुछ बच जायगा, तो कपड़ों की फ़िक्र करूंगा।
प्रतिक्रिया के रूप में 'यथार्थवाद' आया—

'ह्यू मेनिस्ट' लोगों के इस प्रकार ग्रीक तथा लैटिन से चिपटने का परिणाम यह हुआ कि इस विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। इस प्रतिक्रिया को शिक्षा-विज्ञान के इतिहास में 'यथार्थवाद'—'रीयलिज्म' (Realism)—कहा जाता है। 'यथार्थवाद' के मुख्य तौर पर तीन भाग किए जाते हैं :—

'यथार्थवाद' के तीन रूप—

१. 'ह्यू मेनिस्टिक यथार्थवाद' (Humanistic Realism)
२. 'सामाजिक यथार्थवाद' (Social Realism)
३. 'इन्द्रिय यथार्थवाद' (Sense Realism)

(१) 'ह्यू मेनिस्टिक-यथार्थवाद'—यह 'ह्यू मेनिज्म' के विरुद्ध प्रतिक्रिया तो था, परंतु फिर भी यह वाद 'ह्यू मेनिज्म' के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटता था। इन दोनों में यह समानता थी कि दोनों के विचारों में ग्रीक तथा लैटिन का अध्ययन मनुष्य-समाज की उन्नति में परम सहायक था। दोनों मानते थे कि इन भाषाओं में मानव-जाति के उच्च-से-उच्च विचार भरे पड़े हैं। हाँ, इन भाषाओं के अध्ययन के उद्देश्य के सम्बन्ध में दोनों का विचार भिन्न-भिन्न था। 'ह्यू मेनिस्ट' लोग ग्रीक तथा रोमन-साहित्य पढ़ाते हुए विद्यार्थी को ग्रीक तथा रोमन ही बना देना चाहते थे, परन्तु 'ह्यू मेनिस्ट-यथार्थवादी' केवल इतना चाहते थे कि ग्रीक तथा रोमन पढ़कर विद्यार्थी उन भावों तथा आदर्शों का मनन करे जो उक्त साहित्य का निर्माण करने वालों के हृदय में काम कर रहे थे। इस श्रेणी के

जॉन मिल्टन २१ वर्ष की आयु में (१६०८–१६७४)

विद्वानों में रेबेलियस (१४८३–१५५३) तथा जॉन मिल्टन (१६०८–१६७४) का नाम विशेष उल्लेखयोग्य है।

(२) 'सामाजिक-यथार्थवाद'—इस वाद का कथन था कि पढ़-लिखकर आदमी निरा किताबों का कीड़ा रहा, तो उस पढ़ाई का क्या फ़ायदा। हमारी पढ़ाई से हमारा इतना मानसिक विकास हो जाना चाहिए कि हम दुनिया में कार्य-कुशल व्यक्ति समझे जाँय, निरे ग्रीक और लैटिन बोलने लायक़ ही न रहें। ये लोग जीवन को क्रियात्मक-रूप में सफल बनानेवाली शिक्षा पर अधिक ज़ोर देते थे। इस विचार के लोगों का कथन था कि घूमने-फिरने से, दुनिया को देखने से, भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के सम्पर्क में आने से किताबों की अपेक्षा अधिक उपयोगी शिक्षा प्राप्त होती है। इस विचार के फैलाने वालों में मौन्टेन (१५३३–१५९२) मुख्य है।

माइकेल डी मौन्टेन
(१५३३–१५९२)

(३) 'इन्द्रिय-यथार्थवाद'—अभी कहा गया कि 'यथार्थवाद' 'ह्यूमेनिज़्म' के प्रति प्रतिक्रिया का परिणाम था। यह प्रतिक्रिया उक्त दो प्रकार—'ह्यूमेनिस्टिक-यथार्थवाद' तथा 'सामाजिक-यथार्थवाद'—के रूप में तो हुई ही थी, परन्तु इतना ही काफ़ी नहीं था। इस प्रतिक्रिया का उग्र रूप 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense Realism) में हुआ। 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' में उक्त दोनों प्रकार का 'यथार्थवाद' (Realism) शामिल था, परन्तु उसके साथ-साथ इसमें कुछ अधिकता भी थी।

वर्तमान 'नवीन शिक्षा-विज्ञान' में जो-जो भी लहरें दिखलाई दे रही हैं, उन सब का सूत्रपात सत्रहवीं शताब्दी में 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense Realism) द्वारा ही हुआ। 'इन्द्रिय-यथार्थवाद'-शब्द अपने अभिप्राय को स्वयं स्पष्ट कर देता है। इसका अभिप्राय यह है कि हमें शिक्षा में

'स्मृति' द्वारा अधिक काम न लेकर 'इन्द्रियों' (Senses) द्वारा—आँख, कान, हाथ, पैर द्वारा—अधिक लेना चाहिए। अब तक शिक्षा बहुत-कुछ स्मृति का, रटने का, विषय बनी हुई थी, इन्द्रियों से न के बराबर काम लिया जाता था। विद्यार्थियों को बहुत-से शब्द याद होते थे, परन्तु उन्होंने उन शब्दों से अभिप्रेत वस्तुओं को कभी न देखा होता था। वे अक्सर ग्रीक और लैटिन रटा करते थे, उन्हें विज्ञान आदि से परिचय न होता था। सत्रहवीं शताब्दी में जब विज्ञान की बातें फैलने लगीं, कॉपर्निकस (१४७३–१५४३) ने सूर्य को विश्व का केन्द्र सिद्ध किया, गैलिलियो (१५६४–१६४२) ने दूरवीक्षण-यन्त्र का आविष्कार किया, हार्वे (१५७८-१६५७) ने शरीर में रुधिर की गति का पता लगाया, न्यूटन (१६४२–१७२७) ने पृथिवी की गुरुत्व-शक्ति का प्रतिपादन किया, तब एकदम शिक्षा-विज्ञों में भी हलचल मच गई। अब तक तो यह समझा जाता था कि शिक्षा का काम लैटिन और ग्रीक पढ़ा देना है, विद्यार्थियों को जितना हो सके उतना रटवा देना है, परन्तु विज्ञान की बढ़ती ने उनके विचारों में परिवर्तन कर दिया। संस्कृत की दृष्टि से ऐसी ही विचार-धारा भारत में थी और संस्कृत पढ़ाना सब-कुछ पढ़ा देना माना जाता था।

'इन्द्रिय-यथार्थवाद' का शिक्षा पर प्रभाव—

विज्ञान की इस बाढ़ का शिक्षा-विज्ञान पर दो तरह का असर हुआ। पहला असर तो यह था कि शिक्षा-विज्ञान का रुख लैटिन और ग्रीक (Classics) से हटकर विज्ञान (Sciences) पढ़ाने की तरफ़ हो गया; दूसरा असर यह था कि शिक्षा-विज्ञों का ध्यान शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology) की तरफ़ भी जाने लगा। उन्होंने देखा कि प्रकृति की गोद में स्वयं पाई हुई शिक्षा स्कूलों की कृत्रिम शिक्षा से कहीं बढ़कर थी। कॉपर्निकस, गैलिलियो तथा हार्वे के आविष्कार स्कूलों तथा कालेजों के कृत्रिम वायुमण्डल में नहीं हुए थे। उन्होंने सोचना शुरू किया कि विद्यार्थी के मन पर किताबों का बोझ लादने के बजाय उसके मन का क्रमिक विकास ही तो कहीं शिक्षा का मूल-मंत्र नहीं है? ये दो बातें 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense Realism) की निचोड़ थीं, और इन्हीं दोनों का विकास होते-होते आज शिक्षा-विज्ञान इतनी उन्नति तक पहुँचा है। इसमें

सन्देह नहीं कि 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का प्रारम्भ 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' के साथ ही समझना चाहिए, परन्तु अभी सत्रहवीं शताब्दी में जब 'मनोविज्ञान' की ही बहुत साधारण अवस्था थी, 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की उन्नत अवस्था तो कहाँ हो सकती थी। इन 'इन्द्रिय-यथार्थ-वादियों' में मुख्य बेकन (१५६१–१६२६) तथा कौमेनियस (१५९२–१६७०) माने जाते हैं।
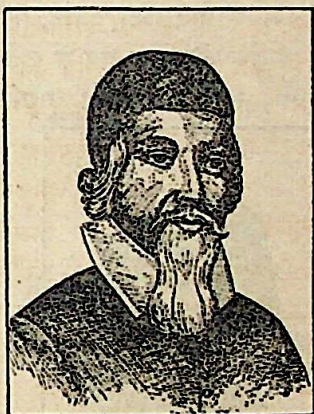
कौमेनियस
(१५९२–१६७०)

मनोविज्ञान तथा शिक्षा का सम्बन्ध—

जैसा अभी कहा गया है, 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' ने शिक्षा के क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी। अब तक अध्यापक के लिए भिन्न-भिन्न विषयों का अगाध पंडित होना काफ़ी समझा जाता था। वह लैटिन का पंडित हो, ग्रीक का विद्वान् हो, गणित में पारंगत हो, भूगोल का आचार्य हो, बस, काफ़ी था। अब तक शिक्षा का मैदान 'शिक्षक' के ही हाथ में था, उसमें 'बालक' को कोई न पूछता था। यह नहीं समझा जाता था कि अगर 'शिक्षक' विद्वान् तो है, परन्तु 'बालक' की प्रकृति से, उसकी मानसिक रचना से परिचित नहीं है, तब भी वह उत्तम शिक्षक का काम कर सकेगा या नहीं? 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' ने जहाँ और बहुत-कुछ किया, वहाँ बालकों के मनोविज्ञान की तरफ़ भी शिक्षा-विज्ञों का ध्यान आकर्षित किया। 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करके पासा ही पलट दिया, शिक्षा के सम्पूर्ण प्रश्न को दूसरा ही रूप दे दिया। शिक्षा के क्षेत्र में 'उद्देश्य' (Aim), 'विधि' (Method), 'शिक्षक' (Teacher), 'विषय' (Subject), 'बालक' (Child)—इन सब में पहले 'शिक्षक' सबसे अधिक मुख्य था, अब 'बालक' सबसे अधिक मुख्य हो गया।

रूसो, लॉक, पैस्टेलॉज़ी, हर्बार्ट, फ्रिबल—

बालक की तरफ़ सब से पहले 'इन्द्रिय-यथार्थवादी' रूसो (१७१२–१७७८) ने ध्यान खींचा। यद्यपि जॉन लॉक (१६३२-१७०४) ने भी बालक को ध्यान में रखते हुए शिक्षा-विषयक एक पुस्तक लिखी थी, तो भी बालक के मनोविज्ञान को सामने रखते हुए, 'शिक्षक' तथा 'पाठ्य-विषय' आदि की तरफ़ से खींचकर 'बालक' पर शिक्षा-विज्ञों का ध्यान केन्द्रित करने का श्रेय रूसो को ही है। रूसो मनोविज्ञानी नहीं था, न उसे बालकों को शिक्षा देने का कोई विशेष अनुभव था, तो भी उसने 'बालक' को शिक्षा का केन्द्र बनाकर शिक्षा-विज्ञान को सदा के लिए अपना आभारी बना लिया। रूसो के इन्हीं विचारों को लेकर, उन्हें संशोधित तथा परिवर्धित करने का काम पैस्टेलॉज़ी (१७४६–१८२७), हर्बार्ट (१७७६–१८४१) तथा फ्रिबल (१७८२–१८५२) ने किया। इन तीनों शिक्षा-विज्ञों ने शिक्षा के क्षेत्र में मनो-विज्ञान का खूब इस्तेमाल किया। इन तीनों के शिक्षा-सम्बन्धी परीक्षण मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आश्रित थे। रूसो ने तो 'एमील' (Emile) नामक ग्रन्थ ही लिखा था, परन्तु पैस्टेलॉज़ी ने कई शिक्षा-संस्थाएँ खोलकर 'बालक' के सम्बन्ध में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को क्रिया-त्मक रूप देने का यत्न किया। अब से शिक्षक के लिए यह जानना जरूरी हो गया कि बालक का मानसिक विकास किस प्रकार होता है, उसमें क्या-क्या शक्तियाँ हैं, और उन शक्तियों को किस प्रकार शिक्षा देने के काम में लाया जा सकता है। पहले तो यह समझा जाता था कि 'बालक' एक 'छोटा मनुष्य' है, जो नियम मनुष्य पर लागू होते हैं, वही बालक पर भी लागू होते हैं, परन्तु 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की लहर ने

रूसो
(१७१२–१७७८)

इन विचारों को एकदम बदल दिया। बालक एक छोटा मनुष्य नहीं, परन्तु मनुष्य बनने के रास्ते पर है, उसे मनुष्य बनना है, इसलिए उसका मानसिक-विकास एक प्रौढ़ व्यक्ति के मानसिक-विकास से सर्वथा भिन्न होगा। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की यह लहर १८वीं शताब्दी में उठी, और १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों में लगातार वेग ही पकड़ती गई। पैस्टेलॉज़ी ने कहा कि शिक्षक का सबसे मुख्य कर्तव्य बालक के मानसिक विकास के नियमों का अध्ययन करके, उन नियमों के अनुकूल चलकर, उनका सहारा लेकर, शिक्षा देना है। इस प्रकार शिक्षा देने का काम ही 'नवीन शिक्षा-विज्ञान' है। हर्बार्ट तथा फ्रिबल ने उक्त सिद्धान्त का 'शिक्षा-विज्ञान' में पूरा-पूरा प्रयोग किया। अगर आज पैस्टेलॉज़ी जीवित होकर शिक्षा-विज्ञान का निरीक्षण करे, तो उसकी आत्मा यह देखकर गद्‌गद हो जाए कि जिस बीज को उसने बोया था, वह अनुकूल परिस्थिति पाकर, लहलहाता वृक्ष बन गया है। आज 'शिक्षा-विज्ञान' 'मनोविज्ञान' के साथ घुल-मिल गया है, और दोनों के मेल से 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की उत्पत्ति हो गई है। आज जो शिक्षक 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को नहीं जानता वह शिक्षा की दृष्टि से सर्वथा असफल समझा जाता है। 'नवीन शिक्षा-विज्ञान' (New Education) में 'शिक्षा-मनोविज्ञान' (Educational Psychology) के सिद्धान्त प्रबल रूप से काम करते हुए दिखाई दे रहे हैं। मॉन्टीसरी शिक्षा-पद्धति, डाल्टन शिक्षा-पद्धति, प्रोजेक्ट शिक्षा-पद्धति आदि सब प्रकार की शिक्षा-पद्धतियों में 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के नियम ही आधार में बैठे हुए हैं। इस समय 'शिक्षा' का प्रश्न बहुत-कुछ 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का प्रश्न बन गया है।

पैस्टेलॉज़ी
(१७४६–१८२७)

भिन्न-भिन्न मनोविज्ञानों के साथ शिक्षा-मनोविज्ञान का सम्बन्ध—

'शिक्षा-मनोविज्ञान' का आधार 'मनोविज्ञान' ही है। इस समय 'मनोविज्ञान' के नए-नए विभाग उत्पन्न हो रहे हैं। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' उन सब का उपयोग करने लगा है। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' 'मनोविज्ञान' की किन-किन शाखाओं से सहायता ले रहा है, इसे समझने के लिए मनोविज्ञान के आजकल जो नए-नए विभाग उत्पन्न हो गए हैं, उन्हें समझ लेना आवश्यक है।

मनोविज्ञान के मुख्य तौर पर दो भाग किये जाते हैं—'स्वस्थ' (Normal) तथा 'अस्वस्थ' (Abnormal)। 'स्वस्थ-मनोविज्ञान' में स्वस्थ मनष्यों तथा पशुओं की मानसिक प्रक्रिया तथा शारीरिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है; 'अस्वस्थ-मनोविज्ञान' का विषय रुग्णावस्था में मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया तथा व्यवहार कैसा हो जाता है, इसका अध्ययन करना है। 'स्वस्थ-मनोविज्ञान' के निम्न विभाग किये जाते हैं :—

१. शुद्ध-मनोविज्ञान (Pure Psychology)
२. वैयक्तिक-मनोविज्ञान (Individual Psychology)
३. समूह-मनोविज्ञान (Group Psychology)
४. सामाजिक-मनोविज्ञान (Social Psychology)
५. क्रियात्मक-मनोविज्ञान (Applied Psychology)

'अस्वस्थ' मनुष्यों के अध्ययन से जिस मनोविज्ञान ने जन्म लिया है, उसके दो भाग किये जाते हैं :—

१. अस्वस्थ व्यक्तियों के सम्वन्ध का मनोविज्ञान
२. अस्वस्थ व्यक्ति-समहों के सम्बन्ध का मनोविज्ञान

'स्वस्थ-मनोविज्ञान' में पांचवाँ स्थान हमने 'क्रियात्मक-मनोविज्ञान' को दिया है। इसके निम्न विभाग समझे जाते हैं :—

१. शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology)
२. व्यावसायिक-मनोविज्ञान (Industrial Psychology)
३. धर्म-मनोविज्ञान (Psychology of Religion)

उक्त दो प्रकार के—'स्वस्थ' तथा 'अस्वस्थ'—मनोविज्ञान के अतिरिक्त एक तीसरे मनोविज्ञान ने जन्म लिया है, जिसे 'पशु-मनोविज्ञान'

(Animal Psychology) अथवा 'तुलनात्मक मनोविज्ञान' (Comparative Psychology) कहते हैं। इस विज्ञान को अमेरिका में थॉर्नडाइक तथा वाटसन ने बहुत उन्नति दी है। पाठक इस पुस्तक को ज्यों-ज्यों पढ़ेंगे, उन्हें पता चलता जायगा कि पशुओं के संबंध में किए गए परीक्षणों से 'शिक्षा' विषय पर कितना भारी प्रकाश पड़ा है।

'पशु-मनोविज्ञान' के अतिरिक्त, 'शिक्षा-मनोविज्ञान' खास तौर पर 'शुद्ध-मनोविज्ञान', 'समूह-मनोविज्ञान', 'वैयक्तिक-मनोविज्ञान' तथा 'अस्वस्थ-मनोविज्ञान' से बहुत सहायता लेता है। 'शुद्ध-मनोविज्ञान' मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया पर, उसके स्वभाव पर प्रकाश डालता है। बालक में क्या-क्या 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) काम कर रही हैं, इन प्राकृतिक-शक्तियों को किस प्रकार शिक्षा के काम में लाया जा सकता है, यह सब सहायता 'शुद्ध-मनोविज्ञान' से मिलती है। ये प्राकृतिक-शक्तियाँ शिक्षा की दृष्टि से इतनी आवश्यक हैं कि इनका हम एक पृथक् अध्याय में वर्णन करेंगे। इसी प्रकार, हम देखते हैं, वालक की शिक्षा एक समूह में होती है। वह प्रतिदिन स्कूल में जाता है और अन्य बालकों से मिलता-जुलता है। समूह में रहकर वालक के मन पर क्या-क्या प्रभाव पड़ते हैं, वह समूह से किस प्रकार प्रभावित होता है, और समूह को किस प्रकार प्रभावित करता है, इन बातों पर 'समूह-मनोविज्ञान' से प्रकाश पड़ता है। शिक्षा में बालकों की भिन्न-भिन्न वैयक्तिक विशेषताएँ भी अपना स्थान रखती हैं। लड़के-लड़कियों के स्वभाव में भेद है या नहीं, किस लड़के की मानसिक योग्यता कितनी है, दूसरे लड़कों के मुक़ाबिले में उसका क्या स्थान है---इत्यादि विषय ऐसे हैं, जिन पर 'वैयक्तिक-मनोविज्ञान' के परीक्षणों से 'शिक्षा-मनोविज्ञान' ने बहुत लाभ उठाया है। रोगियों की मानसिक रचना के अध्ययन से तो 'शिक्षा-मनोविज्ञान' ने अपने कई प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया है। भिन्न-भिन्न इच्छाओं को मन में दबा रखने से मनुष्य की मानसिक प्रक्रिया तथा उसके व्यवहार में कई परिवर्तन आ जाते हैं। कई बालक प्रारम्भ से ही मानसिक दृष्टि से रोगी या पिछड़े हुए कहे जा सकते हैं। 'अस्वस्थ-मनोविज्ञान' ने इन विषयों पर अनेक

परीक्षण किए हैं। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के लिए ये सब परीक्षण बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं।

'शिक्षा-मनोविज्ञान' बहुत-कुछ बालक की प्रकृति, उसकी प्रवृत्तियों, उसके स्वभाव, उसके व्यवहार आदि का अध्ययन है, और आज हम ऐसी स्थिति में पहुँच चुके हैं कि उक्त सब प्रकार के मनोविज्ञान उसकी दिल खोलकर सहायता कर रहे हैं।

शिक्षा-मनोविज्ञान का उद्देश्य—

शिक्षा में शिक्षक, बालक, शिक्षा का उद्देश्य, अध्यापन-विधि, विषय, अध्यापन का स्थान आदि उसके अंग गिने जाते हैं। इनमें पहले 'शिक्षक' तथा 'विषय' मुख्य समझे जाते थे, अब 'शिक्षा-विज्ञान' के पिछले इतिहास ने इन सब में 'बालक' को मुख्य बना दिया है। बालक के मुख्य होने के साथ-साथ 'अध्यापन-विधि' भी मुख्य हो गई है। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का काम 'अध्यापन-विधि' (Method of Teaching) पर प्रकाश डालना है। जब शिक्षा में 'बालक' का स्थान मुख्य है, 'शिक्षक' का नहीं, तब हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम बालक के मनोविज्ञान को खूब अच्छी तरह समझें। इस दृष्टि से 'अध्यापन-विधि' का मुख्य आधार मनोविज्ञान ही है। कई लोग शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान को इतना महत्त्व देते हैं कि उनके अनुसार शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण करना भी मनोविज्ञान का काम है। परन्तु हम इस बात को नहीं मान सकते। शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण तो दर्शन-शास्त्र करेगा। मनुष्य-जीवन का उद्देश्य क्या है, इस प्रश्न के साथ शिक्षा का उद्देश्य बंधा हुआ है, जो दर्शन-शास्त्र का काम है। मनोविज्ञान से तो अध्यापन-विधि को मनोवैज्ञानिक नियमों पर ढाला जा सकता है। इस प्रकार बालक की मानसिक 'प्रक्रिया' तथा उसके 'व्यवहार' के मनोवैज्ञानिक नियमों का अध्ययन करना ही 'शिक्षा-मनोविज्ञान' है, शिक्षा के 'उद्देश्य' का निर्धारण करना इसका काम नहीं है।

प्रश्न

(१) शिक्षा के इतिहास में 'ह्यूमेनिस्टिक स्टडीज़' तथा 'रीयलिज़्म' से क्या समझते हो ?

(२) 'रीयलिज्म' (यथार्थवाद) के तीन विभागों पर प्रकाश डालो।
(३) 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense Realism) से 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का प्रारम्भ हुआ—इस कथन की व्याख्या करो।
(४) भाषा का पण्डित होना ही शिक्षा नहीं है—इस कथन पर अपने विचार प्रकट करो।
(५) मनोविज्ञान की 'शिक्षा' को क्या देन है ?
(६) रूसो, जॉन लॉक, पैस्टेलॉज़ी, फ्रिबल—इनके नाम शिक्षा के क्षेत्र में क्यों प्रसिद्ध हैं ?
(७) पशु-मनोविज्ञान के साथ शिक्षा का क्या सम्बन्ध है ?
(८) शिक्षा-मनोविज्ञान का उद्देश्य क्या है ?

२

ऐतिहासिक दृष्टि से 'मनोविज्ञान' के तत्वों का क्रमिक विकास

(HISTORICAL DEVELOPMENT OF PRINCIPLES OF PSYCHOLOGY)

पिछले अध्याय में कहा गया है कि 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का विकास 'मनोविज्ञान' के विकास के आधार पर हुआ। मूल विज्ञान 'मनोविज्ञान' है। उसी की खोजी हुई बातों का शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करके 'शिक्षा-मनोविज्ञान' की नींव डाली गई है। शुरू-शुरू में 'मनोविज्ञान' का बहुत प्रारम्भिक अवस्था में होना लाज़मी था। ज्यों-ज्यों 'मनोविज्ञान' तरक्की करता गया, त्यों-त्यों 'शिक्षा-मनोविज्ञान' भी उन्नति की ओर पग बढ़ाता गया। इस अध्याय में 'मनोविज्ञान' के इसी क्रमिक-विकास का वर्णन किया जायगा।

ज्ञान के सम्बन्ध में 'इन्द्रिय' तथा 'आत्मा'—

युरोप में ईसा से छठी शताब्दी पूर्व तक शरीर से भिन्न आत्मा की पृथक् सत्ता मानने का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था। छठी शताब्दी तक यही माना जाता था कि शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय स्वतंत्र-रूप से विषय का ज्ञान करती है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के ज्ञान को मिलाने वाली आत्मा-जैसी किसी शक्ति को अभी वे मानने नहीं लगे थे। शरीर में जब तक साँस है, प्राणी जिन्दा है; जब फूँक निकल गई, तो प्राणी भी मर गया। उस समय के लोग उतना ही मानते थे, जितना मोटी तौर से दिखाई देता है। वे समझते थे कि मृत्यु के समय साँस मुख से निकल जाता है, या वह शरीर के घावों में से उनके खुलने से निकल जाता है। छठी शताब्दी के बाद से यह माना जाने लगा कि देखने-सुनने का काम बाह्य-इन्द्रियों

(Senses) का नहीं, आत्मा का है। भिन्न-भिन्न 'इन्द्रियाँ' विषयों का ज्ञान लेकर 'आत्मा' के सुपुर्द कर देती हैं। इस समय 'आत्मा' के विषय में जो चर्चा शुरू हुई, उसे मनोविज्ञान का प्रारम्भ समझना चाहिए। पहले-पहल यह चर्चा ग्रीस देश में चली।

१. पाँचवीं सदी ई० पू० से सोलहवीं शताब्दी तक

सुकरात तथा 'अन्त:प्रक्षण'—

ईसा से ५वीं शताब्दी पूर्व सुकरात (४६९–३९९ ई० पू०) हुआ। वह भिन्न-भिन्न विषयों पर विवाद किया करता था। उसका कहना था कि लोग पर्याप्त 'अन्त:प्रेक्षण' (Introspection) नहीं करते। अगर आत्मा है, और आत्मा में विचार रहते हैं, तो उन्हें जानने का सबसे सहज तरीका 'अन्त:प्रेक्षण' का ही हो सकता है। वह लोगों से बहस करता था, और बहस में उन्हें विश्वास करा देता था कि जिन बातों को वे समझते हैं कि वे मान रहे हैं, वास्तव में वे उन्हें अपने भीतर ही नहीं मान रहे होते। उसकी शिकायत थी कि लोग अपने ही विचारों को जानने के लिए पर्याप्त 'अन्त:प्रेक्षण' नहीं करते, यदि करें, तो उन्हें बहुत-सी नई बातें पता चलें। सुकरात ने पहले-पहल 'अन्त:प्रेक्षण' की प्रक्रिया को प्रचलित करके उसे दार्शनिक विचार का आधार बना दिया। तभी से मनोविज्ञान में भी अन्त:प्रेक्षण की प्रक्रिया का ही सदियों तक राज्य रहा।

प्लेटो तथा मनोविज्ञान—

प्लेटो (४२९–३४७ ई० पू०) ने भी मनोविज्ञान-विषयक अपने कुछ विचार प्रकट किये हैं। वह आत्मा की तीन क्रियाएँ मानता था। वे थीं—भरण-पोषण की क्रिया (Nutritive function); अनुभूति की क्रिया (Sensitive function); बुद्धि की क्रिया (Rational function)। 'भरण-पोषण' वनस्पतियों में पाया जाता है, 'अनुभूति' पशुओं में पाई जाती है, 'बुद्धि' मनुष्य में मिलती है। इन सब में जो जीवन जितना ऊँचा है, उसमें उतने अधिक गुण पाए जाते हैं; जो जितना नीचा है, उसमें उतने ही कम गुण हैं। वनस्पति में केवल भरण-पोषण है, पशुओं में भरण-पोषण तथा अनुभूति दोनों हैं, मनुष्य में भरण-पोषण,

अनुभूति तथा बुद्धि तीनों हैं। मनुष्य में आत्मा की तीनों क्रियाएँ दीख पड़ती हैं, अतः वह प्राणि-जगत् में सब से ऊँचा है। शिक्षा का काम आत्मा में छिपी हुई इन तीनों शक्तियों का विकास करना है।

अरस्तू तथा मनोविज्ञान—

प्लेटो ने मनोविज्ञान पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। मनोविज्ञान के संबंध में उसके कथन उसके ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उसके मनोविज्ञान-संबंधी विचारों का पता लगाने के लिए उसके कथनों का सग्रह करना पड़ता है। पश्चिम में मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय अरस्तू (३८४—३२२ ई० पू०) को दिया जाता है। अरस्तू का ग्रन्थ 'डी एनिमा' (De Anima) मनोविज्ञान का ही ग्रन्थ है, और १८वीं शताब्दी के अन्त तक युरोप में मनोविज्ञान-संबंधी जो विचार पाठ-शालाओं में पढ़ाए जाते रहे, उनका उद्भव-स्थान इसी ग्रन्थ को समझना चाहिए।

अरस्तू के समय मस्तिष्क को ज्ञान का केन्द्र नहीं माना जाता था। अरस्तू को 'वाहक-तन्तुओं' (Nerves) का ज्ञान भी नहीं था। प्लेटो तो मस्तिष्क को ही ज्ञान का केन्द्र मानता था, परन्तु अरस्तू हृदय को ज्ञान का केन्द्र कहता था। उस समय के प्रचलित विचार के अनुसार, रुधिर की नाड़ियों में वायु विद्यमान होती है और उसी से जीवन बना रहता है—यह माना जाता था। अरस्तू भी इसी विचार का मानने वाला था। शरीर के रुधिर में विद्यमान इस वायु को 'न्यूमा' (Pneuma) कहा जाता था। 'न्यूमा' शब्द का अर्थ है—'वायु' अथवा 'श्वास'। 'स्पिरिट' (Spirit) शब्द का धात्वर्थ भी 'वायु' या 'श्वास' ही है। वे मानते थे कि रुधिर का 'न्यूमा' निकल जाय, तो जीवन ही ख़त्म हो जाय। एक तरह से 'न्यूमा' ही जीवन का आधारभूत भौतिक तत्त्व था, और क्योंकि यह रुधिर में माना जाता था, इसलिए रुधिर के उद्भव-स्थान—'हृदय'—को ही ज्ञान-शक्ति का केन्द्र समझा जाता था।

मनुष्य को जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसके विषय में अरस्तू का अपना ही विचार था। आजकल हम कहते हैं कि पदार्थ से उत्पन्न हुई प्रकाश की लहरें ईथर के माध्यम में से गुजर कर, आँख के ज्ञान-वाहक तन्तुओं

(Sensory nerves) को आकर छूती हैं। ये तन्तु मस्तिष्क में देखने के केन्द्र को जागृत कर देते हैं, और हमें वस्तु के देखने का अनुभव होने लगता है। अरस्तू के समय, जैसा पहले कहा गया, 'वाहक-तन्तुओं' (Nerves) का ज्ञान नहीं था। वह ज्ञान के कारण की मीमांसा करता हुआ, अपने शब्दों में यों कहता था कि पदार्थ से एक गति उत्पन्न होती है, वह एक ख़ास प्रकार के माध्यम में से गुज़र कर, जिसे वह डायाफ़ेनस (Diaphanous) का नाम देता था, आँख के 'न्यूमा' को आकर छूती है। 'न्यूमा' क्योंकि सम्पूर्ण रुधिर में गति कर रहा है, इसलिए पदार्थ की वह गति हृदय तक पहुँच जाती है। तब हमें विषय का ज्ञान होता है। यही नियम गन्ध के विषय में है। पुष्प की गन्ध, हम तक, बीच के माध्यम में से गुज़रती हुई, नासिका के 'न्यूमा' पर अपना प्रभाव डालती है। जैसे हम आजकल भिन्न-भिन्न 'वाहक-तंतुओं' (Nerves) का मस्तिष्क में केन्द्रित होना मानते हैं, वैसे अरस्तू भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के 'न्यूमा' का हृदय में केन्द्रित होना मानता था। उसका यह मानना स्वाभाविक ही था। जब 'न्यूमा' रुधिर में रहता है, तब 'न्यूमा' का केन्द्र हृदय को ही माना जा सकता था, मस्तिष्क को नहीं। इसलिए अरस्तू के कथनानुसार ज्ञान 'हृदय' से पैदा होता था। हृदय ज्ञान का केन्द्र था, परन्तु ज्ञान हृदय को होता हो, ऐसी बात न थी। ज्ञान होता था 'आत्मा' को, अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण था। अरस्तू के कथनानुसार, आत्मा में ज्ञान के अलावा अन्य भी कई गुण, कई शक्तियाँ थीं। अरस्तू का मनोविज्ञान आत्मा की इन भिन्न-भिन्न 'शक्तियों' (Faculties) का अध्ययन था। आत्मा की ये भिन्न-भिन्न शक्तियाँ क्या हैं? किसी व्यक्ति में स्मृति-शक्ति अधिक है, किसी में कम; इसी प्रकार किसी व्यक्ति में विचार-शक्ति अधिक है, किसी में कम। इसीलिए अरस्तू के प्रतिपादित किये हुए मनोविज्ञान को आत्मा की भिन्न-भिन्न 'शक्तियों का मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) कहते हैं। अरस्तू का प्रतिपादित किया हुआ यही विचार बहुत देर तक शिक्षा का आधारभूत विचार रहा। शिक्षक लोग कहते रहे कि विद्यार्थी में भिन्न-भिन्न 'शक्तियां' (Faculties) हैं, उन्हीं को विकसित करना उनका काम है। इसी दृष्टि से पाठ-विधियाँ बनाई गईं, विषयों का चुनाव किया गया।

सदियों तक यही समझा गया कि जिस प्रकार शरीर के विकास के लिए ड्रिल की जरूरत है, इसी प्रकार मन के विकास के लिए मानसिक ड्रिल की आवश्यकता है। आत्मा में जो-जो 'शक्तियाँ' (Faculties) हैं, उनकी गणना करके, उन शक्तियों को विकसित करने वाले विषयों का चुनाव कर लिया गया। इसी का परिणाम है कि सदियों तक व्याकरण, गणित आदि क्लिष्ट तथा दुरूह विषय पढ़ाए जाते रहे। यह समझा जाता रहा कि इनका जीवन में लाभ हो, या न हो, ये मन का इस प्रकार नियन्त्रण कर देते हैं कि जीवन के अन्य क्षेत्रों में इन द्वारा प्राप्त किया हुआ नियन्त्रण (Discipline) काम आता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि १८वीं तथा १९वीं सदी के मनोविज्ञान ने अरस्तू के 'आत्मा की शक्तियों' (Faculties) वाले विचार को 'पुराने मनोविज्ञान' (Old Psychology) का विचार कहकर छोड़ दिया।

अरस्तू तथा अन्तःप्रेक्षण (Introspection)—

अरस्तू के समय में मनोविज्ञान क्योंकि आत्मा की भिन्न-भिन्न 'शक्तियों' का निरूपण करता था, आत्मा अथवा मन के अतिरिक्त अन्य किसी विषय की चर्चा नहीं करता था, इसलिए उस समय का मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र (Philosophy) के ही अन्तर्गत था, इसकी अलग विज्ञान के रूप में स्थिति नहीं उत्पन्न हुई थी, और न इसका भौतिक-विज्ञानों (Physical Sciences) के साथ ही कोई संबंध उत्पन्न हुआ था। अरस्तू के समय मनोविज्ञान पर विचार करने का तरीका सुकरात का प्रारम्भ किया हुआ 'अन्तःप्रेक्षण' (Introspection) का तरीका ही था। यह तरीका ऐसा था जो अन्य किसी विज्ञान में व्यवहृत नहीं किया जा रहा था, और न ही किया जा सकता था। संक्षेप में, जिस समय अरस्तू ने मनोविज्ञान की नींव डाली, उस समय इसका स्वरूप निम्न-लिखित था :—

अरस्तू के समय का मनोविज्ञान का रूप—

(१) अरस्तू के समय मस्तिष्क का मनोविज्ञान से सम्बन्ध नहीं जुड़ा था। अरस्तू हृदय को ज्ञान का केन्द्र मानता था और 'वाहक-तंतुओं' (Nerves) के विषय से अपरिचित था।

(२) अरस्तू के समय 'आत्मा' तथा 'शरीर' का भेद माना जा चुका था। अरस्तू का मनोविज्ञान 'आत्मा' का अध्ययन था। इसके मनोविज्ञान को 'बौद्धिक-सम्प्रदाय' (Rational School) कहा जाता है।

(३) वह आत्मा में भिन्न-भिन्न 'शक्तियों' को मानता था, और शिक्षा का उद्देश्य उन्हीं शक्तियों का विकास समझता था। उसका 'मनोविज्ञान' 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) है।

(४) उसके समय मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत था। इसका भौतिक-विज्ञानों (Physics, Physiology, Biology, Zoology) से सम्बन्ध नहीं जुड़ा था।

(५) इसके अध्ययन का तरीका 'अन्तःप्रेक्षण' (Introspection) का तरीका था।

'तंतु-संस्थान' (Nervous System) का आविष्कार—

ईसा से तीसरी सदी पूर्व युरोप में दो डाक्टर हुए, जिनका नाम हेरोफ़िलस तथा इरेसिस्ट्रेटस था। यद्यपि उन्हें 'वाहक-तंतुओं' (Nerves) का प्रथम आविष्कर्ता नहीं कहा जा सकता, तो भी इन्होंने शरीर-रचना के विषय में इतने परीक्षण किये कि इन्हें 'तंतु-संस्थान' (Nervous System) का आविष्कारक कह दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी। तंतु-संस्थान का आविष्कार मनोविज्ञान पर प्रभाव डाले बिना कैसे रह सकता था? दो सौ ई० पू० में गेलन-नामक एक शरीर-रचना-शास्त्रज्ञ हुआ, जिसने, उक्त महानुभावों के बाद, पहले-पहल 'ज्ञानवाही' (Sensory) तथा 'चेष्टावाही' (Motor) 'तंतुओं' (Nerves) के भेद का पता लगाया। यद्यपि ईसा के बाद दूसरी शताब्दी में वाहक-तंतुओं का पता चल गया था तो भी इन शब्दों की परिभाषा में मनोविज्ञान ने अपने को प्रकट करना नहीं शुरू किया था, और १६वीं शताब्दी तक युरोप का मनोविज्ञान अरस्तू का मनोविज्ञान ही रहा, उसमें कोई फ़र्क नहीं आया।

२. सत्रहवीं शताब्दी

हौब्स प्रतिपादित 'बाह्य-प्रेक्षण' तथा मनोविज्ञान—

सत्रहवीं शताब्दी में युरोप में गैलिलियो तथा न्यूटन के आविष्कारों से वैज्ञानिक क्रान्ति हुई। इस समय अनेक यन्त्रों का निर्माण हुआ।

दूरवीक्षण-यन्त्र इसी समय गैलिलियो ने बनाया। इन आविष्कारों का परिणाम यह हुआ कि सब विज्ञानों के क्षेत्र में यान्त्रिक नियमों (Mechanical Laws) की दृष्टि से विचार करना एक फ़ैशन-सा हो गया। मनोविज्ञान में भी इस प्रवृत्ति ने प्रवेश किया। अब तक मनोविज्ञान में 'अन्तःप्रेक्षण' से ही काम लिया जाता था। अब टामस हौब्स (१५८८–१६७९) ने मनोविज्ञान में नवीन लहर को उत्पन्न किया। भौतिक-विज्ञानों में 'बाह्य-प्रेक्षण' (Experiment and Observation) के जिन साधनों का प्रयोग होता था, उसी प्रकार के साधनों का मनोविज्ञान में भी प्रयोग करने की हौब्स ने जबर्दस्त वकालत की। हौब्स के उद्योगों से मनोविज्ञान में 'अन्तःप्रेक्षण' के साथ-साथ 'बाह्य-प्रेक्षण' के साधनों को इस्तेमाल करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया जाने लगा। हौब्स ने 'अंतःप्रेक्षण' को हटाया नहीं, सिर्फ़ बाह्य-निरीक्षण, परीक्षण, गणना, संख्या, परिमाण, तोल आदि भौतिक-विज्ञान की विधियों को मनोविज्ञान के अध्ययन में जोड़ दिया।

डेकार्टे का मनोविज्ञान पर प्रभाव—

जहाँ सत्रहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों की प्रवृत्ति से मनोविज्ञान में 'बाह्य-प्रेक्षण' को प्रोत्साहन मिला, वहाँ उस समय के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्टे (१५९६–१६५०) के विचारों से भी हौब्स के विचारों को बहुत पुष्टि मिली। वैसे तो आत्मा तथा शरीर की पृथक्ता देर से मानी जाती थी, परन्तु उन्हें पृथक् मानते हुए यह समझा जाता था कि आत्मा का शरीर पर और शरीर का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। डेकार्टे ने पहले-पहल यह स्थापना की कि देह तथा आत्मा सर्वथा पृथक्-पृथक् एवं स्वतंत्र सत्ताएँ हैं। जिस स्थूलकाय को देह कहा जाता है, उसमें ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसे आत्मा कहा जा सके; इसी प्रकार जिस शक्ति को आत्मा कहा जाता है, उसमें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जिसे देह कहा जा सके। देह का नाम लेते ही आत्मा का ख्याल छोड़ देना चाहिए, आत्मा का नाम लेते ही देह का ख्याल छोड़ देना चाहिए। दोनों तत्त्व एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। शरीर का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, आत्मा का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं। यद्यपि जब हम कोई इन्द्रियानुभव करते हैं, तो ऐसा

जान पड़ता है कि शरीर का आत्मा पर प्रभाव पड़ा, इसी प्रकार जब हम कोई इच्छापूर्वक कार्य करते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि आत्मा का शरीर पर प्रभाव पड़ा, तो भी यथार्थ में, कम-से-कम शरीर का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। शरीर तथा आत्मा अपना स्वतन्त्र जीवन बिताते हैं। शरीर एक 'यन्त्र' (Machine) की तरह चलता है। क्योंकि डेकार्ट पशुओं में आत्मा नहीं मानता था, इसलिए अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वह पशुओं का दृष्टान्त देता है। पशु जो कुछ करता है, यंत्र की तरह करता है। उसके शरीर में 'ज्ञान' (Sensation) जाता है; उसका परिणाम 'चेष्टा' (Motion) स्वयं हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी यन्त्रवत् चल रहा है। हाँ, पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में इतना भेद है कि जहाँ पशु में आत्मा नहीं, वहाँ मनुष्य में आत्मा है। मनुष्य में जिन कामों में आत्मा दखल नहीं देता, वे तो ठीक पशुओं के शरीर की तरह यन्त्रवत् चलते रहते हैं; परन्तु जिन कामों में आत्मा दखल देता है, अर्थात् जिन कार्यों में ऐसा अनुभव होता है कि आत्मा अपनी इच्छा-पूर्वक किसी कार्य को शरीर से करवा रहा है, वहां वह मस्तिष्क के ज़रिये काम करता है। डेकार्ट कहता था कि मस्तिष्क में भी एक ख़ास ग्रन्थि है, जिसके द्वारा आत्मा शरीर का नियन्त्रण करता है। इस ग्रन्थि को, 'पीनि-यल ग्लैण्ड' कहते हैं। संक्षेप में, डेकार्ट का कथन था कि जब इन्द्रिय से मस्तिष्क तक कोई ज्ञान पहुँचता है, तो उसकी प्रक्रिया निम्न प्रकार होती है—इन्द्रिय से मस्तिष्क तक कुछ शिराएँ हैं, जिनमें एक ख़ास प्रकार का द्रव रहता है। विषय के सम्पर्क में आकर इस द्रव में गति उत्पन्न हो जाती है। यह गति मस्तिष्क तक पहुँचती है। वहाँ पहुँचकर इस क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, और तब यह गति पीछे को लौटती है, और फिर, प्राणी की मांसपेशियाँ (Muscles) काम करने लगती हैं। डेकार्ट ने इस प्रकार 'मानसिक-व्यापार' (Mental Phenomenon) को 'भौतिक-गति' (Physical Motion) की परिभाषा में प्रकट करने का प्रयत्न किया।

मानसिक-प्रक्रिया यांत्रिक है—

डेकार्ट की इस मीमांसा के अनुसार जहाँ पशु एक प्रकार के यन्त्र थे, वहाँ मनुष्य भी यन्त्र ही थे। उसकी इस मीमांसा के आधार पर मनुष्य

की क्रियाओं को भौतिक-विज्ञान के नियमों की दृष्टि से हल किया जाने लगा। हम किसी भी प्रकार की क्रिया क्यों करते हैं? 'वाह्य-विषय' (Stimulus) का इन्द्रिय पर प्रभाव पड़ता है, यह प्रभाव जब दिमाग में पहुँचता है, तो वहाँ स्वयं एक 'प्रतिक्रिया' (Response) उत्पन्न हो जाती है, और हम काम कर डालते हैं। इस दृष्टि से शरीर उन्हीं नियमों पर काम कर रहा है, जिन पर एक यंत्र काम करता है। हम बटन दबाते हैं, बिजली जग जाती है, इसी प्रकार हमें काँटा लगता है, हमारा हाथ अनायास उधर दौड़ जाता है। इस प्रकार की अनायास-क्रिया को मनोविज्ञान की परिभाषा में 'सहज-क्रिया' (Reflex Action) कहते हैं। सहज-क्रियाओं के दृष्टान्त द्वारा डेकार्टे ने मानसिक-प्रक्रिया को यांत्रिक नियमों में ढालने का प्रयत्न किया।

मनोविज्ञान को 'आत्मा' से अलग कर दिया गया—

डेकार्टे तथा हौब्स लगभग समकालीन थे। डेकार्टे पशुओं को यंत्र की तरह समझता था, मनुष्यों को नहीं; हौब्स पशुओं तथा मनुष्यों दोनों को यंत्र की तरह चलने वाला कहता था। इन दोनों विचारकों ने मनोविज्ञान को 'आत्मा' से अलग कर लिया। उन्होंने कहा कि आत्मा का अध्ययन करना 'अध्यात्मविद्या' (Metaphysics) का काम है। मनोविज्ञान का काम तो उन मानसिक क्रियाओं का अध्ययन करना है जो शरीर के यन्त्रवत् चलने से शरीर में हो रही हैं। इन विचारकों की विचार-प्रणाली को सत्रहवीं शताब्दी की गैलिलियो तथा न्यूटन की विचार-प्रणाली ने अपने रंग में रंग लिया था। अगर परमात्मा को बिना माने भी संसार का संचालन करने वाले अनेक नियमों का पता चलाया जा सकता था, तो शरीर में आत्मा हो या न हो, इस विचार को सर्वथा अलग रखकर भी, मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का, जो चेष्टा तथा व्यवहार में अपने को प्रकट करती हैं, अध्ययन किया जा सकता था। बस, हौब्स तथा डेकार्टे का यही कहना था।

'आत्मा' की जगह 'चेतना' का प्रयोग—

इस समय डेकार्टे के विचारों का मनोविज्ञान पर एक और भी प्रभाव पड़ा। उसने शरीर तथा आत्मा के पारस्परिक भेद की मीमांसा की थी।

उसने कहा था कि आत्मा अथवा मन का हमें अनुभव 'चेतना' द्वारा होता है। 'आत्मा', 'मन' आदि शब्द ऐसे हैं जिनका स्पष्ट अर्थ किसी की समझ में नहीं आता; 'चेतना' (Consciousness) शब्द ऐसा है जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है, इसलिए अब से मनोविज्ञान का विषय 'आत्मा' या 'मन' न रहकर, 'चेतना' (Consciousness) हो गया।

हौब्स तथा डेकार्टे की मनोविज्ञान को देन—

हौब्स तथा डेकार्टे ने पुराने मनोविज्ञान में नए विचारों का संचार किया था। इन्होंने जिन विचारों को जन्म दिया, वे ही वर्तमान मनोविज्ञान के आधार में काम कर रहे हैं। इनके प्रभाव से १९वीं शताब्दी में मनोविज्ञान में जो नई लहरें प्रविष्ट हुईं, वे निम्न थीं :—

(१) मनोविज्ञान अब तक 'आत्मा' या 'मन' का विज्ञान था; अब यह 'चेतना' का विज्ञान समझा जाने लगा।

(२) इस समय मनोविज्ञान भौतिक-विज्ञानों के अधिक सम्पर्क में आया, और इसमें बाह्य-निरीक्षणों तथा परीक्षणों (Observation and Experiment) का प्रयोग होना चाहिए—ऐसी चर्चा चल पड़ी।

(३) परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि अन्तःप्रेक्षण के साधन को मनोविज्ञान ने छोड़ दिया। इस समय भी मनोविज्ञान का मुख्य साधन अन्तःप्रेक्षण ही था। अब तक 'आत्मा' या 'मन' का अन्तःप्रेक्षण होता था, अब समझा जाने लगा कि 'आत्मा' या 'मन'-जैसे अनिश्चित शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा 'चेतना' (Consciousness)-जैसे अधिक निश्चित शब्द का प्रयोग उपयुक्त रहेगा। यह कहा गया कि अन्तःप्रेक्षण तो ठीक है, परन्तु यह कहने के बजाय कि हम 'आत्मा' का अन्तःप्रेक्षण करते हैं, ऐसा कहना अधिक उपयुक्त है कि हम 'चेतना' का अन्तःप्रेक्षण करते हैं।

३. अठारहवीं शताब्दी

लॉक ने 'चेतना' को 'प्रत्ययों' (Ideas) का संग्रह बताया—

१८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान के अध्ययन में और अधिक परिवर्तन हुआ। अभी कहा गया कि अब तक 'आत्मा' या 'मन' की परिभाषा में बातचीत होती थी, अब 'चेतना' की परिभाषा में बात होने लगी।
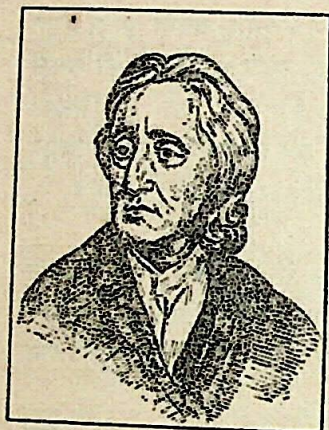
जॉन लॉक
(१६६२–१७०४)

'आत्मा' है या नहीं, इसे कौन जानता है? 'मन' को किसने देखा है? हाँ, हम अनुभव करते हैं कि हम में 'चेतना' है। हम में विचार आते हैं, जाते हैं, इससे कौन इनकार कर सकता है। हमारी 'चेतना' जन्म के समय प्रत्यय-शून्य है। उसमें, बाहर से, विचार, अर्थात् 'प्रत्यय' आते-जाते रहते हैं। मन एक खाली पट्टी (Tabula rasa) के समान है; ज्यों-ज्यों वह संसार के सम्पर्क में आता है, त्यों-त्यों वह 'प्रत्ययों' (Ideas) का संग्रह करता जाता है। इन प्रत्ययों का आपस में सम्बन्ध जुड़ता जाता है। ये विचार, मनोविज्ञान को 'चेतना के अध्ययन करने वाला विज्ञान' कहने के अवश्यम्भावी परिणाम थे। जॉन लॉक (१६६२–१७०४) ने ये विचार प्रकट किये। इन विचारों से 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) के सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ।

ह्यूम ने 'प्रत्यय-सम्वन्ध'(Association of Ideas) का प्रतिपादन किया—

जॉन लॉक ने जिन विचारों को प्रकट किया, उन्हें डेविड ह्यूम (१७११–१७७६) ने और अधिक फैलाया। उसने कहा कि हमारी चेतना में पहले एक 'प्रत्यय' (Idea) होता है, उसके बाद दूसरा आता है। इस प्रकार चेतना का प्रवाह चल पड़ता है। जो 'प्रत्यय' इस समय हमारी चेतना में है, उससे मिलता-जुलता या उसका विरोधी 'प्रत्यय' दूसरे क्षण आ जाता है। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्ययों का परस्पर सम्बन्ध रहता है। हमारी स्मृति, स्वप्न, अनुभव, सब-कुछ 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) के सिद्धान्त से समझ पड़ जाता है। १८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान ने इसी रूप को धारण कर लिया, और मनोविज्ञान में इस 'प्रत्यय-सम्बन्ध मनोविज्ञान' (Associationist Psychology) का

'प्रवर्तक ह्यूम समझा जाने लगा। ह्यूम ने कार्य-कारण के नियम पर भी इसी दृष्टि से विचार किया है। 'कारण' में कोई ऐसी अद्भुत शक्ति नहीं जिससे 'कार्य' उत्पन्न हो जाता है। 'कारण' के पीछे 'कार्य' आ जाता है, इन दोनों का संबंध (Association) है, इससे अधिक कुछ नहीं कह सकते। इसी प्रकार एक 'प्रत्यय' के बाद दूसरा 'प्रत्यय' आता है, इन दोनों का सम्बन्ध (Association) है, इससे अधिक कुछ कहने का हमें अधिकार नहीं। यह कहना कि आत्मा के अन्दर से ये प्रत्यय उत्पन्न होते हैं, ह्यूम के मत में, अनधिकार-चेष्टा है।

'आत्म-शक्ति' (Faculty Psychology) का सिद्धान्त ठीक नहीं—

मनोविज्ञान ने 'चेतना' का अध्ययन शुरू किया, और चेतना का अध्ययन करते-करते यह परिणाम निकाला कि चेतना का अध्ययन 'प्रत्ययों के परस्पर-सम्बन्ध' (Association of Ideas) का ही अध्ययन है। अगर यह बात ठीक है, तो अरस्तू का यह विचार कि आत्मा में अनेक गुण, अनेक 'शक्तियाँ' (Faculties) होती हैं, ठीक नहीं ठहरता। हम जिस गुण को भी आत्मा की शक्ति कहेंगे उसका विश्लेषण किया जाय, तो वह 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। अगर यह कहा जाय कि अमुक व्यक्ति की स्मृति-'शक्ति' बहुत तीव्र है, तो 'प्रत्यय-सम्बन्ध' के सिद्धान्त को मानने वाला मनोवैज्ञानिक (Associationist) कह देगा कि उस व्यक्ति की स्मृति-शक्ति तीव्र नहीं है, अपितु वह एक 'प्रत्यय' का दूसरे 'प्रत्यय' से सम्बन्ध ठीक तौर से स्थापित कर सकता है, तुम नहीं कर सकते, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी स्मृति-शक्ति तीव्र है, तुम्हारी नहीं। अगर तुम भी एक 'प्रत्यय' का दूसरे 'प्रत्यय' से सम्बन्ध अपने दिमाग़ में जोड़ लो, तो तुम्हारी भी स्मृति-शक्ति तीव्र मालूम देगी। और, क्या ऐसा होता नहीं है? तुम भले ही अपनी स्मृति-शक्ति कितनी कमजोर समझते रहो, कई घटनाएँ तुम्हारे जीवन में भी ऐसी हुई होंगी जिन्हें तुम आमरण नहीं भुला सकते। इसका यही कारण है कि उन घटनाओं का किन्हीं बातों से ऐसा 'सम्बन्ध' (Association) जुड़ गया है कि तुम उन्हें भुला ही नहीं सकते। हां, एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय के साथ सम्बन्ध कैसे जुड़ता है, इसके भिन्न-भिन्न नियम हैं।

'अभ्यास' (Frequency), 'नवीनता' (Recency), 'प्रबलता' (Vividness) ऐसे कारण हैं जिनसे एक प्रत्यय का दूसरे प्रत्यय से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इन नियमों के आधार पर अगर एक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से जुड़ जाय, तो उनका बन्धन अटूट हो जायगा। इसमें आत्मा की भिन्न-भिन्न 'शक्तियां' (Faculties) मानने की जरूरत नहीं। इस प्रकार १८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान ने 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके अरस्तू के आत्मा की 'भिन्न-भिन्न शक्तियों वाले मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का बहुत-कुछ निराकरण कर दिया।

१८वीं शताब्दी में मनोविज्ञान के क्षेत्र में अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण बातें हुईं। जर्मनी में 'अन्तःप्रेक्षण' के आधार पर अनेक विद्वानों ने चेतना के प्रवाह के अध्ययन का प्रयत्न किया। उन दिनों अन्तःप्रेक्षण खूब चला। विद्वानों ने अपनी डायरियां रखनी शुरू कीं। इस सब अन्तःप्रेक्षण का परिणाम यह हुआ कि 'अन्तःकरण' को उन लोगों ने तीन हिस्सों में बाँटा। अब तक मनोवैज्ञानिक 'अन्तःकरण' के दो हिस्से करते थे; 'ज्ञान' (Cognition) तथा 'कृति' (Volition)। अब उन्होंने मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का गहरा निरीक्षण करके उसके तीन हिस्से किये। वे थे—ज्ञान (Knowing); संवेदन (Feeling); कृति (Willing)। इस विभाग का श्रेय जोहन्न निकोलस टेटन्स (१७३६–१८०७) नामक जर्मन-विद्वान् को दिया जाता है।

१८वीं शताब्दी में ही महाशय बोनेट ने इस विचार का प्रचार किया कि प्रत्येक मानसिक-क्रिया तभी होती है, जब कि उससे संबद्ध कोई शारीरिक क्रिया होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि मन अपना विचार किया करे, और उसी समय 'वाहक-तन्तुओं' (Nerves) में कोई क्रिया न हो रही हो। दूसरे शब्दों में मानसिक-क्रिया तभी होती है, जब शरीर के 'ज्ञान-तन्तुओं' (Neural fibres) में पहिले क्रिया उत्पन्न हो चुकी होती है। इसे 'ज्ञान-तन्तु-मनोविज्ञान' (Fibre Psychology) का नाम दिया गया। धीरे-धीरे 'मन' को, अथवा 'चेतना' (Consciousness) को ज्ञान-तन्तुओं तथा मस्तिष्क की क्रियाओं का परिणाम कहा जाने लगा।

केबेनिस (१७८९–१८०२) ने इस वाद का पक्ष पोषण किया। उसने कहा कि मस्तिष्क तथा वाहक-तन्तुओं (Nerves) पर ही मानसिक-क्रिया आश्रित है। उसने यहाँ तक कह डाला कि जिस प्रकार आमाशय से पित्त स्रवित होता है, इसी प्रकार मस्तिष्क से विचार का रस निकलता है। उसके कथन का अभिप्राय इतना ही था कि मानसिक-क्रिया वास्तव में मस्तिष्क की ही क्रिया है। इस समय से मनोविज्ञान के साथ 'शरीर-रचना-शास्त्र' (Physiology) का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया। शरीर-रचना-शास्त्रियों के परीक्षणों से सिद्ध होने लगा कि मानसिक-क्रियाओं का आधार तो मस्तिष्क है। इस मत को आस्ट्रिया के महाशय गॉल (१७५८–१८२८) ने अपने लेखों से बहुत पुष्ट किया। वह पागलों, अपराधियों के सिरों के उभार टटोला करता था और उन्हीं उभारों के आधार पर उनकी भिन्न-भिन्न मानसिक-'शक्तियों' (Faculties) की कल्पना किया करता था। गॉल का कथन था कि मनुष्य की मानसिक-'शक्तियों' (Faculties) के मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न केन्द्र होते हैं। उन केन्द्रों पर चोट लगने से मनुष्य की वे 'शक्तियाँ' (Faculties) जो उन केन्द्रों में होती हैं, मारी जाती हैं। गॉल का एक शिष्य था जिसका नाम था स्फुरज्हीम। वह बड़ा चालाक था। उसने तथा एडिनबर्ग के जार्ज कोम्ब ने मिलकर 'कपाल-रचना-विज्ञान' (Phrenology) पर बहुत-सा साहित्य लिख डाला। इस विद्या का यह मतलब था कि सिर का अमुक भाग उभरा हो, तो मनुष्य में अमुक योग्यता होगी, और अमुक उभरा हो, तो अमुक योग्यता। गॉल इन बातों को नहीं मानता था। गॉल 'ज्ञान-वाहक-तन्तुओं' (Sensory Nerves), 'चेष्टा-वाहक-तन्तुओं (Motor Nerves) तथा 'मेरुदण्ड' (Spinal Cord) से परिचित था। वह यह भी जानता था कि मेरुदण्ड में भिन्न-भिन्न केन्द्र हैं जो प्राणी की 'सहज-क्रिया' (Reflex action) का कारण होते हैं। 'सहज-क्रिया' के अस्तित्व तथा उसके कारण का पता, सबसे प्रथम गॉल ने, तथा इंगलैण्ड में सर चार्ल्स बेल ने एक ही समय में, १८११ में, लगाया था।

अठारहवीं शताब्दी में मनोविज्ञान में जो नवीन विचार उत्पन्न हुए थे, वे संक्षेप में निम्न थे :—

(१) मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय 'आत्मा' या 'मन' न रहकर 'चेतना' (Consciousness) हो गया।

(२) 'चेतना' का विषय 'प्रत्यय' (Ideas) है, यह माना जाने लगा था। उन्हीं 'प्रत्ययों' के भिन्न-भिन्न प्रकार के मेल-जोल से भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस कल्पना को 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' (Association of Ideas) कहा जाता था।

(३) 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' (Association of Ideas) का परिणाम यह हुआ कि आत्मा में भिन्न-भिन्न 'शक्तियाँ' मानने का अरस्तू का 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का सिद्धान्त खंडित हो गया।

(४) अन्तःप्रेक्षण से मन की तीन आभ्यन्तर अवस्थाओं (Mental states) का पता लगाया गया जिन्हें 'ज्ञान' (Knowing), 'संवेदन' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing) कहा गया।

(५) मानसिक-क्रिया का आधार मस्तिष्क को समझा जाने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि मनोविज्ञान में पहले 'आत्मा' या 'मन' पर विचार होता था, बाद को 'चेतना' पर होने लगा, परन्तु उसके भी बाद अब 'चेतना' के भौतिक आधार 'मस्तिष्क' के विषय में चर्चा शुरू हो गई। 'आत्मा', 'मन' तथा 'चेतना' का अध्ययन 'अन्तःप्रेक्षण' से हो सकता था; 'मस्तिष्क' तो अन्तःप्रेक्षण की वस्तु न थी। इसलिए मनोविज्ञान में मस्तिष्क के अध्ययन के प्रवेश से हौब्स की चलाई हुई 'बाह्य-प्रेक्षण' (Experiment) की प्रवृत्ति और अधिक बढ़ गई।

४. उन्नीसवीं शताब्दी

हर्बार्ट की मनोविज्ञान को देन—

१९वीं शताब्दी में हर्बार्ट (१७७६–१८४१) ने मनोविज्ञान को जो विचार दिये, वे शिक्षा के क्षेत्र में भी बड़े महत्त्व के सिद्ध हुए। यद्यपि ह्यूम के दार्शनिक विचारों से आत्मा में भिन्न-भिन्न 'शक्तियों' के होने का विचार (Faculty Psychology) मध्यम पड़ चुका था, तो भी यह विचार था बड़ा जबर्दस्त। हमने अभी देखा कि एक तरफ़ तो ह्यूम आत्मा

में भिन्न-भिन्न शक्तियों के विचार का खण्डन कर रहा था, दूसरी तरफ़ वही ह्यूम 'ज्ञान', 'संवेदन' तथा 'कृति' के रूप में आत्मा की 'भिन्न-भिन्न शक्तियों' के स्थान में 'तीन शक्तियों' का निरूपण कर रहा था। हर्बार्ट ने कहा कि मानसिक-प्रक्रिया को इन तीन में विभक्त करना ठीक नहीं है। मानसिक-प्रक्रिया के तीन भाग करना तो फिर आत्मा की भिन्न-भिन्न 'शक्तियों' के सिद्धान्त का पुनरुज्जीवन करना है। 'ज्ञान', 'संवेदन', 'कृति' अलग-अलग मानसिक शक्तियाँ नहीं हैं। ज्ञान में संवेदन तथा कृति रहती हैं; संवेदन में ज्ञान तथा कृति समाविष्ट हैं; कृति में ज्ञान तथा संवेदन हैं। मानसिक प्रक्रिया 'एक' वस्तु है, उसके तीन भाग नहीं हैं। आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों को मानने के विचार पर यह अन्तिम प्रहार था, इसके वाद यह सिद्धान्त मृत-प्राय हो गया। इससे पहले शिक्षक बालक की भिन्न-भिन्न मानसिक-शक्तियों को तीव्र करने का प्रयत्न करता था, अब हर्बार्ट के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार यह माना जाने लगा कि बालक का मन एक इकाई है, और उसका मनोवैज्ञानिक ढंग से विकास करना ही शिक्षक का कार्य है।
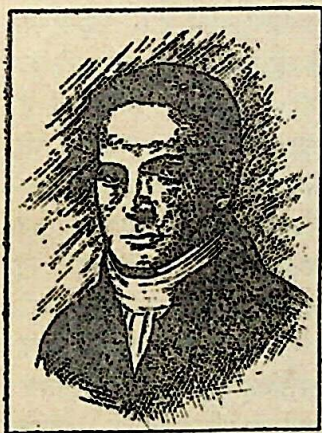
हर्बार्ट
(१७७६–१८४१)

शिक्षा के क्षेत्र में 'प्राकृतिक-शक्तियों (Instincts) का प्रयोग—

उन्नीसवीं शताब्दी के मनोविज्ञान में 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के लिए सब से महत्त्वपूर्ण बात प्राणी की 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) पर विचार करना था। इससे पहले प्राणी की 'प्राकृतिक-शक्तियों' की चर्चा तो होती रही थी, परन्तु इस शताब्दी में इस विषय पर विशेष विचार हुआ। डार्विन (१८०९–१८८२) तथा हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०३) के विकास-वाद पर लिखने के बाद से यह विषय अधिक महत्त्व का हो गया। यह कहा जाने लगा कि प्राणि-जगत् में अपना जीवन कायम रखने

हर्बर्ट स्पेंसर
(१८२०–१९०३)
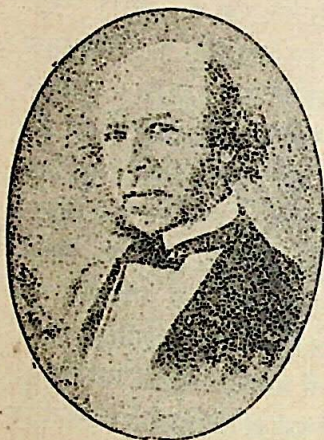
तथा संतति की रक्षा के लिए कुछ 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) होती हैं, जो उसकी मानसिक तथा शारीरिक रचना का हिस्सा होती हैं। इन्हें सीखना नहीं पड़ता, ये जन्म से प्राणी के साथ आती हैं। पशुओं के विषय में यह बात निस्संकोच कही जा सकती थी, परन्तु कुछ विचारकों ने कहना शुरू किया कि मनुष्यों में भी जन्मते ही इस प्रकार की कुछ 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' होती हैं। सबसे पहले डार्विन के शिष्य प्रेयर ने इन शक्तियों की तालिका बनाकर उन्हें बच्चे पर घटाने का प्रयत्न किया। उसकी तालिका का परिशोध करके विलियम जेम्स (१८४२–१९१०) ने ५० ऐसी शक्तियों का संग्रह किया जिन्हें 'प्राकृतिक' कहा जा सकता था। इस समय इस विषय पर प्रामाणिक व्यक्ति मैक्डूगल (१८७१–१९३८), थॉर्नडाइक (१८७४–१९४९) तथा वुडवर्थ समझे जाते हैं। इन लोगों ने इस विषय की गवेषणा करके 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को अपना आजन्म ऋणी बना लिया है। हम आगे चलकर देखेंगे कि किस प्रकार बच्चे की इन्हीं 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) को आधार बनाकर शिक्षा-विज्ञान में महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन हुए।

परीक्षणात्मक-मनोविज्ञान (Experimental Psychology) का प्रारंभ—

शुरू-शुरू में हमने देखा था कि मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र के अधिक निकट था, और भौतिक-विज्ञान के बहुत दूर था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, हम देखते हैं कि दर्शन-शास्त्र की कोख में से निकल कर यह भौतिक-विज्ञान के अधिक निकट आता गया। युरोप में १९वीं शताब्दी तक मनोविज्ञान दर्शन से पृथक् नहीं किया जा सकता था, तब तक यह विषय दर्शन के ही अन्तर्गत पढ़ाया जाता था। १९वीं शताब्दी का मनोविज्ञान का पण्डित जेम्स मुख्य तौर पर दार्शनिक ही समझा जाता रहा। सबसे पहले

१८९० में विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान एक स्वतन्त्र विषय के रूप में पढ़ाया जाने लगा। दर्शन-शास्त्र से दूर होने तथा शरीर-रचना-शास्त्र के निकट जाने की यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मनोविज्ञान के लिए एक नए शब्द की कल्पना करनी पड़ी। इस 'नवीन मनोविज्ञान' को 'दैहिक मनोविज्ञान' (Physiological Psychology) कहा जाने लगा। इस शताब्दी में मनोविज्ञान का शरीर-रचना-शास्त्र से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ गया, और 'मस्तिष्क' तथा 'तंतु-संस्थान' के सम्बन्ध में अनेक परीक्षण होने लगे। इस समय यह निश्चित हुआ कि हमें इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, उसके मस्तिष्क में केन्द्र (Centres) हैं। देखने, सुनने, सूंघने, चखने तथा स्पर्श के पाँच केन्द्र माने जाने लगे। इस सिद्धान्त को 'ज्ञान-केन्द्र-वाद' (Theory of Localization) कहा जाने लगा। 'ज्ञान-केन्द्र-वादी' यह कहते थे कि ज्ञान का केन्द्र काट दिया जाय तो दूसरे केन्द्र से काम नहीं लिया जा सकता। बहुत अंश तक यह बात ठीक भी है, परन्तु १९१४ के युद्ध के बाद अमरीका में लैशली (Lashley) ने कुछ परीक्षण किये जिनसे यह सिद्ध हुआ कि जिन केन्द्रों के विषय में हम यह समझ बैठे हैं कि वे किसी खास बात के केन्द्र हैं, वे जब चोट आदि से आहत हो जाते हैं, तो मस्तिष्क के दूसरे केन्द्र भी वही काम करने लगते हैं। उसने चूहों पर परीक्षण किये। इन परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ कि जब मस्तिष्क का कुछ हिस्सा निकाल दिया जाता था, तब मस्तिष्क के दूसरे हिस्से धीरे-धीरे उसी काम को करने लगते थे, और कुछ देर बाद पहले जैसा काम चलने लगता था। उसके परीक्षणों से तो यहाँ तक सिद्ध हुआ कि जिस मात्रा में मस्तिष्क के तत्त्व को निकाल दिया जाता था उसी मात्रा में मस्तिष्क की सब शक्तियों में कमी आ जाती थी। यह तो हमने हाल की बात कह दी। हर बात पर परीक्षण करने की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम था कि लैशली ने मस्तिष्क के सम्बन्ध में उक्त नवीन विचार को जन्म दिया। इस प्रकार के क्रियात्मक परीक्षण अब तो होने ही लगे हैं, इससे पहले भी बाह्य-परीक्षणों के करने की आवाज उठती रही थी, परन्तु उस समय यह आवाज ही थी। मनोविज्ञान के पण्डितों ने वैज्ञानिकों की तरह अपनी परीक्षण-शालायें (Laboratories)

नहीं बनाई थीं। १९वीं सदी में मुल्लर (१८३५) तथा उसके कुछ साथियों ने दृष्टि, उच्चारण, रङ्ग आदि के विषय में कुछ परीक्षण किए। वीबर ने १८३४ में अपने प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन किया, जिसका आगामी अध्याय में वर्णन है। १८७९ में वुन्डट (Wundt) ने सबसे प्रथम मनोवैज्ञानिक परीक्षण-शाला (Psychological Laboratory) की स्थापना की। मनोविज्ञान की इस प्रगति को 'परीक्षणात्मक मनोविज्ञान' (Experimental Psychology) का नाम दिया जाता है। वैसे इस विषय में आवाज तो हौब्स के समय से ही उठ रही थी, परन्तु उसका आरम्भ वुन्डट ने ही १९वीं सदी में किया। इस समय से मनोविज्ञान में 'अन्तःप्रेक्षण' के तरीके के स्थान पर 'बाह्य-प्रेक्षण' के भौतिक तरीकों को अधिक महत्त्व का समझा जाने लगा। 'परीक्षणात्मक-मनोविज्ञान' से भी 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को बहुत सहायता मिली। थकान, अवधान, स्मृति आदि पर अनेक परीक्षण-शालाओं में परीक्षण हुए हैं, जो शिक्षकों के बहुत काम के हैं।

हमने देखा कि किस प्रकार मनोविज्ञान ने सबसे प्रथम 'आत्मा' अथवा 'मन' का अध्ययन शुरू किया, उसे छोड़ कर 'चेतना' को पकड़ा, चेतना को भी छोड़कर 'मस्तिष्क' को अपनाया। परन्तु अब बीसवीं सदी में मनोविज्ञान मस्तिष्क को भी छोड़ता नजर आ रहा है, और मनुष्य के 'बाह्य-व्यवहार' (Behaviour) का अध्ययन करना ही अपना ध्येय बनाता जा रहा है। 'बाह्य-व्यवहार' के अध्ययन की बढ़ती के साथ-साथ मनोविज्ञान में 'अन्तःप्रेक्षण' के स्थान पर 'बाह्य-प्रेक्षण' की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। बीसवीं सदी के इस मनोविज्ञान का शिक्षा-मनोविज्ञान से इतना गहरा सम्बन्ध है कि इस सदी की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का अलग अध्याय में वर्णन करना ही उपयुक्त है।

प्रश्न

(१) 'अन्तःप्रेक्षण' का क्या अर्थ है?
(२) 'आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों के मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का अरस्तू से क्या सम्बन्ध है?

(३) अरस्तू ज्ञान का केन्द्र मस्तिष्क को मानता था, या हृदय को ? और क्यों ?

(४) 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का शिक्षा पर क्या प्रभाव था ?

(५) हौब्स तथा डेकार्टे का रुख 'अन्त:प्रेक्षण' (Introspection) से 'बाह्य-प्रेक्षण' (Observation and Experiment) की तरफ़ कैसे फिरा ? परिणाम क्या हुआ ?

(६) 'आत्मा' का रूप चेतना, और 'चेतना' का रूप 'प्रत्यय' मानने का ऐतिहासिक विवेचन करो।

(७) 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' (Theory of Association of Ideas) के विषय में क्या जानते हो ?

(८) 'परीक्षणात्मक-मनोविज्ञान' (Experimental Psychology) के विषय में क्या जानते हो ?

३

मनोविज्ञान की शिक्षा को वर्तमान देन

[बीसवीं सदी के शिक्षा से संबद्ध पाँच मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय]

(RECENT CONTRIBUTION OF PSYCHOLOGY TO EDUCATIONAL PRACTICE)

मनोविज्ञान ने आत्मा, चेतना, मस्तिष्क—सब को छोड़ दिया—

हमने अभी देखा कि १९वीं शताब्दी के अन्त में मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्या-क्या लहरें उठ खड़ी हुई थीं। १८९० तथा १९०० के बीच में कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक उत्पन्न हो गए थे जिन्होंने मनोविज्ञान के लिए बिल्कुल नए-नए क्षेत्र खोल दिए थे। उन्होंने 'बाल-मनोविज्ञान' (Child Psychology), 'पशु-मनोविज्ञान' (Animal Psychology), 'अस्वस्थ-मनोविज्ञान' (Abnormal Psychology) की स्थापना शुरू कर दी थी और इन सब का 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था। इस समय मनोविज्ञान दर्शन की कोख में से निकल कर स्वतन्त्र विज्ञान बन चुका था। यद्यपि अभी मनोविज्ञान के पंडित 'चेतना' के विज्ञान को मनोविज्ञान कहते थे, तथापि वे भी 'व्यवहार' (Behaviour) के विषय में अधिक चर्चा करने लगे थे। 'मस्तिष्क' तथा 'तन्तु-संस्थान' के द्वारा चेतना को समझाने के प्रयत्न को भी वे अब अनावश्यक समझने लगे थे। उनका कहना था कि हमें इससे कुछ प्रयोजन नहीं कि आत्मा है या नहीं, मन है या नहीं, चेतना किस प्रकार काम करती है, मस्तिष्क की रचना क्या है। हम प्राणी को संसार में व्यवहार करते हुए देखते हैं, किन्हीं परिस्थितियों में वह एक तरह से व्यवहार करता है, किन्हीं परिस्थितियों में दूसरी तरह से। मनोविज्ञान का काम पशु के, बालक के, मनुष्य के इन्हीं व्यवहारों तथा व्यवहार-विषयक नियमों का अध्ययन करना है। व्यवहार

एक स्थूल चीज़ है, प्रत्यक्ष वस्तु है, उस पर अधिक आसानी और अधिक निश्चयं से विचार किया जा सकता है।

वीसवीं सदी के पाँच नये 'वाद'—

असल में, बीसवीं सदी के मनोविज्ञान में इतनी जीवनी-शक्ति थी कि इसमें भिन्न-भिन्न दृष्टियों से कई 'सम्प्रदाय' (Schools) उठ खड़े हुए। वे प्रायः सभी अब तक के प्रचलित मनोविज्ञान के किसी-न-किसी सिद्धान्त के विरोध में थे। इन सम्प्रदायों का 'शिक्षा-मनोविज्ञान' से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि प्रायः सभी बालक के मन का अध्ययन करते हैं। इनमें से मुख्य ये हैं :—

(१) सत्तावाद (Existentialism)
(२) व्यवहारवाद (Behaviourism)
(३) मनोविश्लेषणवाद (Psycho-Analysis)
(४) प्रयोजनवाद (Purposivism)
(५) अवयवीवाद या जेस्टाल्टवाद (Gestalt School)

अब हम 'शिक्षा-मनोविज्ञान' को दृष्टि में रखते हुए इन पांचों सम्प्रदायों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

१. सत्तावाद (EXISTENTIALISM)

मानसिक प्रक्रिया 'प्रत्ययों' का जोड़-तोड़ है—

हम देख चुके हैं कि १९वीं सदी का मनोविज्ञान 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' (Association of Ideas) का रूप धारण किये हुए था। 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वादी' अन्तःप्रेक्षण से काम लेते थे, वे कहते थे कि अपने भीतर की मानसिक अवस्थाओं (Mental States) का निरीक्षण करने से ऐसा ज्ञात होता है कि हम विचार करते हुए 'प्रत्ययों' (Ideas) की 'प्रतिमाओं' (Images) का निर्माण कर लेते हैं। अगर हम हॉकी खेलने के विचार को मन में लाते हैं, तो हमारे मन में हॉकी की लकड़ी की शक्ल आ जाती है, देखे हुए किसी साम्मुख्य की स्मृति के रूप में खेलने का भाव मन में आ जाता है, और इन दोनों 'प्रत्ययों' की 'प्रतिमाओं' का परस्पर सम्बन्ध जुड़ जाता है। 'प्रत्यय' के परस्पर जुड़ जाने का मतलब है 'प्रत्यय'

४

की 'प्रतिमाओं' का परस्पर जुड़ जाना। मनुष्य अन्तःप्रेक्षण के साधन द्वारा इन्हीं प्रतिमाओं का निरीक्षण करता है। दूसरे शब्दों में, इन्हीं मानसिक-प्रतिमाओं के जोड़-तोड़ से मनुष्य का सारा विचार चलता है।

'प्रतिमा' के बिना विचार हो सकता है—

इस सम्बन्ध में पेरिस के बिने (१८५७–१९११) महोदय ने अपने विचार प्रकट किए। बिने की दो लड़कियाँ थीं। वह उनसे कोई प्रश्न करता था और पूछता था कि इस प्रश्न पर विचार करते हुए तुम्हारे मन में कोई शक्ल, कोई 'प्रतिमा' (Image) आती है, या नहीं? अनेक बार उनका विचार 'प्रतिमा-सहित' होता था, अनेक वार 'प्रतिमा-रहित'। इसी संबंध में जर्मनी के कुल्पे (१८६२–१९१५) तथा उसके अन्य कुछ साथियों ने परीक्षण किये। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि 'विचार' (Thinking) के लिए मानसिक-'प्रतिमा' (Image) का होना आवश्यक नहीं। कुल्पे, वुन्डट का शिष्य था, और उसके परीक्षण १९१४ के महायुद्ध के समय तक होते रहे।

'अन्तःप्रेक्षण' तथा 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' पर आक्रमण—

अगर 'विचार' के लिए 'प्रतिमा' का होना आवश्यक नहीं है, तो इसका यह परिणाम निकला कि 'प्रतिमा' के मन में आये बिना भी मानसिक विचार हो सकता है। जब 'प्रतिमा' मन में न हो, और मन विचार कर रहा हो, तब तो इसका यह मतलब हुआ कि 'प्रतिमा-रहित विचार' (Imageless thought) हो सकता है। अन्तःप्रेक्षण में मानसिक-प्रतिमाओं का ही तो जोड़-तोड़ होता है। जब मानसिक-प्रतिमाओं के बिना भी विचार हो सकता है, तब अन्तःप्रेक्षण किसका? मानसिक प्रतिमाएँ चली गईं, तो अन्तःप्रेक्षण स्वयं चला गया। इसके अतिरिक्त, प्रतिमा-रहित विचार हो सकता है, इस बात को मान लेने का यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' अशुद्ध सिद्धांत है। जब विचार की प्रक्रिया (Thought process) में मानसिक-'प्रतिमाएँ' हैं ही नहीं, तब वह 'वाद' कहाँ टिकेगा जिसमें उन प्रतिमाओं के 'सम्बन्ध' (Association) से ही विचार की उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार 'प्रतिमा-रहित चिंतन' (Imageless thought) के बिने तथा कुल्पे के विचार ने

१९वीं सदी के 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' तथा 'अन्तःप्रेक्षण' पर आक्रमण किया।

'अन्तःप्रेक्षण' तथा 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' को टिचनर द्वारा बल मिला—

इस आक्रमण का मुक़ाबिला टिचनर (१८६७–१९२७) ने किया। उसने प्राचीन 'प्रत्यय-संबंध-वाद' के सिद्धान्त को बीसवीं सदी का नया रूप दे दिया। उसने अपने परीक्षणों के आधार पर कहा कि हमारा चिंतन प्रतिमा-सहित ही होता है, प्रतिमा-रहित नहीं। क्योंकि हम प्रतिमा-सहित ही चिंतन कर सकते हैं, इसलिए उन प्रतिमाओं का मन की परीक्षण-शाला में जोड़-तोड़ होता रहता है, और उनका अनुभव 'अन्तःप्रेक्षण' के साधन से ही हो सकता है। टिचनर का यह सिद्धान्त १८वीं शताब्दी के 'प्रत्यय-संबंध-वाद' को उखाड़ने वाले प्रयत्नों के विरोध में था, और इसकी स्थापना का समय १९१० सन् कहा जाता है।

टिचनर मानसिक अनभवों को 'सत्ता' कहता है—

टिचनर के सम्प्रदाय को 'सत्तावादी' संप्रदाय कहा जाता है। यह इसलिए क्योंकि उसका कथन था कि मनोविज्ञान का काम उपयोगिता को दृष्टि में रखकर चलना नहीं है। जिस प्रकार भौतिकी, रसायन आदि विज्ञान अपने-अपने क्षेत्र की 'सत्ताओं' को लेकर उन पर विचार करते हैं, इसी प्रकार मनोविज्ञान भी मानसिक अनुभवों को, मन की 'सत्ताओं' (Existences) को लेकर उन पर विचार करता है। विज्ञान के नियमों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन हो रहा है, और इस प्रकार के अध्ययन के साथ-साथ कई ऐसी बातें स्वयं निकल आती हैं जो मानव-समाज के लिए उपयोगी हैं। इसी प्रकार मनोविज्ञान का भी शुद्ध विज्ञान (Pure Science) के तौर पर अध्ययन होना चाहिए, उपयोगिता के उद्देश्य से नहीं। इस सम्प्रदाय का 'शिक्षा-मनोविज्ञान' से अधिक संबंध नहीं है, तो भी 'प्रतिमा-रहित-चिंतन' हो सकता है, या नहीं, यह बात शिक्षा की दृष्टि से कम महत्त्व की भी नहीं कही जा सकती। 'प्रतिमा-रहित चिंतन', पर सत्तावादियों के अपने विचार हैं, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है।

२. व्यवहारवाद (BEHAVIOURISM)

वैसे तो 'अंतःप्रेक्षण' के तरीक़े पर देर से आक्षेप होते आए हैं, परन्तु १९वीं शताब्दी में ये आक्षेप बहुत बढ़ गए। संक्षेप में कहा जाय, तो वे आक्षेप निम्न थे :—

'अन्तःप्रेक्षण' (Introspection) पर तीन आक्षेप

(क) अन्तःप्रेक्षण पर फ्रेंच विद्वान् कांट ने यह आक्षेप किया है कि अन्तःप्रेक्षण के समय मनुष्य 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' दोनों बनाने का प्रयत्न करता है। यह संभव नहीं है। कल्पना कीजिये कि हमें क्रोध आया। हम अन्तःप्रेक्षण से देखना चाहते हैं कि क्रोध के समय मानसिक-प्रक्रिया क्या-क्या होती है। अगर क्रोध के समय हम उस समय उत्पन्न होने वाली मानसिक-प्रक्रिया का चिन्तन कर रहे हैं, तो क्रोध नहीं रह सकता; अगर क्रोध है, तो इस प्रकार का चिन्तन नहीं हो सकता। कांट के इस आक्षेप को दबे हुए शब्दों में मानते हुए मिल ने कहा है कि अगर अन्तःप्रेक्षण हो ही नहीं सकता, तो कम-से-कम मानसिक-प्रक्रिया की स्मृति तो हो सकती है। जेम्स ने तो यहाँ तक कह डाला है कि सम्पूर्ण अन्तःप्रेक्षण 'अनुप्रेक्षण' (Retrospection) ही है।

(ख) अन्तःप्रेक्षण पर दूसरा आक्षेप यह है कि पशु, बालक तथा पागल 'अन्तःप्रेक्षण' कर ही नहीं सकते, हालाँकि इनकी मानसिक-प्रक्रिया का जानना शिक्षा आदि की दृष्टि से बड़ा आवश्यक है। हम अपने विचार की प्रक्रिया के आधार पर कल्पना करते हैं कि पशु तथा बच्चे भी शायद इसी प्रकार सोचते होंगे, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जिस प्रकार हम सोचते हैं, इसी प्रकार पशु, बालक तथा पागल भी सोचते हों। अन्तःप्रेक्षण के आधार पर युवकों की मानसिक-प्रक्रिया का अध्ययन किया जा सकता है, दूसरों का नहीं।

(ग) युवकों का अन्तःप्रेक्षण भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। उनके विचारों पर उनकी शिक्षा आदि का इतना प्रभाव पड़ चुका होता है कि उनका अन्तःप्रेक्षण उनके अपने विचारों के रंग में रंगा होता है।

'स्ट्रक्चरल' तथा 'फंकशनल' साइकोलॉजी में भेद—

इस प्रकार, एक तरफ़ तो 'अन्तःप्रेक्षण' पर आक्षेप हो रहे थे, दूसरी तरफ़ 'चेतना' पर भी आक्षेप होने लगे। 'अन्तःप्रेक्षण' का विषय तो 'चेतना' ही थी। 'चेतना' के विषय में कहा जाने लगा कि यह अस्पष्ट-सी चीज है, इसका अध्ययन करने के बजाय हमें 'चेतना' का जो 'परिणाम' होता है उसका अध्ययन करना चाहिए। चेतना के अध्ययन का मतलब था, चेतना के एक-एक टुकड़े का अध्ययन। जिस प्रकार रसायन-शास्त्र में भौतिक-पदार्थ के भिन्न-भिन्न तत्त्वों (Elements) का अध्ययन करते हैं, और समझा जाता है कि उन भिन्न-भिन्न तत्त्वों के मिलने से पदार्थों की रचना होती है, इसी प्रकार 'चेतना' के विषय में समझा जाता था कि उसमें भिन्न-भिन्न मानसिक तत्त्वों, प्रत्ययों का जोड़-तोड़ होता रहता है। मनोविज्ञान का काम 'चेतना' के इन्हीं तत्त्वों का अध्ययन करना है। इस प्रकार के मनोविज्ञान को 'चेतना-रचना-वाद' (Structural Psychology) का नाम दिया जाता था। १९वीं शताब्दी के अन्त में तथा २०वीं शताब्दी के शुरू में यह विचार जोर पकड़ने लगा कि चेतना की 'रचना' (Structure) के विषय में यह विचार करना कि चेतना इन-इन तत्वों से मिलकर बनी है, निरर्थक है; हमें यह सोचना चाहिए कि चेतना अपना 'कार्य' किस प्रकार करती है। हमें किसी घटना को देखकर क्रोध आता है। इस पर यह विचार करने के बजाय कि क्रोध पहले 'चेतना' में उत्पन्न हुआ, फिर 'व्यवहार' में प्रकट हुआ, हमें यह विचार करना चाहिए कि क्रोध के आने पर हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर, हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा—चेतना का वर्णन करने के बजाय हमें क्रोध का हम पर जो प्रभाव पड़ा, उसका वर्णन करना चाहिए। इस विचार को उठाने वालों का कहना था कि जिस प्रकार विकास के क्रम में से गुजरते हुए हमारी उंगलियाँ बन गई हैं, हाथ-पैर एक ख़ास तरह के हो गए हैं, पहिले इस प्रकार के नहीं थे, इसी प्रकार विकास में से गुजरते हुए, एक ख़ास हालत में आकर, चेतना का भी विकास हुआ है। यह विकास किसी प्रयोजन से हुआ है, किसी उद्देश्य से हुआ है—ठीक इसी तरह जिस प्रकार हमारे हाथ-पैर का विकास किसी प्रयोजन से हुआ है। अर्थात्, प्राणि-शास्त्र (Biology) की दृष्टि से चेतना का एक

खास प्रयोजन है, और वह है जीवन की रक्षा के लिए 'कार्य' (Function) करना। मनोविज्ञान का काम चेतना की 'रचना' (Structure of Consciousness) का अध्ययन नहीं, चेतना के 'कार्य' (Function of Consciousness) का अध्ययन है। जिस प्रकार हाथ-पैर से हम जीवनोपयोगी काम लेते हैं, इसी प्रकार चेतना से भी काम लेते हैं। उन्हीं कार्यों (Functions) का हमें अध्ययन करना चाहिए। मनोविज्ञान के इस दृष्टिकोण को 'चेतना-कार्य-वाद' (Functional Psychology) का नाम दिया जाता है। विलियम जेम्स (१८४२–१९१०) ने इस विचार को मुख्यता दी। 'व्यवहार-वाद' ने 'चेतना' पर ही आक्रमण किया।

वाटसन का 'व्यवहार-वाद'—

हमने देखा कि १९वीं शताब्दी के अंत तथा बीसवीं शताब्दी के शुरू में 'अन्तःप्रेक्षण' तथा 'चेतना' के अध्ययन के विरुद्ध आवाजें उठीं। इसी के परिणामस्वरूप, व्यवहारवादी-सम्प्रदाय की स्थापना हुई। इस वाद के प्रवर्तक अमेरिका के वाटसन (१८७८) महोदय हैं। वाटसन ने कहा कि 'चेतना-रचना-वाद' (Structural Psychology) तथा 'चेतना-कार्य-वाद' (Functional Psychology) में कोई अधिक भेद नहीं है। दोनों 'चेतना' की रट लगाते हैं। 'चेतना' अस्पष्ट चीज़ है, उसका अध्ययन कैसा ? जेम्स के 'चेतना-कार्य-वाद' पर वाटसन का कथन है कि यह तो ठीक है कि मनोविज्ञान का काम मनुष्य के 'कार्यों' का निरीक्षण है, उनका अध्ययन है, परन्तु इसके साथ 'चेतना' को क्यों जोड़ा जाय ? हम देखते हैं, एक आदमी गुस्से में आकर हाथ-पैर पटकने लगता है। 'चेतना-रचना-वादी' कहता था कि चेतना में गुस्सा आया, हम उस गुस्से का अंतःप्रेक्षण द्वारा अध्ययन करेंगे; 'चेतना-कार्य-वादी' कहता था कि उस गुस्से से शरीर पर, उसके भिन्न-भिन्न अंगों पर जो प्रभाव पड़ा, हम उसका अध्ययन करेंगे; वाटसन का कथन है कि हमें 'चेतना' से कोई सरोकार नहीं, हम तो गुस्से की परिस्थिति में शरीर जो कार्य करने लगता है, जो चेष्टा तथा व्यवहार करता है, उसी का अध्ययन करेंगे, क्योंकि वही प्रत्यक्ष वस्तु है। वाटसन के इस व्यवहार-वादी सम्प्रदाय की स्थापना १९१२–१४ में हुई, उसने 'चेतना' शब्द हटाकर, 'व्यवहार'-शब्द का प्रयोग किया।

'व्यवहार-वाद' का आधार 'पशु-मनोविज्ञान'—

'व्यवहार-वाद' (Behaviourism) का प्रारम्भ 'पशु-मनोविज्ञान' (Animal Psychology) से हुआ। पशु-मनोविज्ञान के पण्डित थॉर्नडाइक (१८७४–१९४९) ने पशुओं पर कई परीक्षण किए। उसने अपने परीक्षणों के आधार पर बतलाया कि अगर मुर्ग़ी के बच्चे को पैदा होते ही थोड़ी-सी ऊँचाई पर बैठा दिया जाय, तो वह एकदम नीचे कूद पड़ेगा; कुछ अधिक ऊँचाई पर बैठाया जाय, तो घबराया हुआ कूदेगा; बहुत ऊँचे पर बैठाया जाय, तो नहीं कूदेगा। इसका यह अभिप्राय हुआ कि मुर्ग़ी का बच्चा बिना सीखे भी दूरी को देखकर ऐसा व्यवहार करता है, जैसा उसे करना चाहिए। थॉर्नडाइक ने मुर्ग़ी के बच्चे पर एक अन्य परीक्षण किया। पैदा होते ही उसे दूसरे बच्चों से अलहदा करके एक गोल पिंजड़े में बंद कर दिया, जिसमें एक छेद था। बच्चा पिंजड़े के अंदर गोलाई में चक्कर काटने लगा। कई चक्कर काटने के बाद वह उस छेद में से निकलकर अन्य बच्चों में आकर शामिल हो गया। उसे फिर पिंजड़े में बन्द कर दिया गया। फिर वह कई चक्कर काटने के बाद बाहर निकला। बार-बार ऐसा करने पर वह झट-से निकलने लगा, अब उसे कई चक्कर काटने न पड़े। एक भूखे मुर्ग़ी के बच्चे को उसने एक पिंजड़े में बन्द करके एक और परीक्षण किया। पिंजड़े के बाहर बच्चे के लिए भोजन रख दिया। बच्चा भीतर से चोंच मार-मारकर भोजन की तरफ़ जाने की कोशिश करता रहा। कई बार के प्रयत्न के बाद दरवाज़ा खुल गया। यह परीक्षण भी अनेक बार दोहराया गया। अन्त में बच्चा पहले ही झटके में दरवाज़ा खोलने लगा।

पशु कैसे सीखता हैं? थार्नडॉइक के परीक्षण—

थार्नडॉइक के इन परीक्षणों से 'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर बहुत प्रकाश पड़ा। उसे यह सूझा कि किसी बात को सीखने के विषय में पशुओं पर किए गए परीक्षणों से बड़ी सहायता मिल सकती है। पशु कैसे सीखता है? वह प्रयत्न करता है, असफल होता है, फिर करता है, फिर असफल होता है—अन्त में अनेक असफलताओं के बाद वह उसे सीख जाता है। अर्थात् पशु दूसरे को देखकर नहीं सीखता, ख़ुद सोच-विचार कर भी नहीं सीखता, परन्तु स्वयं करके किसी बात को सीखता है। वह किसी परिस्थिति में

अपने को पाकर, भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है, कठिनाई को पार करने की कोशिश करता है। बार-बार कोशिश करने पर उसके अकृतकार्य उद्योग निकल जाते हैं; कृतकार्य रह जाते हैं, और हम कहते हैं कि वह अमुक बात सीख गया। इस तरीके को, 'प्रयत्न करके, असफल होकर, फिर सीखने का तरीका' (Trial and Error Method) कहा जाता है। थॉर्नडाइक ने कहा कि केवल पशु ही इस तरीके से नहीं सीखता, मनुष्य भी इसी तरीके से सीखता है। सीखने (Learning) के इस 'प्रयत्न-परीक्षा'-नियम (Trial and Error Method) के दो भाग किए जा सकते हैं:

(१) अभ्यास का नियम (Law of Exercise)

(२) परिणाम का नियम (Law of Effect)

'अभ्यास' द्वारा, अर्थात् किसी काम को बार-बार करने से, मस्तिष्क में उस काम को करने की शक्ति बढ़ जाती है, और किसी काम को न करने से उसके करने की शक्ति घट जाती है। परन्तु 'सीखने' (Learning) में केवल 'अभ्यास' का नियम पर्याप्त नहीं है। जब हम किसी काम को सीख रहे हैं, उस समय ग़लती तो बार-बार होती ही है, परन्तु बार-बार होने पर भी वह सीखने की जगह भुला दी जाती है? ऐसा क्यों? क्योंकि सीखने में दूसरा नियम 'परिणाम' का नियम है। जिस काम के करने में हमें सुख, सन्तोष होता है, वह काम हम बार-बार न करने पर भी सीख जाते हैं; जिस काम के करने में हमें दुःख, असन्तोष होता है, उसे बार-बार करने पर भी हम भूल जाते हैं। कर्ज़ा लेकर प्रायः सब भूल जाते हैं, परन्तु वही लोग कर्ज़ा देकर नहीं भूलते। लेकर देना पड़ेगा, तो दुःख होगा। उस अवस्था को मन अपने सामने नहीं लाना चाहता, इसलिए लौटाने की बात तो वह भुला ही देता है।

वाटसन तथा थॉर्नडाइक में भेद—

थॉर्नडाइक के ये विचार वाटसन को अनुकूल पड़ते थे। इनके आधार पर 'चेतना' का नाम लिये बिना भी पशु तथा बालक के व्यवहार को समझने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु 'परिणाम के नियम' में वाटसन को अड़चन दीखती थी। 'परिणाम' का मतलब है, 'चेतना' पर परिणाम; और 'चेतना' को वह इस विवाद में लाना नहीं चाहता था। अगर

हमारे किसी काम से 'चेतना' को सन्तोष होता है, तो वह शीघ्र सीखा जाता है; अगर 'चेतना' को सन्तोष नहीं होता, तो वह नहीं सीखा जाता। इस समस्या का हल करने के लिए वाटसन ने कहा कि 'सीखने' (Learning) में 'परिणाम' का नियम कोई अलग नियम नहीं है। असली नियम 'अभ्यास' का ही नियम है। देर तक वाटसन का यही मत रहा कि 'पुनरावृत्ति' (Frequency), 'नवीनता' (Recency) तथा 'प्रबलता' (Vividness) के कारण मनुष्य किसी बात को सीखता या भूलता है, 'चेतना' पर उसके सन्तोष-जनक अथवा असन्तोष-जनक परिणाम के कारण नहीं। वाटसन ने कहा कि जब कोई प्राणी किसी काम को करता है, तो अनेक असफल प्रयत्नों से पहले उसे वह कार्य कई बार करना होता है, अतः अनेक बार करने के कारण ही वह उस कार्य को आसानी से करना सीख जाता है। इसका उत्तर थॉर्नडाइक ने यह दिया कि अगर यही बात है, तो जिन प्रयत्नों में वह असफल रहा है, उनकी संख्या सफल प्रयत्नों से ज्यादा रहने पर भी, वह किसी काम को क्यों सीख जाता है ? इस समस्या का उत्तर वाटसन को रशिया के शरीर-रचना-शास्त्रज्ञ पवलव के परीक्षणों में दिखाई दिया, और उसने पवलव के कथन को अपना लिया।

पवलव का शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त—

पवलव (१८४६–१९३६) का जन्म रूस में हुआ था। उसने १९०५ में यह सिद्धान्त निकाला कि हमारा बहुत-सा ज्ञान 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned Reflex) के द्वारा होता है। 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' का क्या अभिप्राय है ? इसे समझने के लिए पवलव के परीक्षणों को समझना आवश्यक है। पवलव एक कुत्ते पर परीक्षण करता था। वह कुत्ते के सामने जिस समय भोजन रखता था, ठीक उस समय घंटी भी बजाता था। भोजन को देखते ही कुत्ते के मुख से लाला-रस टपकने लगता था। जब इस प्रक्रिया को कई बार दोहराया जा चुका, तब भोजन लाने से पूर्व, घंटी को बजता सुनकर, और भोजन के लिए चहल-पहल को देखकर उसका मुंह लार टपकाने लगता था, भोजन की तश्तरी देखकर उसका मुंह भीज जाता था। यहाँ तक कि भोजन लाने वाले के क़दमों की आहट सुनकर भी उसका मुंह गीला हो जाता था। पवलव ने सोचा कि भोजन देखकर लार टपक

आना तो स्वाभाविक है, परन्तु भोजन को विना देखे, घंटी को सुनकर, भोजन लाने वाले के क़दमों की आहट पाकर लार क्यों टपकती है? इससे उसने परिणाम निकाला कि यद्यपि पहले तो भोजन देखकर मुंह से लार टपकती है, तो भी पीछे चलकर भोजन लाने के साथ अन्य जो बातें 'सम्वद्ध' हैं, उन्हें देखकर भी लार टपकने लगती है। भोजन देखकर लार टपक आना 'सहज-क्रिया' (Reflex action) है; घंटी सुनकर, तश्तरी देखकर लार टपकना 'सहज-क्रिया' नहीं है, यह 'सम्वद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) है। पहली वात स्वाभाविक है, सीखी नहीं जाती; दूसरी बात स्वाभाविक नहीं है, परन्तु आप-से-आप सीखी जाती है। 'सहज-क्रिया' (Reflex action)—इस शब्द में अंग्रेज़ी का 'रिफ्लैक्स' (Reflex) शब्द विशेष अर्थ रखता है। 'रिफ्लैक्स'-शब्द अंग्रेज़ी के रिफ्लैक्ट—Reflect—से बना है। 'रिफ्लैक्ट' का अर्थ है, किरण का शीशे पर पड़कर लौट आना। जैसे किरण शीशे पर पड़कर लौट आती है, इसी प्रकार विषय से ज्ञान-तन्तुओं द्वारा आया हुआ ज्ञान मस्तिष्क के केन्द्र में आकर चेष्टा-तन्तुओं द्वारा लौट जाता है, और तब प्राणी कोई क्रिया करता है। 'सम्वद्ध-सहज-क्रिया' का यह सिद्धान्त शिक्षा की दृष्टि से वड़े महत्त्व का था। पवलव ने कहा कि हम जो-कुछ भी सीखते हैं, वह सव 'सम्वद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का परिणाम है। वच्चा गाय का ज्ञान प्राप्त करता है। कैसे? बच्चे में अनुकरण करने की 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) है। जव हम 'गाय'-शब्द बोलते हैं, हमारी आवाज़ सुनकर वह भी 'गाय' बोलता है। यह अनुकरण उसकी 'सहज-क्रिया' है। परन्तु अगर जब-जब गाय सामने हो, तब-तब ही हम 'गाय' बोलें, दूसरे समय नहीं, तो क्या होगा? बच्चे का 'गाय' बोलने का सम्बन्ध हमारे अनुकरण करने से न रहकर, 'गाय' से जुड़ जायेगा। अब यह हमारे बोलने पर 'गाय' नहीं वोलेगा, परन्तु गाय के सामने आने पर 'गाय'-शब्द का उच्चारण करेगा। अर्थात् 'गाय' शब्द एक विशेष जानवर के साथ 'सम्वद्ध' हो जाएगा। पवलव के परीक्षणों से यह भी सिद्ध हुआ कि जैसे कुत्ते में घंटी सुनने के साथ लार टपकने को 'सम्वद्ध (Condition) किया जा सकता है, वैसे भोजन और घंटी को बिल्कुल अलग करके घंटी और

लार टपकने के सम्बन्ध को 'असंबद्ध' (De-Condition) भी किया जा सकता है।

'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-Response Theory)—

पवलव के 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) के सिद्धान्त से वाटसन के 'व्यवहार-वाद' को बहुत सहारा मिला। थॉर्नडाइक किसी नई बात को सीखने (Learning) में 'परिणाम का नियम' आवश्यक बतलाता था, परन्तु उसमें वाटसन को 'चेतना' की बू आती थी। हाँ, 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' मानने में 'चेतना'-शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता था। वाटसन व्यवहार-वादियों में सबसे ज्यादा कट्टर है। वैसे तो सभी व्यवहार-वादी 'चेतना' के शब्दों में बात करना पसन्द नहीं करते। 'देखना', अर्थात् कोई ऐसी 'चेतना' जो देखती है; 'सुनना' अर्थात् कोई ऐसी 'चेतना' जो सुनती है—इन शब्दों की जगह वे 'देखने' के लिए कहते हैं, 'विषय' (Stimulus) के सम्मुख आने पर आँख की 'प्रतिक्रिया' (Response); 'सुनने' के लिए कहते हैं, शब्द के होने पर कान की 'प्रतिक्रिया'। इस प्रकार 'विषय-प्रतिक्रिया' (Stimulus-Response) के शब्दों में अपने भावों को प्रकट करना ये लोग पसन्द करते हैं। इस दृष्टि से 'व्यवहार-वाद' को 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-Response Theory) भी कहा जाता है।

वाटसन का कहना है कि 'विषय' तथा 'प्रतिक्रिया' की सहायता से, परिस्थिति को अनुकूल बनाकर, हम बालक को जो चाहें बना सकते हैं। एक ही बालक को उत्तम-से-उत्तम चिकित्सक अथवा उत्तम-से-उत्तम वकील बनाना हमारे ही हाथ में है। बालक, वंशानुसंक्रमण (Heredity) से कुछ नहीं लाता, प्राकृतिक-शक्तियाँ (Instincts) कुछ नहीं हैं, परिस्थिति (Environment) ही सब-कुछ है। जीवन में 'संबद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का नियम ही शिक्षा का आधार है। शिक्षा की दृष्टि से यह विषय इतने महत्त्व का है कि इस पर हम आगे यथास्थान विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

३. मनोविश्लेषणवाद (PSYCHO-ANALYSIS)

फ्रॉयड का अज्ञात-चेतना (Unconscious) का अध्ययन—

व्यवहार-वादियों का कहना था कि 'चेतना' का अध्ययन मनोविज्ञान नहीं है। चेतना अन्दर की चीज़ है, मनोविज्ञान का काम 'व्यवहार' का, बाहर का अध्ययन है। मनोविश्लेषणवादियों ने कहा कि व्यवहार का अध्ययन ही हमें बतलाता है कि 'ज्ञात-चेतना' (Conscious-self) से गहरी एक दूसरी 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious-self) है। वह ऐसी चेतना है जिसके सामने हमारी 'ज्ञात-चेतना' मानो गहरे पानी के ऊपर की सतह है। उस चेतना का हमें ज्ञान नहीं होता, हमें उसका कुछ पता भी नहीं लगता, इसलिए उसे 'अज्ञात-चेतना' कहा जाता है। 'अज्ञात-चेतना' का अध्ययन एक गहरी चेतना का अध्ययन है, और इस दृष्टि से 'मनो-विश्लेषणवाद' को कभी-कभी 'अन्तश्चेतना-मनोविज्ञान' (Depth Psychology) भी कहते हैं। चेतना तो चेतना है ही, परन्तु 'ज्ञात-चेतना' के भीतर, गहराई में एक और चेतना है, जो हमारे ज्ञान में नहीं आती, छिपी हुई है, और उसका अध्ययन करना 'मनोविश्लेषण-वाद' का काम है।
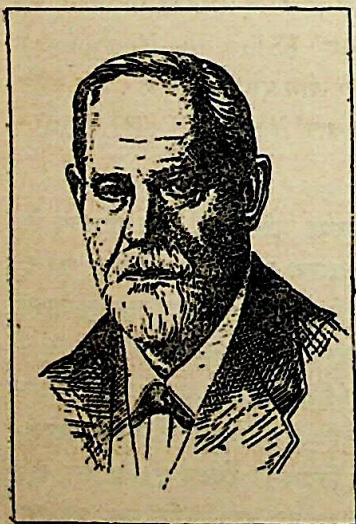
फ्रॉयड
(१८५६-१९३९)

मोह-निद्रा (Hypnotism)—

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे, वायना के महाशय फ्रॉयड (१८५६-१९३९)। इन्होंने चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया था, और इन्हें मृगी आदि के इलाज का ख़ास शौक़ था। इन्होंने पहले 'मोह-निद्रा' (Hypnotism) के द्वारा बीमारों का इलाज शुरू किया। मोह-निद्रा—हिप्नोटिज़्म—में क्या होता है? बीमार की

'ज्ञात-चेतना' तो सुप्त हो जाती है, परन्तु 'अज्ञात-चेतना' अपने को प्रकट करने लगती है। जो बातें जाग्रत्-अवस्था में रोगी के मुख से नहीं निकलतीं, जिनमें से कई का रोगी को जाग्रत्-अवस्था में ध्यान भी नहीं होता, वे मोह-निद्रा की अवस्था में रोगी आप-से-आप बोलने लगता है। पेरिस के जेनेट (१८५९) महोदय ने इस प्रकार के कई परीक्षण किये। जेनेट का कथन था कि उसने हिस्टीरिया के कई रोगियों को मोह-निद्रा के द्वारा सुलाकर पुरानी स्मृतियों को ताजा करने को कहा, तो उन्हें जीवन की कई ऐसी घटनाएँ याद हो आईं जिनसे समझ पड़ गया कि उन के मन की विक्षिप्त अवस्था क्यों थी। उन्हें जीवन में कहीं-न-कहीं कोई 'मानसिक-उद्वेग का धक्का' (Emotional shock) लगा था, उसकी उन्हें याद नहीं रही थी, उसका ज्ञान उनकी 'ज्ञात-चेतना' में नहीं था, परन्तु अन्दर-ही-अन्दर वह उनके संपूर्ण जीवन को, सम्पूर्ण व्यवहार को प्रभावित कर रहा था। जेनेट ने परीक्षणों से यह भी पता लगाया कि अगर रोगी को मोह-निद्रा की अवस्था में यह कह दिया जाय कि जो होना था सो हो गया, अब इसे भूल जाओ, तो रोगी विल्कुल ठीक हो जाता था।

हिप्नोटिज्म के उक्त तरीक़े से 'ज्ञात-चेतना' के पीछे छिपी हुई 'अज्ञात-चेतना' प्रकट हो जाती है; वह, उस अवस्था में, जैसे तेल पानी पर तैरने लगता है, इस प्रकार मानो 'ज्ञात-चेतना' के ऊपर तैरने-सी लगती है। 'अज्ञात-चेतना' के अध्ययन के द्वारा रोगी के रोग का कारण जाना जा सकता है, और उसे अपने विचारों द्वारा प्रभावित करके रोग को दूर भी किया जा सकता है। फ्रॉयड इसी काम में लगा हुआ था, इसी लिए उसे 'हिप्नोटिज्म' एक बहुत अच्छा साधन प्रतीत हुआ। परन्तु थोड़े ही दिनों में उसे यह अनुभव होने लगा कि प्रत्येक रोगी पर मोह-निद्रा का प्रभाव नहीं पड़ सकता। कई बीमार ऐसे मिलते हैं, जो किसी के बस में नहीं आते। ऐसों की 'अज्ञात-चेतना' की गहराई में भरे हुए विचारों को ऊपर की सतह पर लाने का क्या तरीक़ा किया जाय?

स्वतन्त्र-कथन (Free association) का तरीक़ा—

इस सम्बन्ध में फ्रॉयड चिन्तित ही था कि उसे अपने मित्र ब्रुअर (१८४२–१९२५) से बड़ी सहायता मिली। ब्रुअर को उसके एक स्त्री-

रोगी ने कहा था कि मोह-निद्रा की नींद में अगर उसे जो-कुछ वह कहना चाहे, कहने दिया जाय, तो उसका दिल मानो हल्का हो जाता था, और आगे से उसके मन की विक्षिप्त अवस्था नहीं रहती थी। इस नींद में उसकी अनेक पिछली भूली हुई स्मृतियाँ ताजी हो जाती थीं, और जब वह चिकित्सक से उन सब की चर्चा कर देती थी, तो उस पर हिस्टीरिया का प्रकोप कम हो जाता था। इस परीक्षण के बार-बार दोहराने से वह स्त्री ठीक भी हो गई थी।

ब्रुअर ने कुछ देर तक तो फ्रॉयड के साथ काम किया, परन्तु पीछे उसने इस क्षेत्र को छोड़ दिया। अब फ्रॉयड इकला ही परीक्षण करता था। उसने हिप्नोटिज्म तो छोड़ दिया, परन्तु रोगी जो-कुछ भी कहना चाहता था, वह सब-कुछ कह देने के तरीक़े को जारी रक्खा। वह रोगी को एक आराम-कुर्सी पर लिटा देता था। उस पर मोह-निद्रा करने के बजाय वह उससे कहता था कि तुम्हें जो-जो भी तकलीफ़ें हों, उन्हें याद करो, और जो-जो मन में आता जाय, कहते जाओ। हाँ, अपनी तकलीफ़ों को छोड़कर और किसी बात को मन में मत आने दो। इस प्रकार रोगी को सोचने के लिए खुला छोड़ देने से उसकी 'अज्ञात-चेतना' ऊपर आने लगती थी। वह रोगी को कहता था, अगर तुम्हारे मन में कोई बात आती है, तुम सोचते हो वह बहुत तुच्छ है, छोटी है, कहने लायक़ नहीं, इसकी भी पर्वाह न करो, कह डालो। फ्रॉयड ने 'अज्ञात-चेतना' को प्रकट करने के लिए हिप्नोटिज्म की जगह इस उपाय का प्रयोग किया। इस उपाय को 'स्वतन्त्र-कथन' (Free association) का उपाय कहा जाता है। 'मोह-निद्रा' तथा 'स्वतन्त्र-कथन' के उपाय ऐसे हैं, जिनसे 'अज्ञात-चेतना' का बन्द कपाट खुल जाता है, और हम उस चेतना के भीतर झाँकने लगते हैं, जो अबतक हमारे लिए एक बन्द पुस्तक के समान थी।

दबाई जाकर 'इच्छा' अज्ञात-चेतना में छिप जाती है—

'अज्ञात-चेतना' हमारे लिए बन्द क्यों थी? 'ज्ञात-चेतना' के समान ही 'अज्ञात-चेतना' के विचार मन की ऊपरली सतह पर क्यों नही तैरते; नीचे, गहराई में, आँखों से परे क्यों पड़े रहते हैं? फ्रॉयड इसका कारण बतलाता है। उसका कहना है कि मनुष्य में कई तरह के विचार हैं। कई

विचार ऐसे हैं, जिन्हें हमारा समाज बर्दाश्त कर लेता है, उन विचारों को रखने के लिए समाज का हम पर कोई बन्धन नहीं है; कई विचार ऐसे हैं, जिन्हें हमारा समाज पसन्द नहीं करता। जिन विचारों को हमारा समाज पसन्द करता है, वे हमारी 'ज्ञात-चेतना' में रहते ही हैं, परन्तु जिन विचारों को हमारा समाज पसन्द नहीं करता, वे भी तो मन में उठते रहते हैं, उनका क्या होता है ? फ्रॉयड का कथन है कि बस, वे ही विचार, 'अज्ञात-चेतना' में जाकर एकत्रित हो जाते हैं, और 'ज्ञात-चेतना' के लिए मानो लुप्त हो जाते हैं। हम अपनी तरफ़ से तो मानो उन विचारों को मन से धकेल कर बाहर फेंक देते हैं, परन्तु बाहर चले जाने के बजाय वे और अन्दर चले जाते हैं, 'अज्ञात-चेतना' में आकर बैठ जाते हैं। हम समझते हैं कि हमने उन्हें निकाल दिया, परन्तु वे निकलने के बजाय और अधिक अन्दर गड़ गए होते हैं। कल्पना कीजिये कि एक व्यक्ति किसी की विवाहिता-स्त्री के प्रति खिंचाव अनुभव करता है। यह विचार ऐसा है जिसे समाज सहन नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति के हृदय में यह विचार उत्पन्न होगा वह डर से, शर्म से, इस विचार को दबाने का यत्न करेगा। फ्रॉयड का कहना है कि यह विचार, जब एक बार मन में आ गया, तब नष्ट नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति के हृदय में यह विचार उठेगा, उसके सामने दो रास्ते खुले हैं। या तो वह सामाजिक नियमों की अवहेलना करके अपनी इच्छा को पूर्ण करे; या उस इच्छा के उठते ही उसे दबाने का यत्न करे। अक्सर लोग दूसरे मार्ग का अवलम्बन करते हैं। वे इस प्रकार की इच्छाओं को पूरा करने के बजाय दबाते हैं। जिन इच्छाओं को इस प्रकार दबाया जाता है, वे कुछ देर के बाद भुला दी जाती हैं, और मनुष्य को यह याद भी नहीं रहता कि ऐसी कोई इच्छा उसमें थी, या न थी। इच्छाओं को इस प्रकार दबाने को फ्रॉयड 'प्रतिरोध' (Repression) कहता है। इच्छाएँ इस प्रकार 'प्रतिरुद्ध' (Repressed) होकर मर नहीं जातीं; वे 'ज्ञात-चेतना' को छोड़ कर 'अज्ञात-चेतना' में चली जाती हैं। अगर वे 'ज्ञात-चेतना' में आने का यत्न करती हैं, तो हमारे भीतर की ही एक शक्ति उन्हें रोकती है, 'अज्ञात-चेतना' से 'ज्ञात-चेतना' में नहीं आने देती।

'प्रतिरोधक' (Censor) 'अवरुद्ध-इच्छा' को दबाये रखता है—

यह 'प्रतिरोध-शक्ति' क्या है? हम जब जन्मते हैं, तो अपने को एक समाज में पाते हैं। इस समाज में अनेक नियम बने हुए हैं। दूसरे की वस्तु उठाना चोरी है, दूसरे की स्त्री को छेड़ना अनुचित है, असत्य बोलना पाप है। ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होने लगता है, त्यों-त्यों समाज के इन नियमों के आधार पर उसके भीतर ये विचार घर करने लगते हैं। होते-होते जब वह बड़ा हो जाता है, तो इन नियमों को स्वतःसिद्ध समझने लगता है। उसके भीतर एक ऐसा 'उच्च अन्तःकरण' (Super-Ego) उत्पन्न हो जाता है जो उसे चोरी करने की इच्छा होने पर भी चोरी नहीं करने देता; दूसरे की स्त्री पर बुरी नज़र डालने की इच्छा होने पर भी ऐसा करने से मना करता है, झिड़कता है। एक तरह से मानो यह अच्छे और बुरे की पहचान करने वाला सन्तरी हो जाता है। बस, यह 'उच्च अन्तःकरण' जो समाज के प्रचलित आदर्शों का एक प्रतिबिम्ब है, 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात' चेतना के बीच में बैठकर 'प्रतिरोधक' (Censor) का काम करता है।

मनुष्य का 'साधारण अन्तःकरण' (Ego) इच्छाओं का घर होता है, वह हर-एक इच्छा को, गन्दी-से-गन्दी इच्छा को पूरा करना चाहता है; उसका 'उच्च अन्तःकरण' (Super-Ego) 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात' चेतना के बीच में बैठकर केवल उन्हीं इच्छाओं को बाहर निकलने देता है जो सामाजिक आदर्शों के प्रतिकूल नहीं हैं, दूसरी इच्छाओं को वह 'अज्ञात-चेतना' में धकेल कर उसके दरवाजे पर ऐसे बैठ जाता है, जैसे कोई पहरेदार बैठा हो।

परन्तु जो इच्छाएँ इस प्रकार 'अज्ञात-चेतना' में धकेल दी जाती हैं, जिन्हें हमारा 'उच्च अन्तःकरण', हमारा 'प्रतिरोधक' निकलने नहीं देता, क्या वे 'अज्ञात-चेतना' के भीतर दबी रह सकती हैं?

इच्छा दब कर भी क्रियाशील रहती है और रोग का कारण बनती है—

फ्रॉयड का कथन है कि 'इच्छा' कभी नष्ट नहीं होती। 'इच्छा' में क्रियाशीलता अन्तर्निहित रहती है। 'इच्छा' का यह स्वभाव है। 'इच्छा' अगर पूरी हो गई, तब तो ठीक; अगर पूरी न हुई, तो वह अपनी क्रिया-शक्ति को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रकट करती है। आख़िर, 'इच्छा' इसलिए

तो पूरी नहीं हो रही, क्योंकि उसके बाहर निकलने के दरवाज़े पर 'प्रतिरोधक' (Censor) बैठा है। जब 'इच्छा' के क्रिया में परिणत न हो सकने का यही कारण है, तब वह 'इच्छा' भी ऐसा मौका ढूंढती रहती है, जब 'प्रतिरोधक' शिथिल हो जाय, और उसे बाहर निकलने का अवसर मिल जाय। ऐसा अवसर उसे मिल भी जाता है। स्वप्न (Dreams) में ये ही अतृप्त दबी हुई इच्छाएँ सोते समय प्रकट होती हैं। स्वप्नों के विवेचन पर इन अतृप्त इच्छाओं से अच्छा प्रकाश पड़ता है। स्वप्न के समय ये प्रतिद्वन्द्वी इच्छाएँ स्पष्ट तौर पर अपने को नहीं प्रकट करतीं, मानो अपने नग्न-रूप में प्रकट होने से शर्माती हैं। स्वप्न में भिन्न-भिन्न प्रकार से, भिन्न-भिन्न शक्लों को धारण करके, ये इच्छाएँ प्रकट होती हैं। किस शक्ल के स्वप्न का क्या अर्थ होगा, उस 'शक्ल' (Symbol) के पीछे क्या इच्छा काम कर रही होगी, इस पर फ्रॉयड ने बहुत लम्बा-चौड़ा विवेचन किया है। 'ज्ञात-चेतना' ने जिन अतृप्त इच्छाओं को भुला दिया था, 'अज्ञात-चेतना' उन्हें नहीं भुलाती, परन्तु सीधे तौर पर सामने लाकर भी नहीं रखती। यह देखा गया है कि अगर किसी प्रकार 'अज्ञात-चेतना' में से इन इच्छाओं को हम ढूंढ निकालें, तो मानसिक रोगी, जो इन छिपी हुई इच्छाओं के कारण ही रोगी होता है, उन इच्छाओं के पता लग जाने पर खुद-ब-खुद ठीक हो जाता है। मनोविश्लेषणवादी-चिकित्सक रोगी को ऐसी अवस्था में ले आता है जब 'ज्ञात-चेतना' सो जाती है, प्रतिरोधक हट जाता है, 'अज्ञात-चेतना' मानसिक जगत् की ऊपर की सतह पर तैरने लगती है। क्योंकि छिपी हुई इच्छाओं में बाहर निकलने की प्रवृत्ति जोर से काम कर रही होती है, इसलिए रोगी को तनाव में से हटाते ही वे इच्छायें प्रकट होने लगती हैं। रोगी फिर से अपनी पुरानी हालत में पहुँच जाता है, मानो पुराना जीवन फिर से दोहराने लगा हो। पुरानी अवस्था तथा वर्तमान अवस्था में इतना भेद रहता है कि पहले इसी मानसिक विषमता के उपस्थित होने पर वह विचलित हो गया था, कठिनाई में से रास्ता नहीं निकाल सका था, और इसी का परिणाम था कि उसकी मानसिक अवस्था बिगड़ गई थी, अब यद्यपि फिर वह उसी विषम मानसिक अवस्था में आ गया है, तो भी उसका चिकित्सक उसे विचलित नहीं होने

देता, ठीक रास्ते पर लगा देता है। जैसे कोई रास्ता खो गया हो, उसे ठीक रास्ते पर डालने के लिए वहीं लौटाना पड़ता हैं जहाँ से वह ग़लत रास्ते पर पड़ा था, इसी तरह मानसिक रोगी को उस अवस्था में पहुँचाया जाता है, जहाँ किसी विषम समस्या के कारण उसके मन में कोई गाँठ पड़ गई थी। असावधानी की अवस्था में भी हमारी छिपी हुई इच्छायें निकल पड़ती हैं। उस समय इनके निकल पड़ने का यही कारण होता है कि मनुष्य असावधान होता है, अपनी 'प्रतिरोध-शक्ति' से काम नहीं ले रहा होता। क्रोध आदि मानसिक आवेगों के समय सालों की दिल के भीतर-भीतर छिपाई हुई बातें उछल-उछल कर निकलने लगती हैं। यह इसलिए, क्योंकि क्रोध के समय 'प्रतिरोध-शक्ति' बिल्कुल भाग जाती है, 'अज्ञात'-चेतना 'ज्ञात'-चेतना को पीछे धकेलकर स्वयं ऊपर आने लगती है, उसके भीतर छिपी हुई बातें भी 'चेतना' के ऊपर की सतह पर आने का मौका पाकर बड़े वेग से निकलने लगती हैं। बीमारी की हालत में भी 'प्रतिरोध-शक्ति' कम हो जाती है। इसके कम होते ही 'अज्ञात-चेतना' से निकल भागने की कोशिश करने वाली इच्छाएँ, फ़ौव्वारे में से पानी की तरह फूट पड़ती हैं। 'हिप्नोटिज़्म' तथा 'स्वतन्त्र-कथन' के उपाय से 'अज्ञात-चेतना' में छिपी हुई बातों को ही बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है।

'भावना-ग्रन्थि' (Complexes) का निर्माण—

हमने देख लिया कि मनुष्य की अतृप्त-इच्छाएँ भिन्न-भिन्न उपायों से बाहर निकलने का प्रयत्न करती हैं। परन्तु अगर हम उन्हें दबाते ही रहें, तो क्या परिणाम होगा? फ्रॉयड ने इस प्रश्न पर खूब विचार किया। वह कहता है कि जिन इच्छाओं को हम किसी कारण से तृप्त नहीं कर सकते—चाहे यह कारण हमारे 'उच्च अन्तःकरण' की प्रतिरोध-शक्ति हो, चाहे सामाजिक नियमों के प्रतिकूल चलने का भय या लज्जा हो—वे इच्छाएँ 'ज्ञात-चेतना' में तो रह नहीं सकतीं, वे 'अज्ञात-चेतना' में चली जाती हैं, और वहीं पलती रहती हैं। क्योंकि उन्हें तृप्त करने में कठिनाई होती है, इसलिए वे और भी प्रबल हो जाती हैं, यह उनका स्वभाव ही है। इस प्रकार की अतृप्त-इच्छाओं की संख्या बढ़ती जाती है। 'अज्ञात-चेतना' में

जाकर ये अतृप्त इच्छाएँ परस्पर मिल-जुल जाती हैं, उनकी अन्दर-ही-अन्दर एक गुत्थी-सी बन जाती है। फ्रॉयड इस गुत्थी को 'भावना-ग्रन्थि' (Complexes) का नाम देता है।

'भावना-ग्रन्थि' का 'व्यवहार' पर प्रभाव—

अतृप्त अथवा प्रतिरुद्ध इच्छाओं की ये 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) अत्यन्त क्रियाशील होती हैं, यद्यपि हमें उनकी सत्ता का भी ज्ञान नहीं होता। हमारा परिचय तो 'ज्ञात-चेतना' से होता है, ये 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) 'अज्ञात-चेतना' में पल रही होती हैं। इन 'ग्रन्थियों' के साथ 'तीव्र उद्वेग' (Strong Emotion) जुड़ा होता है। अगर यह 'उद्वेग' (Emotion) न हो, तो ये जीवित ही न रह सकें। इसी 'उद्वेग' के कारण इनमें 'क्रिया-शीलता' (Motivation) रहती है। अतृप्त-इच्छाओं की इन 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) का मनुष्य के स्वभाव, उसकी आदत, उसके चाल-चलन, उसके व्यवहार पर भारी असर होता है। इन 'भावना-ग्रन्थियों' का बालक की शिक्षा तथा उसके जीवन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कल्पना कीजिये कि आपका एक लड़का है। वह आपका पहला बालक है, इसलिए आप उसकी हर-एक इच्छा पूर्ण करते हैं। कुछ देर बाद आपकी एक और सन्तान होती है। अब बड़े लड़के की तरफ़ उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना पहले दिया जाता था, उसकी हर-एक इच्छा पूरी नहीं की जाती। कुछ दिन तक तो वह बड़ा तूफ़ान मचाता है, परन्तु बाद को चुप हो जाता है। इसका यह मतलब नहीं कि उसकी इच्छा नष्ट हो गई। इसका यह मतलब है कि वह इच्छा आपके बर्ताव से एक प्रकार का 'मानसिक-उद्वेग का धक्का' (Emotional Shock) खाकर 'ज्ञात-चेतना' में से 'अज्ञात-चेतना' में जा छिपी, और वहाँ वह अपनी 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) बनाने लगी, अपना ताना-बाना बुनने लगी। छोटे बच्चों में इस प्रकार की 'भावना-ग्रन्थियाँ' कई कारणों से उत्पन्न हो जाती हैं। किसी बालक की सौतेली माँ है, तो उसके व्यवहार से बालक की 'अज्ञात-चेतना' में कई प्रकार की 'भावना-ग्रन्थियाँ' उत्पन्न हो जाती हैं, क्योंकि सौतेली माँ के बर्ताव के कारण बालक को 'मानसिक-उद्वेग के धक्के' समय-समय पर पहुँचते

रहते हैं, उसे अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है; किसी का पिता बड़ा तेज-तर्रार है, तो उसके अकारण गर्जन-तर्जन को देखकर बालक की 'अज्ञात-चेतना' 'भावना-ग्रन्थियों' से भर जाती है। बालक डर के मारे कुछ कह नहीं सकता; उसकी 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) बढ़ती ही जाती हैं। बचपन की इन्हीं 'भावना-ग्रन्थियों' का परिणाम है कि कई बालक हठी हो जाते हैं, कई दुराग्रही, कई निराशावादी। अगर उनकी 'ज्ञात-चेतना' को बन्द करके, 'अज्ञात-चेतना' में घुसकर देखा जाय तो हठ, दुराग्रह तथा निराशावाद के आधार में ऐसी कहानियाँ मिल जायेंगी जो बालक को उस प्रकार का बनाने में कारण हुई होंगी।

शिक्षा तथा 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes)—

फ्रॉयड 'अज्ञात-चेतना' की 'भावना-ग्रन्थियों' का कारण ढूंढता-ढूंढता बचपन की तरफ़ जाता है। अधिकतर बचपन में ही ये 'भावना-ग्रन्थियाँ' उत्पन्न होती हैं। बचपन में ही यह मत करो, वह मत करो, ऐसा मत करो, वैसा मत करो का व्यवहार होता है। उसी समय से जिन इच्छाओं को हम तृप्त करना चाहते हैं, उन्हें रोका जाता है, दबाया जाता है। इच्छाओं को इस प्रकार रोकने से, उन्हें दबाने से, बालक की 'अज्ञात-चेतना' में 'भावना-ग्रन्थियों' की संख्या बढ़ती चली जाती है। बालक के 'प्रतिरुद्ध-मानसिक-उद्वेगों' (Repressed Emotional Life) के इस जीवन को समझना शिक्षा की दृष्टि से बड़ा आवश्यक है। मनुष्य के व्यवहार (Behaviour) पर असली प्रभाव 'अज्ञात-चेतना' में छिपे हुए 'प्रतिरुद्ध-मानसिक-उद्वेगों' का ही पड़ता है, और उन्हीं का पूरा होना या न होना बालक की शिक्षा की योग्यता, उसके सामर्थ्य, स्वभाव, आचार आदि का निर्धारण करता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक के विकास में उक्त प्रकार की 'भावना-ग्रन्थियाँ' न बनने दे, अगर वे बनेंगी, तो बालक के व्यवहार को पेचीदा बना देंगी। जिस प्रकार नदी के प्रवाह को रोकने से वह अपने दूसरे मार्ग बना लेती है, इसी प्रकार इच्छाओं के प्रवाह को रोकने से उसके भिन्न-भिन्न मार्ग बन जाते हैं; बालक का मानसिक-जीवन 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) से भर जाता है, और उन्हीं के कारण वह चिड़चिड़ा, दुराग्रही, हठीला तथा निराशावादी हो जाता है।

यद्यपि मनोविश्लेषण-वाद का प्रारम्भ मस्तिष्क के रोगियों को ठीक करने से हुआ था, तो भी, आगे चलकर, शिक्षा-विज्ञान तथा समाज-शास्त्र के लिए यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

'भावना-ग्रन्थि' (Complex) का 'उद्वेग' (Emotion) के साथ गठ-बन्धन—

क्योंकि फ्रॉयड ने अपना सम्पूर्ण समय रोगियों के अध्ययन में ही बिताया, इसलिए उसका वर्णन ऐसा है, जैसे मानो मनोविश्लेषणवाद का सम्बन्ध रोगियों से ही हो, और 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) उन्हीं में पाई जाती हों। यह जरूरी नहीं कि 'भावना-ग्रन्थियाँ' इच्छाओं को दबाने से ही उत्पन्न होती हों, और वे मानसिक रोगियों में ही पाई जाती हों। प्रत्येक व्यक्ति के मन में 'भावना-ग्रन्थियों' का समूह-का-समूह पाया जाता है। बचपन से ही हम प्रत्येक वस्तु के साथ किसी-न-किसी प्रकार के अपने 'उद्वेग' (Emotions) जोड़ते रहते हैं, और इनसे 'अज्ञात-चेतना' की 'भावना-ग्रन्थियाँ' बनती रहती हैं। बालक घर में अंगीठी के पास आकर बैठता है। वह अंगीठी में आग जलते हुए देखता है। आग को देखकर उसके मन में प्रकाश, गर्मी, क्षुधा-तृप्ति के विचार आग के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। आग के साथ इस प्रकार प्रसन्नता के 'उद्वेग' (Emotion) का जुड़ जाना, 'अज्ञात-चेतना' में 'भावना-ग्रन्थि' का उत्पन्न हो जाना है। अगर आग को देखकर यह याद आए कि इससे भोजन पकेगा, भोजन से भूख मिटेगी, तब तो यह मानसिक-प्रक्रिया 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' में आ जायगी। परन्तु अगर आग को देखकर किसी को केवल ख़ुशी हो, और इस ख़ुशी का कारण समझ में न आये, तो इसका कारण 'अज्ञात-चेतना' में आग के सम्बन्ध में बनी हुई 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) ही समझना चाहिए। इस प्रकार अनेक 'भावना-ग्रन्थियाँ' भिन्न-भिन्न पदार्थों के सम्बन्ध में बचपन में हमारे मन में बनती रहती हैं। हम जानते हैं कि शराब पीना ठीक नहीं, हमारा दिमाग़ भी इस बात को स्वीकार करता है कि यह बुरा है, परन्तु हमारी 'अज्ञात-चेतना' में, बचपन में कुछ ऐसे संस्कार पड़ चुके हैं, कुछ ऐसी 'भावना-ग्रन्थियाँ' बन चुकी हैं कि हम उनके प्रभाव में आ जाते हैं। 'अज्ञात-चेतना' में बनी हुई 'भावना-ग्रन्थि' स्वाभाविक होती है, किन्हीं दार्शनिक

विचारों या अध्ययन का परिणाम नहीं होती। अध्ययन से प्राप्त मानसिक विचार 'भावना-ग्रन्थि' नहीं कहाते। 'भावना-ग्रन्थियाँ' तो ख़ुद-ब-ख़ुद बनती रहती हैं। 'अज्ञात-चेतना' में जो 'भावना-ग्रन्थियाँ' बन जाती हैं, जरूरी नहीं कि वे अच्छी ही हों, जरूरी नहीं कि वे बुरी ही हों, यह भी जरूरी नहीं कि वे अतृप्त-इच्छा के दबे रहने के कारण ही उत्पन्न हों। उदाहरण के लिए, एक बालक है, जो चूहे को भागते हुए देखकर डर जाता है। आगे से उसके व्यवहार में भय की मात्रा बढ़ जाती है। बड़े होने पर वह डरपोक स्वभाव का हो जाता है, परन्तु उसे यह नहीं पता होता कि उसका ऐसा स्वभाव क्यों हो गया है। अगर उसे मोह-निद्रा में लाया जाय, तो हम देखेंगे कि 'चूहे' का नाम लेते ही वह चौंक जायगा। उसके इस प्रकार चौंकने से हमें पता लग जायेगा कि 'चूहे' ने उसके जीवन को बनाने में कोई ख़ास हिस्सा लिया है। चूहे के विषय में उसकी 'अज्ञात-चेतना' में जो 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) बनी, वह किसी 'उद्वेग' को दबाने (Repression) के कारण नहीं बनी, यों ही, एक घटना को देखकर, एक ख़ास प्रकार के 'मानसिक-उद्वेग का धक्का' (Emotional shock) लगने से बन गई थी। इस प्रकार की अच्छी, बुरी या अन्य प्रकार की 'भावना-ग्रन्थियों' के बनते-बनते बालक का स्वभाव भिन्न-भिन्न प्रकार का बन जाता है।

हमने देखा कि फ्रॉयड के कथन के अनुसार 'अज्ञात-चेतना' में कुछ उद्वेग-युक्त विचार, जिन्हें 'भावना-ग्रन्थि' (Complexes) कहा जाता है, बन्द रहते हैं, और वे हर समय उसमें से निकलने की कोशिश में रहते हैं। हमने यह भी देखा कि इन 'भावना-ग्रन्थियों' का सिलसिला बचपन से शुरू होता है। अब हम यह देखेंगे कि फ्रॉयड के मत में ये विचार, जो 'अज्ञात-चेतना' में बन्द रहकर उसमें से भिन्न-भिन्न रूपों में निकलने का यत्न करते रहते हैं, किस प्रकार के होते हैं।

फ्रॉयड का 'लिबिडो' (Libido)—

फ्रॉयड का कथन है कि ये विचार लिंग-सम्बन्धी (Sexual) होते हैं। वह कहता है कि बच्चे में लिंग-सम्बन्धी विचार शुरू-शुरू में ही उत्पन्न हो जाते हैं। बालक अपनी माता के प्रति खिंचता है, बालिका अपने पिता के प्रति। बालक के माता के प्रति और बालिका के पिता के प्रति

खिचाव को फ्रॉयड 'लिंग-सम्बन्धी' (Sexual) खिचाव कहता है। कुछ देर तक तो इस प्रेम में कोई रुकावट नहीं आती, परन्तु अगर माता बालक का दूध छुड़ाना चाहती है, तो बालक अनुभव करता है कि माता उसके प्रति सख्ती कर रही है। इसके अतिरिक्त वह यह भी देखता है कि जिस प्रकार उसका पिता उसकी माता के प्रति प्रेम करता है, वैसा बालक को नहीं करने दिया जाता है। यह देखकर वह अपने पिता को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने लगता है। उसके भीतर एक संग्राम चल पड़ता है। वह अपनी प्रतिरुद्ध इच्छा को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयत्न करता है। अंगूठा चूसना, पेशाब करना, मल त्याग करना—सब उसी के भिन्न-भिन्न रूप हैं। फ्रॉयड के मत में, बालक की प्रत्येक क्रिया का आधार 'काम-भावना' (Libido) है, इसी से प्रेरित होकर वह भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रवृत्त होता है। कुछ देर बाद उसकी 'काम-भावना' उत्पादक अंगों में केन्द्रित होने लगती है, वह अपने गुह्य-अंगों का स्पर्श करने लगता है। इस पर माता-पिता उस पर और बिगड़ते हैं, उसकी इन बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए उसे पीटते हैं। अब अपनी 'काम-भावना' (Libido) को 'प्रतिरुद्ध' (Repress) करने के सिवा उसके पास क्या चारा रह जाता है? इस प्रकार 'काम-भावना' के प्रतिरोध के कई परिणाम निकलते हैं। 'काम-भावना' का तो स्वभाव ही ऐसा है कि वह प्रतिरुद्ध नहीं रह सकती, वह भिन्न-भिन्न तौर से, भिन्न-भिन्न मार्गों से फूट निकलती है। किसी का दिमाग़ बिगड़ जाता है, कोई पागल हो जाता है, किसी को मृगी हो जाती है, और कोई हिस्टीरिया का शिकार हो जाता है।

रूपान्तरित करना (Sublimation)—

'काम-भावना' (Libido) 'अज्ञात-चेतना' में से बाहर न निकलेगी तो अन्दर-ही-अन्दर उथल-पुथल मचाए रक्खेगी। तो क्या किया जाय? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि उसे इस प्रकार निकलने दिया जाय जिससे अनर्थ भी न हो, और 'काम-भावना' अन्दर दबी भी न रहे। उसे 'निरुद्ध' (Suppress) किया जाय, 'प्रतिरुद्ध' (Repress) न किया जाय। किसी इच्छा का 'निरोध' हम तब करते हैं जब हम अन्तःकरण से अनुभव करते हैं कि वह बुरी है, 'प्रतिरोध' तब करते हैं जब हम केवल सामाजिक

भय से उसे दबा देते हैं। 'निरुद्ध' (Suppressed) इच्छा को दूसरे रूप में परिणत कर सकते हैं, 'प्रतिरुद्ध' (Repressed) इच्छा---वह इच्छा जिसे हम दबा तो देते हैं, परन्तु उसका मजा मन के भीतर-ही-भीतर लेना चाहते हैं—मन में 'भावना-ग्रन्थि' उत्पन्न कर 'स्नायु-रोग' (Neurosis) उत्पन्न कर देती है। समाज के भय से नहीं, परन्तु बुरी इच्छा के बुरेपन को जानकर, उसे दबा देने से वह चित्त में विक्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकती। योगदर्शन में इसी को 'चित्त-वृत्ति-निरोध' कहा गया है। 'निरोध' का अर्थ है बुराई को बुराई समझ कर, समाज के भय से नहीं, लात मार देना। तब वह नहीं सताती। जो इच्छा सताये उसे दबाने (Suppress) के बजाय उसके मार्ग को बदला जा सकता है। इसी उपाय को 'रूपान्तरित' (Sublimation) करना कहते हैं। काम-भाव अच्छा नहीं है, दबाने (Suppress) के बजाय उसी को भक्ति-मार्ग का रूप देकर भारत तथा अन्य देशों के धर्म-प्रवर्तकों ने काम-भाव को रूपान्तरित कर दिया था। इस दृष्टि से कला (Art) काम-भाव का ही 'रूपान्तर' (Sublimation) है।

एडलर तथा फ्रॉयड में भेद—

एडलर (१८७०–१९३७) पहले फ्रॉयड के साथ ही काम करता था, परन्तु १९११ में उसने 'मनोविश्लेषण-वाद' में अपने सम्प्रदाय की पृथक् स्थापना की। उसने कहा कि फ्रॉयड का यह कहना कि 'काम-भावना' (Libido) ही मनुष्य की प्रारम्भिक क्रियाओं का आधार है, ग़लत है। एडलर ने कहा कि 'काम-भावना के आवेग' (Sex-impulse) का जीवन में मुख्य स्थान तो है, परन्तु यह 'आवेग' (Impulse) जीवन का सर्वेसर्वा नहीं; जीवन में सब से मुख्य स्थान,

एडलर
(१८७०–१९३७)

जीवन की सब से बड़ी शक्ति, जीवन का सब से बड़ा आवेग 'शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा' (Self-assertive Impulse) है।

भावना-ग्रन्थि का आधार 'जीवन का तरीक़ा' (Style of life) है—

एडलर का कथन है कि हमारे सामने जीवन में तीन प्रश्न आते हैं: हम समाज में दूसरों के साथ कैसे बर्तें; बड़े होकर क्या पेशा करें; जीवन में प्रेम के प्रश्न को किस प्रकार हल करें। इन तीनों प्रश्नों को सब लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से हल करते हैं। कोई व्यक्ति इन प्रश्नों को किस प्रकार हल करता है, यह उसके 'जीवन के तरीक़े' (Style of life) पर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति का 'जीवन का तरीक़ा' बचपन में ही निर्धारित हो जाता है। 'जीवन के तरीक़े' के आधार पर ही बालक की 'अज्ञात-चेतना' में ही 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) बनती रहती हैं। जिस समाज में बालक उत्पन्न होता है, जिन अवस्थाओं में वह अपने को पाता है, उनमें वह 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' से प्रत्येक काम करता है। 'शक्ति प्राप्त करने' में कभी उसे सफलता होती है, कभी असफलता। उसी के आधार पर उसकी 'भावना-ग्रन्थियां' बनती रहती हैं। एक बालक दूसरे बालकों के साथ खेल रहा है। खेल में दूसरे आगे निकल जाते हैं, वह पीछे रह जाता है। इसमें उसकी 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' को संतोष नहीं मिलता। वह उन बालकों के साथ खेलना छोड़कर, अलग जाकर खेलने लगता है। अब उसका मुक़ाबिला करने वाला कोई नहीं, उससे आगे निकलने वाला कोई नहीं। इससे उसकी 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' को संतोष मिलता है। उसकी 'अज्ञात-चेतना' में अपने छोटेपन की, दूसरों से अलग रहने की 'भावना-ग्रन्थि' बन जाती है। 'हीनता' या 'बड़प्पन' की इस 'भावना-ग्रन्थि' बनने का कारण उसके 'जीवन का तरीक़ा' होता है। जिस बालक ने बचपन में इस प्रकार दूसरों से अलहदा रहकर अपने सामाजिक जीवन की समस्या को हल किया है, वह इसी 'जीवन के तरीक़े' को अपने 'पेशे' में भी ले आयेगा, और इसी तरीक़े से 'प्रेम' की समस्या को भी हल करेगा। वह ऐसा पेशा पसंद करेगा जिसमें मुक़ाबिला न करना पड़े; ऐसी स्त्री से शादी करेगा जो सुलभ हो। इसी प्रकार उसकी 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' पूर्ण हो सकती है, मुक़ाबिला करने से नहीं, क्योंकि वह दूसरों से

कमज़ोर है। 'जीवन का तरीक़ा' ज़्यादातर बचपन में, और वह भी घर में, निश्चित हो जाता है। जो लड़का अपने माँ-बाप का इकलौता बेटा है, उसकी देख-रेख बहुत होती है, माँ-बाप उसके लिए सब-कुछ करने को उत्सुक रहते हैं। उसकी 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' बिना हाथ-पैर चलाये पूरी होती रहती है, उसमें ऐसी 'भावना-ग्रन्थियाँ' उत्पन्न हो जाती हैं कि उसमें साहस करने की प्रवृत्ति ही दिखलाई नहीं देती। उसके 'जीवन का यह तरीक़ा'—उसकी यह सुस्ती, 'सामाजिक व्यवहार'-'पेशा'-'प्रेम'—इन तीनों में दृष्टिगोचर होती है। एक लड़का अपने माता-पिता का सबसे बड़ा पुत्र है। उसके 'जीवन का तरीक़ा' ऐसा हो जाता है कि वह छोटे भाइयों को सदा हुक्म देता रहता है। रोब जमाना उसके जीवन का हिस्सा हो जाता है। बड़े से छोटा लड़का जीवन संग्राम में पीछे आता है, इसलिए 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' के कारण वह उससे आगे निकलने की कोशिश करता है, उसके 'जीवन के तरीक़े' से उसकी 'भावना-ग्रन्थियाँ' ऐसी बनती हैं कि वह बड़े-से अधिक तेज़ हो जाता है। तीसरे लड़के के 'जीवन का तरीक़ा' पहले तथा दूसरे से भी भिन्न होता है। वह अपने 'जीवन के तरीक़े' में 'शक्ति प्राप्त करने' की अपनी स्वाभाविक इच्छा को पूरा करना चाहता है, और एक भिन्न-स्वभाव को उत्पन्न कर लेता है।

'उच्चता' तथा 'हीनता' की ग्रन्थि—

'शक्ति प्राप्त करने' की अपनी स्वाभाविक इच्छा को बालक अपने 'जीवन के भिन्न-भिन्न' तरीक़ों के अनुसार पूरा करते हैं। कइयों का 'जीवन का तरीक़ा' ऐसा है कि उन्हें शक्ति आसानी से मिल जाती है, वे हर-एक बात में अपने को दूसरों से बड़ा समझने लगते हैं, उनकी 'अज्ञात-चेतना' में 'उच्चता की भावना-ग्रन्थि'—'उच्चता-ग्रन्थि'—(Superiority complex) उत्पन्न हो जाती है; कइयों का 'जीवन का तरीक़ा' ऐसा है कि उन्हें शक्ति आसानी से नहीं मिलती, वे हर-एक बात में अपने को दूसरों से छोटा समझने लगते हैं, उनकी 'अज्ञात-चेतना' में 'हीनता की भावना-ग्रन्थि'—'हीनता-ग्रन्थि'—(Inferiority complex) उत्पन्न हो जाती है। जिन बालकों के 'जीवन का तरीक़ा' हीनावस्था का होता है, वे उस हीनता से बचने के लिए भिन्न-भिन्न उपायों का अवलम्बन करने

लगते हैं। जो बालक बदसूरत है, उसे अपनी बदसूरती का ख़्याल हो जाय, तो वह दूसरों से मिलना-जुलना छोड़ देता है। जीवन के इस तरीक़े से वह समझता है कि अब उसकी बदसूरती को देखकर उसे नीचा समझने-वाला कोई नहीं। 'शक्ति प्राप्त करने' की अपनी स्वाभाविक इच्छा को वह इसी प्रकार पूरा करता है। जो लड़का शारीरिक दृष्टि से निर्बल है, वह पढ़ाई में तेज़ होने का प्रयत्न करता है। निर्बल होने के कारण उसे जो नीचा देखना पड़ता है, पढ़ाई में तेज़ होकर वह उसे पूरा करने का प्रयत्न करता है। अनुत्तीर्ण हो जाने पर बालक अक्सर कहा करते हैं, अगर हम बीमार न पड़े होते तो परीक्षा में ज़रूर उत्तीर्ण हो जाते। अपनी हीनता को मानने से इन्कार करने का यह भाव 'शक्ति प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा' का निदर्शक है। बच्चे अक्सर कहा करते हैं, यह काम हम ख़ुद करेंगे। ख़ुद करने के भाव से उनकी वही इच्छा पूर्ण होती है। लड़की पैदा होते ही लड़के से हीन मानी जाती है। हीनता की इस भावना का परिणाम है कि आज लड़कियाँ अनेक क्षेत्रों में लड़कों से आगे बढ़ी जा रही हैं। अगर समाज में लड़के-लड़कियों का समान स्थान होता, तो स्त्री-जाति में स्त्रीत्व के प्रति विद्रोह न खड़ा होता। कभी-कभी हीनता की भावना मनुष्य को महान् बना देती है। नैपोलियन की माता उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखा करती थी, नैपोलियन ने इस भावना के प्रति विद्रोह करके संसार में नाम पैदा कर लिया। परन्तु सब लोग तो ऐसा नहीं कर सकते। प्रायः हीनता की भावना के कारण बालकों में ऐसी भावना-ग्रन्थियाँ बन जाती हैं, जो 'स्नायु-रोग' (Neurosis) उत्पन्न कर देती हैं। एडलर के उक्त सिद्धान्तों से बालक की शिक्षा के प्रश्न पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। एडलर ने जिस मनोविज्ञान का प्रतिपादन किया, उसे 'वैयक्तिक-मनोविज्ञान' (Individual Psychology) कहा जाता है।

जुंग का एडलर तथा फ्रॉयड से भेद—

मनोविश्लेषण-वाद में तीसरे मुख्य व्यक्ति जुंग (१८७५) महोदय हैं। जुंग का फ्रॉयड से दो बातों में मतभेद है। फ्रॉयड का कथन है कि मनुष्य की मानसिक रचना में विकार उत्पन्न होने का कारण बचपन में उत्पन्न हुई

'अज्ञात-चेतना' में विद्यमान 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) हैं। जुंग कहता है कि बचपन की 'भावना-ग्रन्थियाँ' तो 'दूरवर्ती-कारण' (Predisposing cause) हैं। उनके अलावा, वर्तमान में 'निकटवर्ती-कारण' (Exciting cause) भी मौजूद होता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। हो सकता है कि व्यक्ति की 'अज्ञात-चेतना' में अवशिष्ट रूप से कई बुरी 'भावना-ग्रन्थियाँ' मौजूद हों, और फिर भी वे मन की विक्षिप्त अवस्था को उत्पन्न न करें। हाँ, अगर वर्तमान में व्यक्ति के सम्मुख कोई कठिन समस्या उपस्थित हो जाय, और वह उसका मुकाबिला न कर सके, तो वह बाल्य-काल की विधि की ओर लौट जाता है, और ठीक ऐसी ही चेष्टाएँ करने लगता है, जैसी वह बचपन में, ऐसी कठिनाई के उपस्थित हो जाने पर, करता। अगर उसकी कठिनाई का कोई हल निकल आता है, तब तो ठीक; नहीं तो उसके मन का विक्षेप बना रहता है। इस दृष्टि से फ्रॉयड तथा जुंग में पहला भेद यह है कि फ्रॉयड मानसिक-विक्षेप का कारण भूत की कठिनाई, अर्थात् बचपन की 'अज्ञात-चेतना' की 'भावना-ग्रन्थियों' को मानता है; जुंग भूत के साथ वर्तमान कठिनाई पर बल देता है।

जुंग-कृत 'लिबिडो' का नवीन अर्थ—

दूसरा भेद 'काम-भावना' (Libido) के विषय में है। फ्रॉयड 'काम-भावना' को जीवन की मुख्य शक्ति मानता है; एडलर 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' को; जुंग इन दोनों को मिला देता है। जुंग ने 'काम-भावना' का लिंग-सम्बन्धी (Sexual) अर्थ न करके विस्तृत अर्थ किया है। वह कहता है कि 'काम-भावना' (Libido) जीवन की एक शक्ति है। उसके दो हिस्से हैं। एक 'लिंग सम्बन्धी प्रवृत्ति' (Sexual Impulse); दूसरी 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' (Self-assertive Impulse)। जिस प्रकार भौतिक-शक्ति आग, बिजली, भाप आदि के रूप में बदलती जाती है, इसी प्रकार 'काम-भावना' (Libido) का अर्थ वह 'शक्ति' है, जो बचपन में खेलने-कूदने, खाने-पीने, शरीर के भरण-पोषण करने के रूप में, और युवावस्था में 'प्रेम-भावना' के रूप में प्रकट होती है। इस शक्ति को न केवल 'लिंग-सम्बन्धी प्रवृत्ति' (Sexual

Impulse) ही कहा जा सकता है, न केवल 'शक्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति' (Self-assertive Impulse) ही; इसमें ये दोनों शक्तियाँ शामिल हैं। जो लोग शक्ति प्राप्त करने की इच्छा से प्रेरित होते हैं, वे 'अन्त-र्मुख' (Introvert) कहे जाते हैं; जो विषय-वासना के पुजारी हैं, वे 'बहिर्मुख' (Extrovert) कहे जाते हैं। इस प्रकार जुंग ने फ्रॉयड के 'काम-भावना' (Libido)-शब्द का विस्तृत अर्थों में प्रयोग किया है।

'मनोविश्लेषण' का विषय बिल्कुल नया विषय है। इसमें दिनोंदिन नए-नए विचार उत्पन्न हो रहे हैं। हमने बालक की शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले मुख्य-मुख्य विचारों का ही यहाँ वर्णन किया है!

४. प्रयोजन-वाद (PURPOSIVISM)

प्रतिक्रिया 'प्रेरक-कारण' (Motive) के होने पर ही होती है—

इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मैक्डूगल है। उसका कथन है कि व्यवहार-वादियों का इतना कहना तो ठीक है कि जब भी प्राणी के सम्मुख कोई 'विषय' (Stimulus) उपस्थित होगा, उसमें उसके प्रति 'प्रतिक्रिया' (Response) भी होगी। परन्तु 'विषय' के उपस्थित होने से ही 'प्रतिक्रिया' होती हो, उसमें और कुछ कारण न हो, इस बात को वह नहीं मानता। 'विषय' के सामने आने से पहले भी प्राणी के मन में कई 'प्रेरक-कारण' (Motives) होते हैं, और उन 'प्रेरक-कारणों' के अनुसार ही वर्तमान 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है। ये 'प्रेरक-कारण' ही वर्तमान 'प्रतिक्रिया' के निश्चायक होते हैं। कल्पना कीजिए कि आपका हाथ किसी गर्म चीज़ को छू जाने से जल गया, सामने पानी का घड़ा पड़ा है, आपने एकदम हाथ को पानी में डाल दिया। आपकी इस 'प्रतिक्रिया' में घड़े का सामने पड़ा होना-मात्र कारण नहीं हो सकता। कारण है, हाथ जलने से जो पीड़ा अनुभव हुई, उसे दूर करने की इच्छा। वह पीड़ा न हो, तो घड़े के सामने पड़े होने पर भी आप उसमें हाथ नहीं डालेंगे। इसलिए मैक्डूगल का कथन है कि किसी ख़ास परिस्थिति में हम क्या करेंगे, क्या नहीं करेंगे, इसका निर्णय व्यवहारवादियों की भाषा में नहीं किया जा सकता; यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक 'विषय' (Stimulus)

उपस्थित हुआ, और अमुक 'प्रतिक्रिया' (Response) हो गई। ख़ास-ख़ास 'प्रतिक्रिया' को उत्पन्न करने के लिए प्राणी के मन में ख़ास-ख़ास 'प्रेरक-कारणों' (Motives) का होना जरूरी है। उन 'प्रेरक-कारणों' के अनुसार ही एक प्रकार के 'विषय' के उपस्थित होने पर एक तरह की 'प्रतिक्रिया' होगी; दूसरी तरह के 'प्रेरक-कारणों' के होने पर दूसरी तरह की 'प्रतिक्रिया' होगी। एक आदमी भूखा है, उसके सम्मुख भोजन लाया जाता है, वह उस पर झपट पड़ता है; दूसरा आदमी भूखा नहीं है, उसके सामने भोजन लाया जाता है, और वह उसकी तरफ़ देखता भी नहीं। क्यों? इसलिए क्योंकि 'प्रतिक्रिया' का निश्चय हमारे मन में वर्तमान 'प्रेरक-कारणों' के अनुसार होता है।

'प्रेरक-कारण' (Motive) ही 'प्रयोजन' (Purpose) है—

तो क्या इस प्रकार के 'प्रेरक-कारण' (Motives, Purposes) पशुओं में भी पाये जाते हैं? व्यवहार-वादी 'प्रेरक-कारणों' को न पशुओं में मानते हैं, न मनुष्यों में। उनका तो इतना ही कथन है कि प्राणी एक यन्त्र के समान है, जिसके सम्मुख 'विषय' आता है, तो 'प्रतिक्रिया' उत्पन्न हो जाती है; परन्तु मैक्डूगल कहता है कि पशुओं में 'प्रेरक-कारण' होते हैं और उनके भेद के कारण उनकी 'प्रतिक्रिया' भिन्न-भिन्न हो जाती है। पवलव के परीक्षण में हमने देखा था कि उसने भूखे कुत्ते पर परीक्षण किए थे। भूखे पर क्यों, तृप्त पर क्यों नहीं? क्योंकि भूख एक ऐसा 'प्रेरक-कारण' है जिसके होने पर 'प्रतिक्रिया' एक तरह से होती है, न होने पर दूसरी तरह से। इन 'प्रेरक-कारणों' के भिन्न होने पर 'प्रतिक्रिया' भिन्न हो जाती है, व्यवहार दूसरी तरह का हो जाता है। उदाहरणार्थ, एक बिल्ली चूहे को देख रही है। उस समय उसके 'प्रेरक-कारण' उसकी एक-एक नस को चूहे पर झपटने के लिए तैयार कर रहे हैं। वही बिल्ली अगर कुत्ते को देख रही है, तो उसका सारा शरीर भागने की तैयारी कर रहा है। अतः, आन्तरिक 'प्रेरक-कारण' ही प्राणी के व्यवहार को बनाता है। पशुओं में ये 'प्रेरक-कारण' 'सप्रयोजन' (Purposive) तो होते हैं, परन्तु 'प्रयोजन-पूर्ण' (Purposeful) नहीं होते। कहने का अभिप्राय यह है कि इन 'प्रेरक-कारणों' में प्रकृति ने प्रयोजन निहित किया

हुआ है, यद्यपि पशु को उस प्रयोजन का ज्ञान नहीं होता, मनुष्य को हो जाता है। यह 'प्रेरक-कारण' प्रबल हो जाय, तो व्यवहार में प्रबलता आ जाती है; यह कारण निर्बल हो जाय, तो व्यवहार में निर्बलता आ जाती है। एक लड़का पढ़ने में बड़ा सुस्त है। उसे कहानी सुनने का शौक़ है। उसके हाथ में कहानियों की एक पुस्तक पड़ जाती है, अब वह दिन-रात पढ़ने में लगा हुआ दिखाई देता है। क्यों? क्योंकि उसके मन में एक 'प्रेरक-कारण' प्रबल हो उठा है। इस 'प्रेरक-कारण' के द्वारा प्राणी किसी काम को करने के लिए तैयार (Ready), तत्पर (Set) हो जाता है। किसी 'प्रेरक-कारण' के द्वारा जब यह तैयारी, यह तत्परता, प्राणी में उत्पन्न हो जाती है, तो हम कहते हैं कि उस प्राणी में 'प्रयोजन', 'उद्देश्य', 'लक्ष्य' (Purpose) उत्पन्न हो गया है।

प्रोजेक्ट-सिस्टम—

शिक्षा की दृष्टि से बालक के मन में 'प्रयोजन' (Purpose) का उत्पन्न हो जाना बड़ा महत्त्व रखता है। एक लड़का अपने कुत्ते के लिए छोटा-सा घर बनाना अपना 'प्रयोजन' (Purpose) बनाता है। वह अपनी सारी शक्ति उसके बनाने में लगा देता है। ईंटें इकट्ठी करके लाता है। अगर उसे वे ईंटें मोल लेनी पड़ी हैं, तो वह उन्हें गिनकर गिनती सीख जाता है, और चीज़ों की ख़रीद भी सीख जाता है। क्योंकि माप-माप कर कुत्ते का घर बना रहा है, उसे ऊँचाई-नीचाई का ज्ञान भी हो जाता है। यह सब काम उसे अनायास आ जाता है। अगर कोई लड़का कॉलेज में पढ़ता है, उसने किसी विषय पर निबन्ध लिखना अपना उद्देश्य बना लिया है, तो अनेक पुस्तकों को वह आसानी से पढ़ डालता है। शिक्षक का काम बालक के मन में 'उद्देश्य', 'प्रयोजन' (Purpose) उत्पन्न कर देना है, ऐसा 'प्रयोजन' बना नहीं कि उसने उसे पूरा करने के लिए जमीन-आसमान एक किया नहीं। 'प्रोजेक्ट-सिस्टम' के आधार में यही नियम काम कर रहा है। लड़के अपने सामने एक 'प्रयोजन' (Purpose), एक 'लक्ष्य' बना लेते हैं, और उसे पूरा करने में जी-जान से लग जाते हैं, और उसी में सब-कुछ सीख जाते हैं।

'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) ही 'प्रेरक-कारण' (Motive) है—

हमने मैक्डूगल के 'प्रेरक-कारणों' का उल्लेख किया। हमारी 'विषय' के प्रति 'प्रतिक्रिया', हमारा 'व्यवहार' एक ख़ास तरह का है, दूसरी तरह का नहीं—इसका हेतु ये 'प्रेरक-कारण' ही हैं। परन्तु ये 'प्रेरक-कारण' हैं क्या चीज़? इन 'प्रेरक-कारणों' को मैक्डूगल 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instincts) कहता है। हमारी 'प्राकृतिक-शक्तियाँ'—भूख को मिटाना, लड़ना, सन्तानोत्पत्ति, संग्रह करना आदि—ही हमारे व्यवहार को बनाने में 'प्रेरक-कारण' का काम देती हैं। कइयों का कहना है कि मनुष्य में कोई 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) नहीं हैं, वह सब-कुछ परिस्थिति से सीखता है। मैक्डूगल इस बात को नहीं मानता। उसने इन शक्तियों की गणना की है, और ये शक्तियाँ किस प्रकार हमारे व्यवहार के बदलने में 'प्रेरक-कारण' बनती हैं, इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'प्राकृतिक-शक्तियों' का विषय एक अलग विषय है, हम उनका वर्णन अलग अध्याय में करेंगे। परन्तु यहाँ इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि जहाँ फ्रॉयड ने 'काम-भावना के आवेग' (Sex Impulse) का पता लगाया, एडलर ने 'आत्म-गौरव की प्राकृतिक-शक्ति' (Self-assertive Instinct) का पता लगाया, वहाँ मैक्डूगल ने १४ 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) का पता लगाकर उनकी शिक्षा में उपयोगिता का प्रतिपादन किया। इस दृष्टि से 'स्नायु-रोग' (Neurosis) किसी भी 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) के प्रतिरुद्ध होने से उत्पन्न हो सकता है। यह प्रतिरोध लिंग-सम्बन्धी हो, हीनता-सम्बन्धी हो, भय, दैन्य, संवेदना आदि किसी 'प्राकृतिक-शक्ति' से क्यों न सम्बन्ध रखता हो। मैक्डूगल ने अपने सम्प्रदाय की १६०८ में स्थापना की और इसका नाम 'प्रयोजन-वाद' (Purposivism; Motivism या Hormic Psychology) रक्खा।

५. अवयवी-वाद (GESTALT THEORY)

हमें 'अवयवी' (Whole) से 'अवयव' (Part) का ज्ञान होता है—

जिस समय अमेरिका में 'व्यवहार-वाद' की चर्चा शुरू हुई थी, उसी समय जर्मनी में 'अवयवी-वाद' का प्रारम्भ हो रहा था। मनोविज्ञान

के प्रचलित वादों में यह सबसे नवीन है। 'अवयवी-वाद' को, 'जेस्टाल्ट-वाद' कहा जाता है। 'जेस्टाल्ट' जर्मन भाषा का शब्द है। इसका अर्थ है—'रूप (Shape), 'आकृति' (Form), 'अवयवी', 'सम्बद्ध-प्रत्यय', 'सामान्य' (Pattern)। अंग्रेजी में इसके लिए 'कॉनफ़िगरेशन' शब्द का प्रयोग होता है। हम देख चुके हैं कि १७, १८ और बहुत-कुछ १९वीं शताब्दी में 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' का ही बोलबाला था। 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' (Association of Ideas) मनुष्य के प्रत्येक अनुभव का विश्लेषण करता था, इस वाद के अनुसार हमारे 'अनुभव' विचार के भिन्न-भिन्न अणुओं से बने होते हैं, ठीक इस प्रकार जैसे रसायन-शास्त्र का कथन है कि भौतिक-पदार्थ भिन्न-भिन्न तत्वों से बने होते हैं। विचार की इस प्रक्रिया को 'चिन्तनाणुवाद' (Atomism of thought) या 'चेतना-रचना-वाद' (Structural Psychology) कहा जाता है। अर्थात्, हमारे चिन्तन का अगर विश्लेषण किया जाय, तो 'प्रत्यय' अलग-अलग दिखाई देंगे; चिन्तन के इन्हीं 'अणुओं', 'प्रत्ययों' के मिलने से 'विचार' या 'चेतना' बनती है। 'व्यवहार-वाद', 'अनुभव' का विश्लेषण करने के बजाय, 'व्यवहार' का विश्लेषण करता था; हमारा प्रत्येक 'व्यवहार', 'विषय' तथा 'प्रतिक्रिया' के सम्बन्ध के जुड़ने से उत्पन्न होता है। 'जेस्टाल्ट-वादियों' ने कहा कि 'विचार', 'अनुभव' तथा 'व्यवहार' का इस प्रकार भिन्न-भिन्न तत्वों में विश्लेषण करना, और यह कहना कि इनकी उत्पत्ति इन विशिष्ट तत्वों के संयोग से होती है, ग़लत विचार है। यह कहना कि पहले अमुक 'प्रत्यय' आया, फिर अमुक आया, और इनके मिलने से अमुक विचार बन गया, मानसिक-प्रक्रिया को न समझना है। 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वादियों' के सम्मुख यह प्रश्न पहिले भी एक-दूसरे रूप में आ चुका था। अगर 'विचार' भिन्न-भिन्न 'प्रत्ययों' के सम्बद्ध हो जाने से बनता है, तो ये प्रत्यय जुड़ते कैसे हैं, इनका सम्बन्ध कौन स्थापित करता है ? कई विचारक तो इतना कह देने से सन्तुष्ट थे कि बस, उन प्रत्ययों का सम्बन्ध किसी-न-किसी तरह जुड़ जाता है, परन्तु आत्मवादी-मनोवैज्ञानिक कहते थे कि इस सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए मन अथवा आत्मा को मानो, तब सम्बन्ध जुड़ेगा, यों ही कैसे जुड़ जायेगा ? 'जेस्टाल्ट-वादियों' ने कहा कि हमारा

ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के जुड़ जाने से नहीं बनता; 'सम्बद्ध-प्रत्ययों'—अर्थात् पहले से ही स्वयं जुड़े हुए 'प्रत्ययों' (Patterns) के रूप में ही हमें ज्ञान होता है। हमें 'अवयवी' (Whole) का ज्ञान इकट्ठा होता है, भिन्न-भिन्न 'अवयवों' (Parts) के मिलने से 'अवयवी' का ज्ञान होता हो, ऐसी बात नहीं है। हम एक राग सुनते हैं। इस 'राग' को, भिन्न-भिन्न 'स्वरों' को जोड़कर उत्पन्न नहीं किया जाता; 'राग' की, स्वरों से पृथक्, 'राग'-रूप में अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। दो भिन्न-भिन्न चेहरे बनाकर बिल्कुल एक तरह की ठोडी जोड़ दी जाय, तो ठोडी की शक्ल तथा उसका भाव दोनों चेहरों में अलग-अलग दिखाई देने लगते हैं। यह क्यों? इसलिए कि यद्यपि ठोडी तो दोनों चेहरों में एक ही है, 'अवयव' में कोई परिवर्तन नहीं, तो भी दोनों चेहरे भिन्न-भिन्न हैं, 'अवयवी' (Organised wholes) अलग-अलग हैं। पानी का एक बुदबुदा है, उसे कहीं से छुआ जाय, तो फूट जाता है। क्यों? इसलिए कि वह बुदबुदा सारा मिलकर 'एक' बनता है, उसकी भिन्न-भिन्न 'हिस्सों' के रूप में कल्पना करना ठीक नहीं है।

वस्तु के दूर हो जाने पर भी उसका पहले-सा ज्ञान क्यों होता है?—

'जेस्टाल्ट-वाद' का प्रारंभ १९१२ में कर्क कोफ़्का (१८८६) तथा वोल्फ़ांग कोहलर (१८८७) ने किया था। इन लोगों ने अधिकतर परीक्षण 'दृष्टि' (Sight) पर किए थे। कल्पना कीजिए, एक आदमी हम से १० फ़ीट की दूरी पर खड़ा है। अब उसे २० फ़ीट दूर कर दीजिये। आँख के भीतर की दीवार पर उसकी शक्ल पहली शक्ल से आधी हो जायेगी, इसलिए वह आदमी पहले से आधे परिमाण का दीखना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, वह उतना ही दीखता है, जितना पहले दीखता था। इसका उत्तर जेस्टाल्ट-वादी यही देते हैं कि पदार्थों की आकृति को, विश्लिष्ट रूप में, स्वतन्त्र सत्ता नहीं कहा जा सकता, वह तो एक ख़ास परिस्थिति में मस्तिष्क पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसका परिणाम है। इसलिए उस पदार्थ के दूर चले जाने पर भी, मस्तिष्क, सम्पूर्ण परिस्थिति को सामने रखकर जो प्रतिक्रिया होनी चाहिए, उसी को उत्पन्न कर देता है। आँख की भीतर की दीवार पर 'विषय' का प्रभाव पड़ता है। उससे पदार्थ का ज्ञान

होता है, परन्तु ज्ञान के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। इतने के अतिरिक्त, पदार्थ जिस परिस्थिति में है, जिन अवस्थाओं में है, वे सब मिलकर उसका ज्ञान कराते हैं, अर्थात् हमें 'अवयवों' का नहीं, 'अवयवी' का ज्ञान होता है।

शिक्षा में जेस्टाल्ट-वाद का महत्त्व—

जेस्टाल्ट-वादियों के उक्त विचारों का शिक्षा-मनोविज्ञान पर भी प्रभाव पड़ा। हम कैसे सीखते हैं? थॉर्नडाइक का कहना था कि विषय के सामने होने पर हम एक ख़ास तरह से प्रतिक्रिया करते हैं। अगर वह प्रतिक्रिया सुखद होती है, तो मस्तिष्क में घर कर लेती है; अगर दुःखद होती है, तो मिट जाती है। बालक के सम्मुख इस प्रकार के विषय उपस्थित करना, जिनकी सुखद प्रतिक्रिया हो, शिक्षा के तत्व को समझना है। जेस्टाल्ट-वादी कहते हैं कि हमारी प्रतिक्रिया 'विषय-विशेष' (Part) के प्रति नहीं होती, 'विषय-सामान्य' (Patterns) के प्रति होती है। एक ख़रगोश के सम्मुख दो डब्बों में से एक में भोजन रक्खा जाता है। एक डब्बा 'क' है, दूसरा 'ख'। 'क' का हल्का नीला रंग है, 'ख' का उससे कुछ गहरा नीला। भोजन सदा 'ख' में रक्खा जाता है, परन्तु 'क' भी उसके नजदीक पड़ा रहता है। ख़रगोश सदा 'ख' में जाता है। कुछ दिनों बाद 'क' को उठा लिया जाता है, उसकी जगह 'ग' डब्बा रख दिया जाता है। 'ग' का रंग 'ख' से भी कुछ गहरा है। हम देखते हैं कि अब ख़रगोश 'ख' में भोजन ढूंढने की जगह 'ग' में भोजन ढूंढता है। यह क्यों? अगर 'ख' के रंग को देखकर उसके प्रति वह प्रतिक्रिया करता था, तो 'ग' के आने पर भी उसे 'ख' में ही भोजन ढूंढना चाहिये था, वह 'ग' में क्यों जाता है? इसलिए न, क्योंकि उसकी प्रतिक्रिया 'ख' 'विषय-विशेष' के साथ नहीं हुई थी, अपितु गहरे नीले रंग के डब्बे के साथ हुई थी; अवयव के प्रति नहीं, अवयवी के प्रति हुई थी; विशेष (Particular) के प्रति नहीं, सामान्य (General) के प्रति हुई थी; एक 'जेस्टाल्ट' के प्रति हुई थी।

चिपांझी का परीक्षण 'जेस्टाल्ट-वाद' की पुष्टि करता है—

अगर यह बात ठीक है, तो यह मानना पड़ेगा कि प्राणी में विषय के प्रति प्रतिक्रिया यन्त्र के नियमों की तरह नहीं होती, अपितु प्राणी सम्पूर्ण परिस्थिति को ग्रहण करता है, और उस सम्पूर्ण परिस्थिति (Total

situation) के अनुसार प्रतिक्रिया करता है। मनुष्य के विषय में यह बात मान भी ली जाय, परन्तु पशुओं के विषय में यह समझना कि उनका ज्ञान सीधा 'अवयवी' का, 'सामान्य' का होता है, कुछ कठिन-सा मालूम पड़ता है। परन्तु जेस्टाल्ट-वादियों का कथन है कि इसमें कुछ असंगत बात नहीं है। कोहलर ने १९१३ में चिपांझियों पर परीक्षण किया। चिपांझी पिंजड़े में बन्द था। बाहर केला रख दिया गया। केले के साथ रस्सी बाँधकर पिंजड़े के पास रख दी गई। चिपांझी ने रस्सी पकड़कर केला खींच लिया। कहा जा सकता है कि उसने रस्सी यों ही खींच ली होगी। इस कल्पना का निराकरण करने के लिए कोहलर ने कई रस्सियाँ पिंजड़े से केले तक फैला दीं, उनमें से एक के साथ केला बँधा था, दूसरों के साथ नहीं। चिपांझी ने रस्सियों को खींचकर देखना शुरू किया, जिस रस्सी से केला खिचना शुरू हुआ, उसे खींच लिया, दूसरी रस्सियों को नहीं खींचा। इससे यह परिणाम निकला कि चिपांझी के मन में केले के इस परिस्थिति में खिच आने का विचार आया होगा। इस प्रकार का सामान्यात्मक ज्ञान, जिसमें केला, रस्सी आदि का पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र ज्ञान न हो, परन्तु सम्पूर्ण परिस्थिति दीख जाय, 'जेस्टाल्ट' कहाता है, और जेस्टाल्ट-वादियों के कथनानुसार यह प्रक्रिया पशुओं तथा मनुष्यों, सब में होती है।

बालक की शिक्षा में जेस्टाल्ट—

कोफ़्का का कथन तो यह है कि 'सीखने' (Learning) का असली तत्व यही है। बालक भिन्न-भिन्न अंशों का ग्रहण नहीं करता, सारी परिस्थिति को ग्रहण करता है। उसे हिज्जों से पढ़ाना शुरू करने के बजाय शब्दों का ज्ञान पहिले देना चाहिए, शब्दों से भी पहिले वाक्यों का। जेस्टाल्ट-वाद का कथन है कि हम 'अवयवी' (Whole) से 'अवयव' (Part) की तरफ़ आते हैं, 'अवयव' से 'अवयवी' की तरफ़ नहीं। शिक्षा में, 'सीखना, भूलना और फिर सीखना'—'प्रयत्न-परीक्षा'—(Trial and Error Method)—इस तरीके के बजाय 'जेस्टाल्ट-वाद' ही असली तरीका है, यह कोफ़्का की स्थापना है।

'तनाव' को हटाने का प्रयत्न 'जेस्टाल्ट' की तरफ़ आने का प्रयत्न है—

शिक्षा की दृष्टि से जेस्टाल्ट-वादियों की एक और बात बड़े महत्त्व की है। व्यवहार-वाद, 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-Response theory) है। जेस्टाल्ट-वादी प्रो० ल्यूविन (१८९०) का कथन है कि माना कि 'विषय' तथा 'प्रतिक्रिया' का 'बन्धन' (Bond) रहता है, परन्तु यह बन्धन ही तो प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर देने के लिए काफ़ी नहीं है। आप पोस्ट बॉक्स में एक पंत्र छोड़ने के लिए जेब में डालकर बाजार जाते हैं। पोस्ट बॉक्स 'विषय' है, और जेब में से पत्र निकाल कर उसमें डालना 'प्रतिक्रिया' है। इन दोनों का आपने अपने मन में 'बन्धन' जोड़ लिया है। पोस्ट बॉक्स देखकर आप पत्र को जेब में से निकाल कर उसमें डाल देते हैं। अब और आगे चलिये। आगे फिर एक पोस्ट बॉक्स दिखाई देता है। 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' का तो नियम यह है कि अभ्यास (Exercise) से उक्त बन्धन और पुष्ट होगा। अब जब आप दोबारा पोस्ट बॉक्स देखते हैं, तब भी जेब से पत्र निकाल कर उसमें डालने की प्रतिक्रिया होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे मानना पड़ेगा कि 'विषय' तथा 'प्रतिक्रिया' में सम्बन्ध का स्थापित हो जाना 'प्रतिक्रिया' को उत्पन्न करने के लिए काफ़ी नहीं है। जब आपने पोस्ट बॉक्स में डालने के लिए पत्र जेब में डाला था, तो आपके भीतर एक 'तनाव' (Tension) उत्पन्न हो गया था। जब आपने पत्र डाल दिया, तो वह तनाव हट गया। अगर आप किसी दूसरे को पत्र डालने के लिए दे देते, तब भी वह तनाव हट जाता। क्रिया करने के लिए इस प्रकार का तनाव जरूरी चीज है। जब हमारे सामने कोई 'कठिनाई' (Obstacle) आती है, तो अन्दर-ही-अन्दर एक तनाव-सा पैदा हो जाता है। इस तनाव का होना क्रिया-शक्ति को बढ़ा देता है, क्योंकि मनुष्य उस काम को पूरा करके तनाव की हालत को दूर करना चाहता है। शिक्षा की दृष्टि से यह बात बड़े महत्त्व की है। विद्यार्थी के मन में कोई 'प्रश्न' (Problem) पैदा कर दिया जाय, उसके भीतर एक 'तनाव' उत्पन्न हो जाय, तब वह उस प्रश्न को हल करके ही आराम लेता है। इस प्रकार तनाव को हटाने का उद्योग करना भी जेस्टाल्ट-वाद की पुष्टि करता है। जीवन के सम्पूर्ण प्रवाह को, सम्पूर्ण परिस्थिति (Total Situation)

को न देखकर उसके किसी एक हिस्से (Part) को देखने के प्रयत्न से 'तनाव' उत्पन्न होता है, जो अस्वाभाविक है, और इसलिए हम काम को पूरा करके उस तनाव को जल्दी-से-जल्दी निकालने की कोशिश करते हैं जिससे संकुचित-जीवन की अस्वाभाविक-अवस्था दूर होकर हम जीवन के 'अवयवी'-रूप पूर्ण-प्रवाह के साथ एक हो जाँय, जीवन कटा-सा न रहे।

प्रश्न

(१) 'अन्तःप्रेक्षण' (Introspection) पर क्या-क्या आक्षेप किये जाते हैं ?

(२) पशु के सीखने में 'अभ्यास' तथा 'परिणाम' के नियम (Law of Exercise and Law of Effect) किस प्रकार काम करते हैं ?

(३) वाटसन तथा थॉर्नडाइक में 'चेतना' के सम्बन्ध में क्या मतभेद था ?

(४) पवलव का 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का सिद्धान्त क्या है ? इसकी शिक्षा में क्या उपयोगिता है ?

(५) 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-Response theory) का वर्णन करो।

(६) फ्रॉयड का 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious self) से क्या अर्थ है ?

(७) 'मोह-निद्रा' (Hypnotism) तथा 'स्वतन्त्र-कथन' (Free Association) का 'अज्ञात-चेतना' पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(८) 'प्रतिरोधक' (Censor) के विषय में क्या जानते हो ?

(९) 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) कैसे बनती हैं ? उनका शिक्षा में क्या स्थान है ?

(१०) 'भावना-ग्रन्थि' का 'उद्वेग' (Emotion) के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध रहता है ?

(११) 'लिबिडो' (Libido) तथा 'रूपान्तरण' (Sublimation) से क्या तात्पर्य है ?

(१२) एडलर तथा फ्रॉयड का कहाँ मत-भेद था ? एडलर ने 'जीवन के तरीक़े' (Style of Life) पर क्यों ज़ोर दिया है ? 'उच्चता-ग्रन्थि' तथा 'हीनता-ग्रन्थि' क्या हैं ?

(१३) जुंग ने 'लिविडो' का नवीन अर्थ करके फ्रॉयड तथा एडलर दोनों की संगति करने का प्रयत्न किया—इस कथन की व्याख्या करो।

(१४) 'प्रोजेक्ट-सिस्टम' का आधार मैक्डूगल का प्रयोजन-वाद (Purposivism) है—इस कथन का अर्थ समझाओ।

(१५) 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) 'प्रेरक-कारण' (Motive) हैं—इसका क्या अभिप्राय है ?

(१६) जेस्टाल्ट-वाद को समझाते हुए उसकी शिक्षा में उपयोगिता दर्शाओ।

(१७) बालक के मन में 'प्रश्न' (Problem) उत्पन्न कर उसमें 'तनाव' (Tension) पैदा कर देने से क्या होता है ?

४

जन्म के समय बालक—उसकी जन्मगत शक्तियाँ

(CHILD AT BIRTH—WHAT HE INHERITS)

१. मन की शक्तियाँ—'संचय', 'प्रयोजन', 'सम्बन्ध'

(POWERS OF THE MIND—MNEME, HORME, COHESION)

प्राणी का 'व्यवहार' यन्त्रवत् नहीं, प्रयोजन-पूर्वक होता है—

तृतीय अध्याय में हमने 'व्यवहारवादियों' (Behaviourists) तथा 'प्रयोजनवादियों' (Purposivists) का वर्णन किया है। व्यवहार-वादी वाटसन आदि जीवन की प्रत्येक क्रिया को यान्त्रिक कहते हैं। उनके मत में 'विषय' (Stimulus) सामने आता है, वह 'ज्ञान-वाहक-तन्तुओं' (Sensory Nerves) से ज्ञान के 'केन्द्र' (Centre) में पहुँचता है, और वहाँ से 'चेष्टा-वाहक-तन्तुओं' (Motor Nerves) द्वारा शरीर की मांस-पेशियों में क्रिया उत्पन्न हो जाती है। 'ज्ञान-वाहक-तन्तुओं' से ज्ञान के 'केन्द्र' में जाकर, वहाँ से 'चेष्टा-वाहक-तन्तुओं' द्वारा मांस-पेशियों तक जो लम्बा, घुमाव लिये हुए रास्ता है, इसे 'सहज-क्रिया-चक्र' या 'प्रतिबिम्ब-चक्र' (Reflex arc) कहा जाता है। 'सहज-क्रिया-चक्र' का चित्र 'तन्तु-संस्थान' के अध्याय में दिया गया है, और इस अध्याय में भी एक दूसरा चित्र भी दिया जा रहा है। व्यवहारवादियों का कथन है कि प्रत्येक प्राणी का व्यवहार इसी 'सहज-क्रिया' से होता है, इसमें चेतना को कोई स्थान नहीं। प्रयोजनवादी मैक्डूगल इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं। उसका कहना है कि प्राणी की 'प्रतिक्रिया', उसका 'व्यवहार', यान्त्रिक नहीं है। यन्त्र की तरह चलनेवाले प्राणी के कार्यों को ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो वे प्रयोजन-पूर्वक चलनेवाले सिद्ध होते हैं। प्राणी का प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी प्रयोजन को लिये हुए होता है। 'प्रयोजन' के

अतिरिक्त प्राणी में अन्य कई शक्तियाँ भी हैं, जिनके आधार पर ही प्राणी के व्यवहार को समझा जा सकता है, व्यवहारवादियों की तरह प्राणी को यन्त्र मानकर उसके व्यवहार को नहीं समझा जा सकता।

'सहज-क्रिया-चक्र' (REFLEX ARC) का चित्र
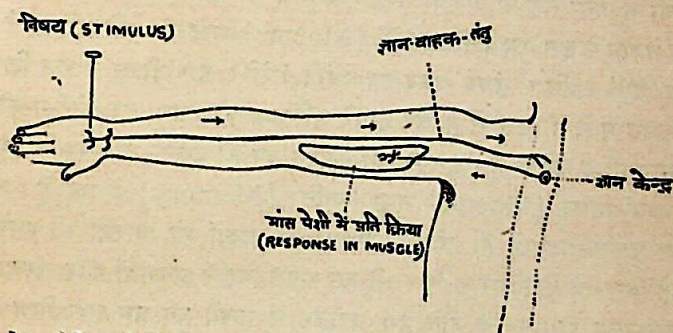
'प्रयोजन' के अतिरिक्त प्राणी में कुछ 'शक्तियाँ' भी हैं—

अगर 'प्रयोजन-वादियों' का यह कहना कि प्राणी का व्यवहार यान्त्रिक नहीं है, उसमें कुछ प्रयोजन होता है और प्रयोजन के अतिरिक्त प्राणी में अन्य भी कई शक्तियाँ हैं, तो प्रश्न होता है कि वे 'शक्तियाँ' कौन-कौन-सी हैं? प्राचीन-काल में माना जाता था कि प्रत्येक बालक में जन्म से ही विचार, स्मरण, तर्क आदि की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (Faculties) हैं। अब मनोविज्ञान 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) को नहीं मानता। आज सम्पूर्ण मन को एक इकाई माना जाता है। पहले स्मृति, तर्क आदि जो मन की भिन्न-भिन्न 'शक्तियाँ' (Faculties) मानी जाती थीं, उन्हें अब मन की शक्ति न मान कर एक ही मन की कार्य-प्रणाली के भिन्न-भिन्न पहलू माना जाता है। जैसे एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, चचा, ताऊ सभी-कुछ है—दृष्टि-भेद से उसका नाम बदल जाता है, वैसे एक ही मन को दृष्टि-भेद से भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में समझा जाता है, वास्तव में स्मृति, तर्क आदि भिन्न-भिन्न शक्तियाँ नहीं हैं। हम जिन अर्थों में 'शक्ति'-शब्द का प्रयोग करेंगे वह प्राचीन प्रयोग से भिन्न है। हम जिन शक्तियों की तरफ़ निर्देश करेंगे वे मन की स्वतंत्र शक्तियाँ नहीं, मानसिक

अनुभव के ही भिन्न-भिन्न पहलू हैं। वे पहलू तीन हैं। कौन-कौन-से तीन ?

(क) 'संचय-शक्ति'—'नेमे'—(Mneme)

पहली बात जिससे कोई इनकार नहीं कर सकता यह है कि प्रत्येक प्राणी में जन्म लेने के बाद से उसका अनुभव संचित रहने लगता है। पर्सी नन ने मन के इस गुण के लिए 'नेमे' (Mneme)-शब्द का प्रयोग किया है; हम 'नेमे' के लिए 'संचय'-शब्द का प्रयोग करेंगे। इस जीवन में हम जिस अनुभव में से भी गुज़रते हैं, वह हमारे मस्तिष्क की रचना पर कोई-न-कोई प्रभाव छोड़ जाता है। इस 'संचय'-शक्ति का ही दूसरा रूप 'स्मृति' है। 'संचय'-शक्ति (Mneme) तथा 'स्मृति' (Memory) में भेद है। जब हम पुस्तक पढ़ रहे हैं, तो हम अक्षरों को, शब्दों को, वाक्यों को स्मरण नहीं कर रहे होते, परन्तु फिर भी हम अपने पिछले अनुभवों और संस्कारों के कारण ही पढ़ रहे होते हैं। बाज़ार में चलते हुए हम एक मित्र को देखते हैं। उस समय हम यह नहीं कहते कि उसका चेहरा हमें स्मरण हो आया। हम उसे पिछले संचित-संस्कारों के कारण ही एकदम पहचान जाते हैं। एक व्यक्ति को कुछ शब्द याद करने को कहा जाता है। अगले दिन वह उन सबको भूल जाता है, परन्तु दुबारा याद करने को कहा जाय, तो पहले की अपेक्षा जल्दी याद कर लेता है। यद्यपि वह सब शब्द भूल गया था, तो भी जो संस्कार बच रहे थे, उनके कारण अब वह जल्दी याद कर लेता है। ये सब 'स्मृति' के नहीं, 'नेमे' के दृष्टान्त हैं। 'स्मृति' संकुचित शब्द है, 'नेमे' विस्तृत है; 'स्मृति' (Memory) 'नेमे' (Mneme) का ही एक रूप है। प्रत्येक अनुभव अपने पीछे मस्तिष्क में कुछ 'संस्कार' छोड़ जाता है। ये संस्कार हमारे आगे आने वाले अनुभवों को बदलते रहते हैं। इन 'संस्कारों' के लिए पर्सी नन ने 'एनग्राम' (Engram) शब्द का प्रयोग किया है। प्राणी के मन की 'संचय-शक्ति' ही 'नेमे' है, और अनुभव से मस्तिष्क के भूरे रंग पर जो 'संस्कार' मानो लिखे जाते हैं, वे 'एनग्राम' हैं। यन्त्र में तथा प्राणी में यह पहला भेद है। यन्त्र में 'संचय-शक्ति' नहीं होती, और 'संस्कार' नहीं पड़ते; प्राणी में 'संचय-शक्ति' (Mneme) होती है, और 'संस्कार' (Engrams) पड़ते हैं।

(ख) 'प्रयोजन'—'हौर्मे'—(Horme)

प्राणी का दूसरा गुण जिसे व्यवहारवादियों को छोड़कर प्रायः सब मानते हैं, उसका 'सप्रयोजन' होना है। प्राणी संस्कारों का संचय ही नहीं करता, परन्तु साथ ही किसी 'प्रयोजन' (Purpose) से सब काम करता है। कोई जीवनी-शक्ति, कोई जीवन की 'प्रेरणा' (Urge) उसकी 'ज्ञात' अथवा 'अज्ञात'-चेतना में बैठी हुई उसका संचालन कर रही होती है। इसे प्राणी के मन की 'सप्रयोजन-क्रियाशीलता' कहा जा सकता है। पर्सी नन ने प्राणी की इस 'प्रेरणा-शक्ति' को 'हौर्मे' (Horme) का नाम दिया है। एक ख़ास तरह की मक्खी अपने शिकार को बेहोश कर देती है, और उसे बिना मारे, अपने बच्चों के भोजन के लिए ले आती है। अगर वह उसे मार दे तो उसके बच्चे ताजा ख़ून नहीं पी सकते। मक्खी के मन में चाहे सारी लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया न हो रही हो, परन्तु उसकी क्रिया 'सप्रयोजन' है 'निष्प्रयोजन' नहीं। 'प्रयोजन' अपने को साफ़ तौर पर तो उच्च प्राणियों में ही प्रकट करता है, परन्तु 'प्रयोजन' है सब जगह। प्राणियों में हो रही इसी 'सप्रयोजन-प्रक्रिया' को 'हौर्मे' कहा जाता है। हम तृतीय अध्याय में दर्शा आये हैं कि 'प्रयोजन' को आधार मान कर मैक्डूगल ने मनोविज्ञान में एक वाद की स्थापना की है, जिसे 'प्रयोजनवाद' (Purposivism) कहा जाता है। 'प्रयोजन' को ही 'हौर्मे' (Horme) कहा जाता है, इसलिए मैक्डूगल के मनोविज्ञान को 'हौर्मिक साइकोलॉजी' (Hormic Psychology) भी कहा जाता है।

(ग) 'सम्बन्ध'—'कोहीयन'—(Cohesion)

मानसिक-जीवन का तीसरा पहलू 'सम्बन्ध' (Cohesion) का है। अगर प्राणी की प्रत्येक क्रिया सप्रयोजन है, तो उसमें पड़े हुए 'संस्कार' (Engrams) अलग-अलग, असम्बद्ध नहीं पड़े रह सकते। वे जुड़ते रहते हैं, सम्बद्ध होते रहते हैं। हम पहले लिख चुके हैं कि १९वीं सदी में मनोविज्ञान में 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वाद' (Association of Ideas) माना जाता था। 'प्रत्ययों' (Ideas) के मन में जुड़ते रहने के सिद्धान्त को मानने के स्थान पर यह मानना अधिक युक्ति-युक्त है कि प्रत्ययों के 'संस्कार' (Engrams) आपस में जुड़ते रहते हैं, क्योंकि अनुभव हो

चुकने के बाद 'प्रत्यय' मन में नहीं रहते, उनकी 'स्मृति', उनके 'संस्कार' (Engrams) मन में रह जाते हैं। ये संस्कार क्रियाशील होते हैं। ज्यों-ज्यों इस प्रकार के 'संस्कार' बढ़ते जाते हैं, वे दूसरों से मिल कर 'संस्कारों का जाल' (Engram Complexes) बना देते हैं, और प्राणी में क्रिया-शीलता का मानसिक आधार तैयार हो जाता है।

प्राणी की प्रत्येक क्रिया में, उसके प्रत्येक व्यवहार में, मूलभूत आधार-शक्तियाँ तो यही तीन हैं, अर्थात् 'नेमे', 'हौर्मे' तथा 'कोहीयन'—अन्य शक्तियाँ इन्हीं तीन का विकास हैं।

२. प्राकृतिक-शक्तियाँ (INSTINCTS)

अभी हमने मन की तीन शक्तियों—'संचय' (Mneme), 'प्रयोजन' (Horme) तथा 'संबंध' (Cohesion) का वर्णन किया। इन्हीं तीन के विकास से बालक की 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) का निर्माण होता है। वे भी बालक की जन्मगत शक्तियाँ हैं और उनके आधार पर बालक की शिक्षा का महान् भवन खड़ा होता है। हम उनका विस्तृत वर्णन ५वें तथा ६ठे अध्याय में करेंगे।

३. सामान्य-प्रवृत्तियाँ (INNATE TENDENCIES)

'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के अलावा बालक में कई 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (Innate tendencies) भी पायी जाती हैं। इन्हें भी जन्मगत ही कहा जाता है। इनका विस्तृत विवरण हम ७वें अध्याय में करेंगे।

प्रश्न

(१) 'सहज-क्रिया-चक्र' (Reflex arc) क्या है? चित्र द्वारा समझाओ।
(२) 'संचय-शक्ति' (Mneme), 'प्रयोजन' (Horme) तथा 'संबंध' (Cohesion) की व्याख्या करो।
(३) बालक की जन्म-गत शक्तियाँ क्या-क्या हैं?
(४) बालक की जो तीन जन्म-गत शक्तियाँ हैं—'नेमे', 'हौर्मे', तथा 'कोहीयन'—क्या इन्हीं से 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों (Innate tendencies) का निर्माण होता है?
(५) मैक्डूगल के मनोविज्ञान को 'हौर्मिक साइकोलॉजी' (Hormic Psychology) क्यों कहा जाता है? इस शब्द में 'हौर्मे' का क्या अभिप्राय है?

५

बालक की जन्मगत 'प्राकृतिक-शक्तियाँ'

('INSTINCTS' INHERITED AT BIRTH OF CHILD)

१. मन की जन्मगत शक्तियों का प्राकृतिक-शक्तियों से सम्बन्ध

'नेमे', 'हौर्मे', 'कोहीयन', से 'इन्स्टिक्ट' का निर्माण—

हमने पिछले अध्याय में कहा था कि बालक में जन्म से ही 'संचय' (Mneme), 'उद्देश्य' अथवा 'प्रयोजन' (Horme) तथा 'संस्कार-सम्बन्ध' (Cohesion) पाया जाता है। ये मन के सामान्य गुण हैं, उसकी आधारभूत प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। इन्हीं तीन के आधार पर 'विकास' की प्रक्रिया में से गुजरते-गुजरते प्राणी में अन्य कई शक्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिन्हें हम 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के नाम से पुकारते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में कोई समय रहा होगा जब ये 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' जिन्हें अब किसी को सीखना नहीं पड़ता, प्रकट नहीं हुई होंगी। प्राणी की आवश्यकताओं के अनुसार नये-नये व्यवहार उत्पन्न हुए होंगे, वे किसी 'प्रयोजन'—'हौर्मे'—को पूरा करते रहे होंगे, वे प्राणी की 'संचय-शक्ति'—'नेमे'' के कारण उसमें संगृहीत होते रहे होंगे, प्राणी के मस्तिष्क की 'सम्बन्ध-शक्ति'—'कोहीयन'—के कारण वे मिल-जुल कर किन्हीं ख़ास-ख़ास व्यवहारों को उत्पन्न करते होंगे। प्रत्येक प्राणी अपनी सन्तति को 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के नियमानुसार अपनी संगृहीत शक्तियों को देता रहा होगा, और होते-होते आज वे शक्तियाँ वसीयत के तौर पर प्रत्येक प्राणी को मिल रही हैं। उक्त 'तीन' प्रकार की शक्तियों के मेल-जोल से आज कई 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) उत्पन्न हो गई हैं। बच्चा रोता है, उसे रोना सीखने के लिए किसी के पास जाना

नहीं पड़ता। वह माँ का दूध चुसकता है, यह क्रिया भी वह किसी से नहीं सीखता। ये संस्कार, ये शक्तियाँ किसी सुदूरवर्ती भूत में, कितनी ही नस्लों में, बच्चे के पूर्वजों ने प्राप्त की होंगी, परन्तु आज वे उसे वंश-परम्परा से मिल गई हैं, उन्हें सीखने के लिए उसे मेहनत नहीं करनी पड़ती। उसका रोना, दूध चुसकना सदियों के 'संस्कारों' का परिणाम है; उनमें 'प्रयोजन' भी है; परन्तु उन्हें बच्चे ने सीखा नहीं होता। 'प्राकृतिक-शक्ति' एक ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा बिना पूर्व-शिक्षा के इस प्रकार काम किया जाता है कि कोई नियत परिणाम निकले। पशु 'आत्म-रक्षा' करता है, 'सन्तानोत्पत्ति' भी करता है। 'आत्म-रक्षा' के लिए मुर्गी का बच्चा अपने भोजन को ऐसे ही ढूंढ लेता है, जैसे उसकी माँ, उसे किसी शिक्षा की जरूरत नहीं होती। शेर को भूख लगती है, वह जंगल में निकल जाता है, जो शिकार दिखाई देता है, उसी पर झपट पड़ता है। भोजन के अतिरिक्त 'आत्म-रक्षा' का दूसरा साधन आश्रय-स्थान है। पक्षी घोंसला बनाता है। जब वह घोंसला बनते हुए देख सकता था, और घोंसला बनाना सीख सकता था, तब वह अण्डे के रूप में था, अब वह स्वयं अण्डा दे रहा है, और बिना सीखे अपने बच्चों के लिए घोंसला तैयार कर देता है। ततय्या कोश-बद्ध तितली को ऐसे डंक मारता है जिससे वह मरे भी नहीं, और संज्ञा-हीन भी हो जाय। उसे अपने अंडों के पास घोंसले में ला रखता है। जब बच्चे पैदा होते हैं, तो उन्हें मानो ताज़ा आहार मिल जाता है। यह-सब बिना सीखे होता है। जानवरों के आपस में प्रेम करने के अपने तरीक़े हैं, वे उन्होंने किसी से नहीं सीखे होते। बिना सिखाए इस प्रकार की शक्ति का जन्म से ही प्राणी में होना 'प्राकृतिक-शक्ति', 'नैसर्गिक-शक्ति' अथवा 'सहज स्वभाव' (Instinct) कहाता है।

२. 'सहज-क्रिया' (REFLEX ACTION)

कई लोग 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) को 'सहज-क्रिया' (Reflex action) मानते हैं—

परन्तु कई लोगों का कहना है कि 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) 'सहज-क्रियाओं' (Reflex actions) के सिवा कुछ नहीं। व्यवहारवादी 'प्राकृतिक-शक्तियों' को नहीं मानते, वे उन्हें 'सहज-क्रिया' कहते हैं।

हर्बर्ट स्पेन्सर 'सहज-क्रिया' को 'साधारण-सहज-क्रिया' (Simple reflex action) तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) को 'विषम-सहज-क्रिया' (Complex reflex action) मानता था। यह समझने के लिए कि 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' क्या 'सहज-क्रिया' ही हैं, अथवा उनकी स्वतन्त्र सत्ता है, 'सहज-क्रिया' किसे कहते हैं, यह समझना जरूरी है।

'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का लक्षण—

'सहज-क्रिया' दो प्रकार की होती है। हृदय गति कर रहा है, श्वास चल रहा है, आँतें भोजन पचा रही हैं। यह सब आप-से-आप हो रहा है। ये ऐसी 'सहज-क्रियाएँ' हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं होता। इनके अतिरिक्त कई ऐसी सहज-क्रियाएँ हैं, जिनका हमें कुछ-कुछ ज्ञान होता है। हमारी आँख झपकती है, गुदगुदाने पर हम सिमट जाते हैं, काँटा चुभने पर पाँव खींच लेते हैं। ये ऐसी सहज-क्रियाएँ हैं, जिनमें कुछ-कुछ, यद्यपि बहुत थोड़ा, ज्ञान रहता है। एक खास प्रकार के 'विषय' (Stimulus) के उपस्थित होने पर एक खास प्रकार की 'निश्चित-प्रतिक्रिया' (Fixed response) का होना 'सहज-क्रिया' कहाता है। हम यह दर्शाएँगे कि यद्यपि 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) में भी प्राणी के सम्मुख एक खास प्रकार के 'विषय' के उपस्थित होने पर एक खास प्रकार की 'निश्चित-प्रतिक्रिया' होती है, तो भी 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) तथा 'सहज-क्रिया' (Reflex action) में भेद है।

३. 'प्राकृतिक-शक्ति' (INSTINCT) तथा 'सहज-क्रिया' (REFLEX ACTION) में भेद

यान्त्रिक-क्रिया, सहज-क्रिया, प्राकृतिक-शक्ति—इन तीनों की तुलना—

दूसरे अध्याय में हमने देखा था कि डेकार्टे पशुओं की क्रियाओं को यान्त्रिक मानता था। हॉब्स मनुष्य की क्रियाओं को भी यान्त्रिक कहता था। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिस प्रकार यन्त्र में क्रिया होती है इसी प्रकार पशु तथा मनुष्य में भी होती है। इस दृष्टि से 'यान्त्रिक-क्रिया', 'सहज-क्रिया' तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' में कोई भेद नहीं दीखता। परन्तु जरा

गहराई से देखा जाय, तो 'यान्त्रिक-क्रिया', 'सहज-क्रिया' तथा 'प्राकृतिक-शक्ति'—तीनों में भेद है। 'हौर्मे', अर्थात् प्रयोजन तो तीनों में दिखाई देता है, परन्तु उस प्रयोजन के प्रकार में बहुत बड़ा भेद है। 'यान्त्रिक-क्रिया' में प्रयोजन यन्त्र का नहीं होता, किसी दूसरे का होता है; भीतर का नहीं होता, बाहर का होता है। हम गेंद फेंकते हैं, गेंद एक प्रयोजन से जा रही है, परन्तु वह 'अपने' प्रयोजन को पूरा नहीं कर रही होती, 'हमारे' प्रयोजन को पूरा कर रही होती है। 'सहज-क्रिया' में प्रयोजन केवल 'जीवन-रक्षा-सम्बन्धी' (Biological) होता है। यह प्रयोजन बाहर का तो नहीं, भीतर का होता है, परन्तु भीतर का होते हुए भी प्राणी को उस प्रयोजन का पता नहीं होता। बच्चा गुदगुदाने पर सिमिट जाता है, परन्तु उसे 'क्यों' का पता नहीं होता, उसकी इस क्रिया में उसका शरीर ही काम कर रहा होता है, मन काम नहीं कर रहा होता। 'प्राकृतिक-शक्ति' में प्रयोजन 'भीतर' का होता है, वह 'जीवन-रक्षा-सम्बन्धी' भी होता है, परन्तु इन दोनों के साथ इसमें प्राणी को थोड़ा-बहुत 'क्यों' का भी पता होता है, उसके व्यवहार में 'मानसिक-क्रिया' भी हो रही होती है। 'यन्त्र की क्रिया' शुद्ध-यान्त्रिक (Mechanical) है; 'सहज-क्रिया' जीवन-रक्षा-सम्बन्धी (Biological) क्रिया है; 'प्राकृतिक-शक्ति' जीवन-रक्षा सम्बन्धी होती हुई भी मानसिक (Psychical) क्रिया है। 'प्राकृतिक-शक्ति' तथा 'सहज-क्रिया' में प्राणी के सम्मुख कोई-न-कोई 'प्रयोजन' (Purpose) होता है। 'सहज-क्रिया' में 'निकटवर्ती' तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' में 'निकटवर्ती' तथा 'दूरवर्ती' दोनों प्रकार के 'प्रयोजन' हो सकते हैं। बया घोंसला बना रहा है। उसका प्रयोजन अंडे देने पर उन्हें घोंसले में सुरक्षित रखने का है। अभी अण्डे हुए भी नहीं, और वह घोंसला बनाने की तैयारी कर रहा है। 'सहज-क्रिया' की अपेक्षा 'प्राकृतिक-शक्ति' में 'प्रयोजन' बहुत अधिक दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त 'सहज-क्रिया' साधारण (Simple) होती है, 'प्राकृतिक-शक्ति' विषम (Complex); 'सहज-क्रिया' में शरीर का एक हिस्सा काम कर रहा होता है, 'प्राकृतिक-शक्ति' में सारा शरीर किसी प्रयोजन को पूरा कर रहा होता है। काँटा लगा, हमने पाँव हटा लिया। इस क्रिया में कई बातें शामिल नहीं हैं।

घोंसला बनाने में पक्षी बार-बार उचित सामग्री को ढूंढने के लिए जाता है, उसे ढूंढता है, लाता है, जोड़ता है। कितनी विषम-क्रिया है, और प्राणी का सम्पूर्ण शरीर उसमें लगा हुआ है। 'सहज-क्रिया' सदा एक-सी रहती है। पाँव में काँटा चुभने पर कोई पाँव उठाए, कोई सिर खुजाए, ऐसा नहीं होता। 'प्राकृतिक-शक्ति' में एक ही परिस्थिति में भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न व्यवहार कर सकते हैं। जंगल में हमारे सम्मुख शेर आ गया। उस समय प्राण-रक्षा के लिए डरकर भागना प्राकृतिक-क्रिया है, परन्तु कोई भाग जाता है, कोई छिप जाता है, कोई वृक्ष पर चढ़ जाता है, सब एक ही तरह का व्यवहार करें, यह जरूरी नहीं है।

४. 'प्राकृतिक-शक्ति' (INSTINCT) की विशेषताएँ

हमने देखा कि 'प्राकृतिक-शक्ति' को 'सहज-क्रिया' नहीं कहा जा सकता। अब हम 'प्राकृतिक-शक्ति' की विशेषताओं पर विचार करेंगे। 'प्राकृतिक-शक्तियों' की निम्न विशेषताएँ हैं :—

'प्राकृतिक-शक्तियों' में 'प्रयोजन'—'हौमें'—होता है—

(क) पुराने मनोवैज्ञानिकों का मत था कि 'प्राकृतिक-शक्ति' में प्राणी को 'प्रयोजन' (Purpose) की जानकारी नहीं रहती, ये क्रियाएँ 'निष्प्रयोजन' (Purposeless) होती हैं, वे इन क्रियाओं को यान्त्रिक समझते थे। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पशु जो-कुछ करते हैं, उसमें उनका कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य रहता है। इतना ही नहीं, उन्हें उस प्रयोजन का, अपने ही ढंग का ज्ञान भी रहता है। प्रयोजन की सफलता तथा असफलता का भेद भी वे कर सकते हैं। कभी-कभी सफलता पाने के लिए अपने व्यवहार को भी वे बदलते रहते हैं। यह अवश्य है कि पशुओं को केवल निकटवर्ती प्रयोजन का ज्ञान रहता है, दूरवर्ती का नहीं। घोंसला बनाते हुए चिड़िया के सामने बच्चों की रक्षा का प्रयोजन रहता है, आँधी, ओले पड़ने आदि से क्या आपत्ति आ पड़ेगी, इसका ज्ञान उसके मन में नहीं होता। 'प्रयोजन' का मन में होना ही ध्यान को क्रिया पर केन्द्रित करता है।

'प्राकृतिक-शक्तियाँ' एक ही जाति के प्राणियों में 'एक-ही-सी' होती हैं—

(ख) 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' एक ही जाति के सब प्राणियों में एक-सी पाई जाती हैं। ऐसा नहीं होगा कि कुछ 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' कुछ मनुष्यों में तो पाई जाँय, और कुछ में न पाई जाँय। हाँ, उन शक्तियों के विकास की मात्रा में भेद हो सकता है, शक्तियों के स्वरूप में नहीं। संग्रह करने की 'प्राकृतिक-शक्ति' प्रत्येक बालक में पाई जाती है, परन्तु कई बालक संग्रह करने के लिए आतुर दिखाई देंगे, कई आतुर न होंगे, परन्तु संग्रह सब करेंगे। विकास के क्रम में कई भेद कई बातों पर निर्भर रहते हैं। परिस्थिति-भेद के कारण 'प्राकृतिक-शक्ति' अपने को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रकट करती है। मुर्गी में जमीन को कुरेदने की 'प्राकृतिक-शक्ति' है, परन्तु जो मुर्गी नर्म जमीन पर ही रही होगी, वह भला क्यों कुरेदेगी, उसके कुरेदने के आवेग में कमी रहेगी। कभी-कभी लिंग-भेद के कारण भी 'प्राकृतिक-शक्ति' के आवेग में भेद दिखाई देता है। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा शांत होती हैं, लड़के स्वभाव से तेज होते हैं।

'प्राकृतिक-व्यवहार' में 'कुशलता' पाई जाती है—

(ग) 'प्राकृतिक-व्यवहार' प्रारम्भ से ही 'कुशलता' के साथ होने लगते हैं, उन्हें सीखना नहीं पड़ता। शिशु जन्म से ही माँ का दूध चुसकने लगता है; चिड़िया का बच्चा पंख जमते ही उड़ने लगता है; बत्तख पानी में पड़ते ही तैरने लगती है। यह सब उन-उन प्राणियों की अपनी-अपनी 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के कारण ही है।

प्राकृतिक-शक्तियों को बदला जा सकता है—

(घ) प्राकृतिक-व्यवहारों में जन्म से ही 'कुशलता' रहती है, इसका यह अर्थ नहीं कि प्राणी अपने नवीन अनुभव के प्रकाश में उन्हें बदल नहीं सकता। पुराने मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि पशुओं में अपने अनुभव से लाभ उठाने तथा अपने व्यवहार को नवीन परिस्थिति के अनुसार बदलने की शक्ति नहीं होती। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। घर का पालतू कुत्ता शिष्टता से रोटी माँगना सीख जाता है, वह जंगली कुत्ते की तरह हाथ से रोटी छीनने को नहीं लपकता। चिड़िया अपना चुग्गा ढूंढने ऐसे स्थानों में ही जाती है, जहाँ वह अधिकता से मिलता है। मनुष्य

तो अपने व्यवहार को परिस्थिति के अनुसार बदल ही सकता है, परन्तु पशु भी बदल सकते हैं। हाँ, सब पशुओं में यह शक्ति एक समान नहीं पाई जाती। बड़े जानवरों में यह योग्यता छोटों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है।

मनुष्य में तो अपने 'प्राकृतिक-व्यवहार' को अनुभव द्वारा बदलने तथा नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की नैसर्गिक शक्ति है। शिक्षा की दृष्टि से यह बात बड़े महत्त्व की है। शिक्षा का तो काम ही 'प्राकृतिक-शक्तियों' को आधार बनाकर, उन्हें पूँजी समझकर, उनमें ऐसा परिवर्तन करना है, जिससे वे शक्तियाँ अघड़ रूप में न रहकर व्यक्ति तथा समाज के लिए अधिक उपयोगी हो जाँय।

प्राकृतिक-शक्तियाँ एक-साथ नहीं प्रकट होतीं—

(ङ) 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' जन्म के समय सब एक-साथ ही नहीं प्रकट हो जातीं। दूध चुसकने की शक्ति बच्चे में जन्म से ही होती है, किन्तु चीज़ें जमा करना, अनुकरण करना, साथियों के साथ खेलना आदि शक्तियाँ जन्म से ही नहीं पाई जातीं। इनका विकास जीवन में किन्हीं ख़ास-ख़ास समयों पर होता है। तीन से छः वर्ष की आयु में बालकों में 'आत्म-गौरव की भावना' (Self-assertiveness) पैदा हो जाती है। इसे रोका जाय, तो वे ज़िद्दी हो जाते हैं। लिङ्ग-सम्बन्धी ज्ञान युवावस्था से पूर्व प्रकट नहीं होता। कौन-सी शक्ति का किस समय उदय होता है, शिक्षक के लिए यह जानना बड़ा आवश्यक है। शिक्षक का कर्तव्य है कि 'प्राकृतिक-शक्ति' के उत्पन्न होने के ठीक समय को जानकर उसका उसी समय उपयोग करे, आगे-पीछे नहीं। बच्चे की अनुकरण करने की शक्ति से हम उसे बहुत-कुछ सिखा सकते हैं, परन्तु इस प्रकार सिखाने का प्रयत्न तभी शुरू होना चाहिए, जब उसमें यह शक्ति उत्पन्न हो जाय। उससे पहले ऐसा प्रयत्न किया जायगा, तो बच्चा काबू में नहीं आयेगा, और वह शिक्षक से, पाठ से, पढ़ने से, सब से नफ़रत करने लगेगा।

प्राकृतिक-शक्तियों की तीव्रता का समय जन्म भर नहीं रहता—

(च) अभी कहा गया कि 'प्राकृतिक-शक्तियों' के विकास का समय नियत रहता है। जेम्स का कथन है कि उदित होने के बाद इनके जीवन की

अवधि भी नियत रहती है। किसी शक्ति के उदय होने पर यदि उसका प्रयोग न किया जाय, तो वह नष्ट हो जाती है। जन्म के बाद कुछ दिनों तक यदि बछड़े को थन से दूध न पिलाया जाय, तो वह चुसकना भूल जाता है। इसी प्रकार 'जिज्ञासा', 'संग्रहशीलता' आदि शक्तियाँ कुछ समय तक अपनी तीव्रता दिखाकर नष्ट हो जाती हैं। इसलिए गाना, घोड़े पर चढ़ना, साइकिल चलाना आदि नई-नई बातें बचपन में बहुत सुगमता से सीखी जाती हैं। यदि ये बातें बचपन में न सिखाई जाँय, तो फिर आसानी से नहीं आतीं, क्योंकि तब वह 'प्राकृतिक-शक्ति' जिसके आधार पर उक्त काम सीखे जा सकते थे, नष्ट हो चुकी होती है। थॉर्नडाइक जेम्स के इस सिद्धान्त को नहीं मानता। थॉर्नडाइक कहता है कि 'प्राकृतिक-शक्ति' कभी नष्ट नहीं होती। वह प्रकट होकर कुछ समय तक अपनी तीव्रता दिखाती है, फिर वह इस्तेमाल न करने से मध्यम पड़ जाती है, नष्ट नहीं होती। कभी-कभी दूसरे रूपों में वह जीवन भर अपने को प्रकट करती रहती है, स्थिति-भेद से उसका रूपांतर हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'जिज्ञासा' मनुष्य में केवल बचपन में ही नहीं, जीवन-पर्यन्त बनी रहती है। नये-नये क्षेत्रों में कार्य करने, नई-नई चीज़ों को रखने, नवीन आविष्कारों को करने की प्रबल इच्छा बचपन की 'जिज्ञासा' का ही दूसरा रूप है। बड़े-बड़े पुस्तकालय तथा संग्रहालय बनाने की इच्छा बचपन की संग्रह करने की 'प्राकृतिक-शक्ति' का ही रूप है। थॉर्नडाइक ने जेम्स के 'प्राकृतिक-शक्तियों के अल्पस्थायी' (Transitoriness of Instincts) होने के सिद्धान्त का खण्डन किया है, परन्तु जेम्स के सिद्धान्त में भी सत्य की कम मात्रा नहीं है। यदि 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' कुछ दिनों के बाद बिल्कुल नष्ट नहीं हो जातीं, तो भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उनका प्राबल्य, उनकी तीव्रता अन्त तक वैसी नहीं बनी रहती। हर-एक 'प्राकृतिक-शक्ति' में कुछ समय के लिए तीव्रता आती है। शिक्षक का कर्तव्य 'प्राकृतिक-शक्ति' की तीव्रता की लहर से लाभ उठाना है। कल्पना करो कि बालक में 'जिज्ञासा' अपने शिखर पर पहुँची हुई है। उस समय उसके सामने गन्दी परिस्थिति उपस्थित कर दी जाय, तो वह गन्दी-गन्दी बातों को जान जायगा। इसके विपरीत उसे छोटे-छोटे यन्त्रों से, मोटर साइकिल, हवाई-

जहाज के खिलौनों से घर दिया जाय, तो वह इनकी जिज्ञासा करने लगेगा। वह तो नई बातें जानने के लिए उतावला है, उसे जिस परिस्थिति से घेर दिया जायगा, वह उसकी छान-बीन करने लगेगा, परन्तु उसकी यह उग्र-शक्ति सदा नहीं बनी रहेगी।

५. 'प्राकृतिक-शक्ति' (INSTINCT) तथा 'उद्वेग' (EMOTION)

मैक्डूगल का मत—'प्राकृतिक-शक्ति' के साथ 'उद्वेग' जुड़ा रहता है—

वर्तमान समय में सबसे पहले मैक्डूगल ने 'प्राकृतिक-शक्तियों' की तरफ़ मनोवैज्ञानिकों का ध्यान खींचा। मैक्डूगल का यह कहना है कि जब कोई 'प्राकृतिक-शक्ति' हमारे अन्दर काम कर रही होती है, तो उसके साथ कोई-न-कोई 'उद्वेग' (Emotion) भी जुड़ा रहता है। जंगल में एक प्राणी शेर को देखकर जान बचाने के लिए भागता है। यहाँ जान बचाने के लिए भागना 'प्राकृतिक-व्यवहार' (Instinctive Behaviour) है। इस 'प्राकृतिक-व्यवहार' के साथ 'भय' का 'उद्वेग' (Emotion of Fear) जुड़ा रहता है। हम लड़ रहे हैं, 'लड़ना' एक 'प्राकृतिक-व्यवहार' है, उसके साथ क्रोध का 'उद्वेग' जुड़ा रहता है। हमें 'जिज्ञासा' है, उसके साथ 'आश्चर्य' जुड़ा रहता है। भय है, तभी भागते हैं; क्रोध है, तभी तो लड़ते हैं; आश्चर्य है, तभी तो किसी बात को जानना चाहते हैं। 'प्राकृतिक-व्यवहार' के लिए 'उद्वेग' का होना जरूरी है, 'उद्वेग' न हो, तो 'प्राकृतिक-व्यवहार' भी न हो।
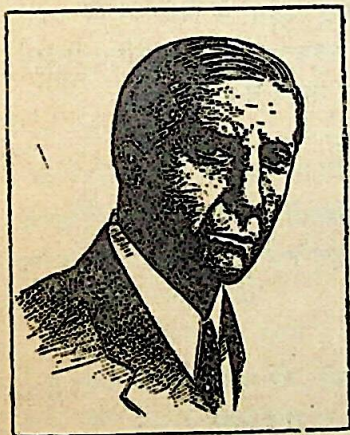
विलियम मक्डूगल
(१८७१–१९३८)

ड्रेवर तथा रिवर—'प्राकृतिक-शक्ति' में रुकावट से 'उद्वेग' उत्पन्न होता है—

मैक्डगल के इस मत का ड्रेवर तथा रिवर ने विरोध किया है। उनका कथन है कि 'प्राकृतिक-व्यवहार' को उत्पन्न करने के लिए 'उद्वेग' की

जरूरत नहीं। प्राकृतिक-व्यवहार तो आप-से-आप होता है, परन्तु जब उसके पूर्ण होने में रुकावट पड़ती है, तब 'उद्वेग' उत्पन्न होता है। मनुष्य जंगल में शेर को देखकर भागने लगता है। जब तक उसके मार्ग में रुकावट नहीं आती, वह भागता जाता है, जब भागते-भागते सामने रुकावट पड़ जाय, और वह अपने बच निकलने का कोई उपाय न देख सके, तब एकदम 'भय' का 'उद्वेग' उत्पन्न हो जाता है। पहले तो वह भागने की क्रिया में इतना लगा हुआ था कि 'भय' के 'उद्वेग' को प्रकट होने की कोई गुञ्जाइश ही नहीं थी, अब जब कि उसकी गति अवरुद्ध होती है, एकदम भय उत्पन्न हो जाता है। ड्रेवर के इस सिद्धान्त को 'अवरोध का सिद्धान्त' (Baulking Theory) कहते हैं। 'अवरोध के सिद्धान्त' का शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। बालक के 'प्राकृतिक-व्यवहार' में शिक्षक की तरफ़ से कभी-कभी ऐसी रुकावट आ पड़ती है कि उसका मन क्षुब्ध हो जाता है, वह क्रोध, निराशा अथवा इसी प्रकार के किसी 'उद्वेग' से विचलित हो उठता है। यह अवस्था शिक्षा ग्रहण करने के अनुकूल नहीं है। इसलिए शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक में ऐसी अवस्था उत्पन्न न होने दे।

६. 'प्राकृतिक-शक्तियों' का वर्गीकरण

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने 'प्राकृतिक-शक्तियों' का भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है। हम यहाँ कर्कपैट्रिक, थॉर्नडाइक तथा मैक्डूगल का वर्गीकरण देंगे।

कर्कपैट्रिक का वर्गीकरण—

(क) कर्कपैट्रिक ने 'प्राकृतिक-शक्तियों' को पाँच भागों में बाँटा है। दूसरे भेद इन्हीं के अवान्तर आ जाते हैं। वे पाँच निम्न हैं :—

१. आत्मरक्षा (Self-preservative Instinct)
२. सन्तानोत्पत्ति (Reproductive Instinct)
३. सामूहिक-जीवन (Gregarious Instinct)
४. परिस्थिति के अनुकूल जीवन बनाना (Adaptive Instinct)
५. धार्मिक आदर्शों के अनुकूल जीवन बनाना (Regulative Instinct)

थॉर्नडाइक का वर्गीकरण—

(ख) थॉर्नडाइक 'प्राकृतिक-शक्तियों' को दो भागों में बाँटता है—'वैय्यक्तिक' तथा 'सामाजिक'। वैय्यक्तिक में भोजन प्राप्त करना, आत्मरक्षा करना, आश्रय ढूंढना आदि आ जाता है; सामाजिक में सन्तानोत्पत्ति, सामूहिक-जीवन आदि आ जाते हैं।

मैक्डूगल का वर्गीकरण—

(ग) मैक्डूगल मानसिक-शक्तियों के दो हिस्से करता है : 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (Innate or General tendencies)। 'प्राकृतिक-शक्तियों' के साथ 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है; 'सामान्य-प्रवृत्तियों' के साथ नहीं। 'सामान्य-प्रवृत्तियों' को वह 'प्राकृतिक-शक्तियों' में नहीं गिनता, क्योंकि उनके साथ 'उद्वेग' नहीं रहता। 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा उनके 'उद्वेगों' का मैक्डूगल ने निम्न चौदह संख्या में वर्गीकरण किया है :—

'प्राकृतिक-शक्ति'	*उसके साथ सम्बद्ध 'उद्वेग'*
१. पलायन-Escape	भय-Fear
२. युयुत्सा-Combat, Pugnacity	क्रोध-Anger
३. निवृत्ति-Repulsion	घृणा-Disgust
४. पुत्र-कामना-Parental feeling	दया-Tender Emotion
५. संवेदना-Appeal	दुःख-Distress
६. भोग-Mating, Sex	काम-Lust
७. जिज्ञासा-Curiosity	आश्चर्य-Wonder
८. दैन्य-Submission	आत्महीनता-Negative self-feeling
९. आत्मगौरव-Self-assertion	आत्माभिमान-Positive self-feeling
१०. सामूहिक जीवन-Gregariousness	एकाकी भाव-Loneliness
११. भोजनान्वेषण-Food-seeking	तृप्ति-Gusto
१२. सञ्चय-Acquisition	स्वत्व-Ownership

१३. विधायकता-Constructiveness कृतिभाव-Creativeness
१४. हास-Laughter आमोद-Amusement

'प्राकृतिक-शक्तियों' के अलावा मैक्डूगल कुछ 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (Innate or General tendencies) भी मानता है, जिनके साथ 'उद्वेग', अर्थात् 'मानसिक-क्षोभ' (Emotion) नहीं जुड़ा रहता। इनका वर्गीकरण उसने निम्न प्रकार चार संख्या में किया है :—

१. संकेत (Suggestion) ३. अनुकरण (Imitation)
२. सहानुभूति (Sympathy) ४. खेल (Play)

हम 'मुख्य-मुख्य प्राकृतिक-शक्तियों' (Chief Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (Innate or General Tendencies) का वर्णन अगले अध्यायों में करेंगे।

७. 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' की शिक्षा में उपयोगिता

'प्राकृतिक-शक्तियों' की शिक्षा की दृष्टि से निम्न उपयोगिता है :—

(क) 'प्राकृतिक-शक्ति' शिक्षक के लिए पूँजी है—

जैसे घड़ा बनाने के लिए कुम्हार को मिट्टी की जरूरत होती है, वैसे बालक को शिक्षा देने के लिए शिक्षक को उसकी 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' की आवश्यकता है। ये शक्तियाँ ही व्यवहार का स्रोत हैं, व्यवहार को बदलने अथवा सुधारने के लिए शिक्षक को इन्हीं से चलना होता है। ज्ञात से अज्ञात की तरफ़ जाना ही आसान रास्ता है। 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' ज्ञात हैं, इन्हीं से बालक की अज्ञात मानसिक रचना को बनाया जाता है। घोड़े को पानी के सामने ला खड़ा करने से तो वह पानी नहीं पीने लगेगा, पानी पीने के लिए घोड़े को प्यास लगी होनी चाहिए। इसी प्रकार स्कूल में भर्ती कर देने मात्र से बालक नहीं सीख जायगा। सीखने के लिए बालक के अन्दर ही प्यास होनी चाहिए। वह प्यास प्रत्येक बालक के अन्दर 'प्राकृतिक-शक्ति' के रूप में मौजूद होती है। शिक्षक का काम उसी का लाभ उठाना है। बालक की 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' शिक्षक के लिए प्रारम्भिक पूँजी हैं, इसी पूँजी से उसे व्यापार करना होता है।

(ख) 'प्राकृतिक-शक्ति' के प्राबल्य-काल का लाभ उठाओ—

इन 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' से लाभ उठाने का सब से अच्छा समय उनका प्राबल्य-काल है। 'अनुकरण', 'खेल', 'जिज्ञासा', 'संग्रह' आदि शक्तियों के बालक के जीवन में प्रकट होने का अपना-अपना समय है, और अपने-अपने समय में ही ये शक्तियाँ उसमें तीव्र वेग धारण कर लेती हैं। जिस समय कोई लहर अपने उच्चतम शिखर पर हो, उसी समय उसे पकड़ लेना शिक्षक का काम है। इस प्रकार नई बात आसानी से सिखाई जा सकती है, और शिक्षा को सरल, रुचिकर तथा प्रिय बनाया जा सकता है। इस प्रकार चलने से शिक्षक बालक के सम्मुख उचित परिस्थिति उत्पन्न कर देता है, अगला काम तो बालक अपने-आप कर डालता है।

(ग) 'प्राकृतिक-शक्ति' को चरित्र-निर्माण का आधार बनाओ—

'प्राकृतिक-शक्तियों' के उचित प्रयोग से जहाँ कोई नई बात सिखाई जा सकती है, वहाँ 'आदतों' को बनाने में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। आदतों का जीवन में इतना महत्त्व है कि जेम्स ने चरित्र को खास प्रकार की आदतों का ही समूह कहा है। जिन आदतों का आधार 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' को बनाया जाता है वे आसानी से पड़ जाती हैं, और चिरस्थायी रहती हैं। आदतों की तरह चरित्र-निर्माण में भी 'प्राकृतिक-शक्तियों' का प्रयोग हो सकता है।

(घ) बेढंगी 'प्राकृतिक-शक्ति' को रूपान्तरित करो—

'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' का प्रारम्भिक, शुद्ध रूप बेढंगा और बेतुका होता है। उस अवस्था में वे न अच्छी कही जा सकती हैं, न बुरी, परन्तु परिस्थिति के कारण कभी-कभी वे बुरा रूप धारण कर सकती हैं। शिक्षक लोग इस बात से डरकर कि कहीं 'प्राकृतिक-शक्ति' अथवा 'सामान्य-प्रवृत्ति' बुरा रूप न धारण कर ले, उसे दबाने का प्रयत्न करने लगते हैं। बच्चे में 'जिज्ञासा' है, वह अच्छी बात के विषय में भी पूछता है, बुरी के विषय में भी। क्योंकि कभी-कभी वह बुरी बात के विषय में भी पूछ बैठता है, इसलिए कई माता-पिता उसकी प्रश्न करने की प्रवृत्ति को ही दबाने लगते हैं, उसे हर-एक प्रश्न पर झिड़कने लगते हैं।

इस प्रकार उसकी 'प्राकृतिक-शक्ति' दब थोड़े ही सकती है। वह अन्य उपायों से 'जिज्ञासा' को पूर्ण करने लगता है। बुद्धिमान् माता-पिता तथा शिक्षक का कर्तव्य है कि 'जिज्ञासा' की जो 'प्राकृतिक-शक्ति' बालक में बेढंगी, बेतुकी और निष्प्रयोजन-सी पाई जाती है, उसे उचित मार्ग से निकलने दें, उसे दबायें नहीं, अपितु रूपांतरित (Sublimate) करें। शिक्षक चतुर हो, तो थोड़े ही प्रयत्न से बालक की हर-एक अघड़ 'प्राकृतिक-शक्ति' तथा 'सामान्य-प्रवृत्ति' को किसी ऊँची दिशा में फेर सकता है। एक चतुर शिक्षक जिज्ञासु बालक को बड़ा भारी विज्ञान का पण्डित बना सकता है, डरपोक बालक को ईश्वर-भक्त बना सकता है, झगड़ालू बालक को स्वाभिमानी तथा निर्भय बना सकता है। विज्ञान के पण्डित में जिज्ञासा ही रूपान्तरित हो गई है, ईश्वर-भक्त में भय रूपान्तरित हो गया है, स्वाभिमानी व्यक्ति में झगड़ालूपन रूपान्तरित हो गया है।

प्रश्न

(१) 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का आधार 'नेमें', 'हौमें' तथा 'कोहीयन' है—इसे समझाओ।

(२) 'सहज-क्रिया' (Reflex action) का वर्णन करो।

(३) 'यांत्रिक-क्रिया' (Mechanical action), 'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) में क्या भेद है?

(४) 'प्राकृतिक-शक्तियों' की विशेषताओं का वर्णन करो।

(५) मैक्डूगल का कथन है कि 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) के साथ 'उद्वेग' जुड़ा रहता है। ड्रेवर का कथन है कि 'प्राकृतिक-व्यवहार' के पूरा होने में जब रुकावट आती है, तब 'उद्वेग' उत्पन्न होता है—दोनों कथनों को समझाओ।

(६) ड्रेवर के 'अवरोध के सिद्धांत' (Baulking Theory) का क्या अर्थ है?

(७) मैक्डूगल ने 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के साथ जिस-जिस 'उद्वेग' (Emotion) का वर्णन किया है, उसे लिखो।

(८) शिक्षक के लिए बालक की 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) तथा 'स्वाभाविक-प्रवृत्तियों' (Innate or General tendencies) की क्या उपयोगिता है? वह उनसे क्या लाभ उठा सकता है?

६

बालक की जन्मगत 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' तथा उनकी शिक्षा में उपयोगिता

(INHERITED INSTINCTS OF THE CHILD AND THEIR EDUCATIONAL UTILITY)

'प्राकृतिक-शक्ति' से 'सामान्य-प्रवृत्ति' अधिक व्यापक है—

पहले मनोविज्ञान के पण्डित मनुष्य में 'प्राकृतिक-शक्तियों' की सत्ता को नहीं मानते थे, इन्हें पशुओं में ही मानते थे, परन्तु अब वे मनुष्य में भी इन शक्तियों को मानने लगे हैं। मनोवैज्ञानिकों का इस दिशा में ध्यान खींचने का श्रेय मैक्डूगल को है। पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि मैक्डूगल 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (Innate or General tendencies) में भेद करता है। उसके अनुसार 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' चौदह हैं, और 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' चार हैं। 'प्राकृतिक-शक्तियों' के साथ कोई-न-कोई 'उद्वेग' जुड़ा रहता है, 'सामान्य-प्रवृत्तियों' के साथ 'उद्वेग' नहीं रहता। इसके अतिरिक्त 'प्राकृतिक-शक्तियों' की अपेक्षा 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' अधिक व्यापक होती हैं। एक बच्चा बैठा घर बना रहा है, उसे देखकर दूसरे भी बनाने लगते हैं। यहाँ पर घर बनाना 'विधायक-शक्ति' (Constructiveness) का परिणाम है, जो 'प्राकृतिक-शक्ति' है, परन्तु इसमें 'अनुकरण की प्रवृत्ति' (Tendency of Imitation) सहायक सिद्ध हो रही है, यह 'सामान्य-प्रवृत्ति' है। एक बालक पुस्तक उठाकर उसके चित्र देखने लगता है, उसे देख कर दूसरे भी चित्र देखने आ बैठते हैं। यहाँ पर पहले बच्चे का चित्र देखना 'जिज्ञासा' की 'प्राकृतिक-शक्ति' है, इसमें दूसरे बच्चों का चित्र देखने में शामिल जाना 'अनुकरण' की 'सामान्य-प्रवृत्ति' है। अनुकरण

की 'सामान्य-प्रवृत्ति' विधायकता तथा जिज्ञासा दोनों में शामिल है, उन दोनों की अपेक्षा यह अधिक व्यापक है। हम चौदहों-की-चौदह 'प्राकृतिक-शक्तियों' का वर्णन न करके इस अध्याय में पहले शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी कुछ 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) का, तथा इससे अगले अध्याय में 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (Innate or General Tendencies) का क्रमशः वर्णन करेंगे।

१. पलायन (ESCAPE)

'पलायन' के साथ 'भय' का 'उद्वेग' रहता है—

मैक्डूगल भय को 'उद्वेग' कहता है, भय के कारण भागने को 'प्राकृतिक-शक्ति' कहता है। बालक बिजली की कड़क सुनकर मकान के अन्दर भाग जाता है, अगर माँ के साथ बिस्तर पर लेट रहा है, तो कड़क सुनकर माँ से चिपट जाता है, अगर इकला पड़ा है, तो रजाई में छिप जाता है। ये सब पलायन के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। पलायन में भय का उद्वेग है।

'भय' के कारण—

भय उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं। परिस्थिति में अचानक परिवर्तन हो जाना, जैसे बिजली का कड़कना, दरवाज़े का ज़ोर से खटकना, बादल का गरजना, किसी अजीब जानवर का सामने आ जाना बालक में भय पैदा कर देते हैं। अंधेरा शुरू-शुरू में भय का कारण नहीं होता, परन्तु ज्यों-ज्यों बालक में कल्पना-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह भय का कारण बनती जाती है। भूत-प्रेत का भय भी कल्पना-शक्ति के कारण है। कई भय सहचार के कारण उत्पन्न हो जाते हैं, इन्हें 'संबद्ध-भय' (Conditioned fear) कहते हैं। जब-जब चूहा सामने आये, तब-तब अगर ज़ोर से आवाज़ की जाय, तो बालक चूहे से डरने लगता है। चूहा डरने की चीज़ नहीं है, परन्तु चूहे के सामने आते ही डरावनी आवाज़ होती है, उस आवाज़ का डर चूहे के साथ 'संबद्ध' हो जाता है। 'संबद्ध-भय' को दूर करने का यही तरीक़ा है कि उसे 'असंबद्ध' कर दिया जाय। चूहे को देखकर बच्चा डरता है, बस, उसे किसी को चूहे के साथ खेलते हुए दिखा दिया जाय। इसे 'पूर्ववत्-करण' (Re-conditioning) कहते हैं, इसमें चूहे तथा भय के सम्बन्ध होने से पहले की अवस्था बालक के मन में जमा दी जाती है।

'भय' की शिक्षा में उपयोगिता—

'भय' की शिक्षा में बड़ी उपयोगिता है। बालक शिक्षक से भय खाता है। वह डरता है कि उसने कुछ अनुचित किया, तो मार पड़ेगी। बालक में अच्छी आदत डालने के लिए भय का उपयोग किया जा सकता है। जिन बालकों में भय नहीं रहता, वे बेकाबू हो जाते हैं। परन्तु डरा-धमकाकर काम कराना शिक्षा की दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता, क्योंकि इस साधन का लगातार प्रयोग करने से बालक के हृदय में शिक्षक के प्रति घृणा भी उत्पन्न हो सकती है। शिक्षक का कर्तव्य है कि भय की भावना को रूपान्तरित (Sublimate) कर दे। पहले बालक शिक्षक द्वारा दण्ड दिये जाने से डरता है, फिर वह शिक्षक की अपने विषय में बुरी सम्मति से डरने लगे, कोई बुरा काम इसलिए न करे क्योंकि उसे शिक्षक का भय नहीं, किन्तु अन्तरात्मा के धिक्कार का भय है।

२. जिज्ञासा (CURIOSITY)

'जिज्ञासा' के साथ 'आश्चर्य' का 'उद्वेग' रहता है—

'जिज्ञासा' एक 'प्राकृतिक-शक्ति' है। इसके साथ 'आश्चर्य' का उद्वेग लगा रहता है। प्लेटो का कथन है कि 'जिज्ञासा' ही सम्पूर्ण ज्ञान की जननी है। बालक एकदम इस विशाल विश्व में आ टपका है, वह क्या करे ? हर-एक चीज को वह आश्चर्य से देखने लगता है, जिस चीज को देखता है, उसी के पीछे भाग पड़ता है, मानो, प्रत्येक चीज़ को उठा-उठा कर जान लेना चाहता है कि यह क्या है ? इस शक्ति के द्वारा वह थोड़े ही दिनों में अपनी बहुत-सी परिस्थिति से परिचय प्राप्त कर लेता है।

'जिज्ञासा' की शिक्षा में उपयोगिता—

शुरू-शुरू में तीव्र उत्तेजना के पदार्थ उसका ध्यान जल्दी आकर्षित करते हैं। चमकीली चीज, जोर की आवाज, भड़कीला रंग, तेज गतिवाली वस्तु उसे एकदम खींच लेते हैं। मोटर की आवाज आई नहीं कि बच्चे उसे देखने के लिए झट-से मकान से बाहर दौड़े नहीं। वह चमकीली भी है, आवाज भी करती है, तेज भी दौड़ती है—उनके आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। आरम्भ में शिक्षा में इसी प्रकार की वस्तुओं का प्रयोग करना

चाहिए। आजकल वस्तु-पाठ आदि विषयों का पाठविधियों में समावेश है। इसमें बालक वस्तुओं को छूता है, उठाता है, उलट-पलट कर देखता है, उन्हें जोड़ता है, तोड़ता है, और इस प्रकार उनके विषय में बहुत-कुछ सीख जाता है।

बच्चों की 'प्रारम्भिक-जिज्ञासा' में चुनाव नहीं होता, जो चीज़ उनका ध्यान खींचती है, उसी को देखने लगते हैं। देखते-देखते कई चीज़ों में उनकी 'रुचि' (Interest) हो जाती है। जिन चीज़ों में उनकी 'रुचि' हो जाती है, उनका अपने-आप चुनाव हो जाता है, बाक़ी को बालक छोड़ देते हैं। रुचि 'अवधान' (Attention) का कारण है, और 'अवधान' नई बातों के 'सीखने' (Learning) में सहायक है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह वस्तुओं को बालक के सम्मुख इस प्रकार उपस्थित करे जिससे बालक कौतूहल से उनकी तरफ़ खिंचे, उसकी उनमें रुचि उत्पन्न हो, वह उनकी तरफ़ ध्यान दे, और बहुत-कुछ सीख जाय।

बच्चा एक खिलौने को देख रहा है। कुछ देर तक देखता रहता है। इसके बाद दूसरे खिलौने को देखकर वह पहले को फेंक देता है, दूसरे को ले लेता है। पहले से वह कुछ-कुछ परिचित हो चुका है, दूसरे के विषय में वह कुछ नहीं जानता, इसलिए वह झट-से दूसरे की तरफ़ हाथ बढ़ाता है। परन्तु अगर अन्त तक जिज्ञासा का प्रवाह इसी प्रकार चलता रहे, तो वह निरुद्देश्य जिज्ञासा हो जाती है। शिक्षक का कर्तव्य है कि जिज्ञासा को सोद्देश्य बनाए, और उसे नई-नई बातों के सीखने की दिशा में रूपान्तरित कर दे। जिस पत्थर को बालक फेंक देता है, उसका भूगर्भ-शास्त्री वर्षों तक अध्ययन करता है। शिक्षक का काम जिज्ञासा को इसी प्रकार के सांचे में ढाल देना है।

'जिज्ञासा' अपरिचित विषय के प्रति होती है, परन्तु अगर वह विषय बहुत अधिक अपरिचित है, तब तो उससे भय उत्पन्न होने लगता है। बिलकुल अजनबी चीज़ों से बच्चा डरता है। इसलिए जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए वस्तु का कुछ परिचित तथा कुछ अपरिचित होना आवश्यक है। शिक्षक को पढ़ाते हुए न तो बिलकुल नई बात पढ़ानी शुरू कर देनी चाहिए, न ऐसी ही बात को समझाने लगना चाहिए जिनसे बालक खूब अच्छी

तरह से परिचित हैं। बिलकुल नई बातों को वे समझेंगे नहीं, बिलकुल पुरानी बातों को वे सुनेंगे नहीं। इसलिए शिक्षक को पढ़ाते हुए तीन बातों का खयाल रखना चाहिए--(क) उस विषय में बालक पहले से क्या जानते हैं, (ख) नियत समय में कितनी नई बात उन्हें बताई जा सकती है, (ग) नई को पुरानी से किस प्रकार जोड़ा जा सकता है। शिक्षा में 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़ जाने का यही मतलब है। बालक में जिज्ञासा है, परन्तु जो पदार्थ उसके सामने है, उसी के साथ किसी तरह का सम्बन्ध जोड़ कर नई बात उसे सिखाई जा सकती है। हर्बार्ट ने जिज्ञासा के इस मनोवैज्ञानिक रूप को ख़ूब समझा था। उसने कोई नया-पाठ पढ़ाने के जो क्रम नियत किए थे, वे उक्त सिद्धान्त पर ही आश्रित थे, इनका आगे वर्णन किया जायगा।

३. 'विधायकता' (CONSTRUCTIVENESS)

'विधायकता' के साथ 'कृति' का 'उद्वेग' रहता है—

'विधायकता' के साथ कुछ नवीन 'कृति' उत्पन्न करने का उद्वेग रहता है। विधायक-शक्ति पक्षियों में घोंसला बनाने के रूप में दिखाई देती है। बालक भी कुछ-न-कुछ बनाता रहता है। शुरू-शुरू में उसमें वस्तुओं के वर्तमान रूप में परिवर्तन करने की इच्छा प्रबल होती है। पुस्तक मेज पर रखी है, तो वह उसे नीचे फेंक देगा, नीचे रखी है, तो ऊपर डाल देगा। आपने कुछ लिख कर रखा है, तो वह उठाकर उसके दो टुकड़े कर देगा। बनाने तथा बिगाड़ने में वह भेद नहीं करता। धीरे-धीरे यह शक्ति रचना में, बनाने में, विधायकता में बदलती जाती है। कुछ बच्चे मिल कर बैठे हैं, मट्टी का घर बनाने लगते हैं, मट्टी का चूल्हा, मट्टी का तवा, मट्टी का आटा और मट्टी की थाली बनाते हैं। यह शक्ति विधायकता की शक्ति है। बालक में यह सोद्देश्य क्रिया है, इसका उद्देश्य कुछ-न-कुछ नया उत्पन्न करना है। इसी शक्ति को विकसित करके, बढ़ाकर, एक खास दिशा में चला कर उसी बालक को बड़े-बड़े मकान और पुल बनाने वाला इंजिनीयर बनाया जा सकता है। किसी बात को अपने हाथ से करके जितना सीखा जा सकता है, उतना किताबें पढ़कर नहीं सीखा जा सकता।

'विधायकता' की शिक्षा में उपयोगिता—

आजकल स्कूलों में बालकों से काम करवा कर उन्हें सिखाने का नया तरीका चला है। 'प्रोजेक्ट-पद्धति' में बालक मकान तक बनाते हैं, 'मॉन्टिसरी-पद्धति' में बालकों के लिए ऐसे उपकरणों का निर्माण किया गया है जिन्हें जोड़-तोड़ कर वे कुछ-न-कुछ बनाते रहते हैं, 'बालोद्यान-शिक्षा' में भी इस बात को ध्यान में रखा गया है। इसके अतिरिक्त स्वयं करके जो बात सीखी जाती है, वह दिमाग़ में गड़ भी जाती है। शिक्षक को चाहिए कि वह जो-कुछ पढ़ाये, उसे बालकों से कराता भी जाय।

४. 'युयुत्सा' (COMBAT OR PUGNACITY)

'युयुत्सा' के साथ 'क्रोध' का 'उद्वेग' रहता है—

'युयुत्सा' में 'क्रोध' का उद्वेग काम कर रहा होता है। बालक मजे में बैठे खेल रहे हैं। इतने में एक बालक दूसरे को मार बैठता है, और कुश्तमकुश्ती होने लगती है। माता-पिता के सामने बच्चे ज़रा-ज़रा-सी बात पर अड़ जाते हैं। बच्चों के इस प्रकार के झगड़ालूपन से माता-पिता बड़े तंग रहते हैं, परन्तु यह बालक के विकास के लिए एक अद्भुत शक्ति है, इसे दबाना ठीक नहीं। युयुत्सा तभी उत्पन्न होती है, जब बालक की कोई 'प्राकृतिक-शक्ति' रुकती है। वह खाना चाहता है, खाने में रुकावट दीखती है, वह झुंझला कर छीनने की कोशिश करता है, या जमीन पर लोट जाता है। इस दृष्टि से यह अन्य शक्तियों की सहायक-शक्ति है। जो बालक बचपन में शान्त पड़े रहते हैं, वे अक्सर बड़े होकर बुद्धू निकलते हैं, क्योंकि उनमें कठिनाई को जीत लेने का साहस उत्पन्न नहीं होता।

'युयुत्सा' की शिक्षा में उपयोगिता—

शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक में 'युयुत्सा' को दो रूप दे। या तो बालक अपनी रक्षा में लड़े, या अपने से कमजोर की रक्षा में लड़े, यों ही दूसरों पर हाथ न चलाता फिरे। चतुर शिक्षक के हाथ में बालक की 'युयुत्सा' एक उत्तम हथियार बन जाती है। किसी बुराई के सामने आने

पर किसी कठिनाई को देखकर बालक का हृदय उत्साह, साहस, विजय की इच्छा से भर जाता है, और वह झट-से अपने मार्ग की बाधा को छिन्न-भिन्न कर देता है।

५. 'संचय' (ACQUISITION)

'संचय' के साथ 'ममत्व' का 'उद्वेग' रहता है—

बालक में 'संचय' की प्राकृतिक-शक्ति है। इसमें 'स्वत्व', अर्थात् ममता का 'उद्वेग' काम कर रहा होता है। बालक को जो-कुछ मिलता है, वह उसे इकट्ठा कर लेता है। उसके संग्रह में वे सब चीजें मिल जाती हैं, जिन्हें लोग निकम्मी समझकर फेंक देते हैं। कागजों के टुकड़ों और फटे हुए चीथड़ों से लेकर निबों और स्याही की गोलियाँ तक सब उसके संग्रहालय में मिल जाता है।

'संचय' की शिक्षा में उपयोगिता—

शिक्षा की दृष्टि से यह शक्ति बहुत उपयोगी है। जो चीज अपनी है उसके लिए मनुष्य सब-कुछ करने के लिए उद्यत रहता है। सम्पत्ति को पञ्चायती बनाने के विरुद्ध यही युक्ति दी जाती है। कहा जाता है कि अगर ऐसा कर दिया जाय, तो लोग काम करना ही छोड़ दें। कई बालकों को टिकट इकट्ठा करने का शौक़ हो जाता है, इन्हें इससे इतिहास तथा भूगोल आसानी से सिखाया जा सकता है। जिस चीज में उनका स्वत्व, उनकी ममत्व-बुद्धि हो गई, उसे साफ़-सुथरा रखना सिखाकर बालकों में सफ़ाई की आदत डालना मुश्किल नहीं रहता। बहुत अधिक ममत्व-बुद्धि से अनुदारता बढ़ सकती है, अतः शिक्षक को इस शक्ति को बे-लगाम नहीं छोड़ देना चाहिए।

इन पाँच 'प्राकृतिक-शक्तियों' के अतिरिक्त बालक में 'निवृत्ति' की शक्ति भी है। 'निवृत्ति' के साथ 'घृणा' का 'उद्वेग' रहता है। शिक्षक बालक के हृदय में बुराई के प्रति घृणा उत्पन्न करके उससे निवृत्ति उत्पन्न करा सकता है। संसार में बुरे लोग तो रहेंगे, उन्हें दूर नहीं किया जा सकता, परन्तु बुराई के प्रति घृणा अवश्य उत्पन्न की जा सकती है।

बालकों में 'आत्म-गौरव' की शक्ति भी है। 'आत्म-गौरव' की 'प्राकृतिक-शक्ति' के साथ 'आत्माभिमान' का 'उद्वेग' रहता है। बालक

किसी काम को करता हुआ कहता है, देखो मैं कैसे करता हूं, वह दूसरों का ध्यान अपनी कृतकार्यता की तरफ़ खींचता है। इस शक्ति का एक-दूसरे से आगे बढ़ने में उपयोग किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य 'प्राकृतिक-शक्तियों' के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है।

प्रश्न

(१) 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) की अपेक्षा 'सामान्य-प्रवृत्ति' (Innate or General tendency) अधिक व्यापक होती है—इसे समझाओ। इन दोनों में क्या भेद है?

(२) पलायन (Escape), जिज्ञासा (Curiosity), विधायकता (Constructiveness), युयुत्सा (Pugnacity), संचय (Acquisition) के साथ कौन-कौन से 'उद्वेग' (Emotion) रहते हैं, तथा इनकी शिक्षा में क्या उपयोगिता है?

७

बालक की जन्मगत 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' तथा उनकी शिक्षा में उपयोगिता

(INHERITED GENERAL TENDENCIES OF THE CHILD AND THEIR EDUCATIONAL UTILITY)

मुख्य-मुख्य 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के वर्णन के बाद अब हम 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (Innate or General Tendencies) का वर्णन करेंगे।

१. सहानुभूति (SYMPATHY)

दूसरे का 'उद्वेग' हम में आ जाना 'सहानुभूति' है—

'सहानुभूति' में कम-से-कम दो व्यक्तियों का होना जरूरी है, दोनों में से एक की अनुभूति को दूसरा ग्रहण कर लेता है। किसी दूसरे के मानसिक 'उद्वेग'—'क्षोभ' (Emotion)—को हम कैसे ग्रहण कर लेते हैं? यह तो हर-एक जानता है कि 'उद्वेग' की अवस्था में व्यक्ति की शारीरिक अवस्था एक ख़ास प्रकार की हो जाती है। अगर वह डर गया है, तो भागने लगता है; दुःखी हो रहा है, तो आँसू बहाने लगता है। इस अवस्था से हम उसके डरने या दुःखी होने का अनुमान करते हैं, और भागते को देखकर ख़ुद भी डर जाते हैं, और भागने लगते हैं, रोते को देखकर ख़ुद भी दुःखी होने तथा रोने लगते हैं, उसकी अनुभूति हम में प्रविष्ट हो जाती है। इस समय हमें डर या दुःख के कारण का ज्ञान नहीं होता। दूसरे की 'चिल्लाहट' को सुनकर हम अनुमान करते हैं कि वह डर रहा है, और हम भी डरने लगते हैं; दूसरे के 'आंसू' को देखकर हम समझते हैं कि वह दुःखी हो रहा है, और हम भी दुःख में रोने लगते हैं; दूसरे के 'मुक्के' को देखकर हमें ज्ञान होता है कि वह गुस्से में है, और हमें भी गुस्सा आने लगता है।

इन अवस्थाओं में तो उक्त 'उद्वेग' आप-से-आप हमारे मन में आने लगते हैं, परन्तु सहानुभूति की एक वह भी अवस्था होती हैं, जबकि दूसरा व्यक्ति हमारे भीतर किन्हीं ख़ास प्रकार के उद्वेगों को उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा होता है। भिखारी अपने शरीर पर कोई जख्म बना लेता है, व्याख्याता व्याख्यान देता हुआ रोने लगता है, अध्यापक वीरता का पाठ पढ़ाता हुआ ज़ोर से आवेग में बोलने लगता है। इन अवस्थाओं में दूसरे में 'उद्वेग' उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है।

शिक्षक 'सहानुभूति' का उपयोग कैसे करे ?—

सहानुभूति होना ठीक है या नहीं ? अन्धी सहानुभूति ठीक नहीं है। दूसरे को रोते देखकर यों ही रो पड़ना, दूसरे को भागते देखकर यों ही भाग पड़ना मूर्खता है। कई वक्ता जनता में 'उद्वेग' की अवस्था उत्पन्न करके, उनसे जो-कुछ कराना चाहते हैं, करा लेते हैं। जनता प्रायः 'उद्वेग' से चलती है। यह अवस्था भी ठीक नहीं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि सहानुभूति सदा अन्धी ही होती है। सहानुभूति पशुओं तथा मनुष्यों को परस्पर बाँधने का सबसे उत्तम साधन है। शिक्षक तथा माता-पिता के हाथ में सहानुभूति एक ऐसा शस्त्र है जिसका सदुपयोग करके वे बालक के चरित्र-निर्माण में बहुत-कुछ कर सकते हैं। जो शिक्षक बालक के उल्टा चलने पर उसे दाद देता है, वह उसकी आदत बिगाड़ देता है। बालक को ऐसे समय सहानुभूति मिल जाती है, जब नहीं मिलनी चाहिए थी। इतिहास तथा साहित्य पढ़ाते हुए कई पात्र आते हैं, अच्छे भी होते हैं, बुरे भी होते हैं। अगर शिक्षक ठीक पात्रों के साथ सहानुभूति प्रकट करता है, तो वह स्वयं बालकों में पहुँच जाती है, और उनके चरित्र-निर्माण में सहायक होती है। प्रसन्न रहने वाला अध्यापक बालकों में प्रसन्नता का संचार कर देता है, मातमी शक्ल को देखकर बालक भी मातमी शक्ल बना लेते हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि बालकों में अन्धी नहीं, उचित सहानुभूति की भावना का संचार करे, उसका सहानुभूति का क्षेत्र संकुचित न हो, विस्तृत हो। परन्तु याद रखना चाहिए कि सहानुभूति व्याख्यान देने से उत्पन्न नहीं होती, ठीक प्रकार की सहानुभूति सहवेदना के कार्य 'करने' से आती है। बालकों को सिखाया जाय कि वे अन्धे को रास्ता बता

दें, बीमार को दवाई ला दें। इससे उनका आत्मिक-विकास होगा। इसके अतिरिक्त बालकों में दूसरों के सुख में शरीक होने की भी आदत डालनी चाहिए। दूसरे के दुःख में दिखाने को दुःखी होने वाले कई मिल जाते हैं, दूसरे के सुख में वास्तव में सुखी होने वाले थोड़े हैं। उत्तम संस्कारों को डालने वाले शिक्षक अपने बालकों में इस भावना को उत्पन्न करना भी नहीं भूलते। जो शिक्षक सहानुभूति से बालकों को वश में करना जानता है, उसे नियन्त्रण में कोई कठिनाई नहीं होती।

२. 'संकेत-योग्यता' (SUGGESTIBILITY)

'संकेत-योग्यता का गुणक' (Co-efficient of Suggestibility)—

कभी-कभी हम दूसरे के दिए हुए संकेतों (Suggestions) को बिना ननु-नच किए मान लेते हैं। दूसरा व्यक्ति लिखकर, ज़बानी कहकर, या किसी अन्य तरीक़े से हमें कुछ कहता है, और हम उसकी बात पर झट-से चलने लगते हैं, उस पर बहस नहीं करते। इस प्रकार दूसरे के संकेत को स्वीकार करने की योग्यता, इसकी प्रवृत्ति, प्रत्येक बालक में होती है। छोटे बालक, जिनकी आयु तथा विचार परिपक्व नहीं होते, संकेतों के प्रभाव में जल्दी आ जाते हैं। जिन लोगों के किसी विषय में विचार बन चुके होते हैं, वे संकेत को आसानी से ग्रहण नहीं करते। संकेत को ग्रहण करने में शारीरिक अवस्था भी कारण होती है। थका हुआ आदमी हर-एक बात में 'हाँ' कर देता है। कमज़ोर व्यक्ति अपने से अधिक बलवान्, तथा निराश अपने से अधिक सफल व्यक्ति की बात को झट-से मान लेता है। प्रत्येक व्यक्ति में संकेत को ग्रहण करने की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। किसी बालक की 'संकेत-योग्यता' (Suggestibility) की मात्रा का पता लगाने के लिए जितने संकेत उसे दिये जाँय, उनकी संख्या से, जितने संकेतों को वह ग्रहण करे, उन्हें विभक्त कर देना चाहिए। इस प्रकार 'संकेत-योग्यता का गुणक' (Co-efficient of Suggestibility) निकल आता है। उदाहरणार्थ, एक बालक को १० संकेत दिये गए, उसने ५ के अनुसार काम किया, उसकी 'संकेत-योग्यता का गुणक' ५/१० हुआ। इसको प्रतिशत में कहने के लिए गुणक

को १०० से गुणा कर देना चाहिए। जिस बालक के विषय में हम लिख रहे हैं, उसकी संकेत ग्रहण करने की योग्यता $\frac{५}{१०}$ × १०० = ५० प्रतिशत हुई। संकेतों का विभाग इस प्रकार किया गया है :—

चार प्रकार के संकेत—

(क) 'प्रभाव-संकेत' (*Prestige Suggestions*) : वे कहाते हैं जो माता-पिता अथवा शिक्षक की तरफ़ से बालक को दिए जाते हैं। बालक इसलिए उनके अनुसार चलता है, क्योंकि कोई बड़ा उसे कह रहा है।

(ख) 'बहु-संख्यक-संकेत' (*Mass Suggestions*) : वे हैं जो बहुपक्ष को देखकर मनुष्य पर पड़ जाते हैं। जब कई लोग मिलकर एक बात को कहने लगते हैं, तो इकले व्यक्ति के लिए अलग सम्मति रखना मुश्किल हो जाता है। स्कूल में लड़के अक्सर वही बात कहते या करते हैं जो बहुपक्ष की होती है।

(ग) 'आत्म-संकेत' (*Auto-Suggestions*) : इन्हें मनुष्य अपने-आपको स्वयं देता है। किसी को कह दिया जाय, वह कमज़ोर हो रहा है, तो वह सचमुच कमज़ोर होने लगता है। प्रार्थना 'आत्म-संकेत' का उदाहरण है।

(घ) 'विरुद्ध-संकेत' (*Contra-Suggestions*) : वे कहाते हैं, जिनमें जो-कुछ कहा जाय, व्यक्ति उससे उल्टा कहता या करता जाय। जीवन में ऐसी घटनाएँ रोज़ दिखाई देती हैं। किसी ने पूछा, आप जायेंगे, आपको जाना भी है, परन्तु आप कह देते हैं, हम नहीं जायेंगे। बहस करने में ऐसे पक्ष अक्सर बन जाते हैं। दूसरा व्यक्ति जो-कुछ कहता है, हम उससे उल्टा कहने लगते हैं।

शिक्षक 'संकेत-योग्यता' का उपयोग कैसे करे ?—

शिक्षक बालक को या तो सब-कुछ बतला सकता है, या उसे संकेत देकर उससे ही बात निकलवा सकता है। वही शिक्षक चतुर समझा जाता है, जो स्वयं सब-कुछ न बताए, संकेतों द्वारा बालक से ही उत्तर को निकलवा ले। संकेतों द्वारा 'आत्म-क्रिया-शीलता' (Self-activity) को बढ़ाना ही शिक्षक का काम है। परन्तु कई शिक्षक इतने अधिक संकेत देने लगते हैं कि बालक की विचार-शक्ति को, 'आत्म-क्रिया-शीलता' को

प्रोत्साहन देने के बजाय संकेतों की भरमार कर देते हैं। इससे स्वतंत्र विचार-शक्ति मारी जाती है, ऐसा नहीं करना चाहिए। डमवेल का कथन है कि शिक्षक प्रायः इस प्रवृत्ति का दुरुपयोग करते हैं। शिक्षक अक्सर ऐसे प्रश्न करने लगते हैं जिनका उत्तर 'हाँ' या 'न' में होता है। कई शिक्षक ऐसे प्रश्न करते हैं जिनका उत्तर प्रश्न में ही आ जाता है। ये दोनों बातें मानसिक-विकास को रोकती हैं। संकेत की प्रवृत्ति का इस्तेमाल करना चाहिए, परन्तु सम्भल कर। 'यह मत करो', 'यह ग़लत है' —इस प्रकार के वाक्यों द्वारा शिक्षा देना कभी-कभी उल्टा पड़ जाता है। बालक की 'विरुद्ध-संकेत' की प्रवृत्ति उससे वही कराने लगती है, जिस बात से उसे मना किया जा रहा है। इसके बजाय कि बालक को ग़लत क्या है यह बताकर, सही बताया जाय, सही ही बताकर उस पर चलने की शिक्षा देनी चाहिए। मानसिक-विकास की अपेक्षा आत्मिक-विकास में 'संकेत-योग्यता' का अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता है। बालक को प्रारम्भिक जीवन में, जबकि उसमें विचार-शक्ति का विकास नहीं हुआ होता, संकेतों द्वारा ही बुराई से हटाकर अच्छाई की तरफ़ प्रवृत्त किया जा सकता है। इस समय शिक्षक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि क्योंकि बालक 'बहु-संख्यक-संकेत' (Mass Suggestions) से बहुत प्रभावित होता है, इसलिए शिक्षक को स्कूल में उच्च विचारों का बहुमत बनाए रखना चाहिए। अगर स्कूल में अधिक संख्या उच्च विचारों के बालकों की है, तो बहुत-से बालक खुद-ब-खुद उन विचारों के हो जाते हैं।

३. 'अनुकरण' (IMITATION)

थॉर्नडाइक का मत—हँसना 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) से सीखा जाता है, 'अनुकरण' (Imitation) से नहीं—

थॉर्नडाइक का कथन है कि 'अनुकरण' 'स्वाभाविक-प्रवृत्तियों' (Tendencies) के वर्गीकरण में गिनी जाने वाली प्रवृत्ति नहीं है। लोग कहते हैं कि बालक 'अनुकरण' से सीखता है, थॉर्नडाइक कहता है कि नहीं, अनुकरण से नहीं सीखता। तो फिर वह कैसे सीखता है? हम 'हँसने' को ले लेते हैं। बालक 'हँसना' कैसे सीखता है? कहा जाता है कि हम हँसते हैं,

हमें हँसता देख बालक अनुकरण करता है, हँसने लगता है, और बस अनुकरण से हँसना सीख जाता है। थॉर्नडाइक कहता है कि अगर अनुकरण से ही बालक सीखना शुरू करे, तो सारी आयु में केवल बोलना भी नहीं सीख सकता। बोलते समय २० मांस-पेशियाँ काम करती हैं। अगर इनके तीन-तीन भी खिचाव-तनाव माने जाँय और बालक दस घण्टा रोज़ इनका संचालन सीखे, तो तीस साल में भी केवल अनुकरण के आधार पर बालक बोलना तक नहीं सीख सकता। बालक किस मांस-पेशी को कब, किस प्रकार हिलाए कि अमुक अनुकरण उत्पन्न हो जाय, यह उसे सिखाने कौन आता है? असल बात यह है कि मनुष्य की शारीरिक-रचना ही इस प्रकार की बनी है कि शरीर की मांस-पेशियों की भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं, और वे स्वतन्त्र रूप से 'सहज-क्रिया' करती हैं। आँख की इकाई अलग है, हाथ की अलग, उनकी अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से 'सहज-क्रिया' होती है, और ये 'सहज-क्रियाएँ' 'सम्बद्ध' हो जाती हैं। हमसे एक गज़ की दूरी पर एक चीज़ पड़ी है। आँख की इकाई स्वतन्त्र रूप से एक गज़ का अन्दाज़ लगाती है, हाथ की अलग, ये दोनों अन्दाज़ जुड़ जाते हैं, हाथ अपने को उतना ही बढ़ाता है, जितना आँख देखती है। हाथ के अंदाज़ और आँख के अन्दाज़ का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं था, यह सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है, और हम दूरी का ज्ञान सीख जाते हैं। इस दृष्टि से हमारा 'सीखना' शरीर की भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र 'सहज-क्रियाओं' का परस्पर 'सम्बद्ध' हो जाना है। हाँ, तो बच्चे 'हँसना' कैसे सीख जाते हैं? गुदगुदाने से स्वयं हँसी आती है, यह 'सहज-क्रिया' है, परन्तु क्योंकि गुदगुदी करने वाला गुदगुदाते हुए स्वयं हँसता है, इसलिए पीछे चलकर बच्चा उसे सिर्फ़ हँसते देखकर भी हँसने लगता है। पहले गुदगुदी हुई और हँसी आई, अब वह 'सहज-क्रिया' गुदगुदी करने से 'असम्बद्ध' होकर गुदगुदाने वाले के साथ 'सम्बद्ध' हो जाती है, और बच्चा बिना गुदगुदाने पर भी, उसे देखकर हँसने लगता है। इस प्रकार हँसना 'अनुकरण' द्वारा नहीं आता, परन्तु हँसने की 'सहज-क्रिया' का हँसाने वाले के साथ 'सम्बन्ध' हो जाता है, तभी तो बालक को गुदगुदी किये बिना भी हँसाने वाले को देखकर ही हँसी आ जाती है। इस दृष्टि से 'हँसना' केवल 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned

Reflex) है, 'अनुकरण' नहीं। थॉर्नडाइक के कथनानुसार हम 'हँसना', 'अनुकरण' से नहीं, 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' से सीखते हैं। हम भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि सीखना (Learning) 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' द्वारा होता है, परन्तु क्या सीखने में 'अनुकरण' की सत्ता से सर्वथा इनकार किया जा सकता है? बोलने का साधन गला तो सब के पास एक समान है। इसकी 'सहज-क्रिया' भी सब की समान होती है, परन्तु फिर बंगाली, पंजाबी आदि के हिन्दी या अंगरेज़ी बोलने के लहजे में भेद क्यों पाया जाता है? बंगाली के अंगरेज़ी के उच्चारण को सुनकर झट कहा जा सकता है कि वह बंगाली है। इस भेद का कारण अनुकरण को ही मानना पड़ता है। उसने बंगालियों का ही अनुकरण किया है, इसलिए उन्हीं-का-सा बोलता है।

कर्कपैट्रिक ने 'अनुकरण' के पाँच विभाग किए हैं—

'अनुकरण' के कई विभाग किए जाते हैं। कर्कपैट्रिक ने इसके पाँच विभाग किए हैं:—

(क) 'सहज-अनुकरण' (Reflex Imitation) : जैसे, दूसरे को उबासी लेते देखकर उबासी आ जाना, नम्र देखकर नम्र हो जाना, कठोर देखकर कठोर हो जाना, लापरवाह देखकर लापरवाह हो जाना।

(ख) 'स्वाभाविक-अनुकरण' (Spontaneous Imitation) : वे हैं जिनका अनुकरण करने को खुद जी करने लगे। जो चीज़ बालक को पसन्द आ जाती है, उसका वह अनुकरण करने लगता है। गाड़ी को सीटी देते देखकर बालक भी सीटी बजाने लगते हैं।

(ग) अभिनयानुकरण' (Dramatic Imitation) : वे हैं जिनमें बालक देखी हुई चीज़ों का नाटक करने लगते हैं। गुड़िया को बालक बाक़ायदा सुलाते हैं, नहलाते हैं, खिलाते हैं, जैसे खुद सोते, नहाते और खाते हैं। इसका महत्त्व फ्रिबल ने खूब समझा था। बालोद्यान-शिक्षा में ऐसे कई खेल होते हैं।

(घ) 'सप्रयोजनानुकरण' (Purposeful Imitation) : वह है जिसमें किसी उद्देश्य से बालक अनुकरणीय पदार्थ को सामने रखकर

उसका अनुकरण करता है। जैसे अच्छा लेख सीखने के लिए बालक किसी सुलेखक का लेख सामने रखता है, और उसका अनुकरण करता है।

(ङ) 'आदर्शानुकरण' (*Idealistic Imitation*) : वह है जिसमें बालक किसी आदर्श को सामने रखकर उसका अनुकरण करता है। वह पहले अपने से बड़ों के बताए हुए आदर्शों का 'अनुकरण' करता है, फिर खुद बड़ा होकर अपने ही मानसिक-आदर्श बना लेता है, और उनका अनुकरण करने लगता है।

मैक्डूगल ने भी अनुकरण को पाँच भागों में बाँटा है।

ड्रेवर ने 'अनुकरण' के दो भाग किए हैं—

ड्रेवर ने अनुकरण के दो भाग किए हैं—(१) 'स्वाभाविक (Unconscious), तथा (२) 'सप्रयत्न' (Deliberate)। हम समाज में रहते हुए जो-कुछ सीख जाते हैं, वह 'स्वाभाविक अनुकरण' है। हमारी बोल-चाल, रहन-सहन, बोलने का तरीक़ा सब स्वाभाविक अनुकरण हैं, इनके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, ये बालक को आप-से-आप आ जाते हैं। इसीलिए परिस्थिति को शुद्ध रखने की बड़ी आवश्यकता है। गंदे वायुमण्डल में रहकर बालक गन्दी बातों का अनुकरण झट-से सीख जाता है। 'सप्रयत्न-अनुकरण' वह है जिसमें बालक किसी उद्देश्य से कोई बात सीखता है। स्कूल का सारा कार्य 'सप्रयत्न-अनुकरण' है। इन दो के अलावा ड्रेवर ने अनुकरण के दो भेद और भी किए हैं—'दृश्यानुकरण' (Perceptual Imitation) तथा 'विचारानुकरण' (Ideational Imitation)। 'दृश्यानुकरण' तब होता है जबकि जिस चीज़ का वह अनुकरण कर रहा है, वह उसकी आँखों के सामने हो; 'विचारानुकरण' तब होता है, जब कि वह वस्तु तो सामने न हो, परन्तु उसका विचार मन में हो, और हम उसके अनुकरण का प्रयत्न करें।

शिक्षक 'अनुकरण' का उपयोग कैसे करे : 'स्पर्धा' तथा ईर्ष्या'—

शिक्षा की दृष्टि से अनुकरण का बड़ा भारी महत्त्व है। बालक अनुकरण से ही बहुत-कुछ सीखता है। इस कारण शिक्षक का भी कर्त्तव्य हो जाता है कि वह बालक के सम्मुख स्वयं भी आदर्श बनने का प्रयत्न करे, नहीं तो शिक्षक के अनेक दोष बालक में आ सकते हैं। बालक अनुकरण

करते हुए जब एक-दूसरे से बढ़ना चाहते हैं, तो एक और प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसे 'स्पर्धा' (Emulation) कहते हैं। जो बालक दूसरों से बढ़ नहीं सकते, वे दूसरे का अहित चिन्तन करने लगते हैं, इसे 'ईर्ष्या' (Envy) कहा जाता है। शिक्षक को चाहिए कि बालकों में 'स्पर्धा' को प्रोत्साहित करे, 'ईर्ष्या' को उत्पन्न न होने दे। कई लोगों का विचार है कि 'अनुकरण' से बालक की प्रतिभा मारी जाती है, वह दूसरे की नक़ल मात्र रह जाता है। परन्तु यह तब होता है जब अनुकरण अन्त तक अनुकरण ही बना रहे। अनुकरण का उद्देश्य प्रतिभा को जगाना है, व्यक्तित्व को उत्पन्न करने के लिए उचित सामग्री देना है। अगर अनुकरण यह काम करता है, तो वह प्रतिभा को दबाने के बजाय उसे प्रोत्साहित करता है।

४. खेल (PLAY)

जितनी भी 'प्राकृतिक-शक्तियों' या 'सामान्य-प्रवृत्तियों' का वर्णन किया जा चुका है, शिक्षा की दृष्टि से, 'खेल' उन सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। पुराने शिक्षक समझते थे कि खेलना समय नष्ट करना है। शिक्षा के क्षेत्र में खेल के महत्त्व को हाल ही में समझा जाने लगा है। यह प्रवृत्ति सब से अधिक व्यापक है। अनुकरण, युयुत्सा, विधायकता आदि अनेक 'प्राकृतिक-शक्तियों' में 'खेल' की प्रवृत्ति काम कर रही होती है। शुरू-शुरू में बालक इकला खेलना पसन्द करता है, वह बैठा-बैठा कुछ-न-कुछ किया करता है। धीरे-धीरे वह अनुभव करने लगता है कि खेलने के लिए उसे साथियों की जरूरत है। इस दृष्टि से खेल एक सामाजिक प्रवृत्ति है। दूसरे के साथ खेलता हुआ बालक बहुत-कुछ सीख जाता है। खेल भिन्न-भिन्न तरह का होता है। किसी आयु में कोई खेल बालक को आकर्षित करता है, किसी में कोई। कार्ल ग्रूस ने खेलों के पाँच प्रकार कहे हैं :—

कार्ल ग्रूस के किए खेलों के पाँच विभाग—

(क) परीक्षणात्मक खेल (Experimental Play)
(ख) दौड़-धूप वाले खेल (Movement Play)
(ग) रचनात्मक-खेल (Constructive Play)

(घ) लड़ने-झगड़ने वाले खेल (Fighting Play)
(ङ) मानसिक खेल (Intellectual Play)

परीक्षणात्मक खेल वे हैं जिनमें बालक चीज़ों को धरने-उठाने में लगा रहता है। इनमें कोई उद्देश्य नहीं रहता। इन खेलों से बालक को अपनी परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है, और उसकी इन्द्रियाँ विषयों को पहचानने लगती हैं। दौड़-धूप वाले खेल बालकों के एक-दूसरे के पीछे भागने, पत्थर आदि उठा कर फेंकने के रूप में पाये जाते हैं। इनसे बालक के शरीर का गठन दृढ़ होता है, और शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का पारस्परिक सहयोग बढ़ता है। रचनात्मक खेलों में लड़के मिट्टी का घर बनाते हैं, स्काउटिंग सीखते हुए पुल बनाते हैं, और इसी प्रकार के रचनात्मक कार्य करके बहुत-कुछ सीख जाते हैं। इस प्रकार स्वयं हाथों से काम करके बालक जितना सीख जाते हैं, उतना किताबों को पढ़ने से नहीं सीख सकते। लड़ने-झगड़ने के खेल—कबड्डी, कुश्ती, हॉकी, फुटबॉल आदि हैं। इनमें हार कर भी हँसते रहने और दूसरे के साथ वैर-भाव न पैदा करने की भावना उत्पन्न होती है, जो चरित्र-निर्माण में बहुत उपयोगी है। मानसिक प्रयत्न वाले खेल तीन तरह के होते हैं—(१) 'विचारात्मक' (Intellectual), जैसे—शतरंज, ताश, ड्राफ़्ट, शब्द रचना आदि; (२) 'उद्वेगात्मक' (Emotional), जैसे—नाटक आदि का खेलना जिनमें वीर, बीभत्स, रौद्र आदि रस हों; (३) 'कृत्यात्मक' (Volitional)—जैसे, कोई हँसाने वाली कहानी कहकर न हँसने की शर्त लगा दी जाय, चुटकी लेकर न चिल्लाने की शर्त बाँध दी जाय, जो हँस पड़े, चिल्ला पड़े वह हारा समझा जाय।

'खेल' तथा 'काम' में भेद—

'खेल' (Play) तथा 'काम' (Work) में भेद है, परन्तु यह भेद बहुत बारीक है। जो बात एक व्यक्ति के लिए 'खेल' है, वह दूसरे के लिए 'काम' हो सकती है, इसी प्रकार एक ही बात उसी व्यक्ति के लिए किसी समय 'काम' और किसी समय 'खेल' हो सकती है। टैनिस खिलाड़ी के लिए 'खेल' है, गेंद उठाकर देने वाले के लिए 'काम' है; पहाड़ पर चढ़ना मजे के लिए चढ़ने वाले के लिए 'खेल' है, कुली के लिए 'काम' है। 'खेल'

तथा 'काम' का भेद क्रिया के प्रकार पर नहीं, कर्त्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। 'काम' तथा 'खेल' में भेद तीन प्रकार का है: (१) 'काम' में उद्देश्य की सिद्धि की प्रतीक्षा करनी पड़ती है; 'खेल' में खेलने की क्रिया के व्यापार में ही उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। 'काम' में बाह्य उद्देश्य रहता है; 'खेल' में बाह्य उद्देश्य नहीं रहता। कई कहते हैं कि खेल में भी सफलता प्राप्त करना या खुशी हासिल करना उद्देश्य है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि खेल का उद्देश्य असली उद्देश्य नहीं, वह तो अपने मन की मौज का उद्देश्य है। 'काम' का उद्देश्य उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाता है, 'खेल' का उद्देश्य मन की मौज के सिवा कुछ नहीं। (२) 'काम' में स्वतन्त्रता नहीं रहती, हमें काम करना ही होता है; 'खेल' में स्वतन्त्रता रहती है, जब मर्जी हो हम खेलें, जब मर्जी हो न खेलें। (३) 'काम' में प्रसन्नता होना आवश्यक शर्त नहीं है, काम में कष्ट हो तब भी काम तो करना ही पड़ता है; 'खेल' में प्रसन्नता, खुशी आवश्यक शर्त है।

खेल की प्रवृत्ति का आधार क्या है, इस विषय में निम्न सिद्धान्त है:

'खेल' का वैज्ञानिक आधार—

(क) *'अतिशय-शक्ति-वाद'* (*Surplus Energy Theory*)—शिलर तथा स्पेंसर का कथन है कि प्राणी में आवश्यकता से अधिक जो शक्ति होती है, उसे वह खेल में खर्च करता है, ठीक ऐसे जैसे एंजिन की भाप बढ़ जाने से उसे खोल दिया जाता है। बच्चों को खुद कुछ काम नहीं करना होता, माता-पिता उनके लिए सब-कुछ कर देते हैं। वे अपनी शक्ति का क्या करें? बस, वे उस शक्ति का खेलने द्वारा व्यय करते हैं, परन्तु यदि यह बात ठीक है, तो कमज़ोर, थके हुए और बीमार व्यक्ति क्यों खेलते हैं, उनमें तो आवश्यकता से अधिक शक्ति नहीं होती?

(ख) *पुनरावृत्तिवाद'* (*Recapitulation Theory*)—स्टेनले हॉल का कथन है कि बालक बचपन से युवावस्था तक उस लम्बे रास्ते को तय करता है, जो उसके पूर्वजों ने सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तय किया है। इस प्रकार बचपन की भिन्न-भिन्न खेल की क्रियाएँ उसके पूर्वजों के कार्यों की पुनरावृत्ति हैं। किसी समय मनुष्य जंगली रहा होगा, वह अपने शिकार की टोह में छिपकर बैठता होगा, उसे ढूंढता होगा, यही प्रवृत्ति

बचपन में आँख-मिचौनी के खेल में पाई जाती है। इसी प्रकार अन्य खेल भी उसकी जंगली अवस्था की स्मृतियाँ हैं।

(ग) 'परिष्कृति-वाद' (*Cathartic Theory*)—हमने अभी कहा, बालक अपने जंगली पूर्वजों की सन्तान है। उसकी भिन्न-भिन्न जंगली प्रवृत्तियाँ, जो बालक में वंशानुसंक्रमण द्वारा आई होती हैं, समाज के सभ्यता के नियमों के कारण दबी रहती हैं। खेल उनके बाहर निकालने तथा बालक को परिष्कृत करने का एक साधन है। इस अर्थ में 'परिष्कृति' (Catharsis)-शब्द का पहले-पहल अरस्तू ने प्रयोग किया था। अभिनय द्वारा अन्दर दबे हुए भाव निकलकर आत्मा परिष्कृत हो जाती है।

(घ) 'पुनः प्राप्ति-वाद' (*Recreation Theory*)—इसके प्रवर्तक लेज़रस महोदय हैं। उनका कथन है कि बालक के शरीर तथा दिमाग़ जब थक जाते हैं, तब खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए वह खेल की तरफ़ झुकता है। यह विचार 'अतिशय-शक्तिवाद' से उल्टा है।

(ङ) 'पूर्वाभिनय-वाद' (*Anticipatory Theory*)—मेल ब्राश तथा कार्ल ग्रूस का मत है कि बालक को युवावस्था में जो-जो कुछ करना होता है, बालक उसकी खेल में पहले से ही तैयारी करता है, उसका अभ्यास करता है। छोटी-छोटी लड़कियाँ गुड़ियों से खेलती हैं, उनके घर बनाती हैं, उनके कपड़े सीती हैं, यह सब मानो उनकी आने वाले जीवन के लिए तैयारी होती है।

शुरू में देखने से ऐसा पता लगता है कि ये पाँचों 'वाद' एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। पर्सी नन के शब्दों में ये एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं, एक-दूसरे के पूरक हैं। इनसे खेल के किसी-न-किसी पहलू पर प्रकाश पड़ता है।

खेल तथा शिक्षा—

शिक्षा में 'खेल-प्रणाली' (Play-way) को आजकल बहुत स्थान दिया जाता है। इस बात का उद्योग किया जाता है कि बालक तथा शिक्षक शिक्षा को 'काम' न समझ कर 'खेल' समझें, और बालक को खेल-खेल में बहुत-कुछ सिखा दिया जाय। खेल में 'प्रसन्नता' तथा 'स्वतन्त्रता' का अंश रहता है। शिक्षा देते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक

पढ़ते हुए प्रसन्नता से सब-कुछ पढ़ जाय, और साथ ही अपने को बँधा हुआ अनुभव न करे। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में इन दोनों बातों पर ध्यान देना तो दूर रहा, इन्हें शिक्षा के लिए हानिकर समझा जाता था। आजकल शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में 'खेल' (Play) को आधारभूत बनाया जा रहा है और शिक्षा में 'पुस्तकेतर कार्य-क्रम' (Extra-Curricular Activities) को बहुत महत्त्व दिया जाता है। आजकल शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा देने के तरीके, स्कूल, नियन्त्रण, प्रबन्ध तथा पढ़ाई में खेल की प्रणाली को काम में लाया जा रहा है। आजकल जितनी भी शिक्षा-प्रणालियाँ आविष्कृत हुई हैं, उन सब को समझने के लिए शिक्षा में खेल के महत्त्व को समझना जरूरी हो गया है। खेल की प्रणाली पर आश्रित जो शिक्षा-पद्धतियाँ इस समय प्रचलित हैं, उनका हम संक्षेप से वर्णन करेंगे। इनका विस्तृत वर्णन हमने अपनी पुस्तक 'शिक्षा-शास्त्र' में दिया है।

(क) 'मॉन्टीसरी शिक्षा-पद्धति'—इस पद्धति में बालक खिलौने के साथ खेलते हैं, खेल-खेल में ही वस्तुओं के नाप-तोल, रंग-रूप, दूरी आदि का ज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, क्योंकि वहाँ कोई शिक्षक नहीं होता, सहायक के रूप में एक निरीक्षक रहता है। इस प्रकार के काम में उन्हें आनन्द भी खूब मिलता है।

(ख) डाल्टन शिक्षा-पद्धति'—खेल द्वारा शिक्षा देने का दूसरा तरीक़ा 'डाल्टन-पद्धति' है। 'डाल्टन-प्रणाली' का जन्म ही पुरानी शिक्षा-प्रणाली के विरोध में हुआ है। इसमें न समय-विभाग का बन्धन होता है, न घंटी की पाबन्दी। बालक अपनी इच्छानुसार जिस विषय को जितनी देर तक चाहता है, पढ़ता है। यहाँ कोई शिक्षक भी नहीं होता, केवल कठिनाइयाँ हल करने के लिए एक सहायक होता है। डाल्टन-प्रणाली द्वारा, जिसमें कोई बाह्य-बन्धन नहीं, बालक के व्यक्तित्व का उच्च-विकास सम्भव है।

(ग) 'प्रोजेक्ट शिक्षा-पद्धति'—शिक्षा को खेल के समान रुचिकर, प्रिय तथा सरल बनाने का एक और तरीका 'प्रोजेक्ट-प्रणाली' है। इसमें स्कूल के कार्य को जीवन की समस्याओं के साथ जोड़कर बालकों के सामने

एक 'प्रयोजन' (Purpose) रख दिया जाता है। बालक उन समस्याओं का अपने ढंग से, अपने-आप, प्रेम, लगन और उत्साह के साथ हल करने में जुट जाते हैं। इस प्रकार बात-ही-बात में वे बहुत-कुछ सीख जाते हैं।

(घ) *'अभिनय-पद्धति'*—इस तरीक़े से बालक इतिहास और साहित्य बड़ी सुगमता से सीखते हैं। उन्हें इतिहास रटना नहीं पड़ता। राणा प्रताप और अकबर का अभिनय करके बालक उनके जीवन की घटनाओं को ही आसानी से नहीं सीख जाते, उनके चरित्र पर भी इसका स्थायी प्रभाव पड़ जाता है।

(ङ) *'बालचर-पद्धति'*—यह प्रणाली बालक का खाली समय अच्छा बिताने पर ज़ोर देती है। वास्तविक शिक्षा वह है जो बालक को अपने अवकाश के समय को भली-भाँति व्यतीत करने के योग्य बनाए। इस प्रणाली द्वारा बालक को खेल-खेल में जीवन की बहुत-सी उपयोगी बातों का ज्ञान हो जाता है। जर्मनी, इटली तथा अन्य देशों में युवकों के अलग-अलग संगठन बने, जिन्हें 'युवक-प्रगति' (Youth Movement) का नाम दिया गया। इन संगठनों ने उन देशों को कहीं-का-कहीं पहुँचा दिया। इन संगठनों से उन देशों का उदय हुआ, भले ही अन्य कारणों से उनका पराजय हो गया। अपने देश में भी युवकों के भिन्न-भिन्न संगठन होने लगे हैं। युवकगण अपने खाली समय में दूर-दूर स्थानों का भ्रमण करते हैं, सब काम अपने हाथों से करते हैं। इन प्रगतियों से, जिनका आधार खेल की प्रवृत्ति को भिन्न-भिन्न दिशाएँ देना है, बालक के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास में बड़ी सहायता मिलती है।

पिछले दिनों भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय का ध्यान भी इस दिशा में गया है और देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में युवकों तथा युवतियों के शिविर लगाये गये हैं जिनका व्यय सरकार द्वारा दिया गया है। ये शिविर देश में 'युवक-प्रगति' को प्रोत्साहित करने में अच्छा भाग ले सकते हैं।

प्रश्न

(१) 'सहानुभूति' के दृष्टान्त देकर इसकी शिक्षा के लिए उपयोगिता दर्शाओ।

(२) 'संकेत-योग्यता का गुणक' (Co-efficient of Suggestibility) कैसे निकलता है।

(३) 'संकेत' (Suggestion) कितने प्रकार के हैं ? उन पर प्रकाश डालो।

(४) शिक्षक के लिए बालक की 'संकेत-योग्यता' का क्या उपयोग है ? वालक को कैसे संकेत देने चाहियें ?

(५) थॉर्नडाइक के इस कथन को कि बच्चा हँसना 'अनुकरण' से नहीं, 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) से सीखता है समझाओ।

(६) कर्कपैट्रिक तथा ड्रेवर ने अनुकरण के जो भाग किये हैं, उनका उल्लेख करो।

(७) 'स्पर्धा' तथा 'ईर्ष्या' का अनुकरण में क्या स्थान है ?

(८) शिक्षक 'अनुकरण' का क्या उपयोग कर सकता है ?

(९) कार्ल ग्रूस द्वारा वर्णित खेलों के पाँच प्रकारों का वर्णन करो।

(१०) 'खेल' तथा 'काम' में क्या भेद है ?

(११) खेल के मनोवज्ञानिक आधार के सम्बन्ध में क्या-क्या वाद हैं ?

(१२) खेल को आधार बनाकर कौन-कौन-सी शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित हैं ?

८

पर्यावरण का व्यक्ति के विकास पर प्रभाव

(ENVIRONMENT AND ITS INFLUENCE ON THE DEVELOPMENT OF THE INDIVIDUAL)

पैतृक-संस्कार तथा शिक्षा—

बालक जो-कुछ है, अपने माता-पिता के कारण है, यह एक प्रचलित विचार है। माता-पिता अच्छे हैं, तो सन्तान अच्छी और योग्य होगी; माता-पिता नालायक़ हैं, तो सन्तान नालायक़ होगी, हम उसका कुछ नहीं बना सकते। अगर यह विचार ठीक है, तो 'शिक्षा' का कोई स्थान नहीं रहता, और हमारा बालक के मानसिक-विकास के लिए 'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर कुछ भी लिखना निरर्थक हो जाता है। इसलिए आगे बढ़ने से पहले हमें यह देख लेना चाहिए कि बालक की शारीरिक तथा मानसिक रचना में वह हिस्सा कितना है जिसे हम बदल नहीं सकते, और वह हिस्सा कितना है जिसे हम बदल सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हमें यह देख लेना चाहिए कि बालक के विकास में माता-पिता का, बीज-परम्परा का, 'वंशानुसंक्रमण', (Heredity) का कितना अंश है; और शिक्षक का, समाज का, 'पर्यावरण' (Environment) का कितना अंश है। जिस मात्रा में पर्यावरण का हिस्सा अधिक होगा उसी मात्रा में 'शिक्षा' के सम्बन्ध में विचार करना सार्थक होगा, क्योंकि शिक्षा बालक के 'पर्यावरण' का ही मुख्यतम हिस्सा है।

१. प्रारम्भिक विचार

बोनेट का मत—बीज रूप में सब पहले से ही विद्यमान है—

युरोप में १७, १८ तथा १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यह समझा जाता था कि 'वीर्यकण' (Spermatozoa) अथवा 'रजःकण' (Ova) में भावी-सन्तति बीज-रूप में रहती है। कई 'वीर्यकण' के पक्षपाती थे, कई रजःकण के; परन्तु ये दोनों मानते थे कि जैसे बिना खिली फूल की

कली में पत्तियाँ बन्द रहती हैं, अपने खिलने के समय की प्रतीक्षा करती हैं, इसी प्रकार अगली जितनी भी सन्ततियाँ आनेवाली हैं, वे सब संक्षिप्त रूप में वीर्य-कण अथवा रजःकण में बन्द रहती हैं। इस प्रकार वीर्य अथवा रजःकण में आगामी सन्तति की पहले से रचना मानने वाले 'पूर्व-रचना-वादी' (Preformationists) कहाते थे। इस वाद का मुख्य पोषक चार्लस बोनेट (१७२०–१७९३) था। उसका कथन था कि संसार में कोई नवीन रचना नहीं होती, कोई नया प्राणी उत्पन्न नहीं होता, जो भी उत्पन्न होते हैं, वे संक्षिप्त रूप में, बीज रूप में, वीर्य अथवा रज के भीतर, एक के बाद दूसरी तह के अन्दर, पहले से ही मौजूद हैं, उनके अंग-प्रत्यंग सब पहले से ही बने हुए हैं।

२. लेमार्क का विचार

लेमार्क का मत—पर्यावरण परिवर्तन करता है—

'पूर्व-रचना-वाद' के द्वारा हम ज्यादा-से-ज्यादा यह कह सकते थे कि माता-पिता तथा सन्तति में समानता क्यों पाई जाती है, परन्तु क्या हम यह नहीं देखते कि इन दोनों में समानता के साथ विषमता भी दीखती है? समानता का कारण 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का सिद्धान्त हो सकता है, फिर चाहे वह 'पूर्व-रचना-वाद' के अनुसार हो, चाहे और किसी वाद के अनुसार; परन्तु विषमता का कारण क्या है? इस प्रश्न पर पहले-पहल लेमार्क (१७४४–१८२९) ने प्रकाश डाला। लेमार्क ने १८०९ में यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपने को बदलने का प्रयत्न करता है। अगर उसका 'पर्यावरण' (Environment) बदल जाय, तो उसे जिन्दा रहने के लिए अपने को बदलना पड़ता है। बदलने से उसमें जो परिवर्तन आते हैं वे सन्तति में चले जाते हैं, 'वंशानुसंक्रान्त' (Inherited) हो जाते हैं। जीराफ़ की गर्दन लम्बी क्यों है? शुरू-शुरू में ऊँचे वृक्षों से पत्ते खाने के लिए वह अपनी गर्दन को ऊँचा करता होगा, उसकी सन्तति की गर्दन उससे लम्बी हुई होगी। आगे बढ़ते-बढ़ते कई सन्ततियों में जाकर जीराफ़ की गर्दन बहुत लम्बी हो गई होगी। लेमार्क का कथन है कि सर्दी, गर्मी, नमी से, भोजन के पर्याप्त मात्रा में

मिलने-न-मिलने से, किसी काम को बार-बार करने (Use) या न करने (Disuse), से प्राणी के शरीर या मन में जो परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, वे आगामी सन्तति में भी जाते हैं। पर्यावरण (Environment) के कारण जो परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं, इन्हें 'अर्जित-गुण' (Acquired Characters) कहते हैं। लेमार्क का कथन था कि 'अर्जित-गुण' आगामी सन्तति में संक्रान्त होते हैं, इसी से नस्लें बदलती जाती हैं। शिक्षा की दृष्टि से यह सिद्धान्त बड़े महत्त्व का है। अगर 'अर्जित-गुण' संक्रान्त होते हैं, तो शिक्षक मनुष्य-समाज को उत्तरोत्तर उन्नति की तरफ़ ले जाने के कार्य में सफल हो सकता है; अगर ये संक्रान्त नहीं होते, अगर शिक्षक को हर संतति के साथ नये सिरे से मगज़-पच्ची करनी है, तो उसका काम अत्यन्त कठिन हो जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि लेमार्क के इस सिद्धान्त पर बहुत मत-भेद खड़ा हुआ और अब तक विचारक लोग किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच पाये।

३. डार्विन का विचार

डार्विन का मत—'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural Selection)—

डार्विन (१८०९–१८८२) भी यही मानता था कि 'पर्यावरण' (Environment) प्राणी में 'परिवर्तन' (Variation) उत्पन्न करता है, और वह परिवर्तन 'अनुसंक्रान्त' (Inherit) हो जाता है, उसी से प्राणियों की नस्लों में भेद आ जाता है। परन्तु पर्यावरण प्राणी में परिवर्तन कैसे उत्पन्न करता है, इस प्रश्न पर डार्विन ने एक नवीन मत का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि प्राणी बहुत अधिक सन्तान उत्पन्न कर देते हैं। जब उनके लिए भोजन की मात्रा पर्याप्त नहीं होती, तब वे अपने जीवन को क़ायम रखने के लिए आपस में लड़ने लगते हैं। जो दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान् होते हैं, वे बाज़ी मार ले जाते हैं। 'बल' से मतलब शारीरिक बल से ही नहीं। न जाने किस मौके पर कौन-सी बात 'बल' सिद्ध हो जाय, और प्राणी उसी के सहारे जीवन-संग्राम में जीत जाय। ये बातें जिन्हें हमने 'बल' कहा है, जिनके कारण एक प्राणी दूसरों को जीवन-संग्राम में पराजित कर देता है, जीवन में मुख्य वस्तु हैं। जिन प्राणियों में ये बातें होती हैं,

वे जीवित रहते हैं; दूसरे 'भूख' से, 'बीमारी' से, 'लड़ाई' से मारे जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति सबल प्राणियों को छाँटती जाती है, निर्बलों को ख़त्म करती जाती है। प्रकृति की दृष्टि में जो सबल प्राणी होते हैं, वे ही बच रहते हैं, और वे ही सन्तानोत्पत्ति करते हैं। उनके जो गुण थे, जिनके कारण वे सबल थे, वे अगली सन्तति में अनुसंक्रान्त हो जाते हैं। इस प्रकार की छाँट को, इस प्रकार के चुनने की प्रक्रिया को 'विकासवाद' (Theory of Evolution) की परिभाषा में 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural Selection) कहते हैं; इस प्रक्रिया का नतीजा 'बलशाली का जिन्दा रहना तथा निर्बल का मर जाना' (Survival of the fittest) होता है।

पर्यावरण में परिवर्तन के साथ प्राणी में 'अनुकूल परिवर्तन' (Favourable Variation) उत्पन्न हो जाना ही बल है, उस परिवर्तन का न उत्पन्न होना ही निर्बलता है। इन 'परिवर्तनों' के विषय में डार्विन का कथन था कि ये दो तरह के होते हैं: 'क्रमिक-परिवर्तन' (Continuous Variations या Modifications) तथा 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Discontinuous Variations या Mutations)। 'क्रमिक-परिवर्तन' का अभिप्राय तो यह है कि वह धीरे-धीरे हुआ, कुछ इस सन्तति में हुआ, कुछ अगली में हुआ, होता-होता आख़िरी सन्तति में बहुत अधिक बढ़ गया। 'आकस्मिक-परिवर्तनों' से अभिप्राय ऐसे परिवर्तनों से है, जो एकदम हो जाते हैं, उनका क्रमिक-विकास नहीं होता, न उनके कारणों का कुछ पता चलता है। डार्विन के बाद 'आकस्मिक-परिवर्तनों' की तरफ़ इंग्लैण्ड में बेटसन (१८६१–१९२६) तथा हालैण्ड में डी ब्राइज (१८४८) ने विशेष रूप से विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया। इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को डार्विन 'वंशानुसंक्रान्त' (Inherit) होने वाला मानता था।

'वंशानुसंक्रमण' किन नियमों के आधार पर होता है, इस विषय में डार्विन का विचार यह था कि शरीर के प्रत्येक अंग का नमूना, जिसे वह 'जेम्यूल्स' (Gemmules) कहता था, 'उत्पादक-कोष्ठों' (Germ Cells) में चला जाता है, और फिर 'उत्पादक-कोष्ठों' से वैसे-का-वैसा शरीर उत्पन्न हो जाता है। इस विचार को 'पैनजेनेसिस' (Pangenesis) कहा जाता था। अब यह विचार नहीं माना जाता।

४. गाल्टन तथा विज़मैन का विचार

गाल्टन का मत—जिन 'अर्जित-गुणों' का 'उत्पादक-तत्व' पर प्रभाव पड़े, वे ही संक्रान्त होते हैं—

अभी तक लेमार्क तथा डार्विन ने ही माता-पिता तथा सन्तान में समता एवं विषमता के प्रश्न पर 'वंशानुसंक्रमण' और 'पर्यावरण' की दृष्टि से विचार किया था। दोनों ने 'अर्जित-गुणों' (Acquired Characters) के 'अनुसंक्रान्त' होने के पक्ष में ही अपने विचार प्रकट किये थे। अब गाल्टन (१८२२–१९११) ने इस प्रश्न पर विचार शुरू किया। उसने देखा कि सन्तति केवल माता-पिता से ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं दादा-परदादा से भी मिलती है। इसका क्या कारण? उसने इस समस्या को हल करने के लिए १८७५ में यह कल्पना की कि माता-पिता के 'वीर्य' तथा 'रज' के 'उत्पादक-कोष्ठों का तत्व' (Germ Plasm) बालक के शरीर में ज्यों-का-त्यों बना रहता है, और अगली सन्तति तक चलता जाता है। तभी तो यह सम्भव हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने पिता से इतना नहीं मिलता जितना अपने दादा से मिलता है। कोई ऐसी चीज़ होगी जो दादा से पोते में सीधी आई। 'अर्जित-गुणों' के विषय में उसने कहा कि वे संक्रान्त नहीं होते, उनका प्रभाव केवल शरीर पर होता है। कुत्ते की दुम काट दी जाय और इस वंश की हर-एक सन्तति की दुम क्यों न काटते चले जायँ, पूरी दुम अगली सन्तति में अवश्य प्रकट होगी। इसलिए यह मानना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि वे ही गुण अगली सन्तति में संक्रान्त होते हैं जिनका सीधा 'उत्पादक-कोष्ठों के तत्व' (Germ Plasm) पर असर होता है। यह पदार्थ क्योंकि वंश-परम्परा में आगे-आगे चलता है इसलिए इस पर जो प्रभाव पड़ जायगा, वही संक्रान्त हो सकेगा, हर-एक गुण नहीं।

विज़मैन का मत—'उत्पादक-तत्व की निरन्तरता'—

गाल्टन के इस विचार को लेकर विज़मैन (१८३४–१९१४) ने आगे बढ़ाया। उसका कथन था कि 'उत्पादक-तत्व' (Germ Plasm) पिता से पुत्र में और पुत्र से आगे निरन्तर चलता रहता है, इसलिए उसके सिद्धान्त को 'उत्पादक-तत्व की निरन्तरता' (Continuity of Germ

Plasm) का नाम दिया जाता है। वैसे तो इस वाद का प्रारम्भ गाल्टन ने किया था, परन्तु यह विज़मैन के नाम से ही प्रसिद्ध है।

'शारीर-कोष्ठ' (Somatic cells) मरते हैं, 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) नहीं मरते, यही विज़मैन का सिद्धान्त है—

'उत्पादक-तत्व की निरन्तरता' का क्या अभिप्राय है? विज़मैन का कथन था कि प्रत्येक प्राणी का शरीर दो प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) से बना हुआ है। पहले प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) का नाम 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) है; दूसरे प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) का नाम 'शारीर-कोष्ठ' (Somatic Cells) है। 'शारीर-कोष्ठों' को 'शारीर-कोष्ठ' इसलिए कहते हैं क्योंकि इनसे 'शरीर' के भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं, वे 'शरीर' की रचना करते हैं, और अपनी आयु भुगत कर मर जाते हैं; परन्तु इन नश्वर 'शारीर-कोष्ठों' से बने शरीर के भीतर अविनश्वर 'उत्पादक-कोष्ठ' रहते हैं। 'शारीर-कोष्ठों' से बने शरीर का काम इन 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा करना है। नर के 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'वीर्यकण' (Sperms) तथा मादा के 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'रजःकण' (Ova) कहते हैं। नर के 'उत्पादक-कोष्ठ'—वीर्यकण—उसके शरीर में से निकल कर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके 'उत्पादक-कोष्ठ'—रजःकण—से मिल जाते हैं, और इसी प्रक्रिया से शिशु का जन्म होता है। शिशु के शरीर को बनाते हुए 'उत्पादक-कोष्ठ' अपने सदृश दूसरे 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) को तो उत्पन्न करते ही हैं, परन्तु साथ-ही-साथ 'शारीर-कोष्ठों' (Somatic cells) को भी उत्पन्न करते रहते हैं। 'उत्पादक-कोष्ठ' तो 'उत्पादक' तथा 'शारीर' दोनों प्रकार के कोष्ठों (Cells) को उत्पन्न करते हैं, 'शारीर-कोष्ठ' सिर्फ़ शरीर के रूप में विकसित होकर 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा का काम करते हैं। ये 'शारीर-कोष्ठ' शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के रूप में विकसित होते हैं, शरीर की आयु भोग लेने पर स्वयं नष्ट होते रहते हैं, परन्तु 'उत्पादक-कोष्ठों' को नष्ट नहीं होने देते। 'उत्पादक-कोष्ठ' नष्ट होने के बजाय पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र, और इसी प्रकार सन्तान-से-सन्तान में चलते जाते हैं। ये मानो हमें धरोहर में मिली सम्पत्ति हैं। हम इन्हें सुरक्षित रखते हैं। जिस प्रकार बैंक

में रुपया जमा रहता है, इसी प्रकार ये मानो हमारे शरीर में जमा रहते हैं। 'उत्पादक-कोष्ठों' के इसी सन्तान-से-सन्तान में प्रवाह को 'उत्पादक-तत्व की निरन्तरता' (Continuity of Germ Plasm) कहा जाता है।

जर्म प्लाज़्म, न्यूक्लियस, क्रोमोसोम, जेनीज़—

'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) तथा 'उत्पादक-तत्व' (Germ Plasm) में भेद है। 'उत्पादक तत्व' वह 'तत्व'—'पदार्थ'—है, जो 'उत्पादक-कोष्ठ' में रहता है। 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) में विद्यमान 'उत्पादक-तत्व' (Germ Plasm) ही पैतृक गुणों के सन्तति में संक्रान्त होने का भौतिक आधार है। इन 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) में एक कठोर गाँठ-सी होती है जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं जिन्हें 'वर्ण-सूत्र', अर्थात् 'क्रोमोसोम्स' (Chromosomes) कहते हैं। विज़मैन का कथन था कि यही 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम्स'—पैतृक गुणों के वाहक होते हैं। पीछे जाकर दूरवीक्षण यन्त्र के अधिक उन्नत हो जाने पर नये परीक्षणों से पता चला कि 'वर्ण-सूत्रों'—'क्रोमोसोम्स'—की रचना अन्य छोटे-छोटे दानों से होती है जिन्हें 'वाहकाणु'—'जेनीज़'' (Genes) —कहते हैं। यही 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—ऊँचाई, लम्बाई, गोरापन, कालापन, नीली आँख, भूरी आँख आदि भिन्न-भिन्न गुणों के 'वाहक' (Carriers या Factors) होते हैं। एक 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—में एक ही गुण रह सकता है, दो नहीं। मनुष्य के एक 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) में चौबीस 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम्स' होते हैं। पता लगाया गया है कि एक-एक 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम' में कई-सौ 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—होते हैं।

५. मेंडल के विचार

बड़े तथा छोटे मटरों में मेंडल का नियम—

मेंडल (१८२२–८४) ने स्वतन्त्र रूप से अपने परीक्षण किये थे। यद्यपि उसने उन्हें १८६५ में प्रकाशित करा दिया था, तथापि १९वीं

शताब्दी के अन्त में जाकर उन परीक्षणों का महत्त्व विद्वानों को समझ पड़ा। इन परीक्षणों से विजमैन के 'उत्पादक-तत्व की निरन्तरता' के सिद्धान्त पर अच्छा प्रकाश पड़ता था। मेंडल ने 'बड़े' (Tall) तथा 'छोटे' (Short) मटरों पर परीक्षण किये थे। उसने तीन साल तक लगातार परिश्रम कर के ऐसे मटर के बीज तय्यार किये जो हर दृष्टि से बिल्कुल शुद्ध कहे जा सकते थे, अर्थात् जिन्हें संकर नहीं कहा जा सकता था। ऐसे कुछ बीज शुद्ध बड़े मटर के और कुछ बीज शुद्ध छोटे मटर के थे। इन बीजों को एक-साथ बो दिया गया। अब जो पौधे उगे, उनसे जो बीज बने, वे शुद्ध नहीं हो सकते थे क्योंकि बड़े और छोटे मटरों के पास-पास होने के कारण उनके फूलों में एक-दूसरे के पराग मिल गए। मेंडल ने इस प्रकार बड़े तथा छोटे मटरों के संयोग से उत्पन्न हुए मटर के बीजों से यह देखना चाहा कि उनकी वंश-परम्परा कैसे चलती है। इन संकर मटरों की पहली पीढ़ी में एक ही प्रकार के मटर के बीज से कुछ बड़े और कुछ छोटे मटर हुए। इस पहली पीढ़ी की अगली जो पीढ़ी हुई, उसमें बड़े से बड़े ही मटर होते, और छोटों से छोटे ही होते—ऐसा नहीं देखा गया। उनमें एक ख़ास नियम काम कर रहा था। वह नियम यह था कि 'बड़े' मटरों के संकर हो जाने के बाद जो पहली पीढ़ी हुई उसमें २५ प्रतिशत तो 'शुद्ध बड़े' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपने से अगली पीढ़ियों में बड़ों को ही पैदा करते थे, छोटों को नहीं; २५ प्रतिशत 'शुद्ध छोटे' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपने से अगली पीढ़ियों में छोटों को ही पैदा करते थे, बड़ों को नहीं; बाकी के ५० प्रतिशत मटर 'मिश्रित' थे, अर्थात् स्वयं बड़े होते हुए भी अगली पीढ़ियों में बड़ों को ही नहीं पैदा करते थे, परन्तु ऊपर के नियम के अनुसार ही वंश-परम्परा चलाते थे, अर्थात् स्वयं बड़े होते हुए भी २५ प्रतिशत बड़ों, २५ प्रतिशत छोटों, और ५० प्रतिशत मिश्रित मटरों को उत्पन्न करते थे। यही नियम 'छोटे' मटरों में काम करता हुआ दीख पड़ता था। इस नियम को चित्र में प्रकट करना चाहें तो यों लिख सकते हैं :—

'वड़ा' को प्रधान मान कर यह चित्र बनेगा

अर्थात्, 'शुद्ध बड़े' मटर के 'शुद्ध बड़े' के साथ संयोग होने से 'शुद्ध बड़े' (जिन्हें चित्र में ब+ब कहा गया है) उत्पन्न होंगे; 'शुद्ध छोटे' के 'शुद्ध छोटे' के साथ संयोग से 'शुद्ध छोटे' (जिन्हें चित्र में छ+छ कहा गया है) होंगे। 'शुद्ध बड़े' (ब+ब) के साथ 'शुद्ध छोटे' (छ+छ) के संयोग से संकर होंगे, जिन्हें चित्र में 'ब+छ' कहा गया है। इन 'ब+छ' में 'शुद्ध बड़ों' या 'शुद्ध छोटों' को पैदा करने की शक्ति न होकर बड़ों तथा छोटों दोनों को पैदा करने की शक्ति होगी, परन्तु बड़े तथा छोटे एक विशेष नियम
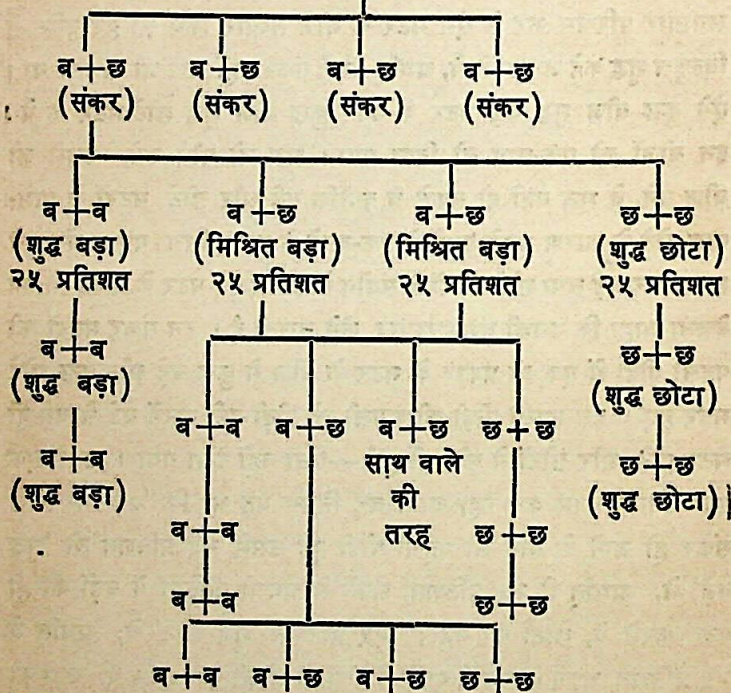
से पैदा होंगे। मेंडल ने यही पता लगाया कि यह नियम क्या है। वह नियम यह है कि 'ब+छ' के 'ब+छ' के साथ संयोग में, अर्थात् बड़े और छोटे के मिलने से जो बीज बना है, उसमें, अगर बड़ा प्रधान है, तो उनसे ३ हिस्से बड़े होंगे, १ हिस्सा 'शुद्ध छोटा' (२५ प्रतिशत) होगा। इन ३ हिस्से बड़ों में १ हिस्सा 'शुद्ध बड़ा' (२५ प्रतिशत) होगा, अर्थात् उसकी अगली पीढ़ी भी बड़ों की ही होगी; २ हिस्से 'मिश्रित बड़े' (५० प्रतिशत) होंगे, अर्थात् होंगे तो बड़े, लेकिन अगली पीढ़ी में बड़ों तथा छोटों का वही ३ और १ हिस्से का अनुपात रहेगा। यह चित्र बड़ों को 'प्रधान' तथा छोटों को 'गौण' समझकर बनाया गया है। ऐसा ही चित्र छोटों को 'प्रधान' तथा बड़ों को 'गौण' समझकर बनाया जा सकता है। बड़ों के प्रधान होने की अवस्था में अनुपात होगा ३ हिस्से बड़े और १ हिस्सा छोटा; छोटों के प्रधान होने की अवस्था में अनुपात होगा ३ हिस्से छोटे और १ हिस्सा बड़ा, अर्थात् पहले से उल्टा।

'एटविज़्म' (Atvism) क्या है ?—

'प्रधान' तथा 'गौण' का क्या अर्थ है ? हम पहले देख चुके हैं कि जब नवीन उत्पत्ति होती है, तो माता तथा पिता के 'उत्पादक-कोष्ठों' के बीच में एक 'न्यूक्लियस' होता है, उसमें 'क्रोमोसोम्स', और उनमें भी 'जेनीज़' होते हैं। 'जेनीज़' अनेक होते हैं, और उनमें से एक-एक, माता-पिता के भिन्न-भिन्न गुणों का वाहक होता है। जब बड़े तथा छोटे मटर के फूलों के संयोग से बीज पैदा हुआ, तो उस बीज के पौधे में, या बड़ेपन के 'जेनीज़' प्रधान होंगे, या छोटेपन के। जेनीज़ में ही तो बड़ापन, छोटापन तथा अन्य प्रकार के गुण रहते हैं। 'प्रधान' जेनीज़ को 'प्रभावशाली' (Dominant) कहा जाता है; 'गौणों' को, प्रभाव में आनेवालों को, 'प्रभावित' (Recessive) कहते हैं। काले तथा नीले रंग की आँखों वाले माता-पिता की सन्तान में, अगर काले रंग के जेनीज़ प्रधान हो जायें, तो काले रंग के ही नेत्र होंगे, क्योंकि काले रंग का वाहक जेनीज़ 'प्रभावक' (Dominant) तथा नीले रंग का वाहक जेनीज़ 'प्रभावित' (Recessive) हो गया। हाँ, इनकी अगली पीढ़ी में माता तथा पिता दोनों की काली आँखें होते हुए भी, नीली आँखों की सन्तान आ सकती है, क्योंकि माता-पिता के 'उत्पादक-कोष्ठों'

में नीले रंग के वाहक-'जेनीज़' मौजूद हैं, अगर कहीं ये जेनीज़ प्रभावशाली (Dominant) हो गए तो नीली आँख का आ जाना स्वाभाविक है। यही कारण है कि कभी-कभी पुत्र की पिता से समानता न होकर पितामह से, प्रपितामह से, या माता के किसी सम्बन्धी से पाई जाती है। कभी-कभी सन्तति में बहुत पिछली पीढ़ियों के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। इस घटना को विकासवाद की परिभाषा में 'एटविज़्म' (Atvism) कहते हैं।

६. मैक्डूगल, हैरीसन तथा पवलव के परीक्षण

'अर्जित-गुण' (Acquired Characters) के संक्रान्त होने पर परीक्षण—

लेमार्क का कथन था कि 'अर्जित-गुण' संक्रान्त होते हैं; विज़मैन ने कहा, नहीं होते। अगर विज़मैन का कथन ठीक है, तो शिक्षक बड़ी कठिनाई में पड़ जाता है। जिन गुणों को वह बालक में उत्पन्न करता है, उसे अनन्त काल तक ऐसे ही कराते जाना होगा, क्योंकि ये संक्रान्त तो होंगे नहीं, पर्यावरण का, शिक्षा का अगली पीढ़ी पर कोई फल तो है नहीं। इस विषय में मैक्डूगल के परीक्षणों से नवीन प्रकाश पड़ता है और फिर से लेमार्क के कथन की पुष्टि होती नज़र आ रही है। मैक्डूगल, हैरीसन तथा पवलव के परीक्षण निम्न हैं :—

(क) मैग्डूगल ने चूहों पर परीक्षण किया। उन्हें पानी की एक नाँद में डाल दिया। उसमें से निकलने के दो मार्ग थे। एक में अंधेरा था, दूसरे में प्रकाश। चूहे प्रकाश वाले मार्ग से बाहर निकलने का प्रयत्न करते थे, परन्तु ज्यों ही वे उधर जाते थे, उन्हें विजली का धक्का दिया जाता था। विवश हो उन्हें अंधेरे मार्ग से जाना पड़ता था। मैक्डूगल ने गिना कि १६५ बार ग़लती करके पहली पीढ़ी के चूहों ने अंधेरे मार्ग से जाना सीखा। वह इन परीक्षणों को उनकी कई पीढ़ियों पर करता गया। तेईसवीं पीढ़ी में जाकर देखा गया कि २५ बार ग़लती करके वे अंधेरे रास्ते से जाना सीख गए। इससे यह परिणाम निकला कि प्रत्येक पीढ़ी का 'अर्जित-गुण' अगली पीढ़ी में 'संक्रान्त' हो सकता है।

(ख) हैरीसन ने एक विशेष प्रकार के पतंगों पर परीक्षण किया। उसने देखा कि कल-घरों के आस-पास के प्रदेश के पतंगे कुछ काले-से रंग

के थे। उसने शुद्ध रंग के पतंगों को लिया। उनके दो विभाग कर दिए। एक टोली को साधारण भोजन दिया, दूसरी को वही भोजन दिया जो कलवरों के पास रहने वाले मच्छरों को मिलता था। पहली टोली की सन्तति का रंग साधारण रहा, परन्तु दूसरी टोली की सन्तति का रंग काला-सा हो गया। इस परीक्षण से भी यही सिद्ध हुआ कि 'अर्जित-गुण' अगली पीढ़ी में संक्रान्त होते हैं।

(ग) उक्त परीक्षणों के अतिरिक्त लेमार्क के मत की पुष्टि में अन्य प्रमाण भी पेश किए जाते हैं और कहा जाता है कि माता-पिता द्वारा अर्जित किए हुए शारीरिक-गुण ही नहीं, मानसिक-गुण भी सन्तति में संक्रान्त होते हैं। उदाहरणार्थ, 'वेजवुड-डार्विन-गाल्टन'-वंशों के इतिहास को देखकर कहा जाता है कि इस वंश में जितने विज्ञानवेत्ता हुए हैं, उतने दूसरे किसी वंश में नहीं। इसी प्रकार 'जूक्स' (Jukes)—नामक एक अमेरिकन वंश है। दो सौ साल हुए जब एक बदमाश से यह वंश चला। इस वंश में ३ हज़ार से अधिक व्यक्ति अबतक हो चुके हैं, परन्तु सब एक-दूसरे से बदमाशी में बढ़े हुए हैं। 'जूक्स' की तरह एक और वंश का अध्ययन किया गया है जिसका नाम 'कालीकाक' (Kallikak) वंश है। इस वंश के प्रवर्तक ने एक बदमाश स्त्री से शादी कर ली थी जिसकी अबतक वैसी ही सन्तानें चली आ रही हैं। उसके बाद उसी व्यक्ति ने एक भली औरत से शादी की और उसके वंश से अबतक भलेमानस ही चले आ रहे हैं।

(घ) मैक्डूगल तथा हैरीसन की तरह रूस के श्री पवलव ने चूहों पर परीक्षणों से सिद्ध किया कि 'अर्जित-गुण' अगली सन्तति में संक्रान्त होते हैं। वे घंटी बजाकर चूहों को भोजन के लिए बुलाते थे। भोजन रखने तथा घंटी बजाने का काम एक ही समय होता था इसलिए चूहे घंटी बजने पर समझ जाते थे कि भोजन मिलेगा। पहली पीढ़ी के चूहे ३०० बार घंटी सुनने पर भोजन पर आये, तो आगे-आगे की सन्तति के लिए यह संख्या कम होती गई, और पाँचवीं पीढ़ी में तो सिर्फ़ पाँच बार घंटी बजाना काफ़ी हो गया। इस परीक्षण से पवलव ने सिद्ध किया कि 'अर्जित-गुण' अगली पीढ़ी में संक्रान्त होते हैं।

'ह्यू रिस्टिक-प्रणाली' (Heuristic method)

इन परीक्षणों तथा वंशों के इतिहास से यह परिणाम निकलता है कि कई गुण, जिन्हें हम 'अर्जित-गुण' का नाम देते हैं, सन्तति में संक्रान्त होते हैं। संभव है, उनका सीधा 'उत्पादक-कोष्ठों' पर असर हो जाता हो, और असली परिवर्तन 'उत्पादक-कोष्ठों' द्वारा ही होता हो। परन्तु कुछ भी हो, शिक्षक की दृष्टि से यह बात बड़े महत्त्व की है कि हमारे अनेक अर्जित शारीरिक तथा मानसिक गुण सन्तति में संक्रान्त होते हैं। इसीलिए प्रत्येक पीढ़ी में पिछली पीढ़ी का सारा इतिहास अन्तर्निहित रहता है। विकास-वादी तो यहाँ तक कहते हैं कि प्राणी पिछली पीढ़ियों में जिन-जिन अवस्थाओं में से गुज़रा है, वे सब इस जन्म में कुछ-कुछ देर के लिए बचपन में प्रकट होती हैं, और उनमें से गुज़र कर ही हम बड़े होते हैं। गर्भावस्था में शिशु भिन्न-भिन्न शक्लों में से गुज़रता है, जो लगभग पशुओं से मिलती-जुलती हैं। इस सिद्धान्त को 'पुनरावृत्ति' (Recapitulation) का सिद्धान्त कहा जाता है। इस पीढ़ी में पिछली सब पीढ़ियों का मानो संक्षिप्त उपसंहार, उनकी 'संक्षिप्त-पुनरावृत्ति' हो जाती है। अगर शरीर के विकास में इस प्रकार की 'पुनरावृत्ति' होती है, तो मन के विषय में भी ऐसी 'पुनरावृत्ति' मानना असंगत नहीं है। इसी सिद्धान्त को शिक्षा के क्षेत्र में घटाते हुए कइयों का कथन है कि बालक को उसी क्रम से सिखाना चाहिए जिस क्रम से जाति ने सीखा है। इस विचार का हर्बार्ट ने प्रति-पादन किया था, और उसी के शिष्य ज़िलर ने इसे और आगे बढ़ाया था। इनके सिद्धान्त को 'कल्चर ईपक थियोरी' (Culture Epoch Theory) कहा जाता है। जाति का मन विकास के जिस क्रम में से गुज़रा है, बालक के मन को भी विकास के उसी क्रम में से गुज़ारना चाहिए। साहित्य के पढ़ाने में शुरू-शुरू में किस्से-कहानियाँ पढ़ानी चाहिएँ, क्योंकि शुरू-शुरू में इन्हीं से साहित्य शुरू हुआ था। इसी प्रकार अन्य विषयों में इस सिद्धान्त को घटाया जाता है। विज्ञान में इसी सिद्धान्त को आर्मस्ट्रांग ने घटाया था। उसका कथन था कि शिक्षक का कर्तव्य है कि विद्यार्थी को उस सब प्रक्रिया में से गुज़ारे जिसमें से गुज़रते हुए पिछले विचारकों ने उस नियम का आविष्कार किया था। इसी तरह से वह नियम ठीक तौर से

समझा जा सकता है। इसे 'ह्यूरिस्टिक मैथड' कहा जाता है, जिसका हमने अपने 'शिक्षा-शास्त्र'-नामक ग्रन्थ में विस्तृत वर्णन किया है।

७. जंगली बच्चों का परीक्षण—'पर्यावरण' का बालक के विकास पर प्रभाव

'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) कहाँ तक बच्चे के विकास में सहायक है—यह जानना शिक्षक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक इसलिए है क्योंकि अगर बच्चे का विकास 'वंश-परम्परा' पर ही आश्रित है, 'पर्यावरण' पर नहीं तब तो शिक्षा बालक के विकास में कुछ भी नहीं कर सकती, और अगर कुछ कर सकती है, तो वह उसी हालत में अगर 'पर्यावरण' द्वारा 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) अगली-अगली सन्तति में संक्रान्त होते हैं। इसी लिए हमने विस्तार से इस बात पर विचार किया कि 'अर्जित-गुण' अगली सन्तति में जाते हैं या नहीं। हमारे विचार का निष्कर्ष यह है कि जिन 'अर्जित-गुणों' का 'उत्पादक-कोष्ठों' पर प्रभाव पड़ जाता है, वे गुण आगामी सन्तति में संक्रान्त होते हैं, दूसरे नहीं।

परन्तु यह पता लगाना कि कौन-से 'अर्जित-गुण' अपना असर 'उत्पादक-कोष्ठों' पर डाल देते हैं, कौन-से नहीं, अत्यन्त कठिन है। ऐसी हालत में, शिक्षक की समस्या यह रह जाती है कि वह 'पर्यावरण' (Environment) का बालक के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है—इस बात का पता लगाये। 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) तो आगामी सन्तति में संक्रान्त होती ही हैं, 'अर्जित-गुण' भी संक्रान्त होते हों, तब तो शिक्षक के लिए बहुत ही अच्छी बात हो जाती है क्योंकि तब वह जिन गुणों को बालक में डाल देगा, वे उस बालक में ही नहीं, अगली-अगली सन्तति में भी चलते चले जायेंगे, परन्तु अगर 'अर्जित-गुण' नहीं भी संक्रान्त होते, तब भी शिक्षक के लिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि 'पर्यावरण' (Environment) का बालक के अगली सन्तति नहीं तो कम-से-कम अपने विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। बालक के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर 'पर्यावरण' का बहुत अधिक प्रभाव है—यह बात जंगली बच्चों के विकास के दृष्टान्त से बहुत अधिक स्पष्ट हो जाती है।

१९२० में भारत के एक ईसाई पादरी श्री सिंह को शिकार करते समय दो लड़कियाँ भेड़ियों की गुफ़ाओं में मिलीं। पादरी महोदय दोनों को घर ले आये—एक की आयु आठ वर्ष, और दूसरी की साढ़े आठ वर्ष थी। पहली का नाम उन्होंने अमला और दूसरी का नाम कमला रखा। दोनों लड़कियाँ पशुओं की तरह हाथों तथा पैरों से चलती थीं, उन्हीं की तरह जीभ बाहर निकालकर हाँफती थीं, दिन को सोती, रात को इधर-उधर फिरती थीं, नंगी रहती थीं। अमला तो जल्दी मर गई, परन्तु कमला १७ वर्ष तक ज़िन्दा रही। जबतक उसका मानव-समाज के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं था, वह पशु ही बनी रही, संपर्क में आने के बाद धीरे-धीरे कपड़े पहनना, खड़े होकर चलना, कुछ बोलना सीख गई।

रामू

१९५४ में लखनऊ में भेड़िये द्वारा पालित एक बच्चे के किस्से ने दुनिया भर में तहलका मचा दिया था। उस बच्चे का नाम 'रामू' रखा गया था। इस बच्चे को लखनऊ के बलरामपुर अस्पताल में रखा

गया। बचपन में ही इसे भेड़िये उठा कर ले गये थे इसलिए वह उन्हीं की तरह चलता, उन्हीं की तरह खाता-पीता था। बलरामपुर अस्पताल से अब १९६१ की रिपोर्ट यह है कि रामू ने सिखाने से कुछ-कुछ बैठना और मनुष्यों का-सा व्यवहार करना सीख लिया है। इस बच्चे के परीक्षण से भी यही सिद्ध होता है कि बालक जो-कुछ सीखता है, 'पर्यावरण' से सीखता है, 'शिक्षा' से सीखता है।

८. 'पर्यावरण' का प्रभाव देखने के लिये जुड़वाँ बच्चों पर परीक्षण

'व्यक्ति' के निर्माण में 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का प्रभाव अधिक है या 'पर्यावरण' (Environment) का—इस बात की चर्चा करते हुए हमने अभी कुछ ऐसे दृष्टान्त दिये जिनसे सिद्ध होता है कि 'पर्यावरण' का व्यक्ति के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। अगर ऐसा न होता तो 'अमला'-'कमला'-'रामू' मनुष्य होने के नाते मनुष्य की-सी बातें अपने-आप करने लगते, परन्तु ऐसा नहीं हुआ, वे भेड़ियों के 'पर्यावरण' में रहे और भेड़ियों की-सी बातें, उनका-सा चलना, उनका-सा खाना-पीना सीख गये। शिक्षा-विज्ञों ने इसी प्रकार के कुछ अन्य परीक्षण किये हैं जिन्हें 'नियन्त्रित-परीक्षण' (Controlled Experiments) कहा जाता है। 'नियन्त्रित-परीक्षणों' का क्या अर्थ है ? इन परीक्षणों में 'वंशानु-संक्रमण' (Heredity) अथवा 'पर्यावरण' (Environment) को अपने नियन्त्रण में रखा जाता है। इन्हें नियन्त्रण में रखकर यह देखा जाता है कि अगर 'पर्यावरण' को बिल्कुल हटा दिया जाय, तो 'वंशानु-संक्रमण' का बालक के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है, या अगर 'वंशानु-संक्रमण' को बिल्कुल हटा दिया जाय, तो 'पर्यावरण' का बालक के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के परीक्षण स्वयं कर सकना तो कठिन है। किस प्रकार बालक को 'पर्यावरण' से अलग कर के सिर्फ़ 'वंशानुसंक्रमण' पर रखा जाय, या किस प्रकार 'वंशानुसंक्रमण' से अलग करके सिर्फ़ 'पर्यावरण' पर रखा जाय ? ऐसी हालत में ये परीक्षण जुड़वाँ बच्चों पर किये जाते हैं। जुड़वाँ बच्चों का 'वंशानुसंक्रमण' तो एक ही होता है क्योंकि ये एक ही माता-पिता के, एक ही समय में उत्पन्न हुई सन्तान होती

हैं, परन्तु उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से रखकर उनका 'पर्यावरण' बदला जा सकता है। ऐसे परीक्षणों से 'पर्यावरण' के बालक के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऐसे ही कुछ परीक्षण हम यहाँ दे रहे हैं जिन्हें जुड़वाँ बच्चों पर किये गये परीक्षण कहा जा सकता है।

(क) जुड़वाँ बच्चे एक-ही पर्यावरण में (Twins in Identical Environment)—एक माँ-बाप के अलग-अलग बच्चों में कहा जा सकता है कि उनका 'वंशानुसंक्रमण' भिन्न-भिन्न होता है, क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न समय के रज-वीर्य से वे सन्तानें जन्मी होती हैं, परन्तु जुड़वाँ बच्चे तो एक ही समय के रज-वीर्य से उत्पन्न होते हैं। जुड़वाँ बच्चों की भी दो किस्में हैं। एक तो वे जुड़वाँ बच्चे, जो एक ही समय में 'रजःकण' (Ovum) से उत्पन्न हुए—जिन्हें 'डाई-जाईगोटिक' (Di-zygotic) कहते हैं, दूसरे वे जुड़वाँ बच्चे जो माता के एक ही 'रजःकण' (Ovum) के दो टुकड़े हो जाने के कारण होते हैं—जिन्हें 'मोनो-जाईगोटिक' (Mono-zygotic) कहते हैं। दो पृथक्-पृथक् 'रजःकण' (Ovum) के विषय में भी कहा जा सकता है कि क्योंकि ये 'रजःकण' (Ovum) अलग-अलग हैं, इसलिए इनका 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) भी अलग-अलग होगा, परन्तु एक ही 'रजःकण' (Ovum) के अलग-अलग दो टुकड़े हो जाने से जो जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं, उनके सम्बन्ध में तो अलग-अलग 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) की बात नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार की पाँच बहनों का एक परीक्षण मनोविज्ञान की पुस्तकों में प्रसिद्ध है। श्री विलियम ई० ब्लेट्ज़ ने १९३८ में 'पाँच-बहनें' (The Five Sisters) नाम की एक पुस्तक लिखी थी जिसमें इन पाँच बहनों का वर्णन था। ये पाँचों बहनें एक ही 'रजःकण' (Ovum) के पाँच टुकड़े हो जाने से पाँच बनी थीं, इसलिए इनके 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के एक ही होने में कोई सन्देह नहीं था। ये डायोनी खानदान की पाँच बहनें थीं, इसलिए इन्हें 'डायोनी-पंचक' (Dionne quintuplets) कहा जाता है। जब ये तीन वर्ष की थीं, तब मनोवैज्ञानिकों ने इनकी 'सामाजिक-सफलता' (Social success), 'सामाजिक-लोकप्रियता' (Social popularity) तथा 'सामाजिक-रुचि' (Social interest)—इन तीन गुणों की परीक्षा

ली। यह परीक्षा यह देखने के लिए थी कि 'वंशानुसंक्रमण' के बिल्कुल एक तथा 'पर्यावरण' के भी लगभग एक-से रहने पर भी उनमें क्या भिन्नता थी। इन परीक्षाओं से निम्न परिणाम निकला :—

डायोनी-बहनों की परीक्षा का परिणाम

बहनों का नाम	सामाजिक सफलता	सामाजिक लोक-प्रियता	सामाजिक रुचि
१. एनेट	१३० प्रतिशत	८० प्रतिशत	२७० प्रतिशत
२. सेसिल	१३० ,,	१२० ,,	१८० ,,
३. एमिली	९० ,,	१०० ,,	६० ,,
४. मेरी	९० ,,	७० ,,	४० ,,
५. यूनी	१८० ,,	१६० ,,	१०० ,,

इस परिणाम से स्पष्ट है कि 'सामाजिक-सफलता' में अगर 'मध्य-मान' (Average) १०० माना जाय, तो जहाँ एमिली और मेरी को ९० अंक मिले, वहाँ यूनी को उनसे दुगुने १८० अंक प्राप्त हुए; 'सामाजिक-लोक-प्रियता' में जहाँ एनेट को ८० अंक मिले, वहाँ यूनी को १६० अंक मिले; 'सामाजिक-रुचि' में जहाँ मेरी को ४० अंक मिले, वहाँ एनेट को २७० अंक प्राप्त हुए। इन बहनों का ध्यान से अध्ययन करने वाले विशेषज्ञ का कहना है कि इन बहनों में से एमिली को गुस्सा बिलकुल नहीं आता था, एनेट और मेरी गुस्से की पुतली थीं; एमिली को उन बातों से डर नहीं लगता था जिनसे दूसरी बहनें डरती थीं। एमिली दूसरी बहनों के प्रति किसी प्रकार का राग-द्वेष प्रकट नहीं करती थी। इन सब कारणों से विशेषज्ञ ने एमिली को आत्म-निर्भर तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व वाली कन्या का नाम दिया। इन सब बहनों में मेरी में सबसे अधिक बचपन दिखाई देता था, यूनी ऐसा बरतती थी जैसे सबकी बड़ी बहन हो। बिल्कुल एक 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा लगभग एक-सा 'पर्यावरण' (Environment) में रहते हुए इन बहनों की इतनी विषमता आश्चर्य में डालने वाली वस्तु है। डायोनी-बहनों के परीक्षण से हम क्या परिणाम निकाल सकते हैं? एक ही 'वंशानुसंक्रमण', एक ही 'पर्यावरण'—और फिर इतना भेद? यह शिक्षा-शास्त्र की पुस्तक है, दर्शन-शास्त्र की नहीं, परन्तु कई

विचारक इन भेदों को पुनर्जन्म के, आत्मा के भेद कह सकते हैं, परन्तु यह सब कल्पना का क्षेत्र है। जो-कुछ हो, शिक्षा-शास्त्र के पंडितों का कहना है कि इन परीक्षणों से भी हम निश्चित तौर पर किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते, न यह कह सकते हैं कि ये परिवर्तन 'पर्यावरण' के कारण ही हैं, न यह कह सकते हैं कि ये परिवर्तन 'वंशानुसंक्रमण' के कारण ही हैं।

(ख) 'जुड़वाँ बच्चे भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में (Twins in Different Environments)—एक-ही-से पर्यावरण में जुड़वाँ बच्चों के परीक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में जुड़वाँ बच्चों के परीक्षण से हम ज्यादा निश्चित परिणाम पर पहुँच सकते हैं, यह पता लगा सकते हैं कि जब 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) बिल्कुल एक-सा हो, तब भिन्न-भिन्न 'पर्यावरण' (Environment) का व्यक्ति के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्राणि-शास्त्री न्यूमैन, मनोविज्ञान-शास्त्री फ्रीमैन तथा गणना-शास्त्री हौलजिंगर ने जुड़वाँ बच्चों के १९ युगलों का अध्ययन करके कुछ परिणाम निकाले। इनको भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में भिन्न-भिन्न घरों में रखा गया था। यह देखा गया कि इनकी मानसिक योग्यताओं में बहुत-कुछ समानता थी, परन्तु इनमें से पाँच, जिनके पर्यावरण में बहुत भिन्नता थी, भिन्न-भिन्न मानसिक-स्तर के थे।

(ग) 'भिन्न-भिन्न वंश के बच्चे एक-से पर्यावरण में' (Children of Different Heredity in Identical Environment)—ऊपर हमने जो परीक्षण दिये, वे 'वंशानुसंक्रमण' को वश में रख कर परीक्षण किये गए थे, परन्तु ठीक परिणाम पर पहुँचने के लिए ऐसे परीक्षण करना भी आवश्यक है जिनमें 'पर्यावरण' को वश में करके, 'वंशानुसंक्रमण' की भिन्नता का प्रभाव देखा जा सके, जिन परीक्षणों में 'पर्यावरण' तो एक-सा हो, परन्तु वंश भिन्न-भिन्न हों। ऐसे परीक्षणों से पता चलेगा कि अगर रज-वीर्य अलग-अलग हैं, और 'पर्यावरण' एक-ही है, तो क्या अलग-अलग रज-वीर्य होने से व्यक्ति अलग-अलग ही विकसित होता है, या अलग-अलग रज-वीर्य होने पर भी समान-'पर्यावरण' उन्हें एक-सा बना देता है? ये परीक्षण 'पालित-बच्चों' (Foster children) पर किये जाते हैं—ऐसे बच्चों पर, जो सन्तान तो किसी और माता-पिता की होती हैं, परन्तु

जिन्हें पालन-पोषण के लिए किन्हीं अन्य 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में दे दिया जाता है। ऐसे परीक्षण कुछ मिस बी० एस० बर्क्स ने किये हैं, कुछ श्री एफ० एन० फ्रीमैन ने किये हैं। ध्यान देने की बात यह है कि दोनों अलग-अलग परिणामों पर पहुँचे हैं। हम इन दोनों के परीक्षणों की थोड़ी-थोड़ी चर्चा करेंगे :—

(*i*) *मिस बर्क्स के परीक्षण*—मिस बर्क्स ने पोषण-गृहों में पाले जाने वाले पालित-बच्चों पर जो परीक्षण किये, उनसे उसने यह परिणाम निकाला कि व्यक्ति के विकास में ८० प्रतिशत 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का, तथा १७ प्रतिशत 'पर्यावरण' (Environment) का असर होता है। मिस बर्क्स का कहना है कि अच्छे-से-अच्छे घर का वातावरण बालक की 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) में ज्यादा-से-ज्यादा २० अंक बढ़ा सकता है, या बुरे-से-बुरा वातावरण २० अंक घटा सकता है। 'पर्यावरण' का इससे अधिक असर नहीं होता। मिस बर्क्स 'पालित-बच्चों' (Foster children) के अपने परीक्षणों के आधार पर 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) को बहुत अधिक महत्त्व देती है।

(*ii*) *फ्रीमैन तथा आयोवा विश्वविद्यालय के परीक्षण*—'पालित-बच्चों' पर किये गए परीक्षणों के आधार पर जो परिणाम मिस बर्क्स ने निकाले हैं, फ्रीमैन ने ठीक उससे उल्टे परिणाम निकाले हैं। उसका कहना है कि जो 'पालित-बच्चे' (Foster children) छोटी आयु में 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में भर्ती कर दिये जाते हैं, उनका विकास उन बच्चों की अपेक्षा अधिक हो जाता है जिन्हें देर में ऐसे गृहों में भर्ती किया जाता है, इसके अतिरिक्त जिन 'पालित-बच्चों' (Foster children) को ऊँचे घरों में भर्ती किया जाता है उनका ऊँचा विकास होता है, जिन्हें नीचे घरों में भर्ती किया जाता है उनका नीचा विकास होता है।

अमरीका के आयोवा विश्वविद्यालय की तरफ़ से १५० नाजायज़ बच्चों पर परीक्षण किया गया। ये बच्चे ६ महीने की अवस्था में 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में रख दिये गए। इनकी समय-समय पर बुद्धि-परीक्षा होती रही, और उनके मानसिक-विकास की इनके माता-पिता के मानसिक-विकास के साथ तुलना की जाती रही। इस तुलना से

यह परिणाम निकला कि मानसिक-विकास पर 'पर्यावरण' का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, इतना प्रभाव जिसे अभी तक समझा नहीं जा रहा। लोग यही समझते हैं कि जो-कुछ है, माता-पिता का, रज-वीर्य का ही प्रभाव है; परन्तु ऐसी बात नहीं है, 'पर्यावरण' का प्रभाव पहुत अधिक पड़ता है। आयोवा विश्वविद्यालय के परीक्षणों से यह पता चला कि १६ बच्चे ऐसे थे जिनकी माताएँ हीन-बुद्धि की (Feeble-minded) कही जा सकती थीं, उनकी 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) ७१ थी, परन्तु उनके बच्चे 'पालित-गृहों' (Foster homes) में दो साल रहने के बाद ११६ 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) तक पहुँच गए थे।

हमने ऊपर जो-कुछ लिखा उससे क्या परिणाम निकला। न हम निश्चित तौर पर इस परिणाम पर पहुँच सके कि 'वंशानुसंक्रमण' ही सब-कुछ हैं, न इस परिणाम पर ही पहुँच सके कि 'पर्यावरण' ही सब-कुछ है। इस विषय में वर्तमान स्थिति क्या है?

९. 'पर्यावरण' तथा 'वंशानुसंक्रमण' के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति

हमने देखा कि बालक के विकास के संबंध में 'वंशानुसंक्रमणवादियों' तथा 'पर्यावरणवादियों' की परस्पर विरोधी विचार-धाराएँ हैं। 'वंशानुसंक्रमणवादी' बालक के विकास का आधार माता-पिता के रज-वीर्य को मानते हैं, 'पर्यावरणवादी' माता-पिता के रज-वीर्य पर इतना जोर न देकर 'पर्यावरण' पर अधिक जोर देते हैं। असल में, बालक का विकास न तो सिर्फ़ 'वंशानुसंक्रमण' पर आश्रित है, न सिर्फ़ 'पर्यावरण' पर। कई लोगों का विचार है कि व्यक्ति का निर्माण 'वंशानुसंक्रमण' और 'पर्यावरण' के जोड़ से होता है, वे कहते हैं कि 'व्यक्ति' = वंशानुसंक्रमण + 'पर्यावरण', परन्तु ऐसी बात नहीं है। वुडवर्थ तथा मार्क्विस (Woodworth and Marquis) का कहना है कि व्यक्ति का निर्माण 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' के जोड़ से न होकर इनके गुणा से होता है, दूसरे शब्दों में 'व्यक्ति' = 'वंशानुसंक्रमण × 'पर्यावरण'। इसी बात को चित्र में प्रकट करने के लिए एक आयत का उदाहरण दिया जाता है। आयत का क्षेत्रफल व्यक्ति के सर्वाङ्ग विकास को सूचित करता है। क्षेत्रफल कैसे निकलता है?

क्षेत्रफल निकलता है आधार को लम्ब से गुणा करने से—इसी प्रकार व्यक्तित्व का विकास होता है 'पर्यावरण' को 'वंशानुसंक्रमण' से गुणा करने से। निम्न चित्र से इस बात को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता हैं:
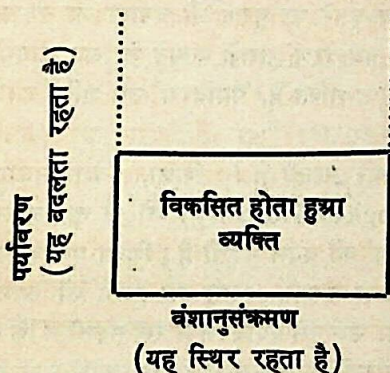
'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' का सम्मिलित प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसी प्रकार होता है जैसा ऊपर के चित्र में दर्शाया गया है। 'वंशानुसंक्रमण' का अंश स्थिर रहता है क्योंकि एक बार माता-पिता के रज-वीर्य से जो-कुछ मिल गया वह तो मिल गया, उसमें हेर-फेर तो हो नहीं सकता, परन्तु 'पर्यावरण' में तो हेर-फेर होता रहता है, उसका प्रभाव संपूर्ण जीवन-काल में पड़ता रहता है।

क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' दूसरे हर व्यक्ति से भिन्न होता है इसलिए व्यक्ति-व्यक्ति के विकास में एक-दूसरे से भिन्नता पायी जाती है। 'पर्यावरण' के एक-सा होने पर 'वंशानुसंक्रमण' की भिन्नता के कारण, और 'वंशानुसंक्रमण' के एक-सा होने पर 'पर्यावरण' की भिन्नता के कारण संसार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्न पाया जाता है।

१०. शिक्षा बीज-परम्परा को नहीं, समाज-परम्परा को बदल सकती है

संक्षेप में, हमने देखा कि 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' के नियमों का बालक के विकास में बहुत बड़ा स्थान है। 'पर्यावरण' अथवा 'शिक्षा' बालक के विकास में क्या कर सकती है? 'वंशानुसंक्रमण' के जिन नियमों

का हमने अध्ययन किया है, उनसे यह तो स्पष्ट है कि शिक्षा के द्वारा हम ऋषि, मुनि तो नहीं पैदा कर सकते, परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' के नियम एक-दूसरे के विरोध में ही काम करते हैं। इन्हें एक-दूसरे का पूरक भी बनाया जा सकता है। 'वंशानुसंक्रमण' बीज है, 'पर्यावरण' उसके पनपने के लिए सामग्री है, खाद है; 'वंशानुसंक्रमण' प्रसुप्त-शक्ति है, 'पर्यावरण' उस शक्ति को विकसित करने का साधन है।

शिक्षा क्या कर सकती है? शिक्षा, 'वंशानुसंक्रमण' को, 'बीज-परम्परा' (Biological Heredity) को तो नहीं बदल सकती, परन्तु 'सामाजिक-परम्परा' को बदल सकती है। शिक्षा एक काले हब्शी को गोरा अंगरेज तो नहीं बना सकती, परन्तु उस हब्शी की 'सामाजिक-परम्परा' को बदल सकती है, उसे ऐसे पर्यावरण में रख सकती है कि वह बहुत बढ़िया अंगरेजी बोले, अंगरेजों के दृष्टिकोण से ही प्रत्येक प्रश्न पर विचार करे, उन्हीं के रहन-सहन को अपने लिए स्वाभाविक समझने लगे। शिक्षा का काम 'सामाजिक-परम्परा' (Social Heredity) को बनाये रखना, तथा उसमें संशोधन एवं परिवर्तन करते रहना है। समाज के विकास के लिए इतना भी कम नहीं है। 'बीज-परम्परा' को बदलने का काम एक-दूसरे विज्ञान का है, जिसे 'यूजेनिक्स' (Eugenics) कहते हैं।

प्रश्न

(१) वोनेट का 'पूर्व-रचना-वाद' (Preformationism) क्या है?

(२) लेमार्क के अनुसार सर्दी, गर्मी, नमी, भोजन, इस्तेमाल, गैर-इस्तेमाल से प्राणियों की रचना में परिवर्तन कैसे हो जाता है?

(३) डार्विन का 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural Selection) क्या है?

(४) जर्म-प्लाज्म, न्यूक्लियस, क्रोमोसोम और जेनीज़ क्या हैं?

(५) शिक्षा 'बीज-परम्परा' को नहीं, 'समाज-परम्परा' को बदल सकती है—इस विचार का विस्तार करो।

(६) बालक के विकास पर 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' का क्या प्रभाव है?

६

बालक का शारीरिक-विकास तथा उसे प्रभावित करनेवाला पर्यावरण

(PHYSICAL DEVELOPMENT OF THE CHILD AND ENVIRONMENTAL FACTORS INFLUENCING IT)

१. स्वास्थ्य के संबंध में शिक्षणालय की ज़िम्मेदारी

बालक के शारीरिक-विकास के तीन पर्यावरण हैं—घर, शिक्षणालय तथा समाज । घर में माता-पिता, शिक्षणालय में शिक्षक-वर्ग तथा समाज में भिन्न-भिन्न सामाजिक संगठन तथा राष्ट्र बालक को शारीरिक-विकास की तरफ़ प्रोत्साहित करते हैं । यह सब-कुछ होते हुए भी बालक के शारीरिक-विकास की ज़िम्मेदारी माता-पिता की ही समझी जाती है। शिक्षक लोग बालक को ऊँची-नीची श्रेणी में चढ़ा-उतार सकते हैं, पास-फ़ेल कर सकते हैं, ठीक-से न पढ़ता हो तो निकाल सकते हैं; परन्तु अगर उसकी आँखें कमज़ोर हैं, एडोनॉयड की शिकायत है, खाँसी है, बुख़ार है, पुष्टिकारक भोजन की आवश्यकता है, तो शिक्षणालय कुछ नहीं कर सकता, केवल माता-पिता का ध्यान इन बातों की तरफ़ आकर्षित मात्र कर सकता है। इसके अतिरिक्त शिक्षकों के पास पढ़ाई-लिखाई का काम इतना अधिक होता है कि वे बच्चों के पढ़ने-लिखने की तरफ़ लगे रहने के कारण उनके स्वास्थ्य की तरफ़ बिल्कुल ध्यान नहीं दे सकते । पाश्चात्य देशों में अस्वस्थ तथा रोगी बच्चों के लिए निःशुल्क आतुरालय होते हैं, जहाँ उनका इलाज होता है, उन्हें खाने को भी दिया जाता है। अपने देश में अभी ऐसा-कुछ प्रबन्ध नहीं है—इससे भी बालकों के शारीरिक-विकास की समस्या जटिल बनी हुई है। जबतक इन कठिनाइयों का समाधान नहीं होता तबतक यह समस्या समस्या के रूप में ही बनी रहेगी ।

परन्तु इन कठिनाइयों को हल करना होगा और बालक के शारीरिक-विकास की जिम्मेदारी माता-पिता के साथ-साथ शिक्षणालय पर भी डालनी होगी। अगर शिक्षक का काम बालक का मानसिक-विकास करना है, तो क्या उत्तम शरीर के बिना उत्तम मन का विकास हो सकता है? यह मानी हुई बात है कि स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ मन का पारस्परिक सम्बन्ध है। ऐसी हालत में शिक्षणालय का काम केवल संक्रामक रोगों से ही बालकों की रक्षा करना नहीं है, अपितु बालकों के स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए क्रियात्मक उपायों का अवलम्बन करना भी है। उत्तम स्वास्थ्य से मानसिक-विकास में सहायता तो मिलती ही है, साथ ही मनुष्य को प्रसन्नता का भी अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र की तरफ़ से जो स्कूल-कालेज खोले जाते हैं, उन पर लाखों-करोड़ों रुपया खर्च किया जाता है, उसका उद्देश्य यह होता है कि काम-काजी लोग पैदा हों, ऐसे लोग जो राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ायें। जो लोग आगे चलकर समाज पर बोझ हो जाते हैं, वे अपने शिक्षा के दिनों में भी निकम्मे होते हैं। शिक्षणालयों का कर्तव्य है कि बालकों के शिक्षा के समय से ही अस्वस्थ बालकों के शारीरिक-विकास की तरफ़ विशेष ध्यान दें, क्योंकि ये ही बालक अपने अस्वस्थ शरीरों को लेकर आगे चलकर गलियों में मारे-मारे फिरते हैं, जेलखानों और पागलखानों को भरते हैं। इन बातों के अलावा शिक्षणालय की बालकों के स्वास्थ्य के संबंध में जिम्मेदारी इसलिए भी बढ़ जाती है, क्योंकि बालक के अनेक संकटों का कारण स्वयं शिक्षणालय होता है। पढ़ने से बालक की आँखों पर बोझ पड़ता है, तो क्या आँखों की शिकायतों को दूर करना शिक्षणालय का काम नहीं है? इम्तिहान पास करने में बालक के दिमाग़ पर जरूरत से ज्यादा बोझ पड़ जाता है, तो क्या दिमाग़ को हल्का करने की भी जिम्मेदारी शिक्षणालय की नहीं है? लिखते समय बालक की रीढ़ पर बोझ पड़ता है, तो क्या ठीक-से बैठना आदि सिखाना पाठशाला का काम नहीं है? पाठशाला जिन रोगों को पैदा करती है, उन्हें दूर करना पाठशाला का ही तो काम है। इसलिए बालक के शारीरिक-विकास की समस्या को हल करना माता-पिता का ही नहीं, पाठशालाओं के संचालकों का भी महान् कर्त्तव्य है।

२. बालकों के शारीरिक-विकास के अध्ययन की दो पद्धतियाँ

बालक के विकास का अध्ययन दो तरह से हो सकता है। एक अध्ययन तो इस प्रकार का है जिसमें एक या अनेक बालकों का शैशवावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक शारीरिक तथा मानसिक विकास देखा जाता है; दूसरा अध्ययन इस प्रकार का है जिसमें एक आयु के अनेक बालकों का किसी एक समय में शारीरिक तथा मानसिक अध्ययन किया जाता है। एक या अनेक बालकों का अनेक वर्षों तक लगातार अध्ययन करने की विधि को 'आयाम-विधि' ((Longitudinal method) कहा जाता है; अनेक बालकों का किसी एक समय में अध्ययन करने की विधि को 'क्षैतिज-विधि' (Horizontal method) कहा जाता है। एक या अनेक बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास का लगातार कई वर्षों तक अध्ययन करना कठिन है। अध्ययन करने वालों के पास इतना समय ही नहीं होता कि वे उन बालकों को इतने वर्षों तक अपनी देख-भाल में रख सकें, इसलिए अनेक बालकों का एक समय में अध्ययन ही सुगम विधि है, और इसी के आधार पर बालकों के विकास के संबंध में अनेक परिणाम निकाले जाते हैं। परन्तु अगर गहराई से देखा जाय, तो अधिक प्रामाणिक विधि वही कही जा सकती है जिसमें एक या अनेक बालकों को लगातार अनेक वर्षों तक निरीक्षण में रखा जाय, और तब बालक के विकास के संबंध में परिणाम निकाले जायें। इस समय जैसी परिस्थितियाँ हैं उनमें 'आयाम-विधि' के अधिक प्रामाणिक होने पर भी 'क्षैतिज-विधि' के सुगम होने के कारण इसी के आधार पर परिणाम निकाले जाते हैं।

३. स्वस्थ बालक तथा प्रौढ़ के स्वास्थ्य में भेद

अध्यापक ने जहाँ इस बात को समझा कि बालक के शारीरिक-विकास में केवल माता-पिता की जिम्मेदारी नहीं है, उसकी भी है, वहाँ उसके लिए अनेक बातों का जानना आवश्यक हो जाता है। उसके समझने की सबसे बड़ी बात यह है कि जैसे पढ़ाई-लिखाई में सब बच्चों को एक ही लकड़ी

से नहीं हाँका जा सकता, वैसे शारीरिक-विकास में भी सब बच्चे एक-से नहीं होते। टरमैन का कथन है कि बालक तथा प्रौढ़ की नस-नस और नाड़ी-नाड़ी में भेद है, उनकी हड्डियों में भेद है, भिन्न-भिन्न अंगों के पारस्परिक अनुपात में भेद है। रोग के प्रति प्रतिरोध-शक्ति, रोग भुगतने के बाद स्वास्थ्य के पुनर्लाभ की शक्ति, भोजन तथा निद्रा की आवश्यकता—सब बातों में प्रौढ़ तथा बालक में भिन्नता होती है। एक ही पर्यावरण बालक पर एक प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है, प्रौढ़ पर दूसरे प्रकार का। बालक तथा प्रौढ़ों में ही इस प्रकार का शारीरिक-विकास का भेद नहीं है, एक ही बालक की एक आयु से दूसरी आयु में भिन्न-भिन्न पर्यावरण का भिन्न-भिन्न प्रभाव होता है। एक आयु में जो व्यायाम शरीर को लाभ पहुँचाता है, दूसरी आयु में वही व्यायाम हानि पहुँचा सकता है, जो काम बालक को आनन्द देता है वही प्रौढ़ व्यक्ति को कष्टप्रद हो सकता है, जो भोजन २ वर्ष के बालक को लाभ पहुँचा सकता है, वही अन्य आयु के व्यक्ति को हानि पहुँचा सकता है। बालक के शारीरिक-विकास के इस भेद को सम्मुख रखते हुए शिक्षक को दोनों के विकास के लिए भिन्न-भिन्न पर्यावरण उपस्थित करने होंगे। बालक तथा प्रौढ़ का यह शारीरिक भेद निम्न उदाहरणों से और अधिक स्पष्ट हो जायगा :—

(क) मांस-पेशियों (Muscular system) में भेद—बचपन में मांस-पेशियों का वज़न, अपने माप को दृष्टि में रखते हुए, प्रौढ़ व्यक्ति से थोड़ा होता है। हम समझते तो यह हैं कि प्रौढ़ व्यक्ति के किसी अंग की मांस-पेशी का जितना वजन होगा बालक के उसी अंग की मांस-पेशी का उसकी आयु के अनुपात में कम वजन होगा, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। बच्चे की मांस-पेशी का प्रौढ़ व्यक्ति के उसी अंग की मांस-पेशी से वजन कम तो होता है, बच्चा छोटा जो हुआ, परन्तु मांस-पेशी के माप को सामने रखते हुए इस मांस-पेशी का जितना वजन कम होना चाहिए बच्चे की मांस-पेशी का उससे भी कम वज़न होता है। इसके साथ ही बच्चे की मांस-पेशी में प्रौढ़ की अपेक्षा जलीय-तत्व अधिक पाया जाता है। शक्ति, क्रियाशीलता, मांस-पेशियों का पारस्परिक सहयोग आदि क्रमशः बढ़ता है। मांस-पेशियाँ दो तरह की कही जा सकती हैं—स्थूल-कार्य करने की तथा सूक्ष्म-कार्य

करने की। इनमें स्थूल-कार्य करने की मांस-पेशियों का काम लगातार कार्य करना है, सूक्ष्म-कार्य करने वाली मांस-पेशियाँ किन्हीं बारीक तथा कुशलता के कार्यों को करती हैं। स्थूल-कार्य करने वाली मांस-पेशियों का विकास सूक्ष्म वालियों से पहले होता है। लड़के लड़कियों से मांस-पेशियों की ताकत, वेग तथा नियन्त्रंण में बढ़े-चढ़े होते हैं। इसी कारण भिन्न-भिन्न आयु का व्यायाम भिन्न-भिन्न होना चाहिए, और इसी कारण लड़के-लड़कियों के व्यायाम में भी भेद होना चाहिए।

शिशु की मांस-पेशियों का भार उसके अपने भार का २३ प्रतिशत होता है। आठ वर्ष का होते-होते उसकी मांस-पेशियों का भार शरीर के भार का २७ प्रतिशत हो जाता है। १५ वर्ष की आयु में यह ३३ तथा १६ वर्ष की आयु में ४४ प्रतिशत हो जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शैशव से आठ वर्ष की आयु तक मांस-पेशियों का भार धीरे-धीरे परन्तु प्रौढ़ावस्था में एकदम तीव्र गति से बढ़ता है। तभी तो बच्चे की अपेक्षा प्रौढ़ के पुट्ठे मज़बूत होते हैं, वह उनसे बड़े-बड़े काम ले सकता है। मांस-पेशियों की यह क्रमिक-वृद्धि 'वंश-परंपरा' से तो आती ही है, परन्तु पौष्टिक भोजन तथा व्यायाम से इसे बढ़ाया भी जा सकता है, जो 'पर्यावरण' के प्रभाव का सूचक है।

(ख) अस्थि-संस्थान (Skeletal system) में भेद—बच्चे तथा प्रौढ़ की अस्थियों में भी भेद होता है। बच्चे की अस्थियाँ लचकीली होती हैं, इन्हें 'कार्टिलेज' कहते हैं, ये मोड़ने पर आसानी से मुड़ जाती हैं, उतना ही मोड़ने पर प्रौढ़ की हड्डी टूट जाती है। प्रारंभ के दस वर्षों में बहुत धीमे-धीमे 'अस्थीकरण' (Ossification) होता है। शिशु के शरीर में २७० अस्थियाँ होती हैं, चौदह वर्ष का होते-होते इन कोमल अस्थियों का ढाँचा कड़ा होता जाता है और इनकी संख्या ३५० हो जाती है। इसके बाद प्रौढ़ अवस्था में पहुँचते-पहुँचते इनकी संख्या घटकर २०६ रह जाती है। इसका कारण 'अस्थीकरण' की प्रक्रिया है। इस अवस्था में कोमल अस्थियाँ जिन्हें 'कार्टिलेज' कहते हैं, पक कर दूसरी हड्डियों के साथ जुड़ जाती हैं और जुड़ जाने के कारण इनकी संख्या कम हो जाती है। लड़कियों का 'अस्थीकरण' लड़कों की अपेक्षा शीघ्रता से होता है। ६ वर्ष

की अवस्था में उनका 'अस्थीकरण' बालक की अपेक्षा एक वर्ष अधिक हो चुका होता है, १२ वर्ष की अवस्था में दो वर्ष अधिक। बच्चे के कपाल की अस्थियाँ जन्म के समय अलग-अलग होती हैं। निचले जबड़े तथा नाक की हड्डी प्रौढ़ावस्था में बढ़ती है, तभी बच्चे का मुंह गोल-गोल और प्रौढ़ का चपटा हो जाता है। रीढ़ की हड्डी भी बच्चे की लचकीली होती हैं, बार-बार टेढ़ा बैठने से पीठ में टेढ़ापन आ जाता है। मुख, नाक तथा कान के छेद भीतर से मिले हुए होते हैं। जिस प्रणालिका से मुंख, नाक तथा कान मिले होते हैं, इसे 'युस्टैकियन टच्यूब' कहते हैं। बचपन में यह छोटी तथा चौड़ी होती है, बड़े होने पर लम्बी तथा तंग हो जाती है। इसीलिए बचपन में मुख तथा नाक के रोग कान में आसानी से पहुँच जाते हैं और बच्चों का कान अक्सर बहा करता है। इसके लिए मुख तथा नाक की सावधानी ज़रूरी है ताकि नाक का रोग कान तक न पहुँच जाय।

(ग) दन्तसंस्थान (Dental system) में भेद—पाचन का काम मुख से शुरू होता है। दाँतों से चबाये बिना भोजन नहीं पचता, परन्तु दाँतों का विकास लगातार बीस वर्ष तक होता रहता है। जन्म के समय मुंह खाली होता है, कोई दाँत नहीं होता। छठे महीने से दाँत निकलने शुरू होते हैं, ये दाँत अस्थायी होते हैं, संख्या इनकी २० होती है, इनके निकलने में बच्चा बहुत चिड़चिड़ा हो जाता है, दस्त आने लगते हैं, पहले नीचे के, फिर ऊपर के दाँत निकलते हैं। सात-आठ वर्ष की अवस्था में उनके स्थान पर पक्के दाँत आने लगते हैं। सत्रह वर्ष तक दाँतों का सिलसिला जारी रहता है। अकल की दाढ़ के चार दाँत २५ वर्ष तक निकलते हैं, कभी-कभी नहीं भी निकलते। ज्यों-ज्यों दाँतों की संख्या बढ़ती और कच्चों के स्थान में पक्के दाँत आते हैं, त्यों-त्यों भोजन को बारीकी-से चबाने की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। सब के दाँत एक ही ढंग से नहीं निकलते, इसमें वैय्यक्तिक भिन्नता दिखाई देती है। लड़कियों तथा लड़कों के दाँतों में लिंग-भेद के कारण कुछ असमानता दिखाई देती है। लड़कियों के कच्चे दाँत लड़कों से पहले निकलते हैं और पहले गिर जाते हैं।

(घ) पाचन-संस्थान (Digestive system) में भेद—मुख में दाँतों से चबाये जाने के बाद भोजन पेट में जाता है, पेट में पाचन-क्रिया होती है, वहाँ से आँतों में चला जाता है। शिशु के क्योंकि दाँत नहीं होते इसलिए उसका पेट भी दूध लेने के लिए बोतल-की-सी शक्ल का होता है। उस समय उसमें एक औंस ही दूध आ सकता है। एक महीने के बाद यह बढ़-कर तीन औंस दूध लेने लायक हो जाता है। ज्यों-ज्यों शिशु प्रौढ़ावस्था की तरफ़ जाता है त्यों-त्यों पेट का आकार बढ़ने लगता है। अपने यहाँ जब शिशु का पेट अन्न खाने योग्य हो जाता है, तब अन्न-प्राशन संस्कार किया जाता है। इसका यही उद्देश्य है कि माता-पिता सावधानी से चलें, जब वह अन्न नहीं पचा सकता तब अन्न देने की जल्दी न करें।

पेट की तरह शिशु की आँतें भी जन्म-काल में छोटी होती हैं। आँतों से भी एक प्रकार का पाचन-रस निकलता है। इनका विस्तार भी आयु की बढ़ती के साथ बड़ा होता जाता है। कई लोगों का अनुभव है कि लड़कों की आँतें लड़कियों की अपेक्षा शीघ्र विकसित हो जाती हैं, इसलिए लड़के लड़कियों से ज्यादा खाते हैं, परन्तु यह बात नियम के तौर से नहीं कही जा सकती।

(ङ) श्वास-संस्थान (Respiratory system) में भेद—शिशु तथा प्रौढ़ के अन्य अंगों की तरह उसके फेफड़े में भी आयु के अनुसार विकास का भेद दिखाई देता है। इस भेद को उसके सिर तथा छाती की परिधि से मापा जा सकता है। शिशु के सिर तथा छाती की परिधि को मापा जाय, तो सिर की परिधि बड़ी और छाती की परिधि छोटी होती है। दो वर्ष की अवस्था में ये दोनों समान हो जाती हैं। पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में छाती की परिधि सिर की परिधि से लगभग डेढ़ गुणा हो जाती है। लड़कियों में १६–१७ तथा लड़कों में १९–२० वर्ष की आयु के बाद छाती का विकास बहुत कम होता है। फेफड़ों का शैशव से प्रौढ़ावस्था तक लगातार बढ़ना इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य को जीवन धारण करने के लिए ओषजन (ऑक्सीजन) की अत्यधिक आवश्यकता है।

(श) रुधिर-संस्थान (Circulatory system) में भेद—शरीर में रुधिर का कोश हृदय है। हृदय से रुधिर को लेकर धमनियाँ उसे

शरीर के हर भाग में पहुँचाती हैं। हृदय का वज़न शैशव से प्रौढ़ावस्था तक पहुँचते-पहुँचते १२ गुणा बढ़ जाता है। धमनियाँ भी शैशव से प्रौढ़ावस्था तक पहुँचते-पहुँचते लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई में बढ़ जाती हैं। धमनियों में जो गति दिखाई देती है, वह हृदय की गति के कारण होती है। हृदय जब रुधिर को धमनियों में फेंकता है, तब एक लहर पैदा होती है, उसी को नाड़ी का चलना कहते हैं। शिशु तथा प्रौढ़ के हृदय की गति में भेद पाया जाता है। शिशु की नाड़ी १ मिनट में १२० तथा प्रौढ़ की नाड़ी ७२ बार चलती है। लड़के तथा लड़की की नाड़ी के चलने में भी भेद होता है। ३ वर्ष के लड़के की नाड़ी एक मिनट में ९५ तथा लड़की की नाड़ी ९० बार गति करती है; ९ वर्ष के लड़के तथा लड़की की नाड़ी ८० बार, १३ वर्ष के लड़के की नाड़ी ७३ तथा लड़की की ७६ बार और २० वर्ष के लड़के की ६२ तथा लड़की की ६९ बार गति करती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि शुरू-शुरू में लड़के की नाड़ी लड़की से तेज़ होती है, फिर बराबर हो जाती है, फिर लड़की की तेज़ हो जाती है।

हमने अभी देखा कि प्रौढ़ का रुधिर-संस्थान बच्चे की अपेक्षा धीमा हो जाता है। यह हम अपने अनुभव से देख सकते हैं कि जब हम थके होते हैं तब नाड़ी तेज़ हो जाती है। बच्चे की नाड़ी का तेज़ होना इस बात का प्रमाण है कि बच्चे को थोड़े-से ही शारीरिक परिश्रम से थकान आ जाती है। उसकी नाड़ी पहले ही तेज़ चल रही होती है, ज़रा-से परिश्रम से और अधिक तेज़ चलने लगती है, इसलिए बच्चों को शारीरिक थकावट का काम बहुत सोच-समझ कर देना चाहिए। बच्चों में प्रतिरोध-शक्ति भी प्रौढ़ की अपेक्षा कम होती है, अतः बच्चा झट-झट बीमार पड़ जाता है।

(छ) तन्तु-संस्थान (Nervous system) में भेद—शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का संचालन तंतु-संस्थान द्वारा होता है। जिस प्रकार तार-घर में तारें लगी होती हैं, वे भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर वहाँ संदेश पहुँचाती हैं, इसी प्रकार मस्तिष्क के ज्ञान-तंतु शरीर के हर अंग-प्रत्यंग का नियन्त्रण करते हैं। मनुष्य के मस्तिष्क के मुख्यतः दो भाग किये जा सकते हैं—अगला तथा पिछला। मस्तिष्क का अगला भाग 'बड़ा-दिमाग़' या 'बृहत्-मस्तिष्क' (सैरिब्रम) कहाता है, पिछला भाग 'छोटा-

'दिमाग़' या 'लघु-मस्तिष्क' (सैरिबेलम) कहाता है। 'बृहत्-मस्तिष्क' हमारी खोपड़ी में सबसे अधिक स्थान घेरता है। यह आगे भौंहों के पास से चलकर सिर के पीछे के उभरे हुए भाग तक फैला रहता है। इसमें कम-ज्यादह दराड़ें पड़ी रहती हैं। ज्यों-ज्यों शिशु प्रौढ़ावस्था की तरफ़ जाता है, ये दराड़ें गहरी होती जाती हैं। जितनी दराड़ गहरी होगी, उतना ही व्यक्ति का ज्ञान गहरा होगा। 'लघु-मस्तिष्क' बचपन में सारे मस्तिष्क का २०वाँ हिस्सा होता है, परन्तु २५ वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते यह बढ़ कर सारे दिमाग़ का ७वाँ हिस्सा हो जाता है। मस्तिष्क का वज़न भी आयु के साथ बढ़ता जाता है। जन्म के समय शिशु के मस्तिष्क का भार ३५० ग्राम होता है, नौ महीने में ७००, दो वर्ष में १०५०, चार वर्ष में ११२०, छः वर्ष में १२६० तथा प्रौढ़ावस्था में १४०० ग्राम हो जाता है। शरीर-रचना शास्त्र के आधार पर म्यूनिक के रूडिंगर महोदय का कथन है कि पैदाइश के समय लड़कों का मस्तिष्क लड़कियों के मस्तिष्क से लम्बाई, चौड़ाई, गहराई तीनों में बड़ा होता है। ऐसे कथनों के आधार पर कई लोगों का कथन है कि मस्तिष्क-संबंधी इस शारीरिक-भेद के कारण स्त्री-पुरुष के ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता भी एक-सी नहीं होती। इस युक्ति का उत्तर देते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल का कथन था कि तब तो लम्बे-चौड़े, स्थूल-काय व्यक्ति में दुबले-पतले आदमी की अपेक्षा अधिक चमत्कारक बुद्धि होनी चाहिए। कर्वीयर का मस्तिष्क सबसे अधिक भारी समझा गया है, परन्तु मिल महोदय के एक मित्र ने एक स्त्री का मस्तिष्क कर्वीयर से भी भारी पाया। यह सब देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि भारी मस्तिष्क ज्ञानवान् होने की निशानी है।

(ज) गति-संस्थान (Motor system) में भेद—गति-संस्थान के साधन दो हैं—हाथ तथा पैर। बालक पैदा होते ही या तो सोता है, या हाथ-पैर सब लगातार चलाता है। ऐसा लगता है जैसे मानो सारे शरीर से वह गति कर रहा हो। शुरू-शुरू की उसकी शारीरिक-गतियाँ निरर्थक-सी प्रतीत होती हैं, धीरे-धीरे वे सार्थक होने लगती हैं। जब वह अपने शरीर से सार्थक गतियाँ करने लगता है, तब वे गतियाँ भी सारे शरीर से होती हैं। हाथ, पैर, धड़, मुँह—अंग-अंग उसका इस सार्थक-गति में लगा होता है।

किसी सार्थक-गति में सारे शरीर के लग जाने की जगह धीरे-धीरे वह भिन्न-भिन्न अंगों से भिन्न-भिन्न काम लेने लगता है। पहले खिलौने को पकड़ने के लिए वह हाथ, पैर, धड़, मुँह—सभी अंगों का संचालन करता है, परन्तु विकसित होते-होते वह सिर्फ़ हाथ से उसे पकड़ने लगता है। हाथ की तरह ही पैर की गति का हाल है। पैरों का काम एक जगह से दूसरी जगह ले जाना है। पहले वह हाथों से, पैरों से, धड़ के बल—सब तरह से सरकने का काम करता है, परन्तु धीरे-धीरे यह काम पैरों से ही करने लगता है।

४. बालक की शारीरिक वृद्धि तथा विकास

शिक्षक के लिए बालक की शारीरिक 'वृद्धि' (Growth) तथा 'विकास' (Development) का जानना आवश्यक है। सबसे पहली बात जानने की यह है कि 'वृद्धि' तथा 'विकास' में भेद है। 'वृद्धि' बाह्य है, 'विकास' आन्तरिक है, 'वृद्धि' शरीर के 'कोष्ठकों' (Cells) की होती है, 'विकास' इन 'कोष्ठकों के कार्य' (Function of cells) को कहते हैं। यह हो सकता है कि शरीर की 'वृद्धि' ठीक हो, अर्थात् कोष्ठकों की बढ़ती हो जाय, परन्तु शरीर का 'विकास' ठीक न हो, अर्थात् ये कोष्ठक ठीक-से काम न करें। मानवीय-शरीर में सबसे कम 'कोष्ठक' दिमाग़ में होते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि उसकी सबसे कम 'वृद्धि' होती है, परन्तु इन कोष्ठकों का कार्य ऐसा जबर्दस्त है कि इनकी थोड़ी-सी वृद्धि होने पर भी मनुष्य का बहुत अधिक 'विकास' हो सकता है।

बालक के जीवन को दो अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—'जन्म-पूर्व' (Prē-natal) तथा 'जन्म-पश्चात्' (Anti-natal) अवस्था। जन्म से पहले वह गर्भ में होता है। यह अवस्था दो 'कोष्ठकों' के मिलने से शुरू होती है—'स्पर्म' तथा 'ओवम'। इन दोनों के मिलने से दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह—इस प्रकार लाखों, करोड़ों कोष्ठक बढ़ते जाते हैं। यह कोष्ठकों की 'वृद्धि' (Growth) है, और इस 'वृद्धि' से ही शरीर बनता है। परन्तु केवल 'वृद्धि' से ही तो काम नहीं बन सकता। 'वृद्धि' का उद्देश्य 'विकास' (Development) है—अर्थात् ये कोष्ठक बढ़ते-बढ़ते किसी काम करने लायक बन सकें। इन 'कोष्ठकों' की 'वृद्धि'

से अंग बनते हैं, और इन अंगों से शरीर बनता है। माता के पेट में वृद्धि पाकर यह शरीर जन्म लेता है। जन्म के बाद 'वृद्धि' द्वारा बने हुए ये अंग पहले यूं ही हरकतें करते हैं, बच्चा बेमतलब हाथ-पैर मारता है, परन्तु धीरे-धीरे ये बेमतलब की हरकतें किसी काम में लग जाती हैं। अगर कोई चीज़ बच्चे के हाथ के नज़दीक लाई जाय, तो वह उसे पकड़ने लगता है, पैर पहले यूं ही चलते हैं, परन्तु पैरों के सामने रुकावट आ जाय, तो वह उसी पर पैर टेकने लगता है, धीरे-धीरे इसी प्रकार वह चलने लगता है। इस प्रकार 'वृद्धि' (Growth) का परिणाम 'विकास' (Development) हो जाता है। यह ज़रूरी नहीं कि जितनी 'वृद्धि' होगी, उतना ही 'विकास' होगा। 'हाँ, 'वृद्धि' का होना 'विकास' के लिए है, और सारी 'वृद्धि' बालक के लगातार तथा क्रमिक 'विकास' के उद्देश्य को पूरा करने के लिए है, अगर बालक का लगातार तथा क्रमिक 'शारीरिक-विकास' नहीं होता, तो सिर्फ़ शरीर की वृद्धि-ही-वृद्धि करते जाना बेकार है। 'शारीरिक-विकास' का अर्थ शरीर के हर अंग का अपना काम ठीक-ठीक से करना है। अगर किसी के पेट की खूब वृद्धि हो गई, किन्तु पेट ठीक-से काम नहीं करता, हाथ-पैर बढ़ कर मोटे हो गए, परन्तु हाथों से काम नहीं होता, और पैरों से चला नहीं जाता, तो यह 'वृद्धि' है, 'विकास' नहीं है, और क्योंकि 'वृद्धि' का उद्देश्य 'विकास' है, अतः यह 'वृद्धि' बेकार है।

'शारीरिक-विकास' के अपने कुछ नियम हैं, जिन्हें समझ लेना शिक्षक के लिए आवश्यक है :—

५. बालक के शारीरिक-विकास के नियम

(क) विकास की निरन्तरता का नियम—'शारीरिक-विकास' का अध्ययन सिद्ध करता है कि प्राणी इस जन्म को शून्य-बिन्दु से नहीं प्रारंभ करता। गर्भावस्था से लेकर अन्त तक विकास का एक निरन्तर क्रम चलता चला जाता है, इस निरन्तर विकास-क्रम में प्राणी का जन्म एक बिन्दु है, इस बिन्दु से पहले जब गर्भावस्था थी तब भी 'वृद्धि' तथा 'विकास' हो रहा था, इस बिन्दु के बाद जब जन्म हो चुकता है, तब भी 'वृद्धि' तथा 'विकास'

किसी सार्थक-गति में सारे शरीर के लग जाने की जगह धीरे-धीरे वह भिन्न-भिन्न अंगों से भिन्न-भिन्न काम लेने लगता है। पहले खिलौने को पकड़ने के लिए वह हाथ, पैर, धड़, मुँह—सभी अंगों का संचालन करता है, परन्तु विकसित होते-होते वह सिर्फ़ हाथ से उसे पकड़ने लगता है। हाथ की तरह ही पैर की गति का हाल है। पैरों का काम एक जगह से दूसरी जगह ले जाना है। पहले वह हाथों से, पैरों से, धड़ के बल—सब तरह से सरकने का काम करता है, परन्तु धीरे-धीरे यह काम पैरों से ही करने लगता है।

४. बालक की शारीरिक वृद्धि तथा विकास

शिक्षक के लिए बालक की शारीरिक 'वृद्धि' (Growth) तथा 'विकास' (Development) का जानना आवश्यक है। सबसे पहली बात जानने की यह है कि 'वृद्धि' तथा 'विकास' में भेद है। 'वृद्धि' बाह्य है, 'विकास' आन्तरिक है, 'वृद्धि' शरीर के 'कोष्ठकों' (Cells) की होती है, 'विकास' इन 'कोष्ठकों के कार्य' (Function of cells) को कहते हैं। यह हो सकता है कि शरीर की 'वृद्धि' ठीक हो, अर्थात् कोष्ठकों की बढ़ती हो जाय, परन्तु शरीर का 'विकास' ठीक न हो, अर्थात् ये कोष्ठक ठीक-से काम न करें। मानवीय-शरीर में सबसे कम 'कोष्ठक' दिमाग़ में होते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि उसकी सबसे कम 'वृद्धि' होती है, परन्तु इन कोष्ठकों का कार्य ऐसा जबर्दस्त है कि इनकी थोड़ी-सी वृद्धि होने पर भी मनुष्य का बहुत अधिक 'विकास' हो सकता है।

बालक के जीवन को दो अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—'जन्म-पूर्व' (Pré-natal) तथा 'जन्म-पश्चात्' (Anti-natal) अवस्था। जन्म से पहले वह गर्भ में होता है। यह अवस्था दो 'कोष्ठकों' के मिलने से शुरू होती है—'स्पर्म' तथा 'ओवम'। इन दोनों के मिलने से दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह—इस प्रकार लाखों, करोड़ों कोष्ठक बढ़ते जाते हैं। यह कोष्ठकों की 'वृद्धि' (Growth) है, और इस 'वृद्धि' से ही शरीर बनता है। परन्तु केवल 'वृद्धि' से ही तो काम नहीं बन सकता। 'वृद्धि' का उद्देश्य 'विकास' (Development) है—अर्थात् ये कोष्ठक बढ़ते-बढ़ते किसी काम करने लायक बन सकें। इन 'कोष्ठकों' की 'वृद्धि'

से अंग बनते हैं, और इन अंगों से शरीर बनता है। माता के पेट में वृद्धि पाकर यह शरीर जन्म लेता है। जन्म के बाद 'वृद्धि' द्वारा बने हुए ये अंग पहले यूं ही हरकतें करते हैं, बच्चा बेमतलब हाथ-पैर मारता है, परन्तु धीरे-धीरे ये बेमतलब की हरकतें किसी काम में लग जाती हैं। अगर कोई चीज़ बच्चे के हाथ के नज़दीक लाई जाय, तो वह उसे पकड़ने लगता है, पैर पहले यूं ही चलते हैं, परन्तु पैरों के सामने रुकावट आ जाय, तो वह उसी पर पैर टेकने लगता है, धीरे-धीरे इसी प्रकार वह चलने लगता है। इस प्रकार 'वृद्धि' (Growth) का परिणाम 'विकास' (Development) हो जाता है। यह ज़रूरी नहीं कि जितनी 'वृद्धि' होगी, उतना ही 'विकास' होगा। 'हाँ, 'वृद्धि' का होना 'विकास' के लिए है, और सारी 'वृद्धि' बालक के लगातार तथा क्रमिक 'विकास' के उद्देश्य को पूरा करने के लिए है, अगर बालक का लगातार तथा क्रमिक 'शारीरिक-विकास' नहीं होता, तो सिर्फ़ शरीर की वृद्धि-ही-वृद्धि करते जाना बेकार है। 'शारीरिक-विकास' का अर्थ शरीर के हर अंग का अपना काम ठीक-ठीक से करना है। अगर किसी के पेट की खूब वृद्धि हो गई, किन्तु पेट ठीक-से काम नहीं करता, हाथ-पैर बढ़ कर मोटे हो गए, परन्तु हाथों से काम नहीं होता, और पैरों से चला नहीं जाता, तो यह 'वृद्धि' है, 'विकास' नहीं है, और क्योंकि 'वृद्धि' का उद्देश्य 'विकास' है, अतः यह 'वृद्धि' बेकार है।

'शारीरिक-विकास' के अपने कुछ नियम हैं, जिन्हें समझ लेना शिक्षक के लिए आवश्यक है :—

५. बालक के शारीरिक-विकास के नियम

(क) विकास की निरन्तरता का नियम—'शारीरिक-विकास' का अध्ययन सिद्ध करता है कि प्राणी इस जन्म को शून्य-बिन्दु से नहीं प्रारंभ करता। गर्भावस्था से लेकर अन्त तक विकास का एक निरन्तर क्रम चलता चला जाता है, इस निरन्तर विकास-क्रम में प्राणी का जन्म एक बिन्दु है, इस बिन्दु से पहले जब गर्भावस्था थी तब भी 'वृद्धि' तथा 'विकास' हो रहा था, इस बिन्दु के बाद जब जन्म हो चुकता है, तब भी 'वृद्धि' तथा 'विकास'

का क्रम जारी रहता है। वर्तमान मनोविज्ञान बालक को जन्म से पूर्व तथा जन्म के बाद एक संगठित इकाई मानता है—यह इकाई शरीर के आन्तरिक तथा बाह्य 'पर्यावरणों' से लगातार वृद्धि प्राप्त करती तथा विकसित होती जाती है। हम यह नहीं कह सकते कि बालक ने जन्म लेने के बाद से विकास शुरू किया, उसका विकास गर्भ धारण के समय से प्रारंभ हो जाता है, और जन्म लेने के बाद मृत्यु पर्यन्त चलता रहता है। जो लोग पुनर्जन्म मानते हैं, वे तो 'विकास' को जन्म-जन्मान्तर से चलता आता मानते हैं, वर्तमान मनोविज्ञान पुनर्जन्म जैसी चीज़ को तो नहीं मानता, परन्तु विकास को इस जन्म के पीछे गर्भावस्था के समय तक ले जाता है और इसीलिए 'पर्यावरण' (Environment) के साथ 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) पर भी ज़ोर देता है। इस विकास में निरन्तरता है, अचानकता नहीं, अगर कहीं अचानकता पायी जाती है, तो वह नियम नहीं, अपवाद है, और ढूंढने से इस अपवाद का कोई-न-कोई कारण मिल जाता है।

(ख) वैयक्तिक-भिन्नता का नियम—बालक के 'विकास' का कोई नपा-तुला माप-दण्ड नहीं कहा जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि इस पैमाने पर हर-एक बच्चे का शारीरिक-विकास होगा, इससे इधर-उधर नहीं होगा। प्रत्येक बालक अपने ही विकास-क्रम से बढ़ता है, उसका अपना वंशानुक्रम होता है, अपनी ही ख़ास-ख़ास बीमारियाँ होती हैं, अपने ढंग का हाज़मा आदि होता है। इन सब पर माता-पिता तथा पर्यावरण का प्रभाव पड़ता रहता है। उदाहरणार्थ, यह हो सकता है कि जहाँ अन्य बच्चे अपनी बढ़ती के समय साल में तीन इंच बढ़ें, वहाँ कोई ख़ास बच्चा उसी अर्से में सात इंच बढ़ जाय। प्रत्येक बालक के शारीरिक-विकास में उसके अपने-अपने व्यक्तित्व को ध्यान में रखना पड़ता है।

(ग) विकास में क्रम-बद्धता का नियम—बालक जिस क्रम से बढ़ता है, उस क्रम को वह जीवन में आगे भी जारी रखता है। अगर कोई बालक सात वर्ष की आयु में अन्य बालकों से लम्बाई में तेज़ी से बढ़ा है, तो जबतक लम्बाई के बढ़ने की सम्भावना है, तबतक उसकी वह तेज़ी बनी रहेगी। यह नहीं होगा कि पहले तो वह लम्बाई में तेज़ी से बढ़ा, आगे चलकर

मध्यम पड़ गया। ऐसी कोई बात हो, तो शिक्षक को कोई ख़ास कारण ढूंढना होगा। बचपन की लम्बाई की बढ़ती को देखकर निपुण व्यक्ति बालक की भावी लम्बाई के विषय में बतला सकता है कि यह बालक इस आयु में इतना लम्बा हो जायगा।

(घ) भिन्न-भिन्न अंगों के स्वतंत्र विकास का नियम—बालक के एक-एक अंग की, स्वतंत्र रूप में, अपनी बढ़ती और अपना विकास होता है। यह ज़रूरी नहीं है कि भार तथा लम्बाई के पारस्परिक संबंध को देखकर अन्य अंगों के विषय में भी निश्चयात्मक रूप में कुछ कहा जा सके। हर-एक प्राणी का हर अंग अपनी स्वतंत्र इकाई रखता है, और उसका स्वतंत्र विकास होता है।

६. शारीरिक-विकास का स्वरूप

बालक के शारीरिक-विकास के स्वरूप को समझने के लिए शिक्षक को जिन बातों की तरफ़ ध्यान देना चाहिए उनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं:—

(क) शारीरिक-विकास पर वंश तथा पर्यावरण का प्रभाव—शारीरिक-विकास पर 'पर्यावरण' (Environment) तथा 'वंशानु-संक्रमण' (Heredity) में से किसका कितना प्रभाव है, यह समझ लेना बड़ा आवश्यक है। कई लोग 'पर्यावरण' पर बल देते हैं, कई 'वंशानुसंक्रमण' पर। 'पर्यावरण' पर बल देने वालों का कहना है कि पर्यावरण बदल देने से व्यक्ति बदल जाता है। गर्मी में शरीर नहीं बढ़ता, सर्दी में बढ़ता है, भोजन, प्रकाश, हवा, खेल-कूद का बालक के विकास पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। 'वंशानुसंक्रमण' पर बल देने वाले कहते हैं कि पर्यावरण कैसा ही क्यों न हो, बालक माता-पिता से जो संस्कार लाता है, वे अमिट होते हैं। इस विषय पर ८वें अध्याय में हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। यहाँ इतना कह देना काफ़ी है कि 'पर्यावरण' तथा 'वंश' दोनों का बालक के विकास पर प्रभाव पड़ता है। कद, परिपक्वावस्था, शारीरिक बनावट, भार, रोग के लिए प्रतिरोध-शक्ति आदि बालक माता-पिता से लाता है, शिक्षा आदि पर्यावरण पर आश्रित है; यद्यपि कई बातों को पर्यावरण से नहीं बदला जा सकता, तो भी बहुत-सी बातों को बदला जा

सकता है। यह विवाद जन्म तथा कर्म से उत्पन्न होने वाले भेद का विवाद है जिस पर शिक्षक के विचार स्पष्ट होने आवश्यक हैं।

(ख) शारीरिक-विकास तथा आभ्यन्तर-ग्रन्थियाँ—शारीरिक-विकास पर शरीर की 'आभ्यन्तर-ग्रन्थियों' (Internal glands) का भी बड़ा भारी असर है। इस विषय को इसी पुस्तक के १७वें अध्याय में स्पष्ट किया गया है। 'जनन-ग्रन्थियाँ'—, 'थायरॉयड-ग्रन्थि'—'पिच्युटरी'—'एड्रीनल'—'थाइमस'—'पैराथॉयरायड' तथा 'पैंक्रियास'—ये ऐसी ग्रन्थियाँ हैं जिनके रस की कमी या अधिकता सम्पूर्ण शरीर के विकास को प्रभावित करती है।

(ग) शारीरिक-विकास तथा ऊँचाई और भार—अगर बच्चे की आनुपातिक ऊँचाई जन्म के समय १९ इंच मानी जाय, और लड़के की बढ़ती ६९ तथा लड़की की ६५ इंच कूती जाय, तो यह स्पष्ट है कि अपने जीवन-काल में लड़का ५० तथा लड़की ४६ इंच बढ़ती है। इसमें से लम्बाई की बढ़ती का सबसे बड़ा हिस्सा जीवन के पहले महीनों में हो लेता है, क्योंकि १५ मास का होते-होते लड़का १२ तथा लड़की ११ इंच बढ़ जाती है। जिसने सारी आयु में ५० इंच बढ़ना हो, वह १४ महीने में १२ इंच बढ़ जाय—इसका मतलब यह हुआ कि इन १४ मास में वह अपनी सारी बढ़ती का एक-चौथाई हिस्सा बढ़ जाता है। इसके बाद ६ साल का होते-होते वह ४४ इंच का हो जाता है। अर्थात्, जितनी बढ़ती (एक-चौथाई—अर्थात् १२ इंच) शुरू-शुरू में उसने १४ महीने में की थी, उतनी (एक-चौथाई—अर्थात् १२ इंच) अब ५६ महीने में की। ६ वर्ष के बाद ११½ वर्ष का होते-होते वह ४४ से ५६ इंच (एक-चौथाई—अर्थात् १२ इंच) का हो जाता है, और पूरी ६९ इंच (लगभग एक-चौथाई—अर्थात् १४ इंच) ऊँचाई को १८ से २२ वर्ष की अवस्था तक जा पहुँचता है। भार के विषय में अगर यह माना जाय कि २२ वर्ष का होते-होते बालक का आनुपातिक भार १३८ पौंड तथा बालिका का ११७ पौंड होता है, तो बालक अथवा बालिका सारे भार का एक-चौथाई ५ वर्ष का होते-होते हो जाते हैं, दूसरा एक-चौथाई ११½ वर्ष की आयु में लड़का तथा १०½ वर्ष की आयु में लड़की, तीसरा एक-चौथाई १५½ वर्ष की आयु में लड़का और १३½ वर्ष

की आयु में लड़की। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि २½ वर्ष की आयु में बालक जितना ऊँचा होता है, वह उसकी प्रौढ़ अवस्था की ऊँचाई से आधी होती है। ५ से १० वर्ष की आयु के बीच बच्चा प्रति वर्ष २ इंच बढ़ता है, प्रति इंच बढ़ती के साथ २ से २½ पौंड वज़न बढ़ता जाता है।

(घ) *शारीरिक-विकास तथा विकास-चक्र*—जन्म के बाद से आगे-आगे ऊँचाई तथा भार की बढ़ती में लगातार कमी पड़ती जाती है, परन्तु बीच-बीच में यह कमी रुक कर तेज़ी भी आती रहती है। ६ वर्ष की अवस्था में विकास रुक-सा जाता है, ८ वर्ष में फिर बढ़ने लगता है, ११ वर्ष तक खूब बढ़ता है, फिर रुक जाता है, १५ वर्ष की आयु में फिर बढ़ता है। कब बालक की बढ़ती का समय है, कब यह बढ़ती रुक जाती है—इस सब को जान कर ही बालक को काम देना चाहिए। इस प्रकार का विकास दो बार बढ़ता और दो बार रुकता है। इसे बालक के विकास का चक्र कहा जा सकता है। इस बढ़ाव तथा रुकाव का विस्तृत वर्णन १७वें अध्याय में दिया गया है।

(ङ) *अंगों के विकास में भिन्नता*—यह भी ध्यान रखने की बात है कि शरीर के सब अंगों का विकास एक-सार नहीं होता, भिन्न-भिन्न अंगों का अलग-अलग और एक-दूसरे के बाद होता है। हर-एक अंग के विकास का अपना ही निराला ढंग है, और उसका स्वतंत्र रूप में विकास होता है। यह हो सकता है कि जिस समय किसी अंग का विकास अपनी चढ़ती पर हो उस समय दूसरे अंग का विकास शुरू भी न हुआ हो। उदाहरणार्थ, मस्तिष्क जन्म के बाद पहले ही वर्ष अपने परिमाण का दुगुना या तिगुना हो जाता है, दूसरे वर्ष केवल १० प्रतिशत बढ़ता है। उसके बाद इसमें लगातार बहुत थोड़ी-थोड़ी वृद्धि होती रहती है, यद्यपि छठे वर्ष में ही मस्तिष्क का लगभग उतना विकास हो चुकता है, जितना प्रौढ़ अवस्था में होता है। १२ या १४ वर्ष के बाद मस्तिष्क आगे नहीं बढ़ता। मांस-पेशियाँ तथा आँतें ४० से ५० वर्ष में, हृदय तथा फेफड़े ७० से ८०वें वर्ष में पूर्ण विकास पाते हैं। इस प्रकार की अनेक बातें हैं जिनका ज्ञान माता-पिता तथा शिक्षकों को होना चाहिए। उदाहरणार्थ, उन्हें पता होना चाहिए कि ८–९ वर्ष के बालक का हृदय उसकी धमनी से अनुपात में बहुत छोटा होता

है, इसलिए इस आयु में सख्त व्यायाम का बुरा असर हो सकता है; ६ वर्ष के बालक को अपना वजन कायम रखने के लिए उतनी ही ऑक्सीजन की जरूरत है, जितनी एक प्रौढ़ व्यक्ति को। उन्हें यह भी पता होना चाहिए कि बालक की अस्थियों का लचकीलापन उनके टेढ़े हो जाने में बड़ा भारी कारण बन सकता है, इसलिए उन्हें ठीक-से बैठने की आदत डालना शिक्षक का कर्त्तव्य है। तीन वर्ष का बालक यद्यपि आयु में प्रौढ़ व्यक्ति से पाँचवाँ हिस्सा होता है, तथापि उसे प्रौढ़ व्यक्ति के भोजन की ४० प्रतिशत मात्रा मिलनी चाहिए, तब उसका विकास सही हो पाता है। शिक्षणालय की अनेक समस्याओं का हल बालक के शारीरिक-विकास की समस्या में छिपा हुआ है।

७. शारीरिक-आयु (PHYSIOLOGICAL AGE)

बालक के शरीर की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—वर्षों के अनुसार आयु, इसे 'वर्षायु' (Chronological age) कह सकते हैं; शरीर के उत्पादक अंगों के विकास के अनुसार आयु, इसे 'शारीरिक-आयु' (Physiological age) कह सकते हैं; शरीर के अन्य भिन्न-भिन्न अंगों के विकास के अनुसार आयु, इसे 'शरीर-विज्ञानाश्रित आयु' (Anatomical age) कह सकते हैं। यह जरूरी नहीं है कि जिन बालकों की बरसों के हिसाब से एक ही आयु हो, उनके उत्पादक-अंगों तथा अन्य अंगों का विकास भी एक-सा हो। हम सब नौ बरस के बालकों के साथ एक-सा व्यवहार नहीं कर सकते। नौ बरस के सब बालकों की ऊँचाई, वजन एक-सा नहीं होगा, सब की दौड़-धूप एक-सी नहीं होगी, सब एक-सा शारीरिक परिश्रम नहीं कर सकेंगे। सेवरसन ने १० वर्ष के सौ बालकों पर परीक्षण किया और पाया कि 'शरीर-विज्ञान' (Anatomy) की दृष्टि से उनमें से कुछ की आयु ८ और कुछ की १४ कही जा सकती थी, अर्थात् वर्षों की दृष्टि से तो सब १० वर्ष के थे, परन्तु भिन्न-भिन्न अंगों के विकास की दृष्टि से किन्हीं के अंगों का विकास इतना ही हो पाया था जितना ८ वर्ष के बच्चे का होना चाहिए, किन्हीं का इतना हो गया था जितना १४ वर्ष के बच्चों का होता है। १४ वर्ष के बालकों की 'वर्षायु' (Chronological age) तो सब की एक होगी, परन्तु उत्पादक अंगों के विकास की

दृष्टि से उनकी 'शारीरिक-आयु' (Physiological age) भिन्न-भिन्न हो सकती है। कुछ के उत्पादक अंगों का विकास अभी शुरू ही हुआ होगा, कुछ का विकास हो चुका होगा, और कुछ का शुरू भी नहीं हुआ होगा। 'शारीरिक-आयु' (Physiological age) का समय ऐसा है, जब बालक के अपने निश्चित आचार, निश्चित विचार, निश्चित धारणाएँ बन जाती हैं। क्योंकि बालक १३ या १४ साल का है, सिर्फ़ इसलिए हम यह आशा करने लगें कि उसको अमुक काम अवश्य कर सकना चाहिए—यह ग़लत विचार है।

८. बालक के विकास के शारीरिक-दोष

हमने इस अध्याय में बालक के शारीरिक-विकास का अध्ययन किया। शारीरिक-विकास के साथ-साथ बालक के शारीरिक-दोषों तथा उन दोषों के निवारण के उपायों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। इस विषय की कुछ विस्तार से चर्चा हम इस पुस्तक के १५वें अध्याय में करेंगे, इसलिए इस विषय को जानने के लिए १५वें अध्याय को पढ़ना आवश्यक है।

इस प्रकार हमने देखा कि बालक का शारीरिक-विकास किस प्रकार होता है, और उसे प्रभावित करने वाली कौन-कौन-सी परिस्थितियाँ हैं। इन सब का ध्यान रखने पर माता-पिता तथा शिक्षक बालक के शारीरिक-विकास पर पूर्ण ध्यान दे सकते हैं।

प्रश्न

(१) बालकों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में शिक्षणालय की ज़िम्मेदारी क्या होनी चाहिए ?

(२) बालकों के शारीरिक-विकास के अध्ययन की दो पद्धतियाँ क्या हैं ?

(३) बालक तथा प्रौढ़ के शारीरिक-विकास में क्या भेद है ?

(४) 'वृद्धि' (Growth) तथा 'विकास' (Development) में क्या भेद है ?

(५) शारीरिक-विकास के क्या नियम हैं ?

(६) 'वर्षायु' (Chronological age), 'शारीरिक-आयु' (Physiological age) तथा 'शरीर-विज्ञानाश्रित आयु' (Anatomical age) में क्या भेद है ?

१०

बालक का मानसिक-विकास तथा उसे प्रभावित करनेवाला पर्यावरण

(INTELLECTUAL DEVELOPMENT OF THE CHILD AND ENVIRONMENTAL FACTORS INFLUENCING IT)

पिछले अध्याय में हमने बालक के शारीरिक-विकास का अध्ययन किया। इस अध्याय में हम उसके मानसिक-विकास पर कुछ लिखेंगे। बालक का मानसिक-विकास पहले, दूसरे, तीसरे सप्ताह तथा इसी प्रकार आगे-आगे लगातार होता जाता है, इसलिए हम इसी क्रम से इसका उल्लेख करेंगे।

१. मानसिक-विकास का क्रम

उत्पत्ति के समय अर्थात् प्रथम सप्ताह—शिशु जब जन्म लेता है, तब कुछ मौलिक बातें उसमें पायी जाती हैं। उसे भूख लगती है, तापमान में बहुत अधिक भेद हो तो उसे वह अनुभव करता है, अधिक सर्दी में काँपने लगता है, अधिक गर्मी में व्याकुल हो जाता है, दर्द को महसूस करता है, चिल्ला सकता है, कोई चीज उंगलियों की पकड़ में आ जाय तो छोड़ता नहीं, चमक तथा जोर के शब्द को पसन्द नहीं करता। यह तो जन्म के समय से होता है, अब आगे देखिये क्या-क्या होता है।

द्वितीय सप्ताह—जन्म लेने के दूसरे सप्ताह रोशनी की तरफ़ आँख लगाता और अगर उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाय, तो रोशनी का आँखों से अनुगमन करता है।

द्वितीय मास—दूसरे मास में वह भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ़ ले जाये जाने पर उनका आँखों से पीछा करता है, गाना गाया जाय तो उसे ध्यान लगाकर सुनता है, माता को पहचानने लगता है, उसे देख कर प्रसन्नता प्रकट करता है, कभी-कभी मुस्कराता है।

चतुर्थ मास—वस्तुओं को ध्यान से देखने लगता है, मुस्कराता है, क्रोध प्रकट करता है, चीजों को पकड़ता है।

पाँचवाँ मास—चीज़ों को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाने लगता है, दूरी का ज्ञान उसे होने लगता है, माता को अच्छी तरह पहचानने लगता है।

छठा मास—खिलौनों को पहचानने लगता है, सहारा देने पर बैठने लगता है, चीज़ों को पकड़ कर मुँह की तरफ़ ले जाता है, मुँह से भिन्न-भिन्न तरह की आवाज़ें निकालने में मज़ा लेता है, कुछ-कुछ इशारों की बातें समझने लगता है।

नौवाँ मास—बिना सहायता के बैठने लगता है, रिड़ने लगता है।

प्रथम वर्ष—खड़ा होने लगता है, चलने का प्रयत्न करता है, छोटे-छोटे शब्दों का उच्चारण करने लगता है—बा, मा इत्यादि चीज़ों का नाम लिया जाय, तो उँगली से उनकी तरफ़ इशारा कर देता है, माता-पिता की क्रियाओं का अनुकरण करने लगता है, टट्टी-पेशाब को रोकना सीख जाता है।

डेढ़ वर्ष—दौड़-धूप करने लगता है, हर वस्तु को जानने की इच्छा प्रकट हो जाती है, वस्तुओं का संग्रह करने लगता है, जो-कुछ पाता है, उठा लेता है।

द्वितीय वर्ष—छोटे-छोटे वाक्य बोलने लगता है, कोई तस्वीर दिखा-कर पूछा जाय कि अमुक चीज़ कहाँ है, तो तस्वीर में उस वस्तु पर उँगली रख कर उसकी पहचान बता सकता है, रंगों में भेद कर सकता है। पहले अपने को 'वह' कहकर पुकारता था, माता-पिता कहते थे—'मुन्ना को भूख लगी है'—तो वह भी अपने लिए कहता था 'मुन्ना को भूख लगी है', अब वह अपने लिए 'मुन्ना' का प्रयोग न कर 'मैं' का प्रयोग करने लगता है, समझ-दार इतना हो जाता है कि कागज़ में लिपटी चाकलेट को खोल लेता है।

तृतीय वर्ष—आँख, नाक, मुँह की पहचान होने लगती है, पूछा जाय तो हाथ लगाकर इन्हें बता सकता है, तीन अंकों को दोहरा सकता है, ६–४–१, ३–५–२ बोला जाय तो इसी प्रकार बोल सकता है, तस्वीर की तीन चीजें पूछी जायें तो उन्हें बता सकता है, अपना नाम जान जाता है और बतला देता है—छोटे-छोटे वाक्य बोलने लगता है।

चतुर्थ वर्ष---दो छोटी-बड़ी लम्बी लकीरों के भेद को पहचानने लगता है, चार पैसे तक गिन सकता है, एक चतुर्भुज बना दी जाय तो उसकी नकल कर सकता है। इस आयु में साधारण-से प्रश्नों का समझदारी से उत्तर दे सकता है। उदाहरणार्थ, अगर पूछा जाय कि नींद आ रही हो तो क्या करोगे, ठंड लग रही हो तो क्या करोगे, भूख लग रही हो तो क्या करोगे---इन या इन-जैसे प्रश्न पूछने पर अंट-संट उत्तर नहीं देगा, समझदारी का उत्तर देगा।

पाँचवाँ वर्ष---अगर एक ही शक्ल और रंग के दो चौकोर लकड़ी के टुकड़े उसे दिये जाँय जिनमें से एक ३ ग्राम तथा दूसरा ५ ग्राम का हो, तो यह उनके भार को देखकर बता देगा कि कौन-सा भारी है, कौन-सा हल्का। लाल, पीला, नीला, हरा---रंगों के इन भेदों को बता सकता है। अगर कार्ड पर छपी तीन तस्वीरें दिखाई जाँय, तो उनमें से सब से सुन्दर कौन-सी है, यह भी बता सकता है। अगर उससे पूछा जाय कि कुर्सी, घोड़ा, चम्मच, कपड़ा, पेंसिल, टेबल---इनका क्या काम है, तो कम-से-कम इनमें से चार का काम तो वह बता ही सकता है। साधारण-सी जो आज्ञाएँ उसे दी जाँय, उन्हें जिस क्रम से करना चाहिए उस क्रम से करता है। उदाहरणार्थ, अगर कहा जाय कि इस चाबी को लेकर उस मेज़ पर रख दो, तो पहले वह चाबी लेने आयगा, उसे लेकर मेज़ पर रखने जायगा। अगर कहा जाय कि वह बक्सा लाओ और फिर दर्वाज़ा बन्द कर दो, तो वह दर्वाज़ा बन्द करने न जाकर पहले बक्सा लाकर देगा, और फिर दर्वाज़ा बन्द करने जायगा।

छठा वर्ष---दायाँ हाथ, बायाँ हाथ, दाईं आँख, बाईं आँख, दायाँ कान, बायाँ कान---यह सब-कुछ बताने लगता है। १३ पैसे तक गिन सकता है। इस आयु के लायक प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकता है। उदाहरणार्थ, अगर पूछा जाय कि बारिश हो रही है और तुम बाहर जाना चाहो तो क्या करोगे, अगर घर में आग लग जाय तो क्या करोगे, अगर तुम आगरा जा रहे हो और गाड़ी छूट जाय तो क्या करोगे---तो इन प्रश्नों का वह ऐसा-कुछ उत्तर दे सकेगा जो समझदारी का होगा। अगर उसके सामने '२ आना, १ आना, ४ आना, १ रुपया'---ये बोला जाय तो

इनमें से कम-से-कम तीन को वैसा ही दोहरा सकता है। १२–१५ शब्दों के वाक्य को सुनकर उसे वैसा ही दोहरा सकता है।

सातवाँ वर्ष—अगर कहा जाय—दायाँ हाथ उठाओ, कितनी उँगलियाँ हैं ? बायाँ हाथ उठाओ, कितनी उँगलियाँ हैं ?—इन क्रियाओं को ठीक-ठीक कर सकता है, और इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकता है। तस्वीर दिखाई जाय, उसमें शेर हरिण के पीछे भाग रहा है, तो इस सारी क्रिया का तस्वीर देखकर वह ठीक-ठीक वर्णन कर सकता है। ३–१–७–५–६, ४–२–८–३–५—इस प्रकार की पाँच अंकों की संख्या को सुनकर ठीक वैसा दोहरा सकता है। उसके सामने गाँठ बाँधी जाय, तो उसे देखकर वैसी गाँठ बाँध सकता है। मक्खी-तितली में, पत्थर-अंडे में, लकड़ी-शीशे में भेद पूछा जाय, तो बता सकता है, हीरे की शक्ल की तस्वीर बनाई जाय तो उसकी पेंसिल तथा स्याही से नकल कर सकता है।

आठवाँ वर्ष—आठवें वर्ष में बालक २० से १० तक उल्टी गिनती कर सकता है। इस समय उसकी 'गेंद तथा क्रीड़ा-क्षेत्र परीक्षा' (Ball and Field Test) ली जाय, तो उसका समझदारी का उत्तर देता है। 'गेंद तथा क्रीड़ा-क्षेत्र परीक्षा' क्या है ? कल्पना करो कि खेलते-खेलते तुम्हारी गेंद इस क्रीड़ा-क्षेत्र में गुम हो गई है। तुम्हें मालूम नहीं कि क्षेत्र के किस भाग में गेंद जा पड़ी है, न ही तुम्हें यह मालूम है कि गेंद किधर से आई और किधर गई। तुम्हें सिर्फ़ इतना मालूम है कि गेंद इसी क्रीड़ा-क्षेत्र में है और यहीं खो गई है। क्रीड़ा-क्षेत्र का एक नक्शा बना कर एक पेंसिल से निशान बनाकर बतलाओ कि तुम कहाँ-कहाँ उसे ढूँढोगे ताकि गेंद का पता पा जाओ। दरवाजे से शुरू करो। इस 'गेंद तथा क्रीड़ा-क्षेत्र परीक्षा' का उत्तर भी आठ वर्ष का बालक ऐसा देगा जो समझदारी से पूर्ण होगा। इसी प्रकार अगर इस बालक से पूछा जाय कि यदि तुमसे किसी की चीज टूट जाय तो तुम क्या करोगे, यदि स्कूल जाते हुए तुम्हें घड़ी देखने पर मालूम हो कि तुम ठीक समय पर स्कूल नहीं पहुँच सकोगे तो क्या करोगे, यदि तुम्हारे किसी साथी से अनजाने तुम्हें चोट लग जाय तो तुम क्या करोगे—इन प्रश्नों का उत्तर पूछे जाने पर आठ वर्ष के बालक के उत्तर युक्तिपूर्ण पाये जायेंगे।

नौवाँ वर्ष---इस आयु में बालक तारीख, दिन, मास, वर्ष आदि बतला सकता है, क्या तारीख है, कौन-सा वार और कौन-सा महीना है---इस सब का ज्ञान उसे हो जाता है। अगर एक ही रूप-रंग के ३, ६, ९, १२, १५ ग्राम के वज़न के पाँच लकड़ी के टुकड़े उसे दिये जाँय, तो उन्हें भार के क्रम के अनुसार रख सकता है। एक रुपए का भान दे सकता है। ६--५--२--८, ४--९--३--७ आदि चार अंकों को उलटे क्रम से दोहरा सकता है। कोई-से तीन शब्द दे दिये जाँय तो उनसे पूरा वाक्य बना सकता है। शब्दों के तीन अनुप्रास तक बना सकता है। उदाहरणार्थ, अगर उसे 'लिया' के अनुप्रास शब्द बोलने को कहा जाय, तो वह लिया, दिया, सिया---इस प्रकार के अनुप्रास-शब्द अपने ज्ञान से कह सकता है।

दसवाँ वर्ष---अगर वाक्य में कोई असंगत बात हो, तो दस वर्ष का बालक उसे पकड़ सकता है। उदाहरणार्थ, अगर कोई कहे कि मुझे ऐसी सड़क का पता है जो मेरे घर से शहर तक नीचे-ही-नीचे जाती और लौटते हुए मेरे मकान तक नीचे-ही-नीचे आती है, तो वह झट कह उठेगा कि यदि मकान से शहर निचाई पर है तो लौटते हुए शहर से मकान निचाई पर नहीं हो सकता। इसी प्रकार अगर कोई कहे कि पुलिस को एक मृत लड़की के पन्द्रह टुकड़े मिले, ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसने आत्मघात कर लिया, तो वह झट कह उठेगा कि जो आत्मघात करेगा वह अपने पन्द्रह टुकड़े कैसे कर सकता है। अगर कहा जाय कि रेलगाड़ी की दुर्घटना हो गई, यह अत्यन्त साधारण दुर्घटना थी, कुल ५० आदमी मरे, तो दस वर्ष का बालक इसकी असंगतता को समझ जायगा और कह उठेगा कि ५० मर जाँय और फिर भी घटना साधारण हो यह कैसे हो सकता है? लम्बे-लम्बे वाक्यों को दस वर्ष का बालक दोहरा सकता है, एक-आध ग़लती भले ही कर दे। उसकी समझने की शक्ति भी बढ़ चुकी होती है। अगर उससे पूछा जाय कि यदि कोई व्यक्ति तुम से किसी ऐसे आदमी के विषय में सम्मति पूछे जिसे तुम नहीं जानते तो क्या उत्तर दोगे---इस प्रश्न का १० वर्ष का बालक युक्तियुक्त उत्तर देगा। अगर पूछा जाय कि किसी आवश्यक काम को करने से पहले तुम क्या करोगे, तो इसका उत्तर भी इस आयु का बालक युक्तिपूर्ण देगा। अगर पूछा जाय कि किसी मनुष्य की पहचान उसकी

बातों की अपेक्षा उसके काम से ज्यादा की जाती है—इसका क्या कारण है, तो इस प्रश्न का उत्तर भी वह बुद्धिगम्य ही देगा। दस वर्ष का बालक छः अंकों को आसानी से दोहरा सकता है। ३–७–४–८–९–१, ५–२–१–७–४–६ आदि संख्या को सुनकर वह वैसे-का-वैसा दोहरा सकेगा। वह ३ मिनट में ६० भिन्न-भिन्न शब्द कह सकेगा।

२. मानसिक-विकास की आयु (DEVELOPMENTAL AGE)

मनोवैज्ञानिकों ने बालक के मानसिक-विकास की परीक्षा के लिए हर आयु के लिए भिन्न-भिन्न प्रश्नों की तालिका तय्यार की है। हज़ारों बच्चों का वैयक्तिक तथा सामूहिक अध्ययन करने के अनन्तर उन्होंने यह निश्चित किया है कि तीन वर्ष के बच्चों को इन प्रश्नों का उत्तर दे सकना चाहिए, चार वर्ष के बच्चों को इन प्रश्नों का —इत्यादि। तीन वर्ष की आयु का बच्चा अगर उन प्रश्नों का ठीक उत्तर दे देता है, जो तीन वर्ष की आयु के बच्चों को देने चाहियें, तब तो उसकी मानसिक-विकास की आयु तीन ही वर्ष मानी जाती है, परन्तु यह हो सकता है कि बरसों की दृष्टि से तो कोई बच्चा तीन वर्ष का हो, परन्तु उत्तर देने की दृष्टि से वह तीन वर्ष की आयु के लिए निर्धारित प्रश्नों का उत्तर न दे सकता हो, अथवा इतना तेज़ हो कि तीन वर्ष की आयु के प्रश्न क्या, चार वर्ष की आयु के लिए निर्धारित प्रश्नों का भी उत्तर दे सकता हो। ऐसी हालत में यद्यपि उसकी 'वर्षायु' (Chronological age) तीन ही वर्ष की कही जायगी तथापि उसकी 'विकास की आयु' (Developmental age) कम या अधिक मानी जायगी। 'मानसिक-विकास की आयु' तथा 'शारीरिक-वर्षों की आयु' के पारस्परिक अनुपात को 'विकास-लब्धि' (Development quotient अथवा D.Q.) कहते हैं। 'विकास-लब्धि' (D.Q.) पता लगाने का तरीका यह है कि 'विकास की आयु' (D.A.) को 'शारीरिक बरसों की आयु' (C.A.) से भाग देकर १०० से गुणा कर दिया जाय। अगर किसी बालक की 'विकास की आयु' ६ वर्ष है, 'शारीरिक बरसों की आयु' ५ वर्ष है, तो उसकी 'विकास-लब्धि' $\frac{६ \times १००}{५} = १२०$ होगी। इस १२० का अर्थ यह

है कि ५ वर्ष के उस बालक का शारीरिक-विकास अगर १०० माना जाय, तो उसका मानसिक-विकास १२० है, अर्थात् शारीरिक-विकास तथा मानसिक-विकास का अनुपात १०० और १२० का है, मानसिक-विकास शारीरिक-विकास से २० नंबर आगे बढ़ा हुआ है। बालक की 'बुद्धि-लब्धि' आदि के विषय में एक अलग अध्याय में विस्तृत विवेचन किया जायगा।

३. बालक के मानसिक-विकास के अंग

बालक के मानसिक-विकास के क्रम तथा मानसिक-आयु के अलावा उसके मानसिक-विकास के हर पहलू को जानने के लिए निम्न बातों को जानना भी आवश्यक है:

(क) तंतु-संस्थान (Nervous system)
(ख) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (Sensation)
(ग) सविकल्पक प्रत्यक्ष (Perception)
(घ) पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष (Apperception)
(ङ) सामान्य प्रत्यय (Concepts)
(च) निरीक्षण (Observation)
(छ) निर्णय (Judgment)
(ज) विचार (Thinking)
(झ) तर्क (Reasoning)
(ञ) भाषा (Language)
(ट) चेतना (Consciousness)
(ठ) रुचि (Interest)
(ड) अवधान (Attention)
(ढ) थकान (Fatigue)
(ण) स्मृति (Memory)
(त) प्रत्यय-सम्बन्ध (Association of Ideas)
(थ) कल्पना (Imagination)
(द) सीखना (Learning)
(ध) आदत (Habit)

इन सब विषयों पर पुस्तक के 'प्रारंभिक मनोविज्ञान'-नामक अगले अध्यायों में विस्तार से लिखा गया है, और मन के इन अंगों का बालक के मानसिक-विकास के साथ क्या संबंध है—यह भी दर्शाया गया है। जो इन विषयों पर अध्ययन करना चाहें वे पुस्तक के इन अध्यायों को पढ़ें।

४. बालक के विकास के मानसिक-दोष

हमने इस अध्याय में बालक के मानसिक-विकास का अध्ययन किया। मानसिक-विकास के साथ-साथ बालक के मानसिक-दोषों तथा उन दोषों के निवारण के उपायों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। इस विषय की कुछ विस्तार से चर्चा हम इस पुस्तक में, अन्य स्थान पर, १६वें अध्याय में करेंगे, इसलिए इस विषय को जानने के लिए १६वें अध्याय को पढ़ना आवश्यक है।

प्रश्न

(१) बालक के जन्म से लेकर प्रथम पाँच वर्षों तक उसका मानसिक-विकास कैसे होता है—समझाओ।

(२) 'गेंद तथा क्रीड़ा-क्षेत्र-परीक्षा' (Ball and Field Test) क्या है?

(३) 'मानसिक-विकास की आयु' (Developmental age) क्या है?

(४) 'विकास-लब्धि' (Development quotient) क्या है?

११

बालक का उद्वेगात्मक-विकास तथा उसे प्रभावित करने वाला पर्यावरण

(EMOTIONAL DEVELOPMENT OF THE CHILD AND ENVIRONMENTAL FACTORS INFLUENCING IT)

पिछले अध्याय में हमने बालक के मानसिक-विकास का अध्ययन किया, इस अध्याय में हम उसके 'उद्वेगात्मक-विकास' का अध्ययन करेंगे। 'उद्वेगात्मक-विकास' को समझने के लिए सब से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि 'उद्वेग' (Emotion) कहते किसे हैं ?

१. उद्वेग का अर्थ तथा उसकी परिभाषा

हमारे जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा उद्वेग-प्रधान होता है। 'उद्वेगों' के आवेश में मनुष्य ऊँचे-से-ऊँचा और नीचे-से-नीचा काम कर जाता है। 'उद्वेगों' से प्रभावित होकर महात्मा बुद्ध ने राज-पाट को लात मार दी, 'उद्वेगों' से प्रभावित होकर ही गोडसे ने महात्मा गांधी पर गोली चला दी। सहानुभूति, प्रेम, दया आदि के उद्वेगों से हम चरित्र में ऊँचा उठ जाते हैं, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि के 'उद्वेगों' से हमारा चरित्र गढ़े में गिर सकता है।

वैसे तो कहने को बाह्य वस्तु जैसी हो वैसा ही हम उसे देखते हैं, परन्तु जब मनुष्य 'उद्वेगों' के आवेश में होता है तब बाह्य वस्तु को भी जैसी वह है वैसा देखने के बजाय, मनुष्य उसे अपने 'उद्वेगों' के रंग में देखने लगता है। तुलसीदास अपनी युवावस्था में इतने काम के आवेश में थे कि साँप को रस्सी समझ कर उसे पकड़ कर अपनी स्त्री के कमरे में जा पहुँचे थे—ऐसा कथानक प्रसिद्ध है। 'उद्वेग' का प्रभाव मनुष्य की आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों पर ही नहीं, उसके मन पर भी होता है। 'उद्वेगों' के प्रभाव में आकर मनुष्य का मन कुछ-का-कुछ सोचने लगता है। परीक्षा में अनुत्तीर्ण

होने पर विद्यार्थी के चित्त में जो निराशा छा जाती है, वह किसी-किसी के विचारों को इतना प्रभावित कर जाती है कि वे जीवन को निस्सार समझने लगते हैं, कोई-कोई अपने प्राण तक दे डालते हैं। यह सब-कुछ 'उद्वेगों' के आवेश में होता है।

'उद्वेगों' (Emotions) का मनुष्य की मानसिक-रचना में क्या स्थान है ? मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मानसिक-व्यापार के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक। हमारे पैर में चोट लगी। चोट लगते ही पहला-पहला अनुभव चोट के 'ज्ञान' का हुआ—यह 'ज्ञानात्मक' पहलू है; इसके बाद दर्द हुआ—यह 'भावात्मक' पहलू है; इसके बाद चोट के इलाज के लिए हाथ-पैर चलाये, डाक्टर के पास गये, दवा लगवाई—यह 'क्रियात्मक' पहलू है। हमें यहाँ 'ज्ञानात्मक' तथा 'क्रियात्मक' से मतलब नहीं, हमें 'भावात्मक' पहलू से काम है।

'भावात्मक' को समझने के लिए हमें तीन शब्दों के अर्थों को समझना होगा। वे तीन शब्द हैं—'इन्द्रियानुभव' (Sensation), 'भाव' (Feeling), 'उद्वेग' (Emotion)। मेरा हाथ दीवार से टकरा गया, मुझे दर्द हुआ, मैं रोने लगा। इसमें मेरे हाथ के दीवार में टकराने से हाथ की त्वचा का वह भाग जो दीवार के सम्पर्क में आया, दर्द करने लगा। हाथ की त्वचा के एक हिस्से के भीतर जो अनुभव हो रहा है, वह 'इन्द्रियानुभव' (Sensation) है—यह शरीर के एक स्थान पर सीमित है, वहीं बँधा हुआ है, यह अनुभव 'ज्ञान' की सीमा में आ जाता है। दर्द जो हो रहा है, उसे तो सारा-का-सारा मनुष्य अनुभव कर रहा है, मनुष्य अनुभव न कर रहा हो, सिर्फ़ हाथ दर्द का अनुभव कर रहा हो—ऐसा नहीं होता। इस प्रकार दर्द का अनुभव 'इन्द्रियानुभव' न होकर 'भावानुभव' (Feeling) कहाता है। दर्द हुआ, परन्तु हर दर्द में मनुष्य रोने-चिल्लाने नहीं लगता। दर्द जब बहुत बढ़ जाता है तब मनुष्य चिल्लाने लगता है—यह 'उद्वेगानुभव' या 'उद्वेग'—'क्षोभ'—(Emotion) कहाता है। एक तरह से कहा जा सकता है कि 'भाव' (Feeling) की उग्रता का परिणाम 'उद्वेग' (Emotion) है। 'इन्द्रियानुभव' (Sensation) शरीर के एक हिस्से में, और 'भाव'

(Feeling) तथा 'उद्वेग' समग्र मनुष्य में होते हैं; 'भाव' (Feeling) हल्के-'उद्वेग' (Emotion) को या 'उद्वेग' (Emotion) उग्र-'भाव'[1] (Feeling) को कहते हैं।

तो फिर 'उद्वेग' (Emotion) किसे कहते हैं, इसकी परिभाषा क्या है? वुडवर्थ के कथनानुसार 'उद्वेग' मनुष्य की उत्तेजित-अवस्था का नाम है। इसी लिए 'उद्वेग' को हिन्दी में 'क्षोभ' भी कहा जाता है। उस अवस्था में मनुष्य का सारा-का-सारा शरीर प्रभावित हो जाता है, क्षुब्ध हो जाता है; क्रोध आ रहा है, तो हाथ की मुट्ठी बँध जाती है, जबान तेज़ी से चलने लगती है, शरीर काँपने लगता है। इसी प्रकार अन्य 'उद्वेगों' में होता है। इसे 'उद्वेग' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें मनुष्य के 'भावों' (Feelings) में वेग, तेज़ी आ जाती है जो ऊपर (उत्) दिखाई देने लगती है, शरीर के भीतर ही नहीं छिपी रहती। अंग्रेज़ी में भी 'Emotion' शब्द E अर्थात् up या out तथा moveo अर्थात् to move से बना है। इस प्रकार 'Emotion' का 'उद्वेग' समानार्थक शब्द है।

२. 'उद्वेगों' के दो प्रकार तथा प्रमुख 'उद्वेग'

यहाँ हम 'भाव' (Feeling) तथा 'उद्वेग' (Emotion) की बारीकियों में जाने का प्रयत्न नहीं करेंगे क्योंकि शिक्षा-मनोविज्ञान की दृष्टि से जो बात 'भावों' पर लागू है वही 'उद्वेगों' पर लागू होती है। आखिर, दोनों एक ही प्रकार के मानसिक-व्यापार के हल्के तथा गहरे हिस्से हैं।

मोटे तौर पर 'उद्वेग' दो प्रकार का हो सकता है—रागात्मक तथा द्वेषात्मक। 'रागात्मक' में सहानुभूति, मैत्री, स्नेह, दया, करुणा आदि आ जाते हैं; 'द्वेषात्मक' में ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध आदि आ जाते हैं। 'रागात्मक'-भाव या उद्वेग 'विध्यात्मक' (Positive) कहाते हैं, 'द्वेषात्मक' भाव या उद्वेग 'निषेधात्मक' (Negative) कहाते हैं। शिक्षा की दृष्टि से रागात्मक या विध्यात्मक भावों या उद्वेगों को दृढ़ करना, विद्यार्थी के चरित्र का अंग बनाना शिक्षक का काम है। इसी तरह शिक्षक का

---

1. "Emotion is a stirred up state of the organism."

यह भी काम है कि वह द्वेषात्मक या निषेधात्मक भावों तथा उद्वेगों को बालक के चरित्र में न आने दे। 'उद्वेगों' के इन दो प्रकारों में कई उद्वेग आ जाते हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य की यहाँ चर्चा कर देना आवश्यक है। वे प्रमुख उद्वेग हैं—प्रेम, क्रोध, तथा भय। इनमें से प्रेम 'विध्यात्मक' है, क्रोध तथा भय 'निषेधात्मक' हैं। 'विध्यात्मक' को बालक के जीवन में लाना तथा 'निषेधात्मक' को न आने देना शिक्षक का मुख्य कर्त्तव्य है।

(क) प्रेम का उद्वेग—'विध्यात्मक' उद्वेगों में प्रमुख स्थान प्रेम का है। प्रेम अपने से छोटे के साथ हो सकता है, बराबर वाले के साथ हो सकता है, अपने से बड़े के साथ हो सकता है। छोटे के साथ प्रेम को दया, करुणा आदि कहते हैं; बराबर वाले के साथ प्रेम को सहानुभूति, मैत्री आदि कहते हैं; बड़े के साथ प्रेम को भक्ति, नम्रता आदि कहते हैं। पिता का पुत्र के साथ प्रेम बड़े का छोटे के प्रति प्रेम-भाव है, भाई का भाई या बहन के साथ, पति का पत्नी के साथ प्रेम बराबर वालों का प्रेम है, शिष्य का गुरु के साथ प्रेम छोटे का बड़े के साथ प्रेम कहा जा सकता है। यही प्रेम-भावना जब परिवार के छोटे-से दायरे से निकल कर बाहर चल पड़ती है, समाज के क्षेत्र में आ जाती है, तब इसी से सामाजिक-समस्याओं की उलझनें सुलझने लगती हैं। हरिजनों की समस्या, छोटे-बड़े की समस्या, अमीर-ग़रीब की समस्या, जात-बिरादरी की समस्या—इन सब का हल प्रेम की भावना को विस्तृत-क्षेत्र में लाने से स्वयं हो जाता है।

हम क्योंकि शिक्षा के विषय पर लिख रहे हैं इसलिए बालक के 'उद्वेगात्मक-विकास' (Emotional development) में प्रेम की भावना का क्या स्थान है—यह जानना हमारे लिए आवश्यक है। बालक को जो प्रेम करता है वह उसके साथ स्वाभाविक तौर पर प्रेम करने लगता है। कई माता-पिता बालक के साथ ऐसा बर्ताव करते हैं जिससे वह इस सन्देह में पड़ा रहता है कि वे उसे प्रेम करते हैं या नहीं। ख़ास कर यह अवस्था तब उत्पन्न हो जाती है जब किसी बालक का लालन-पालन विमाता के पास होता है। विमाता से बालक के मन में इस भावना का उत्पन्न हो जाना कि वह उसे प्यार करती है या नहीं, स्वाभाविक है, परन्तु कभी-कभी अपने माता-पिता के व्यवहार से भी उसके मन में दुविधा उत्पन्न हो जाती है।

ऐसी हालत में बालक का चित्त शान्त नहीं रहता, वह उखड़ा-उखड़ा फिरता है। बालक के उद्वेगात्मक सम-विकास तथा उसकी स्थिर-चित्तता के लिए यह आवश्यक है कि वह निश्चित रूप से इस बात को अनुभव करे कि माता-पिता उससे प्रेम करते हैं, इसके विषय में उसके मन में किसी प्रकार की दुविधा न पैदा हो। संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए इस बात का होना नितान्त आवश्यक है। जब बालक घर में प्रेम का पर्यावरण पायेगा, तो वह समाज में भी हर सामाजिक-समस्या पर उसी भावना से विचार करेगा और घर में पाये हुए प्रेम के स्रोत को वह समाज की हर दिशा में बहाने का प्रयत्न करेगा।

(ख) क्रोध का उद्वेग—'निषेधात्मक' उद्वेगों में प्रमुख स्थान द्वेष का है। यह प्रेम का उल्टा है। क्रोध अपने से छोटे पर हो सकता है, बराबर वाले के ऊपर हो सकता है, अपने से बड़े पर हो सकता है। छोटे पर क्रोध को घृणा कहते हैं, बराबर वाले पर क्रोध को ईर्ष्या कहते हैं, बड़े पर क्रोध को क्रोध कहते हैं। वैसे क्रोध—इस शब्द के अन्तर्गत घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, ये तीनों आ जाते हैं। क्रोध की भावना सीमित-क्षेत्र में रह सकती है, विस्तृत-क्षेत्र में भी जा सकती है। जब क्रोध की भावना विस्तृत-क्षेत्र में जाती है, तब यह समाज तथा देश पर हावी हो जाती है और इसी के परिणामस्वरूप संसार में युद्धों का सूत्रपात होता है।

हम क्योंकि शिक्षा के विषय पर लिख रहे हैं इसलिए बालक के 'उद्वेगात्मक-विकास' (Emotional development) में क्रोध की भावना का क्या स्थान है—यह जानना हमारे लिए आवश्यक है। बालक की इच्छा का जब अवरोध होता है, उसकी पूर्ति में रुकावट आती है, तब उसमें क्रोध के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इसी बात को गीता में कहा है —'संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते'—अर्थात्, किसी वस्तु के संग से उसके प्रति कामना—इच्छा—पैदा हो जाती है, और इच्छा की पूर्ति न हो, तो क्रोध उत्पन्न होता है। 'कामः' का अर्थ 'कामना'—'इच्छा' भी है, और 'काम-भाव' भी है। दोनों की पूर्ति न होने से क्रोध होता है। बालक जब अपनी 'इच्छा-पूर्ति' में बाधा देखता है तब हाथ-पैर पटकने लगता है, रोता है, चिल्लाता है। अगर उसकी इच्छा-पूर्ति में बाधा तीव्र नहीं

है, तब तो वह सिर्फ़ बेचैनी अनुभव करता है, अगर बाधा तीव्र है, तब बेचैनी क्रोध का रूप धारण कर लेती है। इस दृष्टि से 'क्रोध' इच्छा पूर्ण न होने की परिस्थिति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि क्रोध 'पराजय' (Frustration) की भावना की प्रतिक्रिया है। 'पराजय' की भावना की प्रतिक्रिया को बालक 'आक्रमणात्मक-वृत्ति' (Aggression) द्वारा प्रकट करता है। यह 'आक्रमणात्मक-वृत्ति' या तो जिस वस्तु या व्यक्ति पर क्रोध आया है, उस पर आक्रमण के रूप में, गाली-गलौच के रूप में प्रकट होती है। इसे 'पर-पीड़ात्मक आक्रमण' (Extrapunitive aggression) कहते हैं। या यह 'आक्रमणात्मक-वृत्ति' अपने पर क्रोध करने, झल्लाने, अपने बाल नोचने आदि के रूप में प्रकट होती है। इसे 'स्व-पीड़ात्मक आक्रमण' (Intropunitive aggression) कहते हैं। कभी-कभी 'पराजय' की भावना को भुलाने या अपने आत्मा को समझा-बुझा कर 'आक्रमणात्मक-प्रतिक्रिया' को शान्त करने का प्रयत्न भी किया जाता है। इसे 'अपीड़ात्मक-वृत्ति' (Impunitive response) कहते हैं। क्रोध की इन तीनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं में शिक्षक का क्या काम है? शिक्षक का काम यह है कि बालक के चारों तरफ़ ऐसे पर्यावरण को रखे जिससे वह किसी भी परिस्थिति में ऐसी प्रतिक्रिया न करे जिसमें बालक दूसरे पर क्रोध करे, उस पर झल्लाये, गाली-गलौच करे या मारे-पीटे; न उसमें ऐसी 'पराजय' की भावना उत्पन्न होने दे जिससे वह अपने से ही खिन्न हो उठे, अपने को कोसने लगे। बालक में ऐसी भावना उत्पन्न करने की आवश्यकता है जिससे वह प्रत्येक बात में सहनशीलता दिखला सके, परिस्थिति का सामना कर सके। यह सब-कुछ तभी हो सकता है अगर माता-पिता तथा शिक्षक भी बालक के सम्मुख ऐसा ही दृष्टान्त उपस्थित कर सकें। अन्यथा बालक अपने बड़ों को जैसा करते देखेगा वैसा करने लगेगा क्योंकि वह बहुत-कुछ अनुकरण से सीखता है। क्रोधी माँ-बाप का पुत्र तथा गुरु का शिष्य क्रोधी, तथा सहनशील माँ-बाप का पुत्र तथा गुरु का शिष्य सहनशील हो जाता है।

(ग) भय का उद्वेग—भय भी 'निषेधात्मक-उद्वेग' है। भय मनुष्य के शारीरिक अंगों पर ठंड का-सा प्रभाव डालता है। इससे शरीर ठिठुर-

सा जाता है, जड़-सा हो जाता है। इसके प्रभाव से शरीर की 'रसोत्पादक-ग्रन्थियाँ' अपना रस निकालना बन्द कर देती हैं और हर-एक अंग शिथिल पड़ जाता है। माता-पिता अक्सर भूत का भय दिखा कर बच्चे को डराया करते हैं, यह अनुचित है, इससे उसके 'उद्वेगात्मक-विकास' में बाधा पड़ती है। बालक का 'उद्वेगात्मक'-पर्यावरण ऐसा होना चाहिए जिसमें भय को कोई स्थान न हो, उसे डरा कर, भय दिखा कर, भूत-प्रेत की बात कह कर किसी काम को कराने या किसी काम से रोकने की जगह समझा-बुझा कर काम कराना चाहिए। अगर बालक को भय हो तो इस बात का तो होना चाहिए कि ऐसा करने का बुरा परिणाम होगा, और किसी प्रकार का भय उसे नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, आग में हाथ डालने से हाथ जल जायेगा—यह भय जीवन के लिए संरक्षण का काम देगा, परन्तु आग की तरफ़ हाथ बढ़ाने से भूत पकड़ लेगा—यह भय जीवन के लिए विनाश का काम देगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कार्य-कारण के नियम के आधार पर जो भय आश्रित है, उसी को जीवन में स्थान मिलना चाहिए, अन्य किसी प्रकार के भय को बालक के जीवन में नहीं आने देना चाहिए।

भय 'व्यक्तिनिष्ठ' (Subjective) हो सकता है, 'वस्तुनिष्ठ' (Objective) हो सकता है। 'व्यक्तिनिष्ठ' भय बालक के अपने भीतर से उपजते हैं। वह पेड़ को देख कर किसी भयावनी वस्तु की कल्पना करता है, इस कल्पना से डर जाता है। ऊपर से नीचे आता हुआ डरता है कि कहीं गिर न पड़े। 'वस्तुनिष्ठ' भय बालक के भीतर से न उपज कर बाहर की किसी वस्तु से पैदा होते हैं। वह अन्धेरे से डरता है, किसी अजनबी को देख कर ठिठक जाता है, किसी जानवर को देख कर घबरा जाता है। इन सब प्रकार के भयों को बालक के हृदय में जड़ न पकड़ने देना, पकड़ जायें तो निकाल देना शिक्षक का काम है। भयों में दो भय अत्यधिक पाये जाते हैं—अंधेरे का भय तथा असुरक्षा का भय—इसलिए इन दोनों पर संक्षेप से लिख देना आवश्यक है।

(१) अंधेरे का भय—अंधेरे में साँप-बिच्छू, कीट-पतंग आ जाते हैं इसलिए माता-पिता बालक को अन्धेरे में जाने से रोकते हैं। परिणाम यह

होता है कि कार्य-कारण की बात को न जान कर बालक अन्धेरे से ही डरने लगता है। माता-पिता यह न कह कर कि उधर कोई कीट-पतंग हो सकता है उसे अन्धेरे में भूत-प्रेत के नाम से डरा देते हैं जिससे वह भूत-प्रेत से डरने के साथ-साथ भूत-प्रेत के कारण ही अन्धेरे से भी डरने लगता है। वह समझने लगता है कि अन्धेरे में भूत छिपे हैं। अन्धेरे से भय को निम्न प्रकार दूर किया जा सकता है :—

(*i*) *अन्धेरे और भय का संबंध न जुड़ने देना*—अन्धेरे से स्वाभाविक डर बालक को नहीं होता, वह पैदा किया जाता है। सुबोध माता-पिता के लिए यह जानना जरूरी है कि वे अपनी किसी बात से बालक के मन में अन्धेरा और भय इन दोनों का संबंध न जुड़ने दें।

(*ii*) *अन्धेरे और भय का संबंध जुड़ जाय तो उसे तोड़ देना*—अगर किसी कारणवश बालक के मन में 'अन्धेरे' और 'भय' का संबंध जुड़ गया है, तो इन दोनों के संबंध को तोड़ देना भय को दूर करने का सब से अच्छा उपाय है। माँ बार-बार बालक के सामने अन्धेरे में जायगी, तो बच्चा भी बिना डर के अन्धेरे में जाने लगेगा।

(२) *असुरक्षा का भय*—भय का अर्थ क्या है? मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से भय का अर्थ है अपने को असुरक्षित समझना। जो अपने को असुरक्षित समझेगा वही तो भयभीत होगा। इसलिए भय को दूर करने का सब से उत्तम उपाय है बालक में असुरक्षा के भाव को उत्पन्न न होने देना। असुरक्षा का भाव कैसे उत्पन्न हो जाता है? इसके उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं, जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

(*i*) *परिवार में नवीन-शिशु का जन्म*—जब परिवार में नवीन-शिशु जन्म लेता हैं, तब माता-पिता का सारा ध्यान उसी की तरफ़ चला जाता है। इससे पहले वाला समझने लगता है कि उसकी देख-रेख करने वाला कोई नहीं। इस असुरक्षा के भाव से उसे जो भय उत्पन्न हो जाता है, वह उसके 'उद्वेगात्मक-विकास' में बाधा पहुँचाता है। इसी प्रकार परिवार में बाहर से कोई बालक आ जाता है तब भी सब का ध्यान उसी की तरफ़ चला जाता है। इससे भी घर का बालक अपने को छोड़ा-हुआ सा अनुभव करने लगता है। बालक की देख-रेख ऐसी होनी चाहिए जिससे नव-जात

शिशु के जन्म होने अथवा परिवार में बाहर के बालक के आ जाने से वह अपने को परित्यक्त-सा अनुभव न करे।

(*ii*) *हँसी उड़ाना*—कभी-कभी माता-पिता अथवा शिक्षक बालक की सब के सामने ऐसी आलोचना कर देते हैं, या उसकी ऐसी हँसी उड़ाने लगते हैं जिससे वह अपने को उनके सामने असुरक्षित-सा समझने लगता है। ऐसी हालत में वह माता-पिता अथवा शिक्षक के सामने नहीं आना चाहता, उनके सम्पर्क से बचने लगता है, आवारागर्दी करने लगता है। माता-पिता, तथा शिक्षक को बालक के साथ इस प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए, उसकी कटु आलोचना या उसका परिहास नहीं करना चाहिए।

(*iii*) *मारना-पीटना*—जब माता-पिता अथवा शिक्षक छोटी-छोटी बात पर बालक को मारने-पीटने लगते हैं, तब भी उसमें असुरक्षा का भाव उत्पन्न हो जाता है, वह उनसे सदा भयभीत रहने लगता है, उसे समझ ही नहीं पड़ता कि कब वे बरस पड़ेंगे। माता-पिता तथा शिक्षक को बालक के साथ मार-पीट का व्यवहार न करके सहानुभूति तथा स्नेह का व्यवहार करना चाहिए ताकि वह अपने को उनके सहवास में पूर्णतया सुरक्षित अनुभव कर सके, किसी प्रकार का भय न खाये।

३. उद्वेगों का विकास
(DEVELOPMENT OF EMOTIONS)

शिशु तथा बालक के 'उद्वेगों' में भेद पाया जाता है। इसका यही कारण है क्योंकि शिशु के 'उद्वेग' परिपक्व नहीं होते, बालक तथा किशोर के परिपक्व हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शिशु के 'उद्वेग' अशिक्षित अवस्था में होते हैं, उसके 'उद्वेग' जन्मजात होते हैं, बालक तथा किशोर ने जन्मजात-'उद्वेगों' के स्थान में कुछ नवीन 'उद्वेग' सीखे भी होते हैं। इस दृष्टि से 'उद्वेगों' के विकास पर दो बातों का प्रभाव कहा जा सकता है—'परिपक्वता' (Maturity) का प्रभाव तथा 'शिक्षा' (Learning) का प्रभाव।

(क) *उद्वेगों के विकास पर परिपक्वता का प्रभाव* (*Role of maturity in the development of emotions*)—उद्वेगों के

विकास पर 'परिपक्वता' का प्रभाव पड़ता है—इसका क्या अर्थ है? कुछ बातें बालक दूसरों से सीखता है, कुछ आयु के पकने के साथ-साथ अपने-आप उसमें प्रकट होती हैं, वह उन्हें दूसरों से नहीं सीखता। 'उद्वेगों' के संबंध में जो परीक्षण किये गये हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि कई 'उद्वेग' सीखे न जाकर आयु के परिपाक के साथ अपने-आप प्रकट होते हैं। इसके लिए बहरे-अन्धों पर परीक्षण किये गये जो दूसरे की हँसी भी नहीं सुन सकते थे और हँसने पर मुख पर क्या प्रभाव प्रकट होता है, उसे देख भी नहीं सकते थे। परीक्षणों से यह देखा गया कि इन बहरे-अन्धों के चेहरों पर भी खुशी के समय वही भाव प्रकट होते थे जो स्वस्थ बच्चों के चेहरों पर प्रकट होते थे। इनके विषय में यह तो कहा नहीं जा सकता था कि इन भावों को उन्होंने दूसरों की हँसी सुन कर या चेहरे की हँसी देख कर सीखा था। फिर इनके भीतर खुशी के समय स्वस्थ बच्चों की-सी प्रतिक्रिया कैसे उत्पन्न हुई? इसका कारण 'उद्वेगों का परिपाक' (Maturity of emotions) ही कहा जा सकता है। शरीर-रचना-शास्त्रियों का कहना है कि शरीर में कुछ 'प्रणालिका-रहित-ग्रन्थियाँ' (Ductless glands) हैं। वे शरीर के भीतर-ही-भीतर अपना रस सरती रहती हैं। इस रस को 'आभ्यन्तर-रस' (Internal secretion) या 'हॉरमोन' (Hormones) कहते हैं। इन 'हॉरमोन' का उद्वेगों के विकास पर प्रभाव पड़ता है। तभी शिशु के जीवन में जननेन्द्रिय का विकास नहीं होता, किशोर के जीवन में हो जाता है क्योंकि उस समय प्रजनन की ग्रन्थियाँ अपना 'आभ्यन्तर-रस' बनाने लगती हैं। 'प्रणालिका-रहित-ग्रन्थियों' की विशेष चर्चा हमने 'संवेदन-उद्वेग तथा स्थायीभाव'—इस अध्याय में की है।

(ख) उद्वेगों के विकास पर शिक्षा का प्रभाव (Role of learning in the development of emotions)—'परिपक्वता' के अतिरिक्त उद्वेगों के विकास पर शिक्षा का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। शिशु ज्यों-ज्यों दूसरे के सम्पर्क में आता है, त्यों-त्यों वह अपने उद्वेगों को काबू में रखना सीखने लगता है। पहले तो अगर उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ हुआ तो वह हाथ-पैर पटकने लगता था, जमीन पर लोटा-लोटा फिरता था, चीखता-चिल्लाता था, अब बड़ा होने पर वह सीख जाता है

कि ऐसा करना अशिष्टता है, वह दूसरे शिष्ट-व्यवहारों से अपनी असहमति प्रकट करना सीख जाता है। इसके अतिरिक्त वह कई नये-नये 'उद्वेग' भी सीख जाता है जो प्रारंभ में उसमें नहीं होते। उदाहरणार्थ, प्रारंभिक 'उद्वेग' तो प्रेम, क्रोध तथा भय होते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मग्लानि, त्याग आदि 'उद्वेगों' को वह अपने पर्यावरण द्वारा सीखता जाता है।

४. शिशु तथा किशोर के उद्वेगों में भेद

'परिपक्वता' (Maturity) तथा 'शिक्षा' (Learning) के कारण शिशु तथा किशोर के 'उद्वेगों' में भेद आ जाता है—यह हमने देखा। शिशु तथा किशोर के 'उद्वेगों' में क्या भेद पाया जाता है—यह जान लेना भी आवश्यक है। इनके 'उद्वेगों' में निम्न भेद होता है :

(क) शिशु के 'उद्वेग' थोड़े होते हैं—बच्चे के जन्मगत 'उद्वेग' तीन होते हैं—प्रेम, क्रोध, तथा भय। बालक तथा किशोर के हृदय में विषम परिस्थितियों में जो उद्वेग उत्पन्न होते हैं, वे शिशु के हृदय में नहीं उत्पन्न होते। उदाहरणार्थ, प्राकृतिक-दृश्य को देखकर किशोर के हृदय में भगवान् की महिमा की भावना उत्पन्न होती है, शिशु के लिए ऐसे दृश्य तथा रेगिस्तान एक-समान हैं। यही बात आश्चर्य, आतंक आदि के 'उद्वेगों' के विषय में कही जा सकती है। ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ उसके सम्मुख उपस्थित होती हैं, और उन परिस्थितियों के अनुरूप 'उद्वेग' वह अपने समाज से सीखने लगता है। शिक्षा की दृष्टि से बालक के समुचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसे ऐसे पर्यावरण में रखा जाय जिससे उसमें सब तरह के 'उद्वेगों' को विकसित होने का अवसर मिलता रहे।

(ख) शैशव-काल में 'उद्वेगों' को उत्तेजित करनेवाली परिस्थितियाँ भी कम होती हैं—शैशव-काल में एक तो उद्वेग ही थोड़े होते हैं, साथ ही बच्चे के उद्वेगों को उत्तेजित करने वाली परिस्थितियाँ भी कम होती हैं। 'प्रेम' का उद्वेग उसमें होता है, परन्तु हर किसी को देख कर उसमें प्रेम नहीं उमड़ता, माता-पिता या जो व्यक्ति उससे सदा प्रेम का बर्ताव करता है, उसी से वह भी प्रेम करता है। बड़ा होने पर प्रेम के दायरे को बढ़ा लेता

हैं, ऐसी भी स्थिति आ सकती है जिसमें वह द्वेष करने वालों के साथ भी प्रेम का बर्ताव करे। इसी प्रकार उसे 'क्रोध' तभी आता है जब उसकी किसी 'जैविक-इच्छा' (Biological need) का व्याघात हो, खाने को न मिले, खेलने न दिया जाय या ऐसी ही कोई बात हो। बड़ा होने पर क्रोध का दायरा बढ़ जाता है, इच्छा के व्याघात होने पर ही नहीं, दुष्ट व्यक्तियों पर भी उसे क्रोध आने लगता है। यही बात 'भय' के साथ है। शिशु ज़ोर की आवाज़ से डरता है, गिर पड़ने से डरता है, परंतु हर किसी बात से नहीं डरता। वाटसन महोदय का कहना था कि जानवरों तथा बेजान चीज़ों से बच्चे स्वाभाविक तौर पर नहीं डरते, इस प्रकार का डर वे सीखते हैं, छोटी अवस्था में नहीं, परन्तु बड़े होकर। असल में, ज्यों-ज्यों बालक विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों संसार की परिस्थितियों के अनुकूल उसके 'उद्वेगों' का भी विकास होना आवश्यक है, और इसी में शिक्षक का महत्त्व है। अगर किसी दूर देश में लोग भूखे मरते हैं तो उनके साथ सहानुभूति होना, अगर कोई किसी को डराता-धमकाता है तो कमज़ोर का साथ देना, अगर कोई कष्ट में है तो उसके लिए त्याग करना—ये सब सीखने की बातें हैं। इस प्रकार की परिस्थितियाँ शैशव में कम और किशोरावस्था में अधिक उपस्थित की जा सकती हैं।

(ग) शिशु के 'उद्वेगों' का प्रकाश संस्कृति से प्रभावित नहीं होता—शिशु तथा किशोर के 'उद्वेगों' में तीसरा भेद यह है कि शिशु अपने 'उद्वेगों' को सहज रूप में प्रकट कर देता है। वह किसी बात के अनुकूल न होने पर पाँव पटकता है, ज़मीन पर लोटने तथा चिल्ल-पौं मचाने लगता है। किशोर ऐसा नहीं करता। हम अपने 'उद्वेगों' का प्रकाश अपनी संस्कृति के माने हुए मान-दंडों से करते हैं। प्रसन्नता को प्रकट करने के लिए मुस्करा देना, दोष को प्रकट करने के लिए अनमनापन दिखलाना सभ्यता के संस्कार हैं और शिक्षा का काम उद्वेगों को असंस्कृत रूप में प्रकट न कर संस्कृत रूप में प्रकट करना सिखलाना है।

(घ) शिशु छोटी-छोटी बातों में उद्विग्न हो जाता है—अगर मिठाई न मिले तो शिशु बाज़ार में ही धराशायी हो जायगा, अगर माँ उसे कहीं छोड़कर चल दे, तो रो-रोकर ज़मीन-आसमान एक कर देगा। उद्विग्नता

तथा उद्विग्नता के कारण में शैशव-काल में अत्यन्त असमानता पायी जाती है। ज्यों-ज्यों शिशु बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इन दोनों बातों का असामंजस्य दूर होता जाता है। शिक्षा का काम उद्विग्नता के कारण होने पर भी उद्विग्न न होना सिखाना है। श्री रामचन्द्र जी के लिए वाल्मीकि ने लिखा है—'राज्य-सिंहासन पर बैठने का समाचार सुन कर उनके मुख पर उत्कट प्रसन्नता तथा वन जाने का समाचार सुन कर उनके मुख पर विषाद—ये दोनों नहीं दिखाई दिये।' शिक्षा का काम उद्वेगों के संबंध में ऐसी भावना को उत्पन्न कर देना है।

(ङ) शिशु झट-से उद्विग्न तथा झट से प्रसन्न हो जाता है—शैशव-काल में बालक ज़रा-सी बात में खुश, और ज़रा-सी बात में नाराज़ हो जाता है। वह अपने चित्त को सन्तुलित नहीं रख सकता। ज्यों-ज्यों हम बड़े होते जाते हैं, हमें अपने 'उद्वेगों' को सन्तुलित करना सीखना होता है, इसी को बोल-चाल की भाषा में 'गंभीरता' कहते हैं। गंभीर व्यक्ति अपने को छोटी-छोटी बातों से प्रभावित नहीं होने देता।

५. 'उद्वेगों' के संबंध में सिद्धान्त
(THEORIES OF EMOTIONS)

(क) जेम्स-लैंग सिद्धान्त—अमरीकन मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स (William James) ने १८८४ में तथा डेनिश शरीर-रचना-शास्त्रज्ञ कार्ल लैंग (Carl Lange) ने १८८५ में 'उद्वेगों' के संबंध में एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसे 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' कहा जाता है। प्रचलित विचार तो यह है कि जब कोई 'उद्वेग' हमारे भीतर उत्पन्न होता है, तब कुछ शारीरिक-परिवर्तन भी प्रकट होते हैं। हमें पहले दुःख होता है, तब हम रोते हैं; पहले भय होता है, तब हम भागते हैं; पहले क्रोध होता है, तब हम मारते हैं। इन अनुभवों में दो बातें हैं। एक तो मानसिक-अनुभव है, दूसरा शारीरिक-अनुभव है। हम इन दोनों अनुभवों का संबंध जोड़ते हैं और कहते हैं कि मानसिक-अनुभव शारीरिक-अनुभव को पैदा करता है। शेर को हमने देखा, रोंगटे खड़े हो गये। शेर को देखना मानसिक-अनुभव है, रोंगटे खड़े होना शारीरिक-अनुभव है। हम यह कहते हैं कि

शेर को देखकर डर का मानसिक-अनुभव हुआ, इस मानसिक-अनुभव से रोंगटे खड़े होना शारीरिक-अनुभव हुआ। जेम्स-लैंग का कथन इससे उल्टा था। उनका कहना था कि शेर को देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, और रोंगटे खड़े होने से डर का 'उद्वेग' उत्पन्न हो जाता है। अर्थात्, पहले शारीरिक-अनुभव पैदा होता है, फिर मानसिक-अनुभव उत्पन्न हो जाता है। जेम्स का कहना था कि शेर को देख कर शरीर में एक 'स्वाभाविक सहज-क्रिया' (Automatic reflex action) उत्पन्न होती है—रोंगटे खड़े हो जाते हैं, मनुष्य जान बचाने के लिए भागने लगता है। इस शारीरिक-क्रिया से भय का मानसिक-उद्वेग पैदा हो जाता है। कुछ अंश में यह बात ठीक भी है। अगर शेर को देख कर हम भागने के स्थान में उसका मुकाबिला करने लगें, उसे गोली का शिकार बनाने लगें, तब डर का भाव जाता रहता है, बहादुरी का भाव आ जाता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि शेर को देख कर हमने स्वाभाविक तौर पर होने वाले शारीरिक-अनुभव अपने भीतर नहीं आने दिये। यही कारण है कि अगर शेर को देख कर हम भागने लगें, तो जितनी जोर से हम भागते हैं, उतना ही भय का भाव प्रबल होता जाता है, और जितना ही हम नहीं भागते, शेर का मुकाबिला करते हैं, उतना ही भय का भाव हटता जाता है। शिक्षा की दृष्टि से यह सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि अगर हम अपनी शारीरिक-प्रतिक्रियाओं को अपने वश में कर लें, तो 'उद्वेगों' को भी वश में किया जा सकता है। इसीलिए 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' की यथार्थता को जानने के लिए कई मनोवैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न परीक्षण किये। इन परीक्षणों में शैरिंगटन (Sherrington) तथा कैनन (Cannon) के परीक्षण प्रसिद्ध हैं। उनकी यहाँ चर्चा कर देना आवश्यक है।

(*i*) *शैरिंगटन के 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' पर परीक्षण*—जेम्स-लैंग के सिद्धान्त की यथार्थता को परखने के लिए शैरिंगटन ने कुत्ते की उन ज्ञान-वाहिनियों (Afferent nerves) को काट दिया जिनसे शारीरिक-अनुभवों का ज्ञान मस्तिष्क तक पहुँचता है। इसका परिणाम यह हुआ कि शरीर में जो परिवर्तन होते हैं, उनका ज्ञान कुत्ते को नहीं हो पाता था।

'उद्वेगों' के संबंध में अगर 'जेम्स-लैंग सिद्धांत' ठीक है तो शारीरिक-परिवर्तनों के ज्ञान न होने के कारण कुत्ते में उद्वेग उत्पन्न होने नहीं चाहिए थे, परन्तु ऐसा नहीं देखा गया, शारीरिक-परिवर्तनों के ज्ञान न होने पर भी परिचित व्यक्तियों को देख कर वह दुम हिलाने लगता तथा अपरिचितों को देखकर भौंकने लगता था। शैरिंगटन के परीक्षणों से जेम्स-लैंग-सिद्धान्त को सर्वथा अप्रामाणिक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मस्तिष्क तक ज्ञान पहुँचाने वाली वाहिनियों के कट जाने पर भी कुत्ते का दुम हिलाना या भौंकना 'उद्वेग' के कारण है, आदत के कारण नहीं—यह नहीं कहा जा सकता।

(ii) कैनन के 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' पर परीक्षण—कैनन ने 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' की यथार्थता को परखने के लिए शैरिंगटन से एक कदम आगे बढ़ कर परीक्षण किये। उसने बिल्ली के मस्तिष्क की उन ज्ञान-वाहिनियों को काटने के स्थान में जिनसे बाहर का ज्ञान अन्दर मस्तिष्क तक पहुँचता है, उन ज्ञान-वाहिनियों (Efferent nerves) को काटा जो मस्तिष्क से ज्ञान की प्रतिक्रिया को बाहर इन्द्रियों तक लाती हैं। इनके कट जाने पर भी बिल्ली हर तरह का उद्वेग प्रदर्शित करती थी जो 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' के ठीक होने की अवस्था में नहीं होना चाहिए था। कैनन के परीक्षणों से भी 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' को सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि मस्तिष्क से ज्ञान लाने वाली वाहिनियों के कट जाने पर भी बिल्ली का 'उद्वेग' दिखाना आदत के कारण नहीं—यह नहीं कहा जा सकता।

हर हालत में 'जेम्स-लैंग-सिद्धान्त' की शिक्षा की दृष्टि से बड़ी उपयोगिता है। अगर हम 'उद्वेगों' से उत्पन्न होने वाली शारीरिक-प्रतिक्रियाओं तथा मांस-पेशियों की गतियों का नियन्त्रण कर लें, तो बहुत अंश तक उद्वेगों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है जो 'उद्वेगात्मक-विकास' के लिए आवश्यक है।

(ख) कैनन-वार्ड सिद्धान्त—कैनन (W.B. Cannon) तथा बार्ड (P. Bard) ने यह जानने के लिए कि क्या मस्तिष्क में कोई ऐसा केन्द्र है जो 'उद्वेगों' के अनुभव करने के लिए उत्तरदायी हो, कुत्ते के मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न केन्द्रों को काट कर परीक्षण किये। वे यह जानना चाहते थे कि क्या उद्वेगों के लिए मस्तिष्क में कोई केन्द्रीय-स्थान है। अगर कोई ऐसा

स्थान हो, तो उसके निकाल दिये जाने पर 'उद्वेग' की अनुभूति बन्द हो जानी चाहिए। उनके परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ कि अगर 'चेतक' (Hypothalamus) को निकाल दिया जाय, तो 'उद्वेग' की अनुभूति में बाधा पड़ जाती है। यह 'चेतक' क्या है? मस्तिष्क के नीचे, जहाँ रीढ़ की हड्डी शुरू होती है, वहाँ 'मैंड्यूला' (Medulla) नामक स्थान है। इस 'मैंड्यूला' के ऊपर और 'लघु-मस्तिष्क' के नीचे 'थैलमस' तथा 'हाइपोथैलमस' नामक दो रचनाएँ होती हैं। इनमें से 'हाइपोथैलमस' (चेतक) को निकाल देने से 'उद्वेगों' की अनुभूति में बाधा पड़ जाती है, मस्तिष्क के किसी केन्द्र को निकाल देने से बाधा नहीं पड़ती। इस प्रकार के परीक्षणों के आधार पर कैनन तथा बार्ड ने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि उद्वेग की अनुभूति तथा उद्वेग की प्रतिक्रिया के रूप में होने वाले शारीरिक अनुभव—ये दोनों 'हाइपोथैलमस' की क्रिया-शक्ति के ही परिणाम हैं, और 'हाइपोथैलमस' के क्रियाशील होते ही ये दोनों बातें एक-साथ प्रकट हो जाती हैं। तो फिर कैनन-बार्ड सिद्धान्त क्या हुआ? कैनन-बार्ड सिद्धान्त यह है कि मस्तिष्क का ज्ञान का केन्द्र जब किसी डरावनी वस्तु को देखता है, तब सीधा 'हाइपोथैलमस' को उत्तेजित कर देता है, और 'हाइपोथैलमस' उत्तेजित होने पर उद्वेगात्मक-अनुभव तथा शारीरिक-अनुभव—इन दोनों को एक-साथ उत्पन्न कर देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'उद्वेगों' के संबंध में 'हाइपोथैलमस' का बहुत महत्त्व है, परन्तु इस दिशा में अन्य परीक्षण भी किये गये हैं। परीक्षण-कर्त्ताओं ने कुत्ते के 'हाइपोथैलमस' को कृत्रिम तौर पर उत्तेजित करके यह देखना चाहा कि इस प्रकार उसमें 'उद्वेग' उत्पन्न होता है या नहीं। उन्होंने देखा कि इस प्रकार की कृत्रिम-उत्तेजना से शारीरिक-अनुभूतियाँ तो होने लगती हैं, परन्तु उन अनुभूतियों के अनुरूप 'उद्वेग' नहीं उत्पन्न होते।

(ग) मैक्डूगल का सिद्धान्त—मैक्डूगल (Mc.Dougall) का कहना है कि प्राणी में कुछ 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) होती हैं, और प्रत्येक 'प्राकृतिक-शक्ति' के साथ एक 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है। 'उद्वेग' का काम 'प्राकृतिक-शक्ति' में बल देना है। शेर को देखकर जान बचाने के लिए भागना एक 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) है, इसके

साथ जुड़ा हुआ भय एक 'उद्वेग' (Emotion) है। भय का काम भागने में सहायता करना, उसमें बल देना है। अगर 'प्राकृतिक-शक्ति' के साथ 'उद्वेग' न जुड़ा हो, तो 'प्राकृतिक-शक्ति' निर्बल हो जाय। इस दृष्टि से 'प्राकृतिक-शक्ति' तथा 'उद्वेग' दोनों एक ही मनोवृत्ति के दो पहलू हैं। मैक्डूगल ने चौदह 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा उनके साथ जुड़े हुए 'उद्वेगों' का वर्णन किया है जिसका विस्तृत विवेचन हम पाँचवें अध्याय में कर आये हैं। इन 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा 'उद्वेगों' की शिक्षा की दृष्टि से जो उपयोगिता है उसका भी हम उसी अध्याय में वर्णन कर चुके हैं।

(घ) *ड्रेवर तथा रिवर का सिद्धान्त*—ड्रेवर (Drever) तथा रिवर (River) मैक्डूगल से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि 'प्राकृतिक-शक्ति' के साथ 'उद्वेग' जुड़ा नहीं रहता, परन्तु जब 'प्राकृतिक-शक्ति' के क्रिया में परिणत होने में बाधा पड़ती है तब 'उद्वेग' उत्पन्न होता है, उससे पहले नहीं। जंगल में शेर को देख कर हम जान बचाने के लिए भागने लगते हैं, भय के कारण नहीं, परन्तु अगर भागने में बाधा आ पड़े तब भय का उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। इस सिद्धान्त की भी शिक्षा की दृष्टि से बड़ी उपयोगिता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी 'निषेधात्मक-उद्वेग' (Destructive emotion) को पैदा न होने देने का सहज उपाय है काम में, क्रिया में लगे रहना, स्थिति का मुकाबिला करना। जो साँप को देख कर उसे मारने में लग जाता है उसे साँप का भय नहीं सताता, जो भागने लगता है वही साँप से डरता है। जो व्यक्ति जितना क्रिया में लगा रहेगा, वह उतना ही 'उद्वेगों' के प्रहार से बचा रहेगा।

६. स्थायीभाव (SENTIMENT)

'उद्वेग' (Emotion) तथा 'स्थायीभाव' (Sentiment) में भेद है। प्रेम, द्वेष, लज्जा, आदि 'उद्वेग' हैं, परन्तु जब ये 'उद्वेग' किसी वस्तु, किसी व्यक्ति, किसी विचार, भाव अथवा आदर्श के साथ स्थायी रूप से जुड़ जाते हैं, तब इन्हें 'स्थायीभाव' कहा जाता है। बच्चा माँ को देखता है, उसका माँ के प्रति प्रेम है—यह 'उद्वेग' की अवस्था है। बच्चा बड़ा हो गया, कालेज में पढ़ने घर से दूर किसी शहर में चला गया। वहाँ एक दिन माँ की याद आ गई और आँखों में आँसू उमड़ आये। यह 'स्थायीभाव'

के कारण है। जब वस्तु, व्यक्ति या विचार सम्मुख हो तब भावना का उदय हो जाना 'उद्वेग' के कारण है, जब सम्मुख न हो तब भी भावना का आ जाना 'स्थायीभाव' के कारण है। बालक में उच्च विचारों तथा आदर्शों के प्रति 'स्थायीभाव' उत्पन्न कर देना माता-पिता तथा शिक्षक का काम है। 'स्थायीभावों' पर विशेष रूप से विचार हमने २२वें अध्याय में किया है।

७. आत्म-सम्मान का स्थायीभाव
(SELF-REGARDING SENTIMENT)

'स्थायीभावों' का निर्माण बालक के 'उद्वेगात्मक-विकास' के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन 'स्थायीभावों' में भी एक 'स्थायीभाव' ऐसा है जो इन सब का मूर्धन्य है। इसे मनोविज्ञान की परिभाषा में 'आत्म-सम्मान का स्थायीभाव' (Self-regarding sentiment) कहते हैं। चरित्र के उच्च-विकास के लिए 'आत्म-सम्मान के स्थायीभाव' का दृढ़ होना अत्यन्त आवश्यक है। इस 'स्थायीभाव' का विस्तृत वर्णन हमने २३वें अध्याय में किया है। इसके विस्तृत ज्ञान के लिए २३वें अध्याय को पढ़ना आवश्यक है।

८. उद्वेगात्मक-दोष तथा उनका निदान

'उद्वेगों' के संबंध में बालकों में कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं—उनके कारण तथा उनका निदान जानना शिक्षक के लिए आवश्यक है। इन दोषों के संबंध में हमने विस्तार से १६वें अध्याय में विवेचना की है, इसलिए यहाँ इस संबंध में कुछ लिखना अनावश्यक है।

प्रश्न

(१) 'उद्वेग' का अर्थ समझाइये तथा उसकी परिभाषा कीजिये।

(२) 'उद्वेग' दो प्रकार का हो सकता है—रागात्मक तथा द्वेषात्मक। इसका अर्थ समझाइये।

(३) प्रेम, क्रोध तथा भय पर 'उद्वेग' की दृष्टि से विचार कीजिये।

(४) 'उद्वेगों' के विकास पर परिपक्वता तथा शिक्षा का क्या प्रभाव पड़ता है?

(५) शिशु तथा किशोर के उद्वेगों में क्या भेद है?

(६) उद्वेगों के संबंध में जेम्स-लैंग सिद्धान्त क्या है? इसकी शिक्षा की दृष्टि से क्या उपयोगिता है?

१२

बालक का नैतिक-विकास तथा उसे प्रभावित करने वाला पर्यावरण

(MORAL DEVELOPMENT OF THE CHILD AND ENVIRONMENTAL FACTORS INFLUENCINC IT)

१. नैतिकता का अर्थ क्या है ?

जब हम बालक के नैतिक-विकास पर विचार कर रहे होते हैं, तब हमारा अभिप्राय क्या होता है ? नैतिक-विकास का अर्थ है—'चरित्र-सम्बन्धी विकास'। मन के तीन पहलुओं का वर्णन हम कर चुके हैं—'इच्छा' (Feeling), 'ज्ञान' (Knowing) तथा 'कृति' (Willing)। यह 'कृति' ही 'नैतिक' अथवा 'चरित्र-सम्बन्धी'—विकास का आधार है। नैतिकता में कृति-शक्ति का रहना आवश्यक है। नैतिकता अथवा चरित्र गप्प हाँकने का नाम नहीं है, जिस काम को बुद्धि-पूर्वक ठीक समझ लिया उसे पहले चुन लेना और चुन लेने के बाद उसे कर डालने का नाम चरित्र है, चरित्र 'कहना' नहीं, 'करना' है। परन्तु हम ठीक किस बात को समझते हैं ? ठीक उस बात को समझते हैं जिससे एक व्यक्ति का नहीं, सब का भला हो, जो समाज के लिए हितकर हो। इस दृष्टि से नैतिकता क्या है ? हमारे सामने कार्य करने के जो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, उनमें से सामाजिक-हित के मार्ग को बुद्धि-पूर्वक चुन कर उसे कर डालने की आदत डालने का नाम नैतिकता है। हमारे नैतिक-व्यवहार में पाँच बातों का होना जरूरी है :—

(क) उचित-अनुचित का बुद्धि-पूर्वक ज्ञान—नैतिकता में उचित-अनुचित का बुद्धि-पूर्वक ज्ञान होना आवश्यक है। जबतक हमें यह मालूम नहीं कि क्या उचित है, क्या अनुचित, क्या ठीक है, क्या ग़लत, तबतक हम दो रास्तों में से किसी एक को अपना नहीं सकते। छोटा बच्चा ठीक-ग़लत

को नहीं जानता, इसलिए उसका व्यवहार नैतिक-अनैतिक कुछ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार पागल को उचित-अनुचित की तमीज़ नहीं रहती, उसका व्यवहार भी नैतिक-अनैतिक नहीं कहा जा सकता। नैतिकता के लिए उचित-अनुचित का ज्ञान होना आवश्यक है, जो अपनी-अपनी परिस्थिति में रहते हुए हर-एक बालक को हो जाता है। माता-पिता, शिक्षक, साथी-मित्र, समाज—इन सब से उसे उचित-अनुचित का ज्ञान होता रहता है।

(ख) दो मार्गों में से एक का चुनाव—उचित-अनुचित के ज्ञान के बाद दो या अनेक मार्ग जो हमारे सामने खुले होते हैं, उनमें से हम जब उचित को चुनते हैं, तब नैतिक मार्ग पर चलते हैं, जब अनुचित को चुनते हैं, तब अनैतिक मार्ग पर चलते हैं। जहाँ दो मार्गों में से किसी एक का चुनाव नहीं, वहाँ भी नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठता। उदाहरणार्थ, बीमार आदमी के सामने चुनाव का रास्ता नहीं होता, हिप्नोटिज्म में परवश व्यक्ति के सामने भी चुनाव नहीं होता, ये जो-कुछ करते हैं, वह इन्हें करना ही होता है, अतः इनका व्यवहार नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता। हमारा भी बहुत-सा व्यवहार इसी प्रकार का होता है। हम चोर, डाकू, जालसाज, झूठे, हत्यारे नहीं हैं, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हम चोरी इसलिए नहीं करते क्योंकि हमारा नैतिक चरित्र बहुत ऊँचा है, हम तो चोरी इसलिए नहीं करते क्योंकि चोरी करने की परिस्थिति में ही हम नहीं पड़े, अगर चोरी करने की परिस्थिति में पड़ते, और चोरी न करते, तब हमारा नैतिकता का स्तर ऊँचा कहा जा सकता। इसी प्रकार अन्य बातों के विषय में कहा जा सकता है। एक व्यक्ति हत्यारा है, परन्तु अगर उसके सामने हत्या करने की परिस्थिति ही न उत्पन्न होती, तो वह जन्म भर बड़ा अच्छा आदमी बना रहता। हम समाज के नियम का उल्लंघन नहीं करते। क्यों नहीं करते? क्या इसलिए नहीं करते क्योंकि हममें नैतिकता की भावना प्रबल है, या इसलिए नहीं करते कि हमें उनका उल्लंघन करने का मौका नहीं मिलता। मौका मिलने पर नियमों का उल्लंघन न करना नैतिकता है। कभी-कभी हम डर के कारण नियमों का उल्लंघन नहीं करते। यह भी नैतिकता नहीं है, यद्यपि यह अनैतिकता भी नहीं है।

(ग) *वैयक्तिक उत्तरदायित्व*—नैतिकता में यह भी आवश्यक है कि अपने किये की जिम्मेदारी अपने पर ली जाय, दूसरे पर न डाली जाय। जो व्यक्ति यह कहता है कि मैंने अमुक काम इसलिए किया क्योंकि अमुक व्यक्ति ने मुझे ऐसा करने को कहा था—वह अपने नैतिक अथवा अनैतिक कार्य से बचना चाहता है। दूसरे के कहे से किसी काम को क्यों किया जाय? प्रायः बालक अपने किसी दूसरे साथी की प्रेरणा से बुरा काम कर डालते हैं। उनका काम इतना अनैतिक नहीं होता, परन्तु बड़ा होने पर भी दूसरे की प्रेरणा से बुरा काम करना यह सिद्ध करता है कि बुरा काम करने वाला व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी को दूसरे पर डालना चाहता है। बालक प्रायः किसी गिरोह के अंग होकर उसकी प्रेरणा से भी अच्छे-बुरे काम किया करते हैं। नैतिकता या सच्चरित्रता की यह माँग है कि जो काम भी हम करें अपने वैयक्तिक उत्तरदायित्व पर करें, उसकी जिम्मेदारी दूसरे पर न डालें। अगर बालक समझता है कि उसके गिरोह ने उससे कोई बुरा काम करा दिया, तो उस गिरोह को छोड़ देना या उस गिरोह में रहते हुए गिरोह के विचारों को बदल देना उस बालक का ही काम है। ऐसा करने से ही वह अपने किये की जिम्मेदारी दूसरों पर नहीं डालता, और ऐसा करने से ही उसका नैतिकता का स्तर ऊँचा उठता है। प्रायः बालक कह देते हैं कि मुझे इसने कहा था, उसने कहा था, इसलिए मैंने ऐसा किया। उनके यह कहने का अर्थ यह होता है कि वे पर्यावरण पर सारा दोष डाल देना चाहते हैं। वैयक्तिक उत्तरदायित्व का अर्थ यह है कि विपरीत पर्यावरण उपस्थित होने पर अपनी जिम्मेवारी को समझकर पर्यावरण को बदलने का प्रयत्न करना, दूसरों के कहे पर न चलना, अपने अन्तरात्मा के अनुसार चलना, और जिम्मेदारी अपने पर लेना।

(घ) *काम कर डालने की आदत*—बड़ी-बड़ी बातें बनाना और बात है, बातें न बना कर काम करना दूसरी बात है। प्रायः लोग बड़ी ऊँची बातें किया करते हैं, क्रिया में उसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं उतारते। नैतिकता का अर्थ बातें बनाना नहीं, काम कर डालना है, जो उचित समझा उसे उचित कहते ही नहीं रहना, उस उचित को कर डालना नैतिकता है।

किसी एक-आध काम को कर डालना भी नैतिकता नहीं है। नैतिकता में तो उचित काम को कर डालने की आदत होनी चाहिए। एक-आध अच्छा काम बालक को नैतिक नहीं बनाता, अच्छे कामों को कर डालने की आदत ही उसे नैतिक बनाती है। कोई एक बार शराब पी जाय, उससे वह अनैतिक नहीं हो जाता, अनैतिकता लगातार शराब पीने की आदत डल जाने में है; कोई चुग़लख़ोर कभी किसी की तारीफ़ कर बैठे उससे वह नैतिक नहीं हो जाता, नैतिकता लगातार पर-छिद्रान्वेषण न करने में है। हमारी सामाजिक-परिस्थितियाँ अभी ऐसी नहीं हुईं कि हम इस दृष्टि को स्पष्ट तौर पर सामने रख सकें। अगर किसी लड़की से जीवन में एक भूल हो गई, तो हम उसे सदा के लिए अपनी नज़रों से उतार देते हैं, भले ही वह अपनी उस ग़लती का जीवन भर प्रायश्चित्त करती रहे; लड़के से सैंकड़ों ग़लतियाँ हो जाँय, ग़लती करने की उसकी आदत पड़ जाय, हम उसे कुछ नहीं कहते। नैतिकता पर विचार करते हुए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नैतिकता में आदत एक आवश्यक अंग है, और अगर आज हमारे समाज की परिस्थितियों में इसे भुलाया जा रहा है, तो उन परिस्थितियों को बदलना होगा।

(ङ) *सामाजिक-हित*—नैतिकता के सम्बन्ध में पाँचवीं बात यह है कि बालक को जिस काम के करने की आदत पड़े, वह सामाजिक-हित की बात होनी चाहिए। वैयक्तिक-हित को देखकर तो सब काम होते ही हैं, उसमें कोई नैतिकता नहीं है, परन्तु जिन कामों में व्यक्ति का अहित होता प्रतीत होता हो, परन्तु समाज का हित होता हो, वे काम तो अवश्य नैतिक कहे जायेंगे। यह हो सकता है कि कई काम ऐसे हों जिनमें ज़ाहिरा तौर पर समाज का कोई अहित न होता प्रतीत हो, परन्तु अन्त में जाकर उनसे समाज का अहित हो। उदाहरणार्थ, रात के २ बजे तक जागने से व्यक्ति का अहित होता है, समाज का कोई अहित नहीं होता। ऐसे कार्य नैतिकता के क्षेत्र में आते हैं, या नहीं? इसका यही उत्तर है कि क्योंकि व्यक्ति का २ बजे तक जागना समाज के लिए अहितकर हो जाता है, इसलिए ऐसे कार्यों को भी अनैतिकता कहा जा सकता है। दूसरों के कार्यों का अगर हमारे ऊपर और हमारे कार्यों का अगर दूसरों के ऊपर अहितकर

प्रभाव पड़ता है, तो वह कार्य नैतिकता-अनैतिकता के विवाद के अन्तर्गत समझना चाहिए।

२. नैतिकता के भाव का बालक में क्रमिक विकास

बालक में नैतिकता के भाव का क्रमिक विकास होता है। पहले वह किसी चीज़ को अच्छा-बुरा नहीं समझता, परन्तु धीरे-धीरे वह परिवार में, साथियों में, समाज में नैतिकता के कुछ मान-दंड देखता है। वह देखता है कि किन्हीं बातों को उसके माता-पिता, शिक्षक, संगी-साथी अच्छा समझते हैं, कुछ को बुरा। इस प्रकार वह अपनी इच्छाओं का दमन कर उन्हें समाज के मान-दंड के अनुसार ढालने लगता है। इस विकास से ही अन्तरात्मा—ज़मीर—(Conscience) का उदय होता है। सामाजिक परिस्थितियों से ही अन्तरात्मा या हमारे नैतिक मान-दंड का निर्माण होता है और समाज जिन बातों को अच्छा कहता है, उन्हें हमारा आत्मा भी अच्छा कहने लगता है, समाज जिन्हें बुरा कहता है, उन्हें हमारा आत्मा भी बुरा कहने लगता है।

नैतिकता की भावना के विकास में बालक को कुछ अच्छी नैतिक आदतें पड़ जाती हैं, कुछ बुरी अनैतिक आदतें भी पड़ जाती हैं। ये आदतें क्यों और कैसे पड़ती हैं? किसी बालक को सच बोलने की नैतिक आदत पड़ गई। कैसे पड़ी? वह घर में देखता है कि सच बोलने पर उसे शाबास दी जाती है, कभी-कभी इनाम दिया जाता है, झूठ बोलने पर मार पड़ती है। जिस नैतिक कार्य के साथ सुख का, प्रसन्नता के भाव का सम्बन्ध जुड़ जाता है, वह उसकी आदत बन जाती है, क्योंकि बालक उस कार्य को अपना लेता है, जिसके साथ प्रसन्नता का भाव नहीं जुड़ता उसे वह छोड़ देता है। इस प्रकार नैतिकता के भाव की नींव समाज द्वारा उसके भीतर रख दी जाती है। परन्तु यह भी तो देखा जाता है कि कई बालक झूठ बोलने के अनैतिक चरित्र को सीख जाते हैं, उन्हें झूठ बोलने की ही आदत पड़ जाती है। इसका भी यही कारण है कि जीवन की किसी परिस्थिति में उन्हें झूठ बोलकर कुछ सन्तोषजनक फल मिला होगा, झूठ बोलकर पैसे मिल गये होंगे, मिठाई मिल गई होगी। उनके जीवन में झूठ बोलने के साथ सन्तोष-

प्रद भाव जुड़ गया इसलिए उन्हें झूठ बोलने की आदत पड़ गई। हर हालत में पर्यावरण ने ही उन्हें नैतिक अथवा अनैतिक बनाया।

नैतिकता के विकास के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह भी ध्यान रखना होगा कि जो बालक एक बात में नैतिक है, जरूरी नहीं कि वह हर बात में नैतिक हो। अगर बालक ने किसी बात में सच बोल दिया तो इसका यह मतलब नहीं कि वह हर बात में सच ही बोलेगा, अगर उसने किसी बात में गुस्ताख़ी कर दी, तो इसका भी यह मतलब नहीं कि वह हर बात में गुस्ताख़ी ही करेगा। हो सकता है कि परिस्थिति की भिन्नता के कारण कभी वह सच बोले, कभी झूठ, कभी गुस्ताख़ी करे, कभी अदब से पेश आये। शिक्षक का काम यह है कि वह बालक की नैतिक-भावना में एक-तानता उत्पन्न कर दे, उसका चरित्र ऐसा बना दे जिससे कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो उसका चरित्र नैतिकता की सीधी लकीर पर चले। यह तभी संभव हो सकता है अगर बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' (Self-regarding sentiment) उत्पन्न हो गया है। 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' के सम्बन्ध में विशेष जानकारी इसी पुस्तक के २३वें अध्याय में मिल सकती है।

३. नैतिकता तथा चरित्र के विकास में मैक्डूगल के विचार

नैतिकता अथवा चरित्र के विकास में मैक्डूगल ने चार क्रमों का उल्लेख किया है। इनका वर्णन हमने २४वें अध्याय में किया है। वे चार क्रम हैं :—

(क) सुख-दुःख से निर्धारित चरित्र
(ख) पारितोषिक तथा दण्ड से निर्धारित चरित्र
(ग) प्रशंसा तथा निन्दा से निर्धारित चरित्र
(घ) आदर्श (आत्म-सम्मान के स्थायीभाव) से निर्धारित चरित्र।

इन चारों की विस्तृत व्याख्या के लिए २४वें अध्याय को देखना उचित रहेगा, यहाँ इनकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं।

४. नैतिक-आयु (MORAL AGE)

हम पहले 'वर्षायु' (Chronological age), 'शारीरिक-आयु' (Physiological age), 'शरीर-विज्ञानाश्रित आयु' (Anatomical

age) तथा 'मानसिक-आयु' (Mental age) का वर्णन कर आये हैं। क्या इसी तरह चरित्र-सम्बन्धी कोई 'नैतिक-आयु' (Moral age) भी मनोवैज्ञानिक मानते हैं? चरित्र के सम्बन्ध में इस प्रकार की किसी आयु का अभी तक निश्चय नहीं हो पाया है, तो भी शिक्षकों ने बालकों की चरित्र-सम्बन्धी कठिनाइयों का अध्ययन किया है, और मोटे तौर पर वे यह बताते हैं कि किस आयु में बालक की चरित्र-सम्बन्धी क्या समस्या होती है।

हैगर्टी ने ६ से १५ साल के बालकों का अध्ययन करने के अनन्तर यह पता लगाया कि लड़के ७ तथा ११ वर्ष में एवं लड़कियाँ १३ वर्ष की आयु में बुरी आदतें सीखती हैं। ब्लेट्ज़ तथा बीट ने अनेक बालकों के अध्ययन के बाद पता लगाया कि लड़के ८ तथा ९ वर्ष की आयु में शरारती होते हैं, इसके बाद १३ वर्ष की आयु में। बुरे चाल-चलन की शिकायत लड़कों में लड़कियों की अपेक्षा ज्यादा होती है। मैरो के अध्ययन के अनुसार लड़कों का चाल-चलन १५ वर्ष की आयु में ख़ास तौर से बिगड़ा हुआ पाया जाता है। इन सब अध्ययनों का अभिप्राय यह हुआ कि लड़कों तथा लड़कियों का चाल-चलन हर आयु में एक-सा नहीं होता, किसी आयु में वे तंग नहीं करते, किसी में तंग करने लगते हैं। १४, १५, १६ वर्ष की आयु ख़ास तौर पर बिगाड़ की आयु है, इसी आयु में लड़कों की शिकायतें बढ़ा करती हैं।

कारमाईकेल ने ६ से ८ वर्ष की आयु के बच्चों का अध्ययन करके पता लगाया कि इनमें से १९ प्रतिशत बच्चे दूसरों की बुराई करते थे, १७ प्रतिशत दुराग्रही थे, १५ प्रतिशत ने वस्तुओं की तोड़-फोड़ की थी, १३.५ प्रतिशत का सामाजिक-व्यवहार असफल था, १० प्रतिशत लड़ाई-झगड़े करते थे, बाकी प्रतिशत उद्दण्डता, झूठ, दूसरों के साथ उलझना आदि के अपराधों के शिकार थे। बुहलर का कथन है कि झूठ बोलने की चरम सीमा ७–८ साल की आयु में आती पायी गई है। हौलिंगवर्थ का कहना है कि १४, १५, १६ अर्थात् किशोरावस्था में बालक की अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनमें से मुख्य पाँच हैं। पहली समस्या तो यह है कि इस समय वे परिवार के बन्धनों से छूटना चाहते हैं। इस समय घर छोड़ कर भाग

जाने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है, माता-पिता के व्यवहार से असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। दूसरी समस्या लिंग-सम्बन्धी है। बालक को भिन्न-भिन्न स्थलों से स्त्री-पुरुष-भेद-सम्बन्धी ज्ञान मिलता है। इस विषय में उसकी उत्सुकता इस आयु में विशेष रूप में बढ़ जाती है, क्योंकि इस समय उसके शरीर की आन्तरिक रचना में लिंग-भेद स्पष्ट होने लगता है। जैसे दूसरी बातों में उसे आत्म-संयम सीखना होता है, वैसे लिंग-भेद सम्बन्धी बातों में भी उसे आत्म-संयम का पाठ पढ़ाना आवश्यक हो जाता है। तीसरी समस्या बालक के लिए अपना असली भाव-ताव पहचानने की है। कई बालक अपने विषय में कोई ऊँची धारणा बनाये हुए होते हैं, उनके माता-पिता भी अपने बालकों के लिए ख़याली पुलाव पका रहे होते हैं। इस आयु में बालक तथा उसके माता-पिता को उसके विषय में सही-सही अन्दाज लगाना पड़ता है क्योंकि उसी के आधार पर उसे जीविका का कोई मार्ग निश्चित करना होता है। जो लोग इस आयु में बालक के विषय में सही अन्दाज नहीं लगा सकते, वे उसके लिए सही मार्ग का निश्चय भी नहीं कर सकते। चौथी समस्या है जीवन के प्रति सन्तुलित तथा संगठित दृष्टि-कोण का उत्पन्न हो जाना। प्रायः बालकों का दिमाग़ एक तरफ़ जाता है, दिल दूसरी तरफ़ जाता है—इनकी कशमकश में वह अपना सन्तुलन खो बैठता है। अक्सर दिल के पीछे दिमाग़ को इस आयु के बालक खो बैठते हैं—इसी कारण उनकी अनेक समस्याएँ भी पैदा हो जाया करती हैं। उन सब का इलाज जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टि-कोण का उत्पन्न होना है। पाँचवीं समस्या है जीवन को एक निश्चित दिशा में चलाने की। इस आयु में बालक नदी के तिनके की तरह जीवन की धार में निरुद्देश्य बहने लगता है। जीवन को निरुद्देश्य न होने देना, किसी लक्ष्य को बना लेना बालक को संभाल लेता है।

प्रश्न

(१) नैतिकता का क्या अर्थ है?
(२) नैतिकता के भाव का बालक में विकास कैसे होता है?
(३) क्या 'मानसिक-आयु' की तरह 'नैतिक-आयु' भी होती है?
(४) नैतिकता पर पर्यावरण का क्या प्रभाव पड़ता है?

१३

बालक के विकास की मुख्य अवस्थाएं—शैशव, बाल्यकाल, किशोरावस्था

(MAIN STAGES OF DEVELOPMENT OF THE CHILD —INFANCY, CHILDHOOD, ADOLESCENCE)

बालक के विकास की तीन अवस्थाएँ—

बालक के विकास की तीन अवस्थाएँ शिक्षा की दृष्टि से मानी जाती हैं। जन्म से छः वर्ष तक शैशवावस्था; अगले छः वर्ष, अर्थात् सात वर्ष की आयु से बारह वर्ष की आयु तक बाल्यावस्था; इससे अगले छः वर्ष, अर्थात् तेरह वर्ष की आयु से अठारह वर्ष की आयु तक किशोरावस्था।

तीनों अवस्थाओं में विकास की दो दिशाएँ हैं—

इन तीनों अवस्थाओं में मानसिक-विकास की क्या दिशा रहती है, यह शिक्षक के लिए जानना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मनोविज्ञान में दो सिद्धान्त माने जाते हैं :—

(क) क्रमिक-विकास (Theory of Periodic Development)

(ख) सम-विकास (Theory of Concomitant Development)

(क) 'क्रमिक-विकास' का सिद्धान्त

मानसिक-प्रक्रियाएँ क्रम से विकसित होती हैं—

'क्रमिक-विकास' का सिद्धान्त यह है कि बालक की मानसिक-प्रक्रियाएँ एक क्रम से विकसित होती हैं। कई मानसिक-प्रक्रियाएँ शीघ्र प्रकट होती हैं, अन्य प्रक्रियाओं की अपेक्षा शीघ्र विकास पा जाती हैं, और शीघ्र ही पूर्णता तक जा पहुँचती हैं। उदाहरणार्थ, 'स्मृति' का प्रारम्भ बालक के जीवन में 'तर्क' की अपेक्षा शीघ्र प्रारम्भ होता है, शीघ्र ही यह विकसित होती है,

और शीघ्र ही वह अपनी पूर्णता तक पहुँच जाती है। इस प्रकार 'विकास-क्रम' में 'स्मृति' का क्रम 'तर्क' से पहले है। अगर यह सिद्धान्त ठीक हो, तो शैशवावस्था में 'तर्क' और किशोरावस्था में 'स्मृति' के विषय पढ़ाना असंगत होगा, क्योंकि 'तर्क' का विकास 'स्मृति' से पीछे होता है।

'क्रमिक' तथा 'सम-विकास' के सिद्धान्तों को चित्र में यूं प्रकट कर सकते हैं :—

शैशव बाल्यकाल किशोरावस्था

क्रमिक-विकास का सिद्धान्त

क ———————————————

ख ————————————

ग ——————————

घ ————————

सम-विकास का सिद्धान्त

क ———————————————

ख ———————————————

ग ———————————————

घ ———————————————

'क'-'ख'-'ग'-'घ'—चार 'मानसिक-प्रक्रियाएँ' हैं। क्रमिक-विकास के सिद्धान्त के अनुसार 'क' शैशव में विकसित होनी प्रारम्भ हो जाती है, 'ख' शैशव के कुछ काल बाद, 'ग' बाल्य-काल में, 'घ' बाल्य-काल और किशोरावस्था में। सम-विकास के सिद्धान्त के अनुसार 'क'-'ख'-'ग'-'घ' सब 'मानसिक-प्रक्रियाएँ' एक-साथ विकसित होना प्रारम्भ करती हैं।

(ख) 'सम-विकास' का सिद्धान्त

मानसिक-प्रक्रियाएँ एक-साथ विकसित होती हैं—

'क्रमिक-विकास' के विपरीत 'सम-विकास' का सिद्धान्त यह है कि जन्म से मृत्यु तक आधारभूत मानसिक-प्रक्रियाएँ वही-की-वही रहती हैं,

वे क्रम से एक-दूसरी के बाद नहीं प्रकट होतीं, उन सब का साथ-साथ विकास होता है, वे थोड़ी से बहुत तो होती हैं, परन्तु यह नहीं होता कि कोई मानसिक-प्रक्रिया पहले बिल्कुल नहीं थी, और नई ही प्रकट हो गई। सब मानसिक-प्रक्रियाओं का 'सम-विकास', अर्थात् एक-साथ ही विकास होता है। अगर यह सिद्धान्त ठीक हो, तो 'स्मृति' के विषय शैशवावस्था में, और 'तर्क' के विषय किशोरावस्था में पढ़ाने के बजाय, सभी विषय एक-साथ पढ़ाना संगत होगा। हाँ, इतना अवश्य होगा कि शैशवावस्था में जिन विषयों को प्रारम्भिक रूप में पढ़ाया जाय, उन्हीं को बाल तथा किशोरा-वस्था में उन्नत रूप में पढ़ाया जाय।

उक्त दोनों में कौन-सा मत ठीक है ?

मानसिक-प्रक्रियाओं के एक-साथ विकसित होने का सिद्धांत ही ठीक है—

वर्तमान मनोविज्ञान 'क्रमिक-विकास' के स्थान में 'सम-विकास' के सिद्धान्त को ही ठीक मानता है। यह कहना कि शिशु तर्क नहीं करता, ग़लत है। जिस समय किसी बच्चे की गेंद खो जाती है, उसी समय उसकी मानसिक-प्रक्रिया 'तर्क' के मार्ग पर चल पड़ती है। वह गेंद को खोजने लगता है। वह समझता है कि वह खोजेगा, तो गेंद को पा जायगा; न खोजेगा तो नहीं पायेगा। शिशु के मन में तर्क का यह प्रारम्भ है। इस प्रक्रिया को जितना अभ्यास मिलेगा उतनी ही वह पुष्ट होगी, और किशोरावस्था में पहुँचते-पहुँचते वह किसी विषय की गहन गुत्थियों को तर्क द्वारा सुलझाने लगेगी। छः वर्ष के बालक में भी तर्क के सभी आधार-भूत अवयव विद्यमान होते हैं। ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके तर्क के विषय 'सरल' से 'विषम' होते जाते हैं, और उसकी तर्क-योग्यता बढ़ती जाती है। जो बात 'तर्क' के विषय में कही गई है, वही अन्य मानसिक-प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है।

'मानसिक-प्रक्रियाएँ' (Mental processes) एक-साथ, परन्तु, 'प्राकृतिक-शक्तियाँ तथा स्वाभाविक-प्रवृत्तियाँ' (Instincts and General tendencies) क्रम से विकसित होती हैं—

बालक का विकास 'मानसिक-प्रक्रियाओं' (Mental processes) और 'मूलभूत प्राकृतिक-शक्तियों तथा स्वाभाविक-प्रवृत्तियों' (Fun-

damental Instincts and General tendencies) के सम्मिश्रण से होता है। 'मानसिक-प्रक्रियाओं' में 'रुचि', 'अवधान', 'तर्क', 'स्मृति' आदि समाविष्ट हैं; 'प्राकृतिक-शक्तियों तथा स्वाभाविक-प्रवृत्तियों' में 'उत्सुकता', 'संचय', 'युयुत्सा', 'काम' आदि समाविष्ट हैं। इन सभी का वर्णन पुस्तक में अपने-अपने स्थान पर किया गया है। 'मानसिक-प्रक्रियाओं' के सम्बन्ध में हमने देखा कि उनका विकास 'सम-विकास' के सिद्धान्त पर होता है। 'प्राकृतिक-शक्तियों तथा स्वाभाविक-प्रवृत्तियों' (Instincts and General tendencies) का प्रादुर्भाव बालक के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में होता है। उन्हीं का संक्षिप्त दिग्दर्शन यहाँ कराया जायगा।

१. शैशवावस्था तथा पूर्व-बाल्यावस्था
(INFANCY AND PRE-CHILDHOOD)

बालक के जीवन के प्रथम छः वर्षों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। जन्म से लेकर दो वर्ष का समय शैशवावस्था कहा जा सकता है, दो वर्ष के बाद छः वर्ष की आयु तक चार साल का समय पूर्व-बाल्यावस्था कहा जा सकता है। इनमें से पहले हम जन्म के बाद के दो वर्षों के उसके शारीरिक तथा मानसिक विकास का वर्णन करेंगे, फिर छः वर्ष की आयु तक के अगले वर्षों का।

(क) शैशवावस्था
[शारीरिक-विकास]

(*i*) *आकार तथा भार*—गर्भावस्था में अगर माता ने कैलसियम और प्रोटीन के तत्व ठीक मात्रा में लिये हैं, तो शिशु का आकार तथा भार अच्छा रहता है, अगर माता को ये तत्व कम मात्रा में मिले हैं, तो बच्चा भी कमजोर रह जाता है। जन्म के समय नव-जात का भार ६–७ पौं० होता है, ऊँचाई १९½ इंच, छाती १३½ इंच तथा सिर १४ इंच होता है। पहले दो-तीन दिनों में तो भार ४ छ० घट जाता है, परन्तु सात-आठ दिन में यह फिर बढ़ कर पहले जितना हो जाता है। इसके बाद नव-जात का वजन बढ़ने लगता है। प्रथम तीन मासों में हर हफ़्ते ७ औंस भार बढ़ता है। प्रथम वर्ष में १२ से १४ पौं० तक तथा द्वितीय वर्ष में ६ से ८ पौं०

तक उसका वज़न बढ़ जाता है। ऊँचाई जन्म के समय १९½ इंच, पहले छः महीने में वह ४–५ इंच बढ़ जाता है, अगले छः महीने में ३–४ इंच और दूसरे वर्ष शिशु की ऊँचाई ३२ इंच तक हो जाती है। इस सब से यह ज्ञात होता है कि पहले-पहल शिशु का शारीरिक-विकास बहुत तीव्र गति से होता है, उसके बाद इसकी गति मन्द पड़ जाती है, मानसिक-विकास तेज़ी से होने लगता है। पहले दो वर्षों में शिशु का भार जन्म से लगभग साढ़े तीन गुणा तथा ऊँचाई ड्योढ़ी हो जाती है।

(*ii*) *मांस-पेशियाँ*—मांस-पेशियों के विकास में शिशु की भुजाओं का विकास बहुत तेज़ी से होता है। भुजाएँ इन दो वर्षों में पौने-दो गुणी तथा टाँगें लगभग ड्योढ़ी हो जाती हैं।

(*iii*) *अस्थियाँ*—जन्म के समय शिशु की अस्थियाँ बहुत कोमल होती हैं, उनमें कार्टिलेज का भाग अधिक होता है, इसी कारण वे लचकीली होती हैं। धीरे-धीरे इनमें सख़्ती आने लगती है। अस्थियों के लचकीलेपन के कारण शिशु को एक ही मुद्रा में बैठाना या लिटाना उचित नहीं है। इससे अस्थियों में टेढ़ापन आ जाने की संभावना रहती है। बड़ा होने पर भी झुक कर बैठने से पीठ में टेढ़ापन आ जाता है। गुदगुदे गद्दे पर सुलाने से बच्चे की हड्डी देर तक झुकी रहने के कारण टेढ़ी हो सकती है। छठे महीने से शिशु के दाँत निकलने लगते हैं। इन्हें दूध के दाँत कहा जाता है। इनकी संख्या १६ होती है। दूसरे वर्ष में दाढ़ें निकलती हैं। इनके निकलने के समय शिशु की आँखें आ जाती हैं, माथा गर्म रहने लगता है, बुख़ार भी आ जाता है, पतले दस्त आते हैं, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। इस समय होम्योपैथी का कैमोमिल्ला-३० बहुत लाभ देता है, परन्तु इसकी ३–४ मात्रा से अधिक नहीं देनी चाहिए।

(*iv*) *मस्तिष्क*—पहले दो वर्षों में ही शिशु का मस्तिष्क बढ़ कर उसका भार तिगुना हो जाता है और प्रौढ़ावस्था के मस्तिष्क से एक-तिहाई ही कम रह जाता है।

(*v*) *निद्रा*—शुरू-शुरू में नव-जात दिन-रात सोता है, सिर्फ़ दूध पीने के लिए जागता है। फिर २४ घंटों में २० घंटे सोता है। प्रथम वर्ष में सोने की मात्रा २० घंटे से १४ घंटे रह जाती है। माता को बच्चे की

ऐसी आदत डालनी चाहिए जिससे वह रात को दूध के लिए न जागे, अपितु सारी रात सोता रहे। अगर माता शिशु को अलग झूले में शुरू से ही सुलाने का अभ्यास कराये तो वह सोता भी ठीक है, माता को भी कष्ट नहीं देता।

(*vi*) *मल-मूत्र-त्याग*—मल-त्याग की पेशियों पर शिशु का नियन्त्रण ६ मास की अवस्था तथा मूत्र-त्याग की पेशियों पर डेढ़ वर्ष की अवस्था में प्रारंभ होता है। इससे पहले इन अंगों पर उसका नियन्त्रण नहीं रहता और जहाँ-का-तहाँ मल-मूत्र त्यागता रहता है। दो वर्ष का होते-होते वह इन अंगों पर नियन्त्रण करना सीख पाता है। मूत्र-त्याग पर तो कई बच्चे शैशवावस्था निकल जाने पर भी रात को नियन्त्रण नहीं कर पाते और बिस्तर गीला कर देते हैं।

(*vii*) *शिशु तथा भोजन*—शुरू-शुरू में शिशु मुख द्वारा चोषण-क्रिया करता है, और जो-कुछ चूसता है उसे निगल जाता है। ४–५ मास की अवस्था तक वह इसी क्रिया द्वारा भोजन ग्रहण करता है, इसलिए उसे दूध-रस आदि द्रव पदार्थ दिये जाते हैं। छठे-सातवें महीने से चूसने के साथ-साथ वह पीने की क्रिया भी करने लगता है, इसलिए तब उसे कटोरी आदि से दूध पिलाना शुरू कर देना चाहिए। दाँत निकलने के बाद वह काटने, कुतरने लगता है, इसलिए तब उसे द्रव के साथ-साथ ठोस पदार्थ देना शुरू कर देना चाहिए। इसी लिए इस अवस्था में हमारे यहाँ अन्न-प्राशन-संस्कार किया जाता था। जिस प्रकार का भोजन शिशु कर सकता है उसके अनुरूप ही उसकी पाचन-शक्ति होती है। शरीर के विकास के अनु-रूप शिशु का भोजन होना चाहिए।

(*viii*) *शिशु तथा गति*—शिशु की शारीरिक-गतियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—सर्वाङ्गीण गति तथा विशिष्ट गति। सारे शरीर की एक-साथ गति को सर्वाङ्गीण गति कहते हैं, किसी एक अंग की गति को विशिष्ट गति कहते हैं। जब बालक भूमि पर लोट-पोट होता है, तब सब अंग गतिशील होते हैं,—यह सर्वाङ्गीण गति है, जब वह किसी वस्तु को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाता है, या चलने-फिरने लगता है तब सिर्फ़ एक

अंग गतिशील होता है—यह विशिष्ट गति है। शिशु पहले सर्वाङ्गीण गति करता है, फिर विशिष्ट गति करना सीखता है। इन गतियों के संबंध में जो छान-बीन हुई है उसके अनुसार कहा जा सकता है कि शिशु ३ मास का होने पर दूसरे को मुस्कराता देख कर मुस्कराने लगता है, ५ मास का होने पर सिर घुमाने लगता है, ६ मास का होने पर बिना सहारे बैठने लगता है, १० मास का होने पर सहारे से खड़ा होने लगता है, १ वर्ष का होने पर बिना सहारे खड़ा होने लगता है, १½ वर्ष का होने पर चलने-फिरने तथा २ वर्ष का होने पर दौड़ने लगता है। कई शिशुओं का गति-विकास कई कारणों से रुक जाता है। उदाहरणार्थ, शिशु को स्वयं कुछ न करने देने से वह उन कामों को नहीं सीख सकता जिन्हें स्वयं करके वह सीख जाता। जो लोग बच्चे को हर समय गोद में उठाये रखते हैं, वे उसके चलना सीखने में बाधा डालते हैं। बच्चे को हर प्रकार की क्रिया, हर प्रकार की गति स्वयं करने देनी चाहिए, तब उसका गति-विकास ठीक हो पाता है।

शैशवावस्था

[मानसिक-विकास]

(*i*) *शिशु तथा इन्द्रिय-जन्य अनुभव*—आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान से मानसिक-विकास होता है। शिशु की इन सभी इन्द्रियों का विकास बड़ी शीघ्रता से होता है, क्योंकि इनके विकास के बिना उसका मानसिक-विकास नहीं हो सकता। जन्मते ही शिशु संसार की विविधता को नहीं पहचानता। जन्म के बाद पहले या दूसरे महीने वह माता के स्पर्श को पहचानने लगता है; फिर माता की आवाज़ को पहचानने लगता है। पाँच या छः महीने का होने पर पिता को पहचानने लगता है। दो वर्ष का होते-होते वह 'निरीक्षण' तथा 'परीक्षण' द्वारा—वस्तुओं को छू कर, पकड़ कर, तोड़ कर—ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की सहायता से आकार, प्रकार, रंग आदि के भेद का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। बच्चे को इस आयु में जो खिलौने दिये जाँय, वे ऐसे होने चाहिएँ जिन्हें वह पकड़ सके, पटक

सके, जो रंग-विरंगे हों, जो उसकी आँखों को, कानों को, त्वचा को अपनी तरफ़ खींच सकें। इसी लिए इस समय रंग-विरंगे झुनझुने बच्चों का ध्यान बहुत खींचते हैं।

(ii) शिशु तथा भाषा का ज्ञान—शिशु अपनी इच्छाओं को पहले रुदन, फिर कलकल शब्द और फिर भाव-भंगियों द्वारा प्रकट करता है। इसके बाद वह भाषा सीखता है। भाषा सीखने में उक्त तीनों बातें सहायक हैं—इसलिए वह इन तीन क्रमों में से गुज़रता है। रोने से उसके गले की सब पेशियों को व्यायाम मिलती है इसलिए वह निरर्थक भी रोया करता है, उससे माता-पिता को परेशान होने की ज़रूरत नहीं। रोने में भी भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से उसका रुदन भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है और माता अपने बच्चे के रोने को सुन कर समझ जाती है कि वह भूख के लिए रो रहा है, दर्द के लिए रो रहा है या किसी चीज़ को लेने के लिए रो रहा है। रुदन से जब वह भाषा सीखने की नींव डाल लेता है तब इनके साथ ही वह गले से भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द करने लगता है जिन्हें हमने ऊपर कलकल-ध्वनि का नाम दिया है। कलकल-ध्वनियाँ वह जन्म के दूसरे-तीसरे महीने से शुरू कर देता है। साल भर का होने पर वह भाव-भंगियों, इशारों से अपने भाव प्रकट करता है। इन तीनों प्रक्रियाओं में से गुज़र जाने के बाद वह अनुकरण द्वारा शब्दों का उच्चारण करने लगता है। पहले वह अ-ई-ऊ आदि स्वर बोलना सीखता है, बाद को इन स्वरों के साथ व्यञ्जन भी जुड़ने लगते हैं, और वह ता, का, बा आदि बोलने लगता है। आवाज़ निकालने से बालक को आनन्द मिलता है, इसलिए वह यों ही कुछ-न-कुछ बोलता रहता है। अनुकरण से वह बोलना सीखता है, परन्तु शुरू-शुरू में उसका अनुकरण भी अशुद्ध होता है। वह 'मारूँगा' को अपना छोटा-सा हाथ उठा कर 'माऊँगा' बोलता है। कई माता-पिता स्वयं बच्चों का-सा अनुकरण करने लगते हैं। वे तो प्यार से बच्चे की तरह तुतला कर बोलते हैं, परन्तु बच्चा क्या समझे कि ये प्यार में तुतला रहे हैं। वह भी तुतलाने लगता है। माता-पिता को बच्चे के सामने शुद्ध भाषा का प्रयोग करना चाहिए ताकि वह भी शुद्ध भाषा ही सीखे।

(iii) शिशु तथा सामाजिकता—लॉक का विचार था कि शिशु का मन एक ख़ाली पट्टी के समान (Tabula rasa) है। ज्यों-ज्यों बालक संसार के संपर्क में आता है त्यों-त्यों उस ख़ाली पट्टी पर मानो लिखा जाता है। समाज-शास्त्रियों का कहना है कि शिशु की 'समाजीकरण' (Socialization) की प्रक्रिया से ही वह सीखता है। वह जो-कुछ है समाज द्वारा बनता है, समाज के सम्पर्क में वह न आये तो वह कोरा-का-कोरा रह जाता है। दो मास की अवस्था में वह दूसरों से पृथक् व्यक्तित्व को समझने लगता है, पुचकारने पर उनकी तरफ़ देखने लगता है। चौथे-पाँचवें महीने में गोद-से-गोद में जाने लगता है, जिनको पहचानता है उनकी तरफ़ आता, जिन्हें नहीं पहचानता उनसे हटता है, इस समय उसमें सामाजिकता द्वारा विकास होना शुरू हो जाता है। ऐसे समय में बच्चे के इर्द-गिर्द ऐसा सामाजिक वातावरण उत्पन्न कर देना चाहिए जिससे उसका विकास इच्छित दिशा की तरफ़ होता चला जाय। इस दृष्टि से माता-पिता तथा शिक्षक की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है।

(iv) शिशु तथा खेल—शिशु में क्योंकि संसार के सम्पर्क में आने पर सामाजिकता का विकास होता है, उससे पहले वह अपने में ही मस्त रहता है, इसलिए शैशव-काल में शिशु अपने ही अंगों से खेलता है। वह टाँगें बार-बार पटकता है, उन्हें उठाता है और पटकता जाता है। इस समय प्रकृति उसे आगामी जीवन के लिए तैयार कर रही होती है। अंगों के बार-बार चलाने से उसके अंग पुष्ट हो रहे होते हैं। इस समय वह पैर पटकता, पैर का अंगूठा पकड़ता और मानो तरह-तरह के आसन कर रहा होता है। आठवें मास के लगभग खेल में भी सामाजिकता आने लगती है, वह अपने ही अंगों के साथ खेलना छोड़ कर अपने बड़ों के साथ खेलने लगता है। बड़ों की अंगुली पकड़ कर खड़ा होना, गोद से नीचे उतर कर रिड़ना, रंगीली तथा चमकती चीज़ों को पकड़ कर उन्हें उलटना-पलटना—इन सब से उसका ज्ञान बढ़ता है।

(v) शिशु तथा बुद्धि—मनुष्य का ज्ञान संसार की वस्तुओं का ज्ञान है। घड़ा, ईंट, पत्थर—ये सब वस्तुएँ हैं। शैशव-काल में इन स्थूल वस्तुओं का ही ज्ञान होता है। जो घड़ा सामने है उसी का ज्ञान होता है,

सब घड़ों का नहीं; जो ईंट सामने है उसी का ज्ञान होता है, सब ईंटों का नहीं। परन्तु ज्यों-ज्यों शिशु की बुद्धि का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों सामने के घड़े का ही नहीं, सब घड़ों का, जो एक-समान हैं, ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार वह 'स्थूल' (Concrete) से 'सूक्ष्म' (Abstract) की तरफ़ बढ़ता है। इस सूक्ष्म से भी आगे एक कदम है। उदाहरणार्थ, सचाई, ईमानदारी आदि सूक्ष्म तत्व हैं, परन्तु इनका कोई स्थूल रूप नहीं। घड़े का विचार एक सूक्ष्म विचार है परन्तु उसका घड़े की शक्ल में स्थूल रूप दिखाई देता है, परन्तु सचाई, ईमानदारी आदि का विचार तो विचार ही है, इन विचारों की कोई स्थूल शक्ल-सूरत नहीं। शिशु का ज्ञान सिर्फ़ स्थूल-जगत् तक सीमित रहता है। वह जिस चीज़ को देखता है, जिस शब्द को सुनता है, जिस वस्तु को छूता है, उसी तक उसका ज्ञान सीमित रहता है। इन वस्तुओं के सामने न रहने पर भी इनकी सत्ता रहती है—यह बात उसके ज्ञान में नहीं होती। हाँ, जो वस्तु बार-बार उसके सामने आती है, उसके विषय में वह अवश्य सोचने लगता है कि वह सामने न होती हुई भी मौजूद है। उदाहरणार्थ, अपनी माँ के विषय में उसकी धारणा होती है कि वह सामने नहीं भी है, तो भी है जरूर क्योंकि बार-बार वह हट-हट कर सामने आती रहती है। इसी तरह अन्य 'प्रत्ययों' का उसका ज्ञान बढ़ता जाता है। दो वर्ष का होते-होते जिन वस्तुओं को वह नित्य देखता, छूता, उलटता-पलटता है उनकी सत्ता वह समझने लगता है।

शिशु का ज्ञान वस्तु के अंश या भाग का ज्ञान न होकर सर्वाङ्ग का ज्ञान होता है। सर्वाङ्ग के ज्ञान का क्या अर्थ है—इसका विस्तृत विवेचन हम तीसरे अध्याय में 'अवयवीवाद' या 'जेस्टाल्टवाद' (Gestalt school) के नाम से कर आये हैं। उसका बिल्ली का ज्ञान उसकी आँख, कान, नाक आदि अलग-अलग अवयवों का ज्ञान नहीं होता, उसका ज्ञान सारी-की-सारी बिल्ली का ज्ञान होता है। इसी लिये वर्तमान शिक्षा-शास्त्री बालक की शिक्षा अक्षराभ्यास से शुरू न करके शब्दों, तथा शब्दों की अपेक्षा भी वाक्यों से शुरू करते हैं। बालक शब्दों से वाक्य बनाने के स्थान में वाक्यों से शब्द और शब्दों से अक्षर समझना सीखे—यही ठीक 'मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया' है।

(*vi*) *शिशु तथा नैतिकता*—नैतिकता एक सामाजिक विचार है। समाज में जो-कुछ उचित-अनुचित समझा जाता है वही शिशु जन्म से सीखने लगता है। ऐसा करो, ऐसा न करो—यह माता-पिता, भाई-वहन सिखलाते हैं। कभी-कभी शिशु को ठीक काम कराने के लिए डर से काम लिया जाता है। ऐसा न करो—हौआ खा जायेगा। उसे हौआ आदि से डराने के बजाय अपने अनुकरण से ठीक काम कराना चाहिए। इसी से उसमें नैतिकता की नींव पड़ती है। जिस बात से माँ-बाप उसे मना करें उसे उन्हें स्वयं भी नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह उस काम को अनैतिकता होने के कारण नहीं, अपितु डर के कारण नहीं करता, और जब डर नहीं रहता तब उसे करने भी लगता है। वैसे शिशु जन्म से न नैतिक होता है, न अनैतिक, समाज उसे नैतिक-अनैतिक बनाता है।

(*vii*) *शिशु तथा व्यक्तित्व*—शिशु के व्यक्तित्व का निर्माण परिवार में होता है। अगर परिवार में माता-पिता, भाई-बहन सब आपस में सुख-शान्ति पूर्वक रहते हैं, उनमें लड़ाई-झगड़ा नहीं होता, तो शिशु के व्यक्तित्व का विकास भी सुचारु रूप से होता जाता है, अगर उनमें हर समय गाली-गलौज, लड़ाई-झगड़ा बना रहता है, तो शिशु के जीवन के विकास में भी बाधा पड़ती है, वह भी लड़ने-झगड़ने वाला, बात-बात में तूफ़ान खड़ा करने वाला बन जाता है। इसके अतिरिक्त शिशु के विकास की दृष्टि से कई माता-पिता या तो सर्वथा उदासीन रहते हैं, या इतने मोह में रहते हैं कि दोनों तरह से वह बिगड़ जाता है। उदासीन माता-पिता शिशु की देख-रेख ही नहीं करते, वह विकसित ही नहीं हो पाता। मोही माता-पिता शिशु को कोई काम ही नहीं करने देते, वह नकारा हो जाता है। एक तीसरी तरह के भी माता-पिता होते हैं जो हर समय शिशु को यह सिखा-वह सिखा—इस प्रकार शिक्षा देते रहते हैं कि उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व ही पनपने नहीं पाता। इन सब में मध्य-मार्ग ही सर्व-श्रेष्ठ है। माता-पिता न तो सर्वथा उदासीन रहें, न सर्वथा मोह-वश हो जायें, न उसके हर काम में हर समय दखल ही देते रहें। इस प्रकार शैशव-काल से ही शिशु का व्यक्तित्व ठीक ढंग से विकसित होने लगता है।

(ख) पूर्व-बाल्यावस्था

[शारीरिक-विकास]

बालक के जीवन के प्रथम छः वर्षों को हमने दो भागों में बाँटा था—प्रथम दो वर्ष तथा अगले चार वर्ष। प्रथम दो वर्षों को शैशवावस्था तथा अगले चार वर्षों को पूर्व-बाल्यावस्था कहा जाता है। शैशवावस्था के शारीरिक तथा मानसिक विकास का हम वर्णन कर चुके, अब पूर्व-बाल्यावस्था के शारीरिक तथा मानसिक विकास का वर्णन करना है।

(i) पूर्व-बाल्य में आकार तथा भार—जन्म के बाद के पहले तीन वर्षों में बालक जन्मावस्था से दुगुना हो जाता है। इतनी बढ़ती फिर कभी नहीं होती। तीन वर्ष के बाद छः वर्ष की अवस्था तक पहले तीन साल में प्राप्त किये हुए शारीरिक विकास पर काबू पाने के लिए मानो बालक रुक-सा जाता है ताकि पहले प्राप्त की हुई शारीरिक-शक्ति को पचा कर आगे बढ़ सके। इस समय लम्बाई में लड़कियाँ लड़कों से और भार में लड़के लड़कियों से आगे निकले होते हैं। माता-पिता इस समय बच्चे की बढ़ती रुकती देख कर शिकायत करने लगते हैं, परन्तु इसमें कुछ भी अस्वाभाविकता नहीं है।

(ii) पूर्व-बाल्य में मांस-पेशियाँ—इस समय बच्चे की मांस-पेशियों में लचकीलापन होता है, इसलिए वह हाथ-पैर तथा अंग-प्रत्यंग का खूब संचालन करता है, इनसे तरह-तरह के काम लेता है—दौड़ता है, उछलता है, हाथा-पाई करता है। किसी भी कौशल को सीखने में मांस-पेशियों से बहुत काम लिया जाता है, इसलिए अपने शरीर से वह भिन्न-भिन्न क्रियाओं को दोहराता है। ये सब शिक्षा में सहायक हैं।

(iii) पूर्व-बाल्य में अस्थियाँ—शैशव के समय की अस्थियों का लचकीलापन इस समय भी होता है। धीरे-धीरे कार्टिलेज के भागों का अस्थीकरण होने लगता है, परन्तु अभी छः वर्ष की अवस्था तक लचकीलापन काफ़ी मात्रा में बना रहता है। इस आयु में क्योंकि बच्चा बैठना सीख जाता है, इसलिए पीठ टेढ़ी न हो जाय—इसकी तरफ़ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता रहती है।

(*iv*) *पूर्व-बाल्य में निद्रा*—यद्यपि शिशु की निद्रा धीरे-धीरे कम होने लगती है, तो भी ६ वर्ष की अवस्था तक बच्चे को कम-से-कम १३ घंटे अवश्य सोना चाहिए। इससे कम सोने से उसके विकास में बाधा पड़ती है। इसलिए किंडरगार्टन आदि स्कूलों में बच्चों के सोने का समय भी निश्चित किया जाता है।

(*v*) *पूर्व-बाल्य में मल-मूत्र त्याग*—आयु के तीसरे-चौथ वर्ष बालक का मूत्रेन्द्रिय पर नियन्त्रण हो जाता है, और वह बिस्तर भिगोना बन्द कर देता है। कभी-कभी मारने-पीटने से बच्चे का मल-मूत्र निकल जाता है जिसका अर्थ है कि उत्तेजित अवस्था में वह इन मलों का अवरोध नहीं कर सकता। बच्चे के जीवन में इस प्रकार की उत्तेजना की अवस्थाएँ नहीं आनी चाहिएँ।

(*vi*) *पूर्व-बाल्य में भोजन*—दो से छः साल की आयु में क्योंकि बच्चे के दाँत निकल आते हैं, इसलिए उसका भोजन द्रव न रहकर ठोस हो जाता है, परन्तु साथ ही भोजन की मात्रा बहुत स्वल्प रहती है। उसकी इस स्वाभाविक विकास की अवस्था को जान कर ही उसे भोजन देना चाहिए।

(*vii*) *पूर्व-बाल्य में गति*—जब से शिशु पैरों से चलना सीख जाता है, तब से वह दौड़ना, कूदना आदि सभी प्रकार की शारीरिक-क्रियाएँ करना शुरू कर देता है। हाथों से भी वह सब तरह के कार्य करने लगता है। इस समय वह एक ही क्रिया को बार-बार दोहराता है जिससे उस कार्य के करने की उसमें कुशलता आ जाती है। इन शारीरिक गतियों का उद्देश्य उसे उन कुशल-कार्यों के लिए तय्यार करना है जो उसे आगामी जीवन में करने हैं। इसी आयु में कई बच्चे बायें हाथ से बार-बार काम करने के कारण खब्बू हो जाते हैं, परन्तु अच्छा यही है कि बच्चा दायें हाथ से काम करना सीखे, और आवश्यकता पड़ने पर बायें हाथ से भी काम कर सके। इस समय बच्चे ट्राई-सिकल पर चढ़ने लगते हैं जिससे टाँगों की मांस-पेशियाँ संधती और कार्य के लिए अभ्यस्त हो जाती हैं।

पूर्व-बाल्यावस्था
[मानसिक-विकास]

(i) पूर्व-बाल्य में इन्द्रिय-जन्य अनुभव—एक साल की आयु में बच्चा दूर-पास, बड़ा-छोटा, गोल-नोकीला, ऊपर-नीचे का भेद अनुभव करने लगता है। १८ मास की आयु में बक्से में फ़िट आने वाले १६ घन-टुकड़ों में से १३ को बक्से में डाल सकता है। दो वर्ष की आयु में वह इन सभी सोलहों टुकड़ों को दो मिनट में बक्से में फिट कर लेता है। अढ़ाई वर्ष की आयु में वह भिन्न-भिन्न रंगों की पहचान करने लगता है। अढ़ाई के बाद इन्द्रियों को साधने वाले सभी प्रकार के खिलौनों में वह रुचि दिखलाने लगता है और मॉन्टीसरी के अनेक उपकरणों का प्रयोग कर सकता है। पाँच वर्ष की आयु में अक्षरों को एक-दूसरे से पृथक् समझने लगता है और भिन्न-भिन्न आकृतियों के भेद को अनुभव करके बता सकता है। ५–६ वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते वह खेल तथा मांस-पेशियों के अभ्यास द्वारा अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को काफ़ी साध लेता है। माता-पिता तथा शिक्षक का कर्त्तव्य है कि जहाँ तक हो सके बच्चे की इन्द्रियों को यथार्थ ज्ञान ग्रहण करने के अवसर दें ताकि वह अपनी इन्द्रियों से जो ज्ञान ग्रहण करे उसमें अस्पष्टता न हो। इन्द्रियों से जितने स्पष्ट अनुभव होंगे उतनी ही विचार में स्पष्टता आयेगी।

(ii) पूर्व-बाल्य में भाषा का ज्ञान—दो वर्ष की आयु के बाद बच्चे का भाषा का ज्ञान बड़ी तेजी से बढ़ने लगता है। अब तक वह ज्यादातर इशारों से, मुख के हाव-भाव से काम चलाता था, अब वह शब्दों का सहारा लेने लगता है, और ज्यों-ज्यों दो से छः वर्ष की आयु तक बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका शब्द-कोष तेजी से बढ़ने लगता है। अब वह इशारों के स्तर पर न रहकर शब्दों के स्तर पर आ जाता है। शब्दों के उच्चारण के लिए उसका गले का उपकरण भिन्न-भिन्न निरर्थक ध्वनियाँ निकालने के कारण सध चुका होता है, अब अनुकरण की प्राकृतिक-शक्ति के कारण अपने से बड़ों की शब्द-ध्वनियों का अनुकरण करके वह शब्दों तथा छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करने लगता है। इस समय माता-पिता जितने छोटे-छोटे तथा शुद्ध वाक्य उसके सम्मुख प्रयुक्त करेंगे उतनी ही

उसकी भाषा शुद्ध होगी। बच्चा कितनी जल्दी भाषा सीखता है, इसका उदाहरण बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में पाया जाता है, जहाँ अनेक भाषाओं को बोलने वाले एक-साथ रहते हैं। वहाँ चार-चार, पाँच-पाँच वर्ष के बच्चे दो-दो, तीन-तीन भाषाएँ बड़ी आसानी से सीख जाते हैं जबकि बड़े लोग इन भाषाओं को नहीं सीख पाते। भिन्न-भिन्न पेशे वालों का उनके बच्चों के भाषा सीखने पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। एक अध्यापक का बच्चा जितनी शुद्ध भाषा तथा जितने शब्दों का प्रयोग करना सीख जाता है, मजदूर का बच्चा भाषा-विकास में उतनी उन्नति नहीं कर पाता। इस समय बच्चे में जिज्ञासा इतनी होती है कि उत्तर सुनने से पहले ही अगला प्रश्न कर देता है। अपने प्रश्नों का उत्तर पाते-पाते उसका शब्द-कोष बढ़ता जाता है। पहले-पहल वह छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग करता है। सिर्फ़ 'टट्टी' कहने से उसका अभिप्राय होता है--'टट्टी आयी है'। नाइस का कहना है कि ४ से १२ मास की अवस्था तक एक शब्द से भाव प्रकट करने की आयु होती है, १३ से २७ मास की अवस्था तक वाक्य-प्रयोग करने की शुरूआत की आयु होती है, ३ से ५ साल तक ४–५ शब्दों को मिला कर छोटे-छोटे वाक्य बनाने की आयु होती है और ४ वर्ष की आयु से बच्चा पूर्ण, शुद्ध वाक्य बनाने लगता है। इसी प्रकार पहले-पहले बच्चा आश्चर्यसूचक तथा विस्मय-बोधक शब्द सीखता है, फिर अपने दिन-रात के काम आने वाली संज्ञाएँ सीखता है। फिर क्रियाएँ, फिर क्रिया-विशेषण, फिर विशेषण और अन्त में संबंध-सूचक शब्द सीखता है।

इस आयु में भाषा-ज्ञान में कई अशुद्धियाँ भी वह सीख जाता है। उदाहरणार्थ, कई बच्चे 'स' को 'फ' बोलने लगते हैं, कई 'स' को 'श' और 'श' को 'स'। 'नमस्कार' को बड़े-बड़े लोग 'नमश्कार' कहते हैं। 'सोश्यल' को 'सोसल', 'स्टेशन' को 'इस्टेशन'। इन सब अशुद्धियों की नींव इस आयु में पड़ती है, इसलिए माता-पिता तथा बड़ों का कर्त्तव्य है कि अपने उच्चारण को शुद्ध रखें क्योंकि बच्चा उन्हीं के अनुकरण से सीखता है।

(*iii*) *पूर्व-बाल्य में सामाजिकता*—टाँगें लगते ही बालक घर से बाहर दौड़-धूप करने लगता है। वह अपने छोटे-से संसार से बाहर के दायरे के

साथ संबंध जोड़ने के लिए उत्सुक हो जाता है। माताएँ अक्सर अपने बच्चे को ढूँढने में परेशान फिरा करती हैं---'न-जाने मुन्ना किधर निकल गया'। इस समय उसमें सामाजिकता विकसित होने लगती है, वह खेल के साथियों के साथ गली-से-गली दौड़ा फिरता है। पहले उसके व्यक्तित्व पर माता-पिता की छाप पड़ी, अब अपने साथियों की छाप पड़ने लगती है, बालक-रूपी बीज मानो सामाजिकता की भूमि से रस पाकर फूलने-फलने लगता है। छोटे-छोटे बच्चे अपनी आयु के संगी-साथियों के साथ टोलियाँ बना कर खेला करते हैं। पूर्व-बाल्यावस्था के बाद उत्तर-बाल्यावस्था में बच्चों के जो 'गिरोह' बन जाते हैं उनकी ये टोलियाँ श्रीगणेश होती हैं। बच्चे का व्यक्तित्व बाहर के सामाजिक-वातावरण में घर के संस्कारों की छाप में पनपता है। अगर घर में उसमें आत्म-विश्वास की भावना उत्पन्न हुई है, तो समाज में वह नेतृत्व की भावना को विकसित करता है; अगर घर में मार-पीट और दब्बूपन में वह रहा है, तो समाज में भी वह डरपोक और दब्बू बन जाता है। किसी-किसी में सामाजिक संपर्क की प्रतिक्रिया ठीक उल्टी होती है। घर के आत्म-विश्वासी दब्बू और घर के दब्बू बाहर आत्म-विश्वासी बन जाते हैं। यह सब सामाजिक-सम्पर्क के रूप पर निर्भर रहता है। बालक समाज में अपनी उन 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) से सीखता है जिनका वर्णन हम पाँचवें अध्याय में कर आये हैं।

(*iv*) *पूर्व-बाल्य में खेल*---जन्म के बाद दो वर्ष तक बालक अंगों के विकास न होने के कारण तथा छः वर्ष के बाद पढ़ाई आदि में लग जाने के कारण उतना नहीं खेल सकता जितना दो से छः वर्ष के भीतर खेल सकता है। इस समय तो खेल के सिवाय उसके पास कोई धंधा भी नहीं होता। सवेरा होते ही वह खेल के लिए गलियों में निकल पड़ता है और खाने तथा सोने के लिए ही घर आता है। अब तो शिक्षा-विज्ञ खेल को उतना ही महत्त्व देने लगे हैं जितना शिक्षा को क्योंकि खेल शिक्षा का एक बड़ा भारी साधन है। फ्रिबल तथा मॉन्टीसरी ने इस अवस्था के बालकों के लिए खेल के कई ऐसे उपकरण बनाये हैं जिनसे खेल-खेल में बच्चा बहुत-कुछ सीख जाता है। इन उपकरणों द्वारा खेलने से बच्चे की अनेक मानसिक-शक्तियों का

विकास होता है। इस समय बच्चे को सब तरह की सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए—रेता, पानी, मट्टी, ईंटें—सब कुछ। वह इनसे खेलता है और खेलते-खेलते अपने सब अंगों को काम के लिए साधता जाता है। उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग, भिन्न-भिन्न आकार की वस्तुएँ देने से उनके द्वारा खेल में वह बहुत-कुछ सीख जाता है। खेल द्वारा वह अंगों का संतुलन सीखता है, और घंटों खेलता जाता है जिससे उसके भावी स्वास्थ्य की नींव भी दृढ़ हो जाती है। किस आयु में खेल का कौन-सा उपकरण ठीक रहेगा—इसका विस्तृत विवेचन फ्रिवल तथा मॉन्टीसरी ने अपनी-अपनी शिक्षा-पद्धतियों में किया है। जो इस विषय में अधिक जानना चाहें वे हमारे 'शिक्षा-शास्त्र' के 'किंडरगार्टन-पद्धति'-नामक अध्याय को पढ़ें।

(*v*) *पूर्व-बाल्य में बुद्धि का विकास*—पूर्व-बाल्यावस्था में बच्चे में तर्क की शक्ति होती है, या नहीं—इस पर देर से विद्वानों में मत-भेद रहा है। पाएजेट (Piaget) का कथन है कि सात वर्ष से कम आयु के बालक में तर्क-शक्ति नहीं होती, बच्चे तथा वयस्क के विचार में मौलिक भिन्नता होती है, बच्चा जड़ को भी चेतन समझता है, वस्तुओं के भेद को नहीं समझता। हैज़लिट (Hazlitt) तथा अन्य शिक्षा-विज्ञों का कथन है कि ऐसी बात नहीं है, बच्चा अपने ढंग का तर्क करता ही है। अनुभव से सिद्ध हुआ है कि यद्यपि ५–६ वर्ष का बच्चा वयस्क की तरह युक्तियाँ नहीं कर सकता, तो भी उसके अपने संसार का जहाँ तक उसे अनुभव है, उसके आधार पर अपने विकास के स्तर के अनुसार वह युक्ति अवश्य करता है। पूर्व-बाल्य-काल की युक्ति-शृंखला अपने ढंग की होती है, उत्तर-बाल्य-काल की अपने ढंग की, और वयस्क-काल की अपने ढंग की। शुरू-शुरू में विचार इन्द्रियों के अनुभवों के साथ बंधा हुआ होता है, धीरे-धीरे वह इन्द्रियों से अलग होकर स्वतंत्र रूप धारण करता है। उदाहरणार्थ, बच्चे के लिए पहले काला का अर्थ काली बिल्ली होता है, क्योंकि बालक को कालेपन और बिल्ली के एक-साथ रहने का अनुभव होता है, परन्तु इन दोनों को वह अपनी इन्द्रियों के अनुभव तथा विचार की शृंखला से अलग करता है। ६ वर्ष के बालक को कालेपन का अलग-से, और बिल्ली का

अलग-से ज्ञान सिद्ध करता है कि उसकी तर्क-शक्ति निम्न-स्तर पर वयस्क से भिन्न न होकर उसी जैसी है। बच्चों की बातों को ध्यान से सुनने से पता चलता है कि वे तर्क करते हैं, युक्तियाँ करते हैं, परन्तु उनका तर्क और उनकी युक्तियाँ अपने ढंग की होती हैं।

बालक में जिज्ञासा प्रबल होती है। वह हर समय 'यह क्या है', 'वह क्या है'—ऐसे प्रश्न किया करता है। 'क्यों' की बारी ज़रा देर में आती है, परन्तु 'क्या' के बाद चौथे-पाँचवें वर्ष में 'क्यों' का सिलसिला छिड़ ही जाता है। इस आयु में बालक का वस्तुओं के आकार-प्रकार का ज्ञान पहले से ज्यादा स्पष्ट होने लगता है। तीन वर्ष की अवस्था में बच्चा साथ-साथ पड़ी दो छोटी-बड़ी चीज़ों को और पाँच वर्ष की अवस्था में साथ-साथ पड़ी अनेक छोटी-बड़ी चीज़ों को उनकी तुलना करके पहचान सकता है। भार की तुलना का ज्ञान उसे अभी नहीं होता। समय और संख्या का ज्ञान भी इस आयु के बाद ही हो पाता है। फिर भी यह सब-कुछ घर के वातावरण पर निर्भर करता है। अगर घर का वातावरण इन सब बातों के शीघ्र ज्ञान के उपयुक्त है, तो उसे इन सब बातों का ज्ञान शीघ्र हो जाता है।

(*vi*) *पूर्व-बाल्य में नैतिकता*—दो वर्ष की अवस्था के बाद बच्चा यह समझने लगता है कि यह बात करनी चाहिए, यह नहीं करनी चाहिए। माता-पिता, भाई-बहन का उचित-अनुचित का जो मान-दंड होता है, वही बच्चे का बनने लगता है। माता-पिता का मान-दंड समाज के मान-दंड पर आश्रित है, इसलिए बच्चा इस समय एक तरह से समाज के नैतिकता के मान-दंड को सीखने लगता है। परन्तु अभी क्योंकि बालक अमूर्त विचार करने के स्तर पर नहीं पहुँचा होता, इसलिए उचित-अनुचित के संबंध में वह अमूर्त नैतिक-धारणाओं तक नहीं पहुँचता। उदाहरणार्थ, वह यह तो समझ जाता है कि भाई के साथ झगड़ना ठीक नहीं, परन्तु यह नहीं समझता कि अहिंसा की भी एक भावना है; यह तो समझ जाता है कि जो-कुछ पूछा जाय ठीक-ठीक बता दे, परन्तु यह नहीं समझता कि सत्य की भी एक भावना है। इस आयु में माता-पिता बच्चे की उचित कार्य में

प्रशंसा तथा अनुचित में निंदा द्वारा उसकी नैतिकता की भावना को दृढ़ कर सकते हैं। जो लोग मार-पीट से बच्चे को नैतिकता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं, वे उसमें भय की भावना पैदा कर देते हैं, और जब बच्चे को डर नहीं रहता तब वह अनैतिक कार्य करने से नहीं चूकता।

(*vii*) *पूर्व-बाल्य में व्यक्तित्व*—दो वर्ष से पहले का बालक माता-पिता की छाया में रहता है, इसलिए उसके व्यक्तित्व के विकास पर परिवार का प्रभाव पड़ता है, दो से छः वर्ष का बालक घर तथा बाहर दोनों पर्यावरणों के संस्कारों को लेने लगता है, इसलिए उसके व्यक्तित्व के विकास में माता-पिता के अतिरिक्त बाहर का भी प्रभाव पड़ने लगता है। घर का उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव कैसे पड़ता है? उदाहरणार्थ, या तो वह माता-पिता की पहली सन्तान है, या दूसरी या तीसरी-चौथी। पहली और इकली सन्तान अपने को घर में सब-कुछ समझने लगती है, माता-पिता का ध्यान भी उस पर ही केन्द्रित रहता है, वे उसे अत्यन्त लाड़-प्यार से पालते हैं। परिणाम यह होता है कि अत्यन्त लाड़-प्यार से वह हठी, दुराग्रही हो जाता है, अपनी ही चलाता है। उसकी अगर कोई भी, छोटी-सी भी इच्छा पूर्ण न हो तो उदासीन और निराश हो जाता है। अगर वह इकली न होकर पहली सन्तान है, तो उसका जब दूसरा भाई-बहन होता है, तब माता-पिता का ध्यान पहले से हट कर दूसरे की तरफ़ चला जाता है। इससे पहले में ईर्ष्या-द्वेष पैदा हो जाता है। इन्हीं बातों से तो व्यक्तित्व का निर्माण होता है, इसलिए माता-पिता को इन बातों का ध्यान रखना चाहिए। घर से बाहर के पर्यावरण का उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव कैसे पड़ता है? बाहर के अपने साथी-संगियों में कोई हृष्ट-पुष्ट, कोई कमजोर होता है। जो हृष्ट-पुष्ट होता है, उसके पीछे सब लग लेते हैं, वह सब को डराता-धमकाता है, मारता-पीटता है। अगर बच्चा किसी ऐसे बच्चे की घुड़की में आ गया तो वह सब को खेलता देख कर भी दूर-दूर खड़ा खेल की वस्तु के लिए तरसा करता है। अक्सर बच्चे खुद के कमज़ोर होने की पर्वाह नहीं किया करते, अपने से मजबूत से भी जा टकराते हैं। जब उन्हें अपने निर्बल होने का ज्ञान हो जाता है तब वे दबने लगते हैं।

(ग) शैशव तथा पूर्व-बाल्यावस्था में प्रेम-भावना

(उद्वेगात्मक-विकास)

शिशु की प्रेम-भावना स्वार्थमयी होती है। वह अपने ही में मस्त रहता है, उसके मन में दूसरे के लिए प्रेम नहीं होता। यह अवस्था 'स्वात्म-प्रेम' (Auto-erotism) की अवस्था है। इसे मनोविश्लेषणवादी 'नारसिस्सिज्म' (Narcissism) कहते हैं, क्योंकि ग्रीक कथानक के अनुसार 'नारसिस्सस'-नामक व्यक्ति तालाब में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने पर ही आसक्त हो गया था। दो या तीन वर्ष की अवस्था में बच्चा यह देखने लगता है कि उसकी माता उसके अतिरिक्त उसके पिता से भी प्रेम करती है। फ्रॉयड महोदय का कथन है कि बच्चा इस बात को सहन नहीं कर सकता कि उसकी माता उसके अलावा किसी से प्रेम करे। परिणाम-स्वरूप, बच्चा अपने पिता को अपने मार्ग में काँटा समझने लगता है, और इसी कारण घर में कभी-कभी अकारण झगड़े करता है, चीखता है, क्रोध, हठ और जिद्द करता है। जब पिता उसे कभी डाँटता है, तो वह समझता है कि पिता मेरी ईर्ष्या का मुझसे बदला ले रहा है। मनोविश्लेषण-वादी कहते हैं कि बालक माता से प्रेम करता है, और पिता से घृणा करता है। इस 'पितृ-विरोधी-ग्रन्थि' को वे 'इडीपस कौम्प्लैक्स' (Edepus Complex) कहते हैं। 'इडीपस' एक ग्रीक बालक था जो बचपन में मरने के लिए छोड़ दिया गया था, परन्तु किसी तरह वह बच गया। अन्त में उसने अपने पिता को मारा और माता से, यह न जानते हुए कि वह उसकी माता है, शादी कर ली। बालिका पिता से प्रेम करती है, और माता से घृणा। इस 'मातृ-विरोधी-ग्रन्थि' को 'एलेक्ट्रा कौम्प्लेक्स' (Elektra Complex) कहते हैं क्योंकि 'एलेक्ट्रा' नामक लड़की ने अपने पिता के प्रेम में, अपने भाई की सहायता द्वारा, अपनी माता का वध कर दिया था। मनोविश्लेषणवादियों का कथन है कि धीरे-धीरे जब बालक देखता है कि पिता उससे अधिक शक्तिशाली है, या बालिका देखती है कि वह अपनी माता का कुछ बिगाड़ नहीं सकती, तो छः वर्ष की आयु तक वे उनसे सुलह कर लेते हैं। जो नहीं कर सकते, और जिन्हें ये भावनायें दबानी पड़ जाती हैं, उनके व्यवहार में अनेक असाधारण बातें उत्पन्न हो जाती हैं।

२. उत्तर-बाल्यकाल अथवा बाल्यावस्था (CHILDHOOD)

बाल्यावस्था में शारीरिक-विकास के दो भाग—'संचय' तथा 'परिपाक'—

पूर्व-बाल्यावस्था के बाद उत्तर-बाल्य-काल, अर्थात् बाल्यावस्था आती है। इसका समय भी छः वर्ष का है। यह सात वर्ष की आयु से बारह वर्ष की आयु तक रहती है। जैसे हमने शैशवावस्था में देखा था कि पहले तीन साल वृद्धि होती है, अगले तीन साल तक संचित वृद्धि का परिपाक होता है, उसी तरह उत्तर-बाल्यकाल अथवा बाल्यावस्था के पहले भाग में—सात से दस वर्ष की आयु तक—संचय होता है, अगले भाग में परिपाक। बाल्यावस्था के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि १० से १२ वर्ष तक जब कि संचित किये अनुभव का परिपाक हो रहा होता है, और आगामी वृद्धि रुकी होती है, तब बालक स्थिर-चित्त हो चुका होता है, उसके लिए दुनिया कोई नई चीज नहीं रह जाती। परन्तु बाल्यावस्था से किशोरावस्था में जाते ही फिर यह स्थिर-चित्तता नष्ट हो जाती है, और किशोर फिर से शिशु की तरह अस्थिर हो जाता है। जैसे शिशु के लिए दुनिया नई थी, वैसे किशोर को भी दुनिया फिर नई-सी दीखने लगती है, और वह शिशु की तरह डगमगाया-सा ही फिरता है।

बाल्यावस्था में मानसिक-विकास—

इस अवस्था में बालक में 'रचनात्मक-प्रवृत्ति', 'उत्सुकता' तथा 'अनुकरण' की प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं, जिनका विस्तृत वर्णन छठे अध्याय में किया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त इस अवस्था में बालक में 'सामाजिक' (Social) तथा 'नैतिक' (Moral) विचार अपने ही ढंग के विकास पाते हैं जिनके विषय में शिक्षक को कुछ जान लेना आवश्यक है।

बाल्यावस्था में 'सामाजिक' तथा 'नैतिक' विकास—

लगभग दस वर्ष की आयु के पहले-पहले बच्चा इकला भी खेल लेता है, परन्तु बाद को वह इकला नहीं खेलता। वह स्वयं अपने कोई-न-कोई साथी चुन लेता है, और कुछ दिन बाद वह अपने मोहल्ले के किसी-न-किसी

'गिरोह' का अंग बन चुका होता है। हर शहर, हर मोहल्ले, और हर गली में बच्चों के गिरोह बने होते हैं, जिनका शायद माता-पिता को ज्ञान भी नहीं होता। पहले तो 'समाजीकरण' (Socialization) की प्रक्रिया में माता-पिता को अपना दिमाग़ लड़ाना पड़ता है, समाज इस बात को अच्छा मानता है, इसे बुरा—यह सब-कुछ सिखाना पड़ता है, परन्तु अब यह प्रक्रिया माता-पिता के हाथ से निकल कर साथी-मित्रों और समाज के हाथ में चली जाती है। पहले बच्चा अधिक समय घर में बिताता था, अब घर को वह खाने, पीने और सोने की जगह मात्र समझता है, अपना असली स्थान वह घर के बाहर ही अपने 'गिरोह' या अपनी 'टोली' में बना लेता है। इस 'समाजीकरण' की प्रक्रिया से ही बालक के 'नैतिक-भाव' का निर्माण होता है। वह कैसे ? 'समाजीकरण' के बाद 'नैतिक-भाव' बनने की प्रक्रिया बड़ी दिलचस्प है। इस गिरोह के कोई लिखित नियम नहीं होते, कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होते, तो भी गिरोह का प्रत्येक सदस्य 'गिरोह-परस्त' होता है। अपने इन साथियों का सम्मान पाने के लिए बालक माता-पिता से, गुरुओं से, किसी से भी, झूठ बोल सकता है, गिरोह के लिए किसी तरह का भी त्याग कर सकता है। किसी गिरोह का सदस्य होते ही बालक अपना नैतिकता का एक 'मान-दण्ड' बना लेता है, और उसी के अनुसार व्यवहार करता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक को उचित 'गिरोह' बनाने में सहायता दे। जब कोई बालक सुधरता नज़र न आये, तो उस बालक के 'गिरोह' की तलाश करके गिरोह की प्रेरणा द्वारा बालक का शीघ्र ही सुधार किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक इस आयु को 'टोली' या 'गिरोह' की आयु कहते हैं।

बाल्यावस्था में व्यक्तित्व का विकास—

बाल्यावस्था में बालक में 'जिज्ञासा' बढ़ जाती है। इसका वर्णन हम छठे अध्याय में कर आये हैं। इस समय उसमें आत्माभिव्यक्ति, आधिपत्य, उत्तरदायित्व, क्रियाशीलता—सब बढ़ जाती हैं। अब तक वह स्थूल जगत् में विचरता था, अब उसमें अवलोकन, स्मृति, तर्क, कल्पना का उदय होता है। यह विद्या प्रारंभ करने का समय है, इसलिए वह माता-पिता के तथा भाई-बहन के अतिरिक्त गुरुजनों तथा सहपाठियों के सम्पर्क में आने

लगता है। इस प्रकार उसका सामूहिक जीवन शुरू होता है जिसमें उसे सहकारिता, उदारता, नेतृत्व आदि गुणों को अपने व्यक्तित्व में लाने का अवसर मिलता है। इस समय वह आत्म-संयम, अनुशासन, दूसरों की इच्छाओं का आदर करना भी सीखने लगता है। इस समय बालक के हृदय में सामाजिक आदर्शों की नींव डाली जा सकती है। अक्सर गुरु-जन या सहपाठी इस आयु में बालक में किसी त्रुटि को देखकर उसका उपहास करने लगते हैं। इससे उसमें आत्म-हीनता की भावना पैदा हो जाती है, वह संकोची स्वभाव का हो जाता है। शिक्षकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस आयु के बालकों के साथ ऐसा व्यवहार न करें जिससे उनके व्यक्तित्व के निर्माण में किसी प्रकार की भावना-ग्रन्थि पड़ने की सम्भावना रहे।

बाल्यावस्था में प्रेम-भावना या उद्वेगात्मक-विकास—

शैशवावस्था में प्रेम-भावना का विश्लेषण करते हुए हमने कहा था कि छः वर्ष की आयु में बालक पिता से सन्धि कर लेता है। इस अवस्था से उसकी 'प्रेम-भावना' माता-पिता के क्षेत्र से बाहर जाने लगती है। लड़का अपने साथ के लड़कों के साथ प्रेम करने लगता है, और लड़की अपने साथ की लड़कियों के साथ। शैशवावस्था तथा किशोरावस्था में 'विभिन्न-योनिता' (Hetero-sexuality) का नियम काम करता है, इन अवस्थाओं में विरोधी-लिंग के व्यक्ति के प्रति आकर्षण होता है, बाल्यावस्था में 'सम-योनिता' (Homo-sexuality) का नियम काम करता है, इस अवस्था में लड़कों का लड़कों के साथ और लड़कियों का लड़कियों के साथ प्रेम पाया जाता है।

३. किशोरावस्था (ADOLESCENCE)

किशोर में शिशु-की-सी अवस्था आती है—

किशोरावस्था का समय भी छः वर्ष का होता है। यह तेरह वर्ष की अवस्था से अठारह वर्ष की अवस्था तक रहती है। किशोरावस्था में फिर से शैशवावस्था के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। शैशवावस्था से बाल्यावस्था में आने पर बालक में जो स्थिरता आ गयी थी, वह अब फिर खो जाती है,

क्योंकि जैसे शिशु एक नई दुनिया में आया था, वैसे किशोर भी भीतर के शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों के कारण एक नई ही दुनिया में होता है। किशोरावस्था के आते ही 'शरीर' तथा 'मन' में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं कि मनोवैज्ञानिकों में इन परिवर्तनों के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं :—

(क) 'त्वरित-विकास' (Theory of Saltatory Development)
(ख) 'क्रमशः-विकास' (Theory of Gradual Development)

(क) 'त्वरित-विकास' का सिद्धान्त

हॉल का मत—किशोरावस्था के लक्षण छलांग मार कर आते हैं—

श्रीयुत हॉल ने १९०४ में 'किशोरावस्था' (Adolescence) पर एक ग्रन्थ प्रकाशित किया और तब से यह माना जाने लगा कि इस अवस्था के आते ही 'शरीर' तथा 'मन' में बिल्कुल ऐसी नवीनता आ जाती है जिसका शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था से सम्बन्ध ही नहीं होता। 'किशोरावस्था' मानो एक नया जन्म होता है। मनुष्य के लिए जिन ऊँची मानसिक-शक्तियों की आवश्यकता है, वे इस समय उत्पन्न होती हैं। सुदूर-भूत में जब कभी मानव-समाज ने अपने पुराने बन्धनों को तोड़कर एकदम उन्नति की थी, उसी की मानो 'किशोरावस्था' में पुनरावृत्ति होती है, और बालक एकदम नयेपन में भर जाता है। इस अवस्था में आते ही बालक ऊँचाई और वजन में पहले की अपेक्षा शीघ्रता से बढ़ने लगता है। भिन्न-भिन्न अंगों का विकास नए ढंग से होने लगता है। जननेन्द्रियों में तो बिल्कुल परिवर्तन आ जाता है। पहले बालक में 'स्वार्थ-वृत्ति' (Individualism) थी; अब उसमें 'परार्थ-वृत्ति' (Altruism) उत्पन्न हो जाती है। पहले उसकी संसार के प्रति प्रतिक्रिया को 'सहज-क्रिया' (Reflex action) कहा जा सकता था—स्थिति उत्पन्न हुई और उसके प्रति जो भी स्वाभाविक-प्रतिक्रिया हो सकती थी, उसे वह कर देता था; परंतु अब अपनी प्रतिक्रिया को वह सोच-समझ कर करने लगता है, उसकी प्रतिक्रियाएँ तुरन्त न होकर, 'ठहर कर तथा सुव्यवस्थित' (Delayed and better organised) होने लगती हैं। पहले उसमें विचार को कोई स्थान न था;

अब वह 'विचार', 'मनन' तथा 'निर्णय' आदि उच्च-मानसिक-प्रक्रियाएँ करने लगता है। उसमें जो नव-जीवन फूट पड़ता है, उसका उद्गम-स्थान हृदय होता है; वह गाता है, सपने लेता है, अपनी नई दुनिया बनाने लगता है। उसमें घूमने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है, कभी-कभी घर से भाग खड़ा होता है। 'त्वरित-विकास-वादियों' का कथन है कि ये सब परिवर्तन एकदम, 'छलांग' (Saltater) मार कर आ खड़े होते हैं, इनका बीज किशोर के पहले जीवन में नहीं पाया जाता।

(ख) 'क्रमशः-विकास' का सिद्धान्त

थॉर्नडाइक तथा किंग का मत—किशोरावस्था में क्रमशः विकास होता है—

हॉल महोदय के विचार के विपरीत वर्तमान मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि किशोरावस्था के ये परिवर्तन अचानक नहीं होते, इनका बीज पहली अवस्थाओं में पाया जाता है। श्रीयुत थॉर्नडाइक का कथन है कि केवल 'लिङ्ग-सम्बन्धी-प्रवृत्ति' (Sex-Instinct) ऐसी जान पड़ती है जो एका-एक प्रकट होती मालूम देती है, अन्य प्रवृत्तियों में तो 'क्रमशः विकास' सिद्ध करना कोई कठिन बात नहीं है। 'लिंग-सम्बन्धी-प्रवृत्ति' का भी विश्लेषण किया जाय, तो इसमें भी किशोरावस्था से बहुत पहले से विकास प्रारम्भ हुआ पाया जाता है। किंग महोदय का कथन है कि इसमें सन्देह नहीं कि 'शिशु', 'बालक' तथा 'किशोर' में भेद है, परन्तु इनके भेद को अगर बारीकी से देखें तो मालूम पड़ेगा कि शिशु से बालक, तथा बालक से किशोर बनने में अनेक बारीक-बारीक श्रेणियाँ हैं, जिनमें से गुज़रता हुआ 'शिशु' ही 'किशोर' बन जाता है, किशोर की अवस्थाएँ अचानक नहीं आ टपकतीं। जिस प्रकार एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु आ जाती है, जो नई होती है, परन्तु उसके आगमन की तय्यारी पहली ऋतु के द्वारा ही होती है, इसी प्रकार बालक की अवस्थाएँ एक-दूसरे से बँधी हैं।

'प्रारम्भिक स्कूलों' तथा 'हाई-स्कूलों' में 'पाठ्य-क्रम', 'व्यवस्था' आदि पर विचार करते हुए उक्त दोनों सिद्धान्तों को अपने सामने रखना होगा।

'त्वरित' तथा 'क्रमशः विकास' के सिद्धान्त को चित्र द्वारा यों प्रकट किया जा सकता है :—
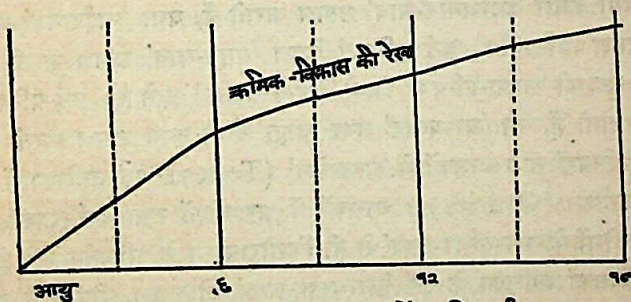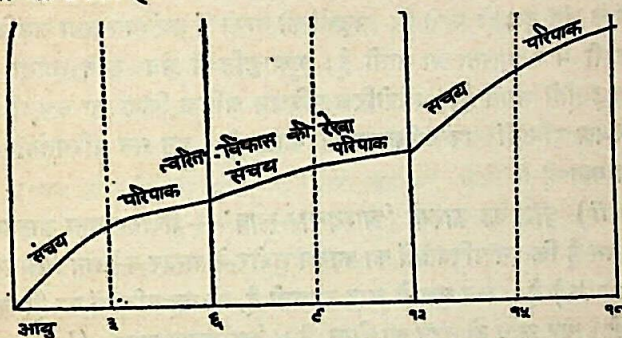
(ग) किशोरावस्था में परिवर्तन

"किशोरावस्था' में लड़के-लड़की में जो परिवर्तन आते हैं उनका जानना शिक्षक के लिए आवश्यक है। यहाँ संक्षेप से उनका वर्णन किया जायगा :—

(१) किशोरावस्था में शारीरिक-विकास

(*i*) *अंगों की वृद्धि*—इस समय बालक के सभी अंगों में वृद्धि होने लगती है। प्रो० की (Key) ने स्वीडन के १५ हजार लड़कों और ३ हजार लड़कियों की परीक्षा करके पता लगाया कि १४ से १५ साल की आयु में लड़कों की ऊँचाई तथा उनके वजन में शीघ्रता से वृद्धि होती है। लड़कियों की शारीरिक वृद्धि लड़कों की अपेक्षा कुछ पहले होती है।

इस आयु में समय-समय पर तोल का लेते रहना आवश्यक है ताकि बालक का विकास ठीक-से हो रहा है या नहीं इसका पता चलता रहे। इस समय बच्चों के अंग दृढ़ हो जाते हैं; लड़कों की वाणी में कर्कशता तथा लड़कियों की वाणी में कोमलता आ जाती है; मुखाकृति में भेद आने लगता है; पट्ठे दृढ़ होने लगते हैं; शारीरिक परिश्रम अधिक किया जा सकता है; भिन्न-भिन्न इन्द्रियों पर अधिकार बढ़ जाता है। इन सब परिवर्तनों का कारण क्या है?

(*ii*) *वृद्धि का कारण 'आभ्यन्तर-स्राव'*—'शरीर-रचना-शास्त्रज्ञों' का कथन है कि इन परिवर्तनों का कारण शरीर के अन्दर वर्तमान 'ग्रन्थियाँ' (Glands) हैं। जब मुख से लार टपकती है, तो यह ग्रन्थियों का ही स्राव होता है। यह स्राव दो तरह का होता है। 'आभ्यन्तर-स्राव' (Internal secretion) तथा 'बाह्य-स्राव' (External secretion)। कई ग्रन्थियाँ केवल 'आभ्यन्तर-स्राव' उत्पन्न करती हैं, यथा 'थाईरायड' तथा 'एड्रिमल' ग्रन्थियाँ। कई ग्रन्थियाँ केवल 'बाह्य-स्राव' उत्पन्न करती हैं, यथा मुख की 'लाला-ग्रन्थियाँ' जिन्हें 'सैलीवरी ग्लैंड' कहते हैं। कई ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं, जो 'आभ्यन्तर' तथा 'बाह्य' दोनों स्राव उत्पन्न करती हैं, यथा 'लिवर' तथा बालकों में 'अण्डकोश' (Testes) एवं बालिकाओं में 'डिम्बकोश' (Ovaries)। बालकों में अण्डकोशों तथा बालिकाओं में डिम्बकोशों के 'आभ्यन्तर-स्राव' से ही किशोरावस्था के परिवर्तन होते हैं। बालक तथा बालिका के इस 'आभ्यन्तर-स्राव' को क्रमशः वीर्य तथा रज कहते हैं। इनके 'बाह्य-स्राव' को भी वीर्य तथा रज का ही नाम दिया जाता है। किशोर तथा किशोरी के वीर्य तथा रज, अर्थात् 'बाह्य-स्राव' के मेल से गर्भ रहता है, परन्तु इनके 'आभ्यन्तर-स्राव' से किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन प्रकट होते हैं, और शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को पुष्टि मिलती है। 'आभ्यन्तर-स्राव' का शरीर में खपना ही शरीर की उन्नति का कारण है। किशोर में अण्डकोशों के 'बहिःस्राव' का होना 'अन्तःस्राव' में बाधा पहुँचाता है। इस 'अन्तःस्राव' को ही 'हॉरमोन' कहा जाता है। ब्रह्मचर्य का यही अर्थ है कि 'अन्तःस्राव' के कार्य में बाधा न पहुँचाई जाय। इसीलिए किशोरावस्था में वीर्य के 'बहिःस्राव' से शरीर क्षीण हो जाता है।

बालिका में उस प्रकार का यौन बहिःस्राव नहीं होता जैसा बालक में होता है। बालिका में मासिक स्राव होता है जैसा बालक में नहीं होता। बालक को शरीर-रचना का यह तथ्य समझा दिया जाय तो वह कुटेवों से बच जाता है, ब्रह्मचर्य से रहने लगता है।

(*iii*) *अतिरिक्त-शक्ति*—इस समय बालक के शरीर में जो शक्ति का प्रवाह उमड़ रहा होता है, उसे वह भिन्न-भिन्न क्रियाओं में प्रकट करता है। बालक टाँग हिलाने लगते हैं, त्योरी चढ़ाकर बैठते हैं, नाखूनों को दाँतों से कुतरा करते हैं, हिलते-डुलते रहते हैं। इस समय उनमें जो स्नायवीय-शक्ति (Nervous energy) की धारा बह रही है, उसी का प्रकाश भिन्न-भिन्न बेढंगी क्रियाओं से हुआ करता है। बहुधा समय बीतने पर ये चिह्न लुप्त हो जाते हैं, इसलिए माता-पिता या शिक्षक को इनसे परेशान न होना चाहिए, और 'ऐसा मत करो, वैसा मत करो', नहीं कहना चाहिए। इस शक्ति के समुचित 'विलयन' के लिए शरीर को हर समय किसी काम में लगाये रखना आवश्यक है। जिमनास्टिक आदि खेलों से शरीर की यह शक्ति ठीक दिशा में लगी रहती है।

(२) किशोरावस्था में मानसिक-विकास

(*i*) *कल्पना का जगत्*—इस समय किशोर के स्वभाव में कई प्रकार के परिवर्तन आते हैं। उसका बहुत-सा समय कल्पना के जगत् में बीतता है। छोटे बच्चे और उसकी कल्पना में भेद यह होता है कि बच्चा तो 'यथार्थ' और 'काल्पनिक' में भेद नहीं जानता; किशोर इस भेद को जानते हुए भी यथार्थ-जगत् की असफलताओं को काल्पनिक-जगत् में पूर्ण किया करता है। कल्पनामय-जगत् उसे कवि, उपन्यास-लेखक, चित्रकार भी बना सकता है, और निठल्ला भी। इसलिए यथार्थता के साथ मुठ-भेड़ करने के लिए उसे प्रोत्साहित करना आवश्यक है।

(*ii*) *व्यक्तित्व का उदय*—इस समय बालक बचपन से निकल चुका होता है, लेकिन माता-पिता उसे बच्चा ही समझे जाते हैं। वह नहीं चाहता कि कोई उसे बच्चा समझे। इसका उसके पास सिर्फ़ एक ही उपाय रह जाता है। उसे जो अब भी बच्चा ही समझ कर बर्तते हैं, अपने व्यक्तित्व को प्रकट करने के लिए वह उनके प्रति नफ़रत का-सा बर्ताव करने लगता है।

ख़ास-कर अगर किसी अन्य व्यक्ति के सम्मुख उसके साथ बच्चे का-सा वर्ताव किया जायगा, तब तो वह अपने व्यवहार से यह प्रकट किये बग़ैर रहेगा ही नहीं कि वह बच्चा नहीं है। वह ज़रा-सी बात पर नाराज़ हो जाता है। आपने अपने मित्रों को चाय पर बुलाया। सब लोगों के लिए कुर्सी लगाई गई, उसके लिए नहीं लगाई, वह कारण नहीं बतलाएगा, परन्तु नाराज़ हो जायगा, कुढ़कर जवाब देगा, आपका तिरस्कार करेगा। सब लोग साथ खाने को बैठे, आप उसे इकला खाते छोड़ उठ खड़े हुए। वह अन्दर-ही-अन्दर आपके प्रति विद्रोह कर उठेगा। उसमें आत्म-सम्मान की भावना इतनी जागृत हो जाती है कि वह छुई-मुई सा बन जाता है। माता-पिता तथा शिक्षक को इस समय उसके साथ अत्यन्त हमदर्दी से पेश आना चाहिए, और अपने व्यवहार से उसमें यह विश्वास बैठाना चाहिए कि वे उसके असली शुभ-चिन्तक हैं, उसके 'व्यक्तित्व' को समझते हैं, उसके साथ सहानुभूति रखते हैं। बालक यह नहीं चाहता कि आप उसे बार-बार शब्दों द्वारा कहें कि आप उसके हित-चिन्तक हैं; वह आपके व्यवहार से स्वयं निर्णय करता है कि आपका व्यवहार कैसा है। जो शिक्षक दूसरे बच्चों के सामने किसी बालक का अपमान करते हैं, वे याद कर लें कि वह बालक सुधरने के स्थान पर उत्तरोत्तर बिगड़ता ही जायगा।

(*iii*) *परस्पर-विरोधी अवस्थाएँ*—इस आयु में बालक में परस्पर-विरोधी अवस्थाएं भी पाई जाती हैं। कभी वह अत्यन्त निराश दिखाई देता है, जीवन से उदासीन हो जाता है; कभी उसमें से उत्साह फूटा पड़ता है। ये अवस्था के दौरे हैं जिन पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। इस अवस्था में शरीर तथा मस्तिष्क का एकदम इतना विकास हो जाता है कि बालक दुनिया भर के सभी काम कर डालना चाहता है, परन्तु कर नहीं पाता, इसी का प्रतिक्षेप उसके व्यवहार में आशा-निराशा, उत्साह-उदासीनता आदि विरोधी अवस्थाओं में पाया जाता है। जिन माता-पिता को बालक के आन्तरिक परिवर्तनों का ज्ञान होता है, वे इन परिवर्तनों से परेशान नहीं होते, इनको सामयिक लक्षण समझते हैं।

(*iv*) *वीर-पूजा*—यह वीर-पूजा (Hero-worship) का समय होता है। शिशु भी तो माता-पिता की पूजा करता है। शिशु तथा किशोर

में भेद यह है कि किशोरावस्था में माता-पिता से हट कर पूजा के विषय कभी गुरुजन हो जाते हैं, कभी देश के कोई महान् नेता, कभी इतिहास का कोई आदर्श व्यक्ति। इस समय बालक में जो नई भावनाएँ जागृत होती हैं, उनकी जहाँ उसे पूर्णता नजर आती है, उसे वह अपना आदर्श बना लेता है। शहरों के बच्चे तो प्रायः सिनेमा और नाटकों में जाया करते हैं। वे सिनेमा-पात्रों में से ही किसी को अपना आदर्श चुन लेते हैं। आजकल के बच्चों में 'सिनेमा-स्टारों' की जितनी चर्चा होती है, उतनी बड़े आदमियों में नहीं। इसका यही कारण है कि यह आयु ही अपना कोई 'आदर्श-वीर' चुनने की होती है। इसी लिए तो गंदे सिनेमाओं को हटाना आवश्यक है। राष्ट्रीय-शिक्षा ही इन बातों की तरफ़ ध्यान दे सकती है, अतः आशा करनी चाहिए कि आज का स्वतंत्र-भारत इन बातों की तरफ़ अधिक ध्यान देगा।

(*v*) *अपराधी मनोवृत्ति*—इस समय बालक कई तरह के अपराध करता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि इस आयु में बालक कोई-न-कोई अपराध करते ही हैं। झूठ, चोरी, उद्दण्डता—कौन-सा अपराध नहीं जो इस समय बालक नहीं करते। बालक ही क्या, अगर माता-पिता तथा शिक्षक अपने जीवन के पन्ने पलट कर देखें तो कौन-सी बात है, जो उन्होंने इस आयु में स्वयं न की हो? परन्तु यह अवस्था स्वयं निकल जाती है।

(*vi*) *विचरण की इच्छा*—बालक में इस समय विचरण की प्रवृत्ति, जो शिशु के इधर-उधर फिरने का ही दूसरा रूप है, उग्र रूप धारण कर लेती है। कई बालक स्कूल की चहार-दीवारी से तंग आकर, और यह समझ-कर कि घर रहेंगे तो स्कूल जाना ही पड़ेगा, या माता-पिता की इस इच्छा से तंग आकर कि बालक एकदम सब विद्याओं में पारंगत हो जाय, या माता-पिता के नियन्त्रण से घबराकर, घर छोड़ देते हैं। माता-पिता की अदूरदर्शिता के कारण वे आवारा हो जाते हैं। इस घूमने की प्रवृत्ति के कारण कई लोग जीवन में बहुत सफलता भी प्राप्त कर लेते हैं।

(*vii*) *परार्थ-भावना*—बचपन में तो 'स्वार्थ-भावना' प्रबल होती है, परन्तु इस समय 'परार्थ-भावना' प्रबल हो जाती है। बालक को त्याग का जीवन आकर्षित करने लगता है। वह देश तथा जाति के लिए अपने

को बलि देने को उद्यत रहता है। इसी समय भगतसिंह जैसे युवकों की आत्मा जाग उठती है। वे समाज की सेवा के अवसर ढूंढते हैं। किसी देश का इतिहास ऐसा नहीं है, जिसमें युवकों ने स्वतन्त्रता के युद्ध में नेताओं का साथ न दिया हो, युवकों ने सीने में गोलियाँ न खाई हों।

(३) किशोरावस्था में प्रेम-भावना या उद्वेगात्मक-विकास

शैशवावस्था में 'प्रेम-भावना' अपने तक सीमित होती है। शिशु अपने अंगों से ही खेलता है। अंगूठा मुँह में देता है, अपने पैरों को पकड़ता है। कुछ बड़ा होने पर लड़की अपने पिता को, और लड़का अपनी माँ को प्यार करता है। बाल्यावस्था में आकर यह प्रेम-भावना दूसरा रूप धारण करती है। लड़के लड़कों के साथ, और लड़कियाँ लड़कियों के साथ प्रेम करती हैं, और उन्हीं के साथ खेलती हैं। किशोरावस्था में फिर यह प्रक्रिया उलटती है, और शिशु की तरह जैसे लड़का माता को, और लड़की पिता को प्यार करती थी, वैसे लड़के लड़कियों की तरफ़, और लड़कियाँ लड़कों की तरफ़ आकर्षित होती हैं। प्रकृति ने 'जीवन' को विनाश से बचाने के लिए प्रजनन-क्रिया का सहारा लिया हुआ है, और उसी की तरफ़ मानव-जीवन किशोरावस्था में बढ़ने लगता है। इस समय की 'प्रेम-भावना' के साथ 'काम-भावना' का 'उद्वेग' (Emotion) सम्मिलित हो जाता है। इस अवस्था में बालक काम-सम्बन्धी अनेक बातें अपने गन्दे साथियों से सीख जाता है। यह समय है, जब माता-पिता को वैज्ञानिक ढंग से जननेन्द्रिय-सम्बन्धी अवयवों का ज्ञान बालक को करा देना चाहिए, और उसे 'ब्रह्मचर्य' के महत्त्व को समझाना चाहिए। इस विषय की प्रकाशित पुस्तकों में प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार की पुस्तक 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' एक प्रामाणिक पुस्तक है, जिसे इस आयु में युवक के हाथ में दे देने से उसके जीवन की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं, और माता-पिता तथा शिक्षक का काम हल्का हो सकता है। इस समय लड़के-लड़कियों में एक-दूसरे के प्रति जो आकर्षण होता है, और उन दोनों में युवावस्था की जो तेज़ी होती है, इन दोनों को सामने रखते हुए इस आयु में लड़के-लड़कियों की अलग-अलग शिक्षा ही उचित जान पड़ती है। कई लोगों का कहना है कि इस समय लड़के-लड़कियों की एक-दूसरे के प्रति जो उत्सुकता बनी रहती है, उसे

मिटाने के लिए इन दोनों को इकट्ठे रखना ज्यादा उचित है, परन्तु शायद जीवन को मधुर बनाने के लिए इस उत्सुकता को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने तक बनाए रखना ज्यादा उत्तम है, क्योंकि वह उत्सुकता ही आगामी जीवन को रोमांटिक बनाती है। 'काम-वृत्ति' का दमन करना चाहिए या नहीं इस विषय में मनोवैज्ञानिकों में मत-भेद है, परन्तु यह तो निश्चित ही है कि 'काम-भावना' को खुला छोड़ देना युवक के शारीरिक तथा मानसिक विकास को सर्वथा रोक देता है। 'अनिरुद्ध काम-भावना' (Unrepressed sexual impulse) से जितने शारीरिक तथा मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, उतने 'संयम' (Self-control) से नहीं। सर्वोत्तम साधन न अस्वाभाविक दमन ही है, न अपने को खुला छोड़ देना ही है। 'काम-विलयन' (Sublimation) ही 'काम-भावना' की ठोकरों से बचने का एकमात्र उपाय है। 'काम-विलयन' का अभिप्राय यह है कि युवावस्था में जो शक्ति का प्रवाह उमड़ पड़ता है, उसे भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहा दिया जाय, शक्ति के रूप में 'रूपान्तरित' या 'मार्गान्तरित' कर दिया जाय, बालक को भिन्न-भिन्न कामों में लगाया जाय—शारीरिक कार्यों में और मानसिक कार्यों में—ताकि उसकी सारी अतिरिक्त-शक्ति इन कामों को करने में ही खप जाय, नष्ट करने के लिए उसके पास न शक्ति बचे, न समय ही बचे।

बालक तथा बालिका का विकास किन-किन दिशाओं में जाता है, उनमें शारीरिक तथा मानसिक क्या भेद है—इसकी चर्चा अगले अध्याय में की जायगी।

प्रश्न

(१) बालक में 'मानसिक-प्रक्रियाओं' का विकास एक-साथ होता है, या क्रम से? उदाहरण देकर समझाओ।

(२) 'मानसिक-प्रक्रियाओं' (Mental processes) का एक-साथ तथा 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) का क्रमिक विकास होता है—इस कथन को समझाओ।

(३) शैशवावस्था, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था का समय कौन-कौन-सा है?

(४) शिशु के शारीरिक तथा मानसिक विकास का वर्णन करो।

(५) तीन वर्ष के बाद छः वर्ष तक शिशु का, और दस वर्ष से बारह वर्ष तक बालक का विकास रुक-सा क्यों जाता है ?

(६) शिशु में प्रेम-भावना-सम्बन्धी विकास का वर्णन करो।

(७) बालक प्रायः किसी-न-किसी 'गिरोह' में क्यों शामिल हो जाते हैं। बालक की इस वृत्ति का शिक्षक किस प्रकार उसके सुधार में उपयोग कर सकता है ?

(८) शिशु से बालक की प्रेम-भावना में क्या भेद है ?

(९) किशोर में शिशु की-सी अवस्था लौट आती है—इस कथन का क्या अभिप्राय है ?

(१०) किशोर के विकास के सम्बन्ध में हॉल, थार्नडाइक तथा किंग के क्या मत हैं ?

(११) किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन क्या होते हैं ?

(१२) किशोर में मानसिक परिवर्तन क्या होते हैं ?

(१३) किशोर में प्रेम-भावना के विषय में क्या जानते हो ?

(१४) काम-भावना का क्या प्रतीकार है ?

१४

बालकपन तथा बालिकापन का विकास-भेद
(DEVELOPMENTAL DIFFERENCES IN BOYHOOD AND GIRLHOOD)

हमारे समाज में बालक तथा बालिका, पुरुष तथा स्त्री में आधार-भूत भेद माना जाता है। बालक की जितनी देख-रेख होती है, बालिका की उतनी नहीं होती, पुरुष को समाज में जो स्थान दिया जाता है, स्त्री को वह स्थान नहीं दिया जाता। बालक का शुरू से ही इस प्रकार लालन-पालन होता है, जैसे वही सब-कुछ है, बालिका की तरफ़ कुछ ध्यान नहीं दिया जाता, पुत्र के लिए लोग व्याकुल रहते हैं, पुत्री के लिए उतनी चाह नहीं दीखती। प्रश्न यह है कि बालक तथा बालिका के सम्बन्ध में यह भेद क्या 'प्रकृति' का बनाया हुआ है, या 'मनुष्य' का बनाया हुआ है—मनुष्य का अर्थात् 'समाज' का बनाया हुआ है ?

१. 'शारीरिक' तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' भेद

जो लोग कहते हैं कि बालक तथा बालिका में जन्मगत भेद है, केवल समाज का बनाया हुआ भेद नहीं, उन लोगों का कहना है कि प्रकृति ने बालक तथा बालिका के शरीर का निर्माण करते हुए दोनों की रचना में ही भेद कर दिया है। यह 'शारीरिक' (Physiological) अथवा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद किसका बनाया हुआ है। समाज तो इस भेद को नहीं बनाता, यह तो बालक-बालिका जन्म से लेकर आते हैं, प्रकृति से लेकर आते हैं। उदाहरणार्थ, स्त्री का कद पुरुष से छोटा होता है। हर-एक स्त्री का नहीं, परन्तु आनुपातिक-दृष्टि से स्त्री पुरुष से कद में छोटी है। अमरीका में पुरुष की आनुपातिक ऊँचाई ५ फ़ीट ८ इंच है, वजन १४५ पौंड है; वहाँ स्त्री की ऊँचाई ४ फ़ीट ३ इंच और वजन १२५ पौंड

पाया गया है। शारीरिक-विकास में स्त्रियाँ पुरुषों से पिछड़ी हुई हैं। समाज-शास्त्री इसका यह उत्तर देते हैं कि स्त्री का सदियों से पालन-पोषण ही हमारे समाज में इस प्रकार हुआ है जिससे उसकी ऊँचाई तथा वज़न पुरुषों से कम दीखता है, सामाजिक-अवस्थाओं के बदल जाने पर यह भेद नहीं रह सकता। हम समझते हैं कि स्त्रियाँ कमजोर शरीर होने के कारण मेहनत के काम नहीं कर सकतीं, मजदूरी भी हम पुरुषों को ज्यादा और स्त्रियों को कम देते हैं, परन्तु आज हमारे समाज में स्त्री की स्वतन्त्रता के बाद स्त्रियों ने जो शारीरिक-विकास शुरू किया है, उनकी फ़ुटबाल और हाकी की टीमें बनने लगी हैं, वे साम्मुख्य करती हैं, टूर्नामेंटों में भाग लेती हैं, घुड़सवारी, तैरी आदि में पुरुषों से आगे निकलने का प्रयत्न करती हैं—इस सब से ज्ञात होता है कि शरीरगत यह भेद प्रकृतिजन्य नहीं है, हमारा अपना बनाया हुआ है। बालिका को उन सामाजिक-बन्धनों में न रखा जाय जिनमें वह अब तक सदियों से पड़ी रही है, तो ये शारीरिक-भेद अपने आप मिट जाँय।

कई लोग कहते हैं कि पैदाइश के समय बालकों का मस्तिष्क बालिकाओं के मस्तिष्क से लम्बाई, चौड़ाई, गहराई तीनों बातों में बड़ा होता है। ऐसे कथनों के आधार पर कई लोगों का कहना है कि मस्तिष्क-सम्बन्धी इस 'शारीरिक' (Physiological) अथवा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद के कारण भी स्त्री तथा पुरुष के ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता में भेद होना अवश्यंभावी है। इस युक्ति का उत्तर देते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल (Mill) ने कहा है कि तब तो लम्बे-चौड़े, स्थूलकाय व्यक्ति में दुबले-पतले व्यक्ति की अपेक्षा चमत्कारिका बुद्धि होनी चाहिए, हाथी को बुद्धि में मनुष्य से कहीं आगे बढ़ा हुआ होना चाहिए। मिल महोदय का कहना था कि मस्तिष्कों को मापने और तोलने वाले एक शरीर-शास्त्री ने उन्हें बतलाया कि अब तक सब से भारी मस्तिष्क उसने एक स्त्री का ही पाया था। कवींयर का मस्तिष्क सब से अधिक भारी समझा गया था, परन्तु मिल महोदय के मित्र ने एक स्त्री का मस्तिष्क कवींयर के मस्तिष्क से भी अधिक भारी पाया। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क का भारी होना मात्र उसकी अपेक्षाकृत अधिक शक्ति का परिचायक नहीं हो सकता। 'भार'

(Quantity) के अतिरिक्त 'गुण' (Quality) भी किसी वस्तु की उत्कृष्टता का पता लगाने में आवश्यक है। समाजशास्त्री यह भी कह सकते हैं कि सदियों से स्त्री के मस्तिष्क को बहुत कम काम में लाया गया है, इससे भी उसके मस्तिष्क के वजन में हल्के होने की सम्भावना है। अगर वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में उसे मस्तिष्क का पर्याप्त काम करना पड़ेगा तो उसका वज़न पुरुष जितना ही हो जायगा। यह हो सकता है कि पुरुष का मस्तिष्क अगर भारी है, तो सामाजिक-परिस्थितियों के कारण बढ़ा हो।

कई लोगों का कहना है कि 'शारीरिक (Physiological) अथवा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) अनेक भेदों के विषय में तो उक्त बातें कही जा सकती हैं, उन्हें सामाजिक-परिस्थिति का परिणाम कहा जा सकता है, परन्तु इन सब के होते हुए एक 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद ऐसा ज़रूर है जो बालक तथा बालिका का आधारभूत भेद है, जिस भेद से कोई इन्कार नहीं कर सकता। जैसे वृक्ष का बीज होता है, बीज में वृक्ष ही मानो सिमिट कर बैठा होता है, वैसे पुरुष का अपना बीज है, स्त्री का अपना बीज है, और इन दोनों बीजों के अपने ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। अगर पुरुष या स्त्री के बीज में किसी ख़ास प्रकार के गुण पाये जाते हैं, तो मानना पड़ेगा कि पुरुष या स्त्री के अपने निजी, जन्मगत, 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) गुण हैं, सामाजिक परिस्थिति की उपज नहीं हैं। पुरुष के बीज को 'वीर्य-कण' और अंग्रेज़ी में इसे 'स्पर्मेटोज़ोआ' (Spermatozoa) कहते हैं, स्त्री के बीज को 'रजःकण' और अंग्रेज़ी में इसे 'ओवा' (Ova) कहते हैं। ये बहु-वचनान्त शब्द हैं। 'स्पर्मेटोज़ोआ' का एकवचन 'स्पर्मेटोज़ून' तथा 'ओवा' का एक-वचन 'ओवम' है। जब पुरुष का 'वीर्ण-कण' स्त्री के 'रजःकण' से मिलता है, तब गर्भ ठहरता है, और उसी के बढ़ने से बच्चा बनता है। पुरुष का 'वीर्य-कण' पुरुष में रहता है, स्त्री का 'रजःकण' स्त्री में रहता है। स्त्री के शरीर की यह विशेषता है कि किशोरावस्था आने पर उसके प्रजनन-प्रदेश से एक प्रकार का रुधिर बहता है, जो ३-४ दिन रहता है, फिर महीने भर के लिए बन्द हो जाता है, फिर होता है, और इस प्रकार ४५-५० वर्ष की अवस्था तक यह सिलसिला

चलता है। पुरुष में ऐसा-कुछ नहीं होता। पुरुष द्वारा जब स्त्री के शरीर में 'वीर्य-कण' का प्रवेश होता है, तो क्या प्रक्रिया होती है? यह 'वीर्य-कण' बड़ी तेजी से 'रजःकण' की तलाश में स्त्री की योनि में आगे-आगे चल पड़ता है, और अगर स्त्री की योनि में 'रजःकण' मौजूद है, तो उसमें प्रवेश करके शिशु के जन्म को प्रारम्भ कर देता है। 'वीर्य-कण' और 'रजःकण' के मिलने से तो जन्म प्रारम्भ होता है, भले ही यह जन्म बालक का हो, या बालिका का। इन दोनों के मिलने से किसका जन्म होगा इस विषय की हम यहाँ चर्चा नहीं कर रहे। हम केवल इतना कह रहे हैं कि पुरुष का बीज जो 'वीर्य-कण' है, उसमें पुरुष की जन्मगत प्रकृति सिमिटी बैठी है, स्त्री का बीज जो 'रजःकण' है, उसमें स्त्री की जन्मगत प्रकृति सिमिटी बैठी है—यह तो मानना ही पड़ेगा। देखना यह है कि ये दोनों कैसा व्यवहार करते हैं, इनमें अपना प्रकृतिगत क्या भेद है। पुरुष के 'वीर्य-कण' की बावत तो हमने यह देखा कि वह बड़ा गतिशील है, आगे-आगे बढ़ता हुआ स्त्री के 'रजःकण' की तलाश में, योनि-द्वार में, अपने सामर्थ्य से, दूर तक निकल जाता है। स्त्री के 'रजःकण' का क्या हाल है? स्त्री का 'रजःकण' जहाँ उत्पन्न होता है उस अंग को 'बीज-कोश' और अंग्रेजी में 'ओवरी' (Ovary) कहते हैं। पुरुष के शरीर के बाहर एक थैली-सी में दो 'अंड-कोश' लटकते हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'टैस्टीकल्स' (Testicles) कहते हैं, स्त्री में शरीर के भीतर दायें-बायें दो थैलियाँ-सी होती हैं जिन्हें 'बीज-कोश' या 'ओवरी' कहते हैं। पुरुष का 'वीर्य-कण' अपने 'अण्ड-कोशों' तथा स्त्री का 'रजःकण' अपने 'बीज-कोषों' से निकलता है। पुरुष का 'वीर्य-कण' तो क्रिया-शील होता है, अपनी आभ्यन्तर-गति से आगे बढ़ता है, स्त्री का 'रजःकण' क्रिया-शील नहीं होता, अपनी आभ्यन्तर-गति से आगे नहीं बढ़ता। 'बीज-कोशों' के साथ दोनों तरफ़ एक-एक प्रणालिका रहती है जिसे 'फ़िलेपियन ट्यूब' कहते हैं। इन प्रणालिकाओं में ऐसी गति है जिसमें इनमें पड़ी हुई कोई वस्तु धकेली जाकर आगे बढ़ जाती है। जैसे मुख में भोजन चबाये जाने के बाद अपनी गति द्वारा नहीं अपितु प्रणालिका की गति द्वारा भोजन पेट में पहुँचता है, जैसे आँतों में जाकर भी भोजन अपनी गति द्वारा नहीं अपितु आँतों की गति द्वारा आगे-

आगे धकेला जाता है, वैसे ही 'फ़िलेपियन-ट्यूब' में 'रजःकण' अपनी आभ्यन्तर-गति द्वारा नहीं अपितु ट्यूब की गति द्वारा आगे धकेला जाता है, इस प्रक्रिया से वह 'गर्भाशय' में पहुँचता है, और वहाँ 'वीर्य-कण' के सम्पर्क में आकर बच्चा बनना प्रारम्भ होता है। इस सारे वर्णन का यह अर्थ है कि अगर पुरुष को हम 'वीर्य-कण' के रूप में और स्त्री को 'रजःकण' के रूप में समझने का यत्न करें, तो इन दोनों का जो आधारभूत भेद है वह पुरुष तथा स्त्री का 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) भेद कहा जा सकता है। 'वीर्य-कण' क्रिया-शील (Active) है, 'रजःकण' अक्रियाशील (Passive) है, 'वीर्य-कण' मानो 'रजःकण' पर आक्रमण करता है—'आक्रान्ता' (Aggressive) है, 'रजःकण' अपने को 'वीर्य-कण' के सामने 'समर्पित' कर देता है—'आत्म-समर्पक' (Submissive) है। 'वीर्य-कण' क्योंकि पुरुष का सिमिटा हुआ रूप है इसलिए यह कहना असंगत न होगा कि 'क्रियाशीलता' (Activity) तथा 'आक्रमण' (Aggressiveness) पुरुष का जन्मगत गुण है, 'रजःकण' क्योंकि स्त्री का सिमिटा हुआ रूप है, इसलिए यह कहना भी असंगत न होगा कि 'अक्रियाशीलता' (Passivity) तथा 'आत्म-समर्पण' (Submissiveness) स्त्री का जन्मगत गुण है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उस पर सामाजिक-मनोविज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि यह सब-कुछ कह देने से कोई बात नहीं बनती। बात तो तब बनती अगर बालक का प्रारंभ 'वीर्य-कण' से ही, और बालिका का प्रारम्भ 'रजःकण' से ही हुआ होता। बालक-बालिका दोनों 'वीर्य-कण' और 'रजःकण' के मिलने से बनते हैं, किसी एक से तो नहीं बनते, और इसीलिए कई बालक ऐसे पाये जाते हैं जो क्रियाशील न होकर अक्रियाशील होते हैं, आक्रान्ता न होकर आत्म-समर्पक होते हैं, इसके विपरीत कई बालिकायें अक्रियाशील न होकर क्रियाशील होती हैं, आत्म-समर्पक न होकर आक्रान्ता होती हैं।

तो फिर क्या बालक-बालिका में 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) कोई भेद नहीं है? बालक-बालिका में कोई 'आभ्यन्तर-ग्रन्थि' (Endocrine gland) के कारण होने वाला भेद अवश्य है जिसके कारण

बालक के दाढ़ी-मूँछ ग्राने लगती हैं, बालिका का चेहरा बालों रहित रहता है; बालक की मांस-पेशियाँ कठोर होती जाती हैं, बालिका की जहाँ-जहाँ मांस-पेशियाँ ग्रौर हड्डियाँ हैं वहाँ चर्बी के कारण गोलाई ग्राने लगती है; बालक की ग्रावाज़ किशोरावस्था ग्राने के साथ-साथ कर्कश होती जाती है, बालिका की मधुर ग्रौर संगीतमय होती जाती है; बालक के भीतर वीर्य बनने लगता है, बालिका के भीतर रज बनने लगता है; बालक को प्रतिमास उस प्रक्रिया में से नहीं गुज़रना पड़ता जिसे मासिक-धर्म कहते हैं, जो स्त्री-जाति की ही विशेषता है। बालक-बालिका की इन भिन्न-भिन्न ग्राभ्यन्तर-ग्रन्थियों का उनकी भिन्नता पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है---इस विषय पर ग्रभी ग्रधिक ग्रन्वेषण करने की ग्रावश्यकता है। इनका शारीरिक-विकास पर क्या प्रभाव है, यह तो दोनों के शारीरिक-विकास को देख कर स्पष्ट ही है, प्रश्न यही है कि इनका मानसिक तथा भावनात्मक-विकास पर भी कोई प्रभाव है या नहीं।

२. लड़के-लड़कियों के भिन्न-भिन्न भेदों के उदाहरण

इस विषय पर निश्चित तौर पर तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जिन बातों के विषय में हम यह कहने लगते हैं कि ये बालक-बालिका की ग्राधार-भूत भिन्नताएँ हैं, उन्हीं के विषय में समाज-शास्त्री यह कहने लगते हैं कि इन भिन्नताग्रों का कारण भिन्न सामाजिक-परिस्थिति ग्रर्थात् पर्यावरण है। फिर भी इस विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जो परीक्षण किये हैं उनकी चर्चा यहाँ कर देना जरूरी है।

लड़के-लड़कियों के 'प्रेरकों' में भेद

सी० जे० वार्डन (C. J. Warden) ने चूहे-चुहियों पर कुछ परीक्षण किये। उसने चूहे-चुहियों को काफ़ी देर तक भूखा-प्यासा रखा, चूहों को चुहियों से ग्रलग रखा, उन्हें ग्रपने से जुदा रखा। इसका परिणाम यह होना ही था कि भूख-प्यास ग्रादि 'ग्राधार-भूत-प्रेरक' (Primary drives) तीव्र वेग धारण कर लें, क्योंकि जो 'प्रेरक' ग्रपने को पूरा नहीं कर पाता वह वेग धारण कर लेता है। उसके बाद वार्डन ने उन्हें खुला छोड़ कर यह देखना चाहा कि चूहों में कौन-सा 'प्रेरक' तीव्र है, ग्रौर

चुहियों में कौन-सा ? यह देखा गया कि चूहों में सबसे तीव्र वेग 'प्यास' को शान्त करने का था, उसके वाद 'भूख' शान्त करने का, और तीसरा नम्बर 'यौन-भावना' का था। चुहियों में सबसे पहला नम्बर 'सन्तान से प्रेम' का था, फिर क्रम 'प्यास', 'भूख', 'यौन-भावना'—इस प्रकार चला। कहने का अभिप्राय यह है कि भूखी-प्यासी चुहिया पानी या भोजन की तरफ़ भागने के वजाय अपने बच्चे की तरफ़ भागी, चूहे बच्चे की तरफ़ जाने की बजाय पानी की तरफ़ भागे। चुहिया में सन्तान-प्रेम की भावना का सर्वोच्च स्थान था, इस दिशा में उसमें और चूहे में आधारभूत भेद पाया गया। निम्न-स्तर के ये परीक्षण कहाँ तक मानव-समाज पर घट सकते हैं, यह प्रश्न किया जा सकता है, परन्तु मानव-जगत् में भी यह सत्य ही प्रतीत होता है कि माता का जो लगाव सन्तान से होता है, वह जन्मसिद्ध होता है, पिता का जन्मसिद्ध नहीं होता, सामाजिक-सम्वन्ध के कारण अधिक होता है। इसी कारण पुरुष बच्चे होने पर भी दूसरी शादी प्रायः करते देखे जाते हैं, स्त्रियाँ सन्तान हो जाने के बाद तृप्ति-सी अनुभव करती हैं। कहने वाले फिर भी इस भेद को सामाजिक-भेद कह सकते हैं। समाज की अवस्थाएँ ही ऐसी हैं जिनमें स्त्री को अधिक समय घर में बिताना पड़ता है। घर में इकले वह रह नहीं सकती। उसके दिल बहलाव के लिए कोई सामग्री चाहिए। बच्चे से बढ़कर वह सामग्री क्या हो सकती है ? इस परिस्थिति में रहते-रहते स्त्री में सन्तान के प्रति सन्तान का लगाव पैदा हो गया है।

लड़के-लड़कियों की बुद्धि में भेद

वर्तमान-गवेषणाओं से सिद्ध हुआ है कि 'बुद्धि तथा योग्यता' (Intelligence and ability) एवं 'व्यक्तित्व' (Personality) में बालक-बालिकाओं में कोई आधारभूत भेद नहीं होता। पुराने जमाने में स्त्री तथा पुरुष में मौलिक भेद माना जाता था। अमरीका में सालों तक स्त्रियों को अध्ययन-कार्य इसलिए नहीं दिया जाता था क्योंकि यह समझा जाता था कि उनका मानसिक-विकास पुरुष से कम होता है। परन्तु अनुभव इस बात को पुष्ट नहीं करता। इसी अनुभव के आधार पर आज अध्यापन के कार्य के लिए स्त्रियों को पुरुषों से अच्छा माना जाता है। महारानी

ताराबाई तथा महारानी दुर्गाबाई ने जिस सफलता से बड़े-बड़े राज्यों का संचालन किया उससे उनकी योग्यता पुरुषों से किसी प्रकार कम नहीं ठहरती। इंगलैण्ड में क्वीन एलिजाबेथ तथा रूस में कैथराइन दी ग्रेट ने बड़ी सफलतापूर्वक राज्य किया। भारत में सरोजिनी नायडू तथा विजयलक्ष्मी पंडित की योग्यता से कौन इन्कार कर सकता है। अपने देश की विधान-सभाओं में जो स्त्रियाँ गई हैं, उनमें से अनेकों ने पुरुषों से अधिक योग्यता प्रदर्शित की है।

देखने में ऐसा आया है कि स्त्रियाँ साहित्य, कविता, उपन्यास तथा संगीत में अधिक रुचि प्रदर्शित करती हैं, विज्ञान के विषयों में उनकी अधिक रुचि नहीं दिखाई देती, परन्तु फिर भी अनेक स्त्रियों ने विज्ञान के क्षेत्र में भी पर्याप्त नाम पाया है। साधारण बुद्धि को मापने के उपायों द्वारा बालक-बालिका की बुद्धि में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया। टरमैन (Terman) महोदय ने बुद्धि को मापने का एक तरीका निकाला था। वह तरीका क्या था? बिने (Binet) का कथन था कि बालक की जो 'शारीरिक-आयु' होती है, 'मानसिक-आयु' भी वही हो, यह जरूरी नहीं। कई बालक शारीरिक दृष्टि से १५ बरस के होते हैं, मानसिक दृष्टि से १० बरस के होते हैं, इसलिए १० बरस के होते हैं क्योंकि १० बरस के बच्चों की-सी बातें करते हैं। बिने की बात को लेकर टरमैन ने 'मानसिक-आयु' तथा 'शारीरिक-आयु' के अनुपात का नियम निकाला था, यह नियम ही बुद्धि को मापने का तरीका था। उसका कहना था कि अगर किसी की 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष हो, 'शारीरिक-आयु' १२ वर्ष हो, तो शरीर तथा बुद्धि का पारस्परिक-अनुपात जानने के लिए 'मानसिक-आयु' को 'शारीरिक-आयु' से भाग देकर १०० से गुणा कर देना चाहिए। ऊपर के दृष्टान्त में जिस बालक की 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष की और 'शारीरिक-आयु' १२ वर्ष की कही गई है, उसके मन तथा शरीर का अनुपात $\frac{८}{१२} \times १०० =$ ६७ होगा। इस ६७ का यह मतलब है कि अगर उसके शरीर को १०० अंक दिये जाँय, तो मन को ६७ अंक मिलेंगे, मन शरीर से ३३ अंक पीछे होगा। यह पिछड़े हुए बच्चों का हाल है। जिन बालकों का सम-विकास हुआ होता है, उनके मन तथा शरीर को बराबर-बराबर अंक मिलते हैं,

कम-अधिक नहीं। यह जो 'मानसिक-आयु' को 'शारीरिक-आयु' से भाग देकर १०० से गुणा करने पर 'मन तथा शरीर का अनुपात' निकलता है इसे मनोविज्ञान की परिभाषा में 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) कहते हैं। अगर 'बुद्धि-लब्धि' १०० हो, तब तो बालक बुद्धि में साधारण समझा जाता है, अगर १०० से ऊपर हो, तब उसे 'बुद्धि-लब्धि' में जितने अधिक अंक मिलते जायंगे, उतनी उसकी उत्कृष्ट बुद्धि समझी जायगी, जितने 'बुद्धि-लब्धि' में १०० से कम अंक मिलते जायँगे उतनी कम बुद्धि समझी जायगी। परीक्षणों से पता चला है कि बालक तथा बालिकाओं की 'बुद्धि-लब्धि' समान रूप से १०० होती है, यह नहीं कि बालकों की बालिकाओं से अधिक हो, या बालिकाओं की बालकों से अधिक हो। इससे भी स्पष्ट है कि बुद्धि में बालक-बालिकाओं में कोई भेद नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी प्रकार की भी 'बुद्धि-परीक्षा' में बालक-बालिकाओं में भेद नहीं पाया जाता। लड़कियाँ भाषाओं में लड़कों से अच्छी योग्यता दिखलाती हैं, लड़के यान्त्रिक कार्यों में लड़कियों से अच्छा कार्य करते हैं, परन्तु जब बुद्धि तथा योग्यता मापने के अनेक प्रकार के परीक्षणों का समयोग किया जाता है तब इन दोनों की बुद्धि तथा योग्यता में कोई भारी अन्तर नहीं दिखाई देता।

यह देखा गया है कि प्रारंभिक-पाठशाला में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का ध्यान पढ़ाई पर अधिक जमता है। ध्यान की एकाग्रता का यह भेद उनके क्रियात्मक कार्य के परीक्षणों में उलट जाता है। क्रियात्मक कार्यों में लड़कियों से लड़के आगे बढ़ जाते हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अक्षराभ्यास में आगे निकल जाती हैं, लड़कियों की अपेक्षा लड़के गणित में आगे निकल जाते हैं। प्रारम्भिक-पाठशाला के बाद माध्यमिक कक्षाओं में भाषा-ज्ञान में लड़कियाँ लड़कों से आगे बढ़ी रहती हैं, लड़के ज्यामिति तथा साइन्स में लड़कियों से बढ़े रहते हैं। कॉलेज में भी लड़कियाँ भाषा में तथा लड़के विज्ञान में एक-दूसरे से आगे रहते हैं। व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में कई बातों में लड़के और कई में लड़कियाँ एक-दूसरे को मात देते हैं। दफ़्तरी काम में लड़कियाँ आगे और यान्त्रिक कार्यों में लड़के आगे रहते हैं। इन सब बातों में ठीक-से नहीं कहा जा

सकता कि ये भेद सामाजिक-परिस्थितियों के कारण हैं, या बालक-बालिकाओं की आन्तरिक-प्रेरणाओं के कारण।

लड़के-लड़कियों के व्यक्तित्व तथा स्वभाव में भेद

ऊपर हमने जो कुछ कहा वह बुद्धि (Intelligence) की दृष्टि से कहा। 'भावों'-'उद्वेगों' (Emotions) की दृष्टि से भी लड़के-लड़कियों में भेद कहा जाता है। लड़के जल्दी क्रुद्ध हो जाते हैं, लड़-झगड़ पड़ते हैं, आक्रमण कर बैठते हैं, लड़कियाँ शान्त-स्वभाव होती हैं, आक्रमण में पहल नहीं करतीं। कहा जाता है कि शरीर की 'भीतरी-ग्रन्थियों' (Endocrine glands) के 'आभ्यन्तर-स्राव' (Internal secretions) के कारण इन दोनों के स्वभाव में भेद उत्पन्न हो जाता है, और इसी कारण लड़के-लड़की का 'व्यक्तित्व' भिन्न-भिन्न दिशा में विकसित होता है। इस सम्बन्ध में समाज-शास्त्रियों का कथन है कि यह भेद भी सामाजिक-परिस्थितियों के द्वारा हम उत्पन्न करते हैं। मारगरेट मीड (Margaret Mead) ने न्यू-गिनी की तीन जंगली जातियों का अध्ययन करने के अनन्तर यह परिणाम निकाला कि उन सब में स्त्री तथा पुरुष का 'व्यक्तित्व' भिन्न-भिन्न प्रकार विकसित हुआ है। एरेपेश जाति के स्त्री-पुरुषों में 'व्यक्तित्व' के एक ही प्रकार के गुण पाये जाते हैं, स्त्री तथा पुरुष दोनों दब्बू स्वभाव के, अक्रियाशील होते हैं। मंडुगुमोर जाति के लोगों में स्त्री-पुरुष दोनों क्रियाशील, लड़ाकू स्वभाव के होते हैं। चैम्बुली जाति के पुरुष तो सौन्दर्य-प्रिय, कला-प्रधान, स्त्री-स्वभाव होते हैं, स्त्रियाँ क्रियात्मक, रौब जमाने वाली तथा आक्रान्ता-स्वभाव की होती हैं। अगर लड़के-लड़कियों के 'व्यक्तित्व' में स्वभाव से आधारभूत भेद होता, तो इन जातियों के पुरुषों तथा स्त्रियों में जो असमानता पायी जाती है, वह न मिलती, सब जातियों में लड़कियों का स्वभाव एक-सा होता, लड़कों का स्वभाव दूसरी तरह का होता।

३. भेद का कारण—'सामाजिक-परिस्थिति'

बालक-बालिका में 'प्राणि-विज्ञान' के आधार पर जो भेद हैं उन्हें स्वीकार करते हुए भी समाज-शास्त्रियों का कहना है कि इन दोनों की बुद्धि, योग्यता तथा स्वभाव में कोई मौलिक भेद नहीं है। बुद्धि, योग्यता, तथा

स्वभाव में जो भेद दिखाई देता है वह सामाजिक-परिस्थिति के कारण है, प्राकृतिक न होकर कृत्रिम है। जन्म के प्रारंभ से ही हमारे समाज में बालक तथा बालिकाओं के लिए अलग-अलग माप-दंड बने हुए हैं, दोनों के साथ अलग-अलग व्यवहार होता है। यह समझा जाता है कि बालक ने ही परिवार को आगे चलाना है, बालिका तो दूसरे का धन है, उसने पराये घर चले जाना है। बालकों के शारीरिक तथा मानसिक विकास को तथा बालिकाओं के सौन्दर्य-विकास को आवश्यक समझा जाता है। बालक को बालिका से उच्च-कोटि का प्राणी माना जाता है। समाज में भी पुरुष की स्त्री की अपेक्षा ऊँची स्थिति है। यह समझा जाता है कि स्त्री एक नीची श्रेणी में रखने योग्य है। भारत में 'ढोर-गंवार-शूद्र अरु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'-जैसे विचार प्रचलित रहे हैं। 'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रा रक्षन्ति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'—बचपन में पिता, यौवन में पति, वार्धक्य में पुत्र उसकी रक्षा करता है, स्त्री कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकती—यह हमारा नारा रहा है। यद्यपि यह अवस्था अब धीरे-धीरे बदल रही है, बालिकाओं को बालकों के समान शिक्षा दी जाने लगी है, तो भी अभी दृष्टि-कोण पूरा नहीं बदला। अगर कोई बालक कमज़ोर है, शर्माता है, तो यही कहा जाता है कि यह लड़का नहीं, लड़की है, यह कहते हुए उसका उपहास किया जाता है। लड़के की तारीफ़ करने के लिए यह कोई नहीं कहता कि यह मेरी लड़की है, लड़की की तारीफ़ करते हुए कहा जाता है कि यह मेरा लड़का है। साहस, उत्साह, क्रियाशीलता, तीव्र बुद्धि—ये सब पुरुषत्व के गुण समझे जाते हैं; सौन्दर्य, लज्जा, घबराहट आदि स्त्री के गुण समझे जाते हैं। जिस समाज का ऐसा वातावरण हो, उसमें बालक-बालिका में भेद दिखाई दे, तो कोई आश्चर्य नहीं।

परीक्षणात्मक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि जीवन का प्रारम्भ तो बालक-बालिकाएं एक समान करते हैं, परन्तु एक-दो वर्ष का होते-होते हम उनके सामने भिन्न-भिन्न 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural patterns) रखने लगते हैं। यह सब का अनुभव है कि गुड़िया से खेलना दोनों एक-साथ शुरू करते हैं, किन्तु बालक गुड़िया से खेलना जल्दी छोड़ देता है। अगर देर तक खेले तो माता-पिता ही कहने लगते हैं—तू लड़की है जो

गुड़िया से खेलता है। बालक-बालिकाओं को शुरू से भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े पहनाये जाते हैं। बालिका अपने चारों तरफ़ के वातावरण में यह स्पष्ट अनुभव कर जाती है कि उसकी समाज में 'स्थिति' (Status) बालक से भिन्न है, उसने समाज में बालक से भिन्न पार्ट अदा करना है, उसका 'कार्य' (Role) बालक से अलग है। पहले वह इस प्रकार के भिन्न 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' के विरुद्ध प्रतिक्रिया करती है, परन्तु धीरे-धीरे इसे अवश्यम्भावी समझ कर और यह देखकर कि घर में उसकी माता की स्थिति भी पिता से नीची है, वह अपनी इस 'स्थिति' (Status) तथा अपने इस 'कार्य' (Role) के साथ अपने को सहमत कर लेती है।

प्रश्न

(१) बालक तथा बालिकाओं में हमारे समाज में जो भेद दिखाई देता है वह प्राणिशास्त्रीय भेद है या सामाजिक भेद ?

१५

बालक के विकास के शारीरिक-दोष—कारण और निदान

(PHYSICAL DEFECTS AND ABNORMALITIES OF DEVELOPMENT—THEIR CAUSES AND REMEDIES)

विद्यार्थी के शारीरिक-विकारों के सम्बन्ध में शिक्षक को जितना पता हो सकता है उतना दूसरे किसी को नहीं। माता-पिता के सामने तो बालक डट कर नहीं बैठता। शिक्षक के सामने दिनों, महीनों, वरसों बालक को डटकर बैठना पड़ता है इसलिए वह आसानी से जान सकता है कि उसके शरीर में कोई विकार है या नहीं। इसलिए प्रत्येक शिक्षक के लिए स्वास्थ्य के नियमों का जानना आवश्यक है। बालक के शरीर में जो विकार उत्पन्न हो जाते हैं उनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

१. उठने-बैठने (POSTURES) के दोष

बालक भिन्न-भिन्न ढंगों से बैठते, खड़े होते हैं। ग़लत तरीक़े से बैठने और खड़े होने से शरीर के कई अंग विकृत हो जाते हैं, रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो जाती है, आँखों पर ज़ोर पड़ने से वे कमज़ोर हो जाती हैं। क्योंकि बालक को अधिक समय पाठशाला में बैठे-वैठे बिताना होता है अतः उसके अंगों के विकृत हो जाने की अधिक ज़िम्मेवारी शिक्षक पर आ पड़ती है। प्रायः चार अवस्थाओं में बैठने आदि की आवश्यकता पड़ती है, अतः इन चारों के समय बालक के शरीर के ढंग पर ध्यान देना चाहिए, वे समय हैं—(१) गुरु से सुनते समय बैठना, (२) स्वयं पढ़ते हुए बैठना, (३) लिखते समय बैठना तथा (४) खड़ा होते समय अंगों का समतोलन। हम इन चारों पर कुछ-कुछ विचार करेंगे :—

गुरु से सुनते समय बैठने का ढंग—

गुरु से विद्या ग्रहण करते समय बालक को सुनना होता है। उस समय सबसे अच्छा बैठने का तरीक़ा यह है कि कटि-प्रदेश के नीचे का भाग कुर्सी पर सम रूप से टिका हुआ हो, और रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। ज्यादा-तर बैठने में रीढ़ की हड्डी पर ही जोर पड़ता है अतः उसी पर ध्यान देना आवश्यक है। सीधा बैठने में रीढ़ की हड्डी में चार घुमाव पड़ते हैं। गले के पीछे घुमाव अंदर को होता है, कन्धों के पास आकर बाहर को, वहाँ से पेट के पीछे की तरफ़ अन्दर को, और फिर बाहर को। बालक जब ग़लत तरीक़े से बैठता है, तब पेट के पीछे का घुमाव अन्दर की तरफ़ होने के बजाय बाहर की तरफ़ आ जाता है। बार-बार इस स्थिति में आने से कमर झुकने लगती है। बालक को सीधा बैठना चाहिए ताकि रीढ़ की हड्डी झुकने न पाये। सीधा भी देर तक वह नहीं बैठ सकता इसलिए पीठ पीछे ऐसा सहारा होना चाहिए जो उसे ठीक स्थिति में बैठने में सहायता पहुँचाये।

स्वयं पढ़ते समय बैठने का ढंग—

पढ़ते समय भी सीधा बैठना चाहिए। पुस्तक आँख से १२ इंच दूर रखनी चाहिए, नजदीक रखने से नजर छोटी हो जाती है। जरूरत से ज्यादा दूर तो बालक स्वयं ही नहीं रखता। पुस्तक को न तो आँख के बिल्कुल नीचे ही रखना चाहिए, न सिर सीधा करके बिल्कुल उसकी सीध में, आँख से ४५ अंश के कोण में पुस्तक रख कर पढ़ना चाहिए। प्रकाश बायें कन्धे के ऊपर से पुस्तक पर पड़ना चाहिए, आँख पर नहीं पड़ना चाहिए। बालक कभी-कभी बहुत आगे झुक कर पढ़ने लगते हैं। आगे झुकने से छाती संकुचित हो जाती है, बोझ पेट पर आ पड़ता है, हृदय पर दबाव पड़ता है, ऐसे बैठने से बालकों को रोकना चाहिए।

लिखते समय बैठने का ढंग—

बालक की रीढ़ की हड्डी पर सबसे अधिक बुरा प्रभाव लिखते समय ग़लत बैठने का पड़ता है। लिखने से रीढ़ की हड्डी पर जोर पड़ने से वह दायीं तरफ़ झुक जाती है। दायीं तरफ़ इसलिए झुक जाती है क्योंकि बालक दायें हाथ से लिखता है, और लिखते समय दायीं तरफ़ ही वह अधिक झुकता है इसलिए जोर पड़ने से रीढ़ का दायाँ हिस्सा उभर आता है।

लिखते समय बालक मानो शरीर की मांस-पेशियों से कुश्ती कर रहा होता है। किसी बालक को लिखते समय देखने से स्पष्ट हो जायगा कि वह सिर से लेकर पैर तक सब अंगों का प्रयोग करता है, कभी भौं तानता है, कभी दायें को होता है, कभी बायें को होता है, कभी पलथी बदलता है, कभी पेंसिल को ऊपर से, कभी नीचे से दबाता है । इसका यह अभिप्राय है कि जितना हम समझते हैं लिखना बालक के लिए उतना साधारण काम नहीं है, और इस असाधारण प्रक्रिया को सीखते-सीखते बालक के अंग विकृत हो जाने की संभावना उत्पन्न हो जाती है। अगर हम ध्यान रखें कि शुरू में बालक (१) लिखना किस प्रकार सीख रहा है, (२) किस प्रकार पेंसिल आदि को पकड़ता है, (३) बायें हाथ का प्रयोग करता है या नहीं, (४) लिखते समय कैसे बैठता है, तो लिखने से उत्पन्न होने वाले अनेक दोषों को दूर किया जा सकता है।

लिखना सीखने के प्रकार पर शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि शुरू-शुरू में एक साल तक छोटे अक्षर नहीं सिखाने चाहिएँ। पहले-पहल रंगीन चाक से कृष्ण-पट पर भिन्न-भिन्न बड़ी-बड़ी, गोल, अर्ध-गोल, सीधी, टेढ़ी लकीरें लगाने का अभ्यास कराना चाहिए। इसके बाद दो इंच बड़े अक्षर लिखने का अभ्यास कराना चाहिए। क्योंकि यह सब खड़े-खड़े होगा अतः किसी विशेष अंग पर जोर नहीं पड़ेगा। तीसरे वर्ष पेंसिल और अंत में कलम हाथ में देनी चाहिए। लिखने के ढंग पर शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि अक्षर सीधे लिखने का अभ्यास कराना चाहिए, टेढ़े नहीं। टेढ़े अक्षर लिखने में एक तरफ़ झुकना पड़ता है, जिससे शरीर का दबाव एक तरफ़ पड़ने से रीढ़ की हड्डी के झुक जाने का भय है। पेंसिल आदि इस प्रकार पकड़ना चाहिए, जिससे हथेली दीखती रहे, हाथ को कागज़ पर बिल्कुल उल्टा करके नहीं लिखना चाहिए। बायें हाथ के प्रयोग न करने से सारा बोझ दायें हाथ पर, और दायें हाथ से शरीर के दायें भाग पर पड़ता रहता है। इसे दूर करने के लिए बायें हाथ से कागज़ को पकड़े रहना, उसे लिखते समय आवश्यकतानुसार ऊपर करते रहना ठीक है। कभी-कभी बायें हाथ से लिखने का भी अभ्यास कराना चाहिए, इससे शरीर को लाभ पहुँचता है। लिखते हुए बैठते समय कागज़ बालक के बिल्कुल सामने

रखना चाहिए। कई बार काग़ज़ को दूर एक तरफ़ रख कर बालक लिखने लगते हैं। लिखते समय पैर जमीन पर सम रूप से टिकाये रखना चाहिए। किसी एक तरफ़ जोर नहीं पड़ना चाहिए।

खड़े होते समय अंगों का सम-तोलन—

खड़े होने में सबसे अच्छा तरीक़ा तो यह है कि दोनों एड़ियाँ एक-दूसरे से जरा दूर, परन्तु आमने-सामने रहें, और शरीर का सारा बोझ दोनों टाँगों पर बराबर पड़े, छाती उभरी रहे, सिर सीधा, ठोडी जरा आगे को रहे। परन्तु इस स्थिति में बालक भी देर तक नहीं रह सकता। इस स्थिति को बदलना हो, तो एक टाँग कुछ आगे रखकर दूसरी टाँग पर बोझ डाल देना चाहिए, और इस प्रकार टाँग को आगे-पीछे बदलते रहना चाहिए। प्रयत्न यह होना चाहिए कि सब अंगों पर उनकी शक्ति के अनुसार समान बोझ पड़े, और अगर किसी अंग पर देर तक बोझ पड़ता रहे, तो उसे आराम का समय भी मिल जाय। इसी को 'योग-दर्शन' ने 'तत्र स्थिर-सुखम् आसनम्' कहा है—जिसमें आराम मिले वही आसन है, वही बैठने-उठने का ठीक तरीक़ा है।

२. आंखों के दोष

मनोविज्ञान को जानने वाले इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियों के मार्ग से हम तक पहुँचता है। इन्द्रियों में भी आँख तथा कान का हमारे ज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। अगर हम वस्तु को ठीक-से देख नहीं सकते या शब्द को ठीक से सुन नहीं सकते, तो ज्ञान में कमी रह जाना स्वाभाविक है। अनेक बालकों का विकास आँख अथवा कान की कमजोरी के कारण रुक जाता है। कई बालक वास्तव में हीन-बुद्धि के नहीं होते, अपितु आँख-कान की शिकायत के कारण वे पछड़ रहे होते हैं, और शिक्षक समझता है कि उनकी बुद्धि का दोष है। शिक्षक को इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिए कि कहीं आँख-कान के दोष से तो बालक पढ़ाई में पीछे नहीं रह रहा। आँख के मुख्य दोष निम्न हैं:—

लघु-दृष्टि (Myopia or Short-sightedness)

आँख की रचना का अध्ययन प्रत्येक शिक्षक को कर लेना चाहिए। इस अध्ययन से उसे मालूम हो जायगा कि आँख व गोलक के भीतर एक ताल

(Lens) है जिस पर बाहर की वस्तु की प्रतिमा पड़ती है। जैसे फ़ोटो के कैमरा के भीतर एक प्लेट रहती है, जिस पर फ़ोटो की परछाँही पड़ती है, इसी प्रकार इस ताल में से गुज़र कर बाहर की प्रतिमा आँख की प्लेट पर पड़ती है। इस प्लेट को 'दृष्टि-पटल' (Retina) कहते हैं। अगर ताल में से गुज़रने पर प्रतिमा ठीक दृष्टि-पटल पर पड़े, तब तो सब-कुछ ठीक दीखता है। अगर प्रतिमा इस दृष्टि-पटल पर न पड़ कर आगे या पीछे पड़े, तो वस्तु धुन्धली नज़र आती है। प्रतिमा पीछे पड़े, तो ऐसी ऐनक लगानी पड़ती है जो प्रतिमा को आगे लाकर ठीक दृष्टि-पटल पर डाले, प्रतिमा आगे पड़े, तो ऐसी ऐनक लगानी पड़ती है जो प्रतिमा को पीछे ले जाकर ठीक दृष्टि-पटल पर डाल दे।

जिनकी आँख की 'कनीनिका' (Cornea) या आँख का 'ताल' (Lens) 'उन्नतोदर' (Convex) हो जाते हैं, उनकी आँख में बाह्य-वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' (Retina) पर न पड़ कर, पहले पड़ जाती है। प्रतिमा को 'दृष्टि-पटल' तक पहुँचाने के लिए पुस्तक आदि को आँख के बहुत पास लाना पड़ता है । इसी को 'लघु-दृष्टि' (Myopia) कहा जाता है। लघु-दृष्टि वाला बालक पुस्तक को आँख के बहुत निकट लाकर पढ़ता है। बोर्ड पर लिखा हुआ उसे कुछ दीख नहीं पड़ता। जब उसे दीखता ही ठीक नहीं, तो वह पढ़ेगा क्या ? उसकी आँख ठीक करने के लिए 'अवनतोदर-ताल' (Concave Lens) की ऐनक बनवाना ज़रूरी हो जाता है जो किसी योग्य चिकित्सक से परीक्षा कराकर लेने से आँख ठीक-से देखने लगती है। स्कूलों में पढ़ने वाले बालकों को आँख से बहुत काम लेना पड़ता है, उन्हें प्रकाश आदि की पूरी सुविधा मिलती नहीं, आँख पर बोझ पड़ने से इन बच्चों की लघु-दृष्टि हो जाती है। लघु-दृष्टि वालों को आँख पर बहुत बोझ नहीं ड़ालना चाहिए, सूक्ष्म-वस्तुओं पर देर तक आँखें नहीं गड़ानी चाहिएँ, न ही बहुत बारीक टाइप की पुस्तक को पढ़ना चाहिए। पढ़ते हुए पुस्तक को १० इंच की दूरी पर रखना चाहिए।

दीर्घ-दृष्टि (Hypermetropia or Long-sightedness)—

जैसे आँख का ताल 'उन्नतोदर' (Convex) होने से वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' पर पहुँचने से पहले पड़ जाती है, वैसे आँख का ताल 'अवनतो-

दर' (Concave) होने से बाह्य-वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' से आगे निकल जाती है। उसे पीछे से खींच कर आगे 'दृष्टि-पटल' पर लाने का तरीका यह है कि 'उन्नतोदर-ताल' (Convex Lens) की ऐनक लगाई जाय। बालकों की दृष्टि प्रायः 'लघु-दृष्टि' होती है, 'दीर्घ-दृष्टि' नहीं। 'दीर्घ-दृष्टि' वाला पास की चीज़ को ठीक-से नहीं देख सकता, दूर की चीज़ को ठीक-से देख लेता है। उसे बोर्ड पर लिखा सब दीखेगा, पास रखी पुस्तक को वह ठीक-से नहीं पढ़ सकेगा। यह दोष प्रायः बुढ़ापे में प्रकट होता है।

विषम-दृष्टि (Astigmatism Retina)—

लघु-दृष्टि तथा दीर्घ-दृष्टि में बाह्य-वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' (Retina) से आगे या पीछे जहाँ भी पड़ती है, वहाँ तो स्पष्ट ही होती है, प्रश्न सिर्फ़ उसे आगे-पीछे ले जाकर 'दृष्टि-पटल' पर डालने का होता है। परन्तु कभी-कभी प्रतिमा जहाँ पड़ती है, वहाँ भी अस्पष्ट होती है, कुछ किरणें ठीक अपने केन्द्र पर पड़ रही होती हैं, कुछ नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि देखने वाले को वस्तु का जितना हिस्सा भी दीखता है, वह भी एक-सा नहीं दीखता। इस दोष को 'विषम-दृष्टि' कहा जाता है। इसके लिए ऐनक का लेन्स भी विषम बनाना पड़ता है। यह विकार बहुधा बालकों में पाया जाता है, और इसके कारण प्रायः उन्हें सिरदर्द, थकावट आदि अनुभव होती है।

रंगों को न पहचानना (Colour blindness)—

कई बच्चों को कई रंग नहीं दीखते। किसी को लाल नहीं दीखता, किसी को हरा। लड़कों में लड़कियों की अपेक्षा यह रोग अधिक पाया जाता है। कोई बालक रंग के प्रति अन्धा है या नहीं—यह परीक्षा करने पर ही पता लगता है। जबतक परीक्षा नहीं होती तब तक न इस बात का पता शिक्षक को होता है, न बालक को। यह रोग दूर नहीं किया जा सकता।

३. कानों के दोष

आँख के विकार की तरह कान का विकार भी बालक के विकास में बाधक है। अगर अध्यापक लोग अपने बालकों की परीक्षा करेंगे तो उन्हें यह देख कर आश्चर्य होगा कि कितने ही बालक इस रोग के शिकार होते हैं। कइयों को एक कान से, कइयों को दोनों कानों से या तो बहुत कम

सुनता है, या सुनाई ही नहीं देता। छान-बीन से पता चला है कि २० प्रतिशत के लगभग बालकों को थोड़ा-बहुत बहरापन होता है। जिस बालक को कम सुनाई देता है उससे आप सीधे बात करें, तो उसे सब-कुछ सुनाई देगा, परन्तु स्कूल में जो सब-कुछ चल रहा है उसमें से उसके पल्ले बहुत कम पड़ता है क्योंकि सीधा उससे तो कोई बात नहीं करता। ऐसे बालकों का भाषा-ज्ञान भी दूसरों से कम रहता है क्योंकि उनकी ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग से उन्हें बहुत कम भोजन मिलता है। बहरे प्रायः गूंगे भी पाये जाते हैं—इसका यह कारण नहीं कि उनकी जबान ठीक नहीं, परन्तु इसका यह कारण होता है कि कान के द्वारा उनके पास कुछ पहुँचा ही नहीं होता जिसे वे बोल सकें। कर्ण-रोगी बालकों का पढ़ाई में ध्यान नहीं लगता, वे जल्दी थक जाते हैं, चिड़चिड़े स्वभाव के हो जाते हैं, उनका विकास भी रुक जाता है। इस सब का कारण यही है कि उनके पल्ले बहुत कम पड़ता है।

४. नाक के दोष

नाक की भीतरी सतह पर जहाँ नाक मुँह में खुलती है, मोटे-मोटे दानों के पैदा हो जाने का नाम 'ऐडेनॉयड' (Adenoids) होता है। इन दानों से नाक का रास्ता बन्द हो जाता है, और बालक मुंह से साँस लेने लगता है। कभी-कभी 'ऐडेनॉयड' के कारण बालक बहरे भी हो जाते हैं। ऐसे बच्चों का चेहरा देखते ही भान हो जाता है कि इनको यह तकलीफ़ है। 'ऐडेनॉयड' वाले बच्चों का मुँह खुला हुआ, नाक पिचकी हुई, तेजहीन मूढतापूर्ण चेहरा हो जाता है। साधारण स्वास्थ्य गिर जाता है, छाती चपटी हो जाती है, उसमें पूरी हवा नहीं जा पाती। ऐसे बच्चों का शारीरिक तथा मानसिक विकास रुक जाता है। अध्यापक लोग कारण की खोज किये बगैर ऐसे बच्चों को नाहक सज़ा दिया करते हैं। ऐसे बच्चों के 'ऐडेनॉयड' का किसी योग्य चिकित्सक से ऑपरेशन करा देने के बाद उनकी प्रगति शीघ्र होने लगती है।

५. वाणी के दोष

कई बालकों को वाणी-सम्बन्धी दोष होते हैं। वाणी-सम्बन्धी दोषों के चार कारण कहे जाते हैं:—

पहला कारण शब्दों के उच्चारण से सम्बन्ध रखता है। कई बच्चे

बोलते-बोलते कुछ अक्षर मुँह में खा जाते हैं, कई नाक से बोलते हैं, कई स को फ बोलते हैं। ये कारण 'शब्दोच्चारण' से सम्बन्ध रखते हैं, अतः इन्हें 'उच्चारण-सम्बन्धी' (Articulatory) कहा जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए बहुत अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। बालक को ठीक ढंग से बोलना सिखाने से और उसे बार-बार शुद्ध उच्चारण का अभ्यास कराने से यह दोष जाता रहता है।

दूसरा कारण शारीरिक-विकार से सम्बन्ध रखने के कारण 'शारीरिक' (Organic) कहाता है। किसी बच्चे की जीभ छोटी है, किसी की जरूरत से कुछ बड़ी है। किसी की जीभ का वह हिस्सा जो जबड़े में नीचे से जुड़ा होता है, कम कटा होता है। कइयों के तालु में छेद होता है। इन भिन्न-भिन्न मुख-सम्बन्धी विकारों के कारण स, द, ट, ल को तो कोई ब, क, द, ग को और कोई अन्य किसी अक्षर को ठीक-से नहीं बोल सकता। अगर शारीरिक-विकार ऐसा है जो दूर किया जा सकता है तब तो ऐसे बालकों का दोष छूट सकता है, अन्यथा नहीं।

तीसरा कारण स्नायु-सम्बन्धी होने के कारण 'स्नायवीय' (Neurological) कहाता है। उदाहरणार्थ, कई बालक जो बाँयें हाथ का ही उपयोग करते हैं, जब कभी दाँयें हाथ का इस्तेमाल करने के लिए बाधित हो जायें, तो उनके बोलने में दोष आ जाता है। बोलने के ज्ञान-केन्द्रों में कोई दोष आ जाय तब भी बालक ठीक-से नहीं बोल सकता।

चौथा कारण मानसिक होने के कारण 'मनोजन्य' (Psychogenic) कहाता है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी लड़ाई के दिनों में जब कभी हवाई हमला हो जाय या पास ही कहीं बम का धमाका हो, तो बोलती बन्द हो जाती है। इसमें स्नायु-तन्तु ठीक रहते हैं, परन्तु हिस्टीरिया की-सी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जो मानसिक-चिकित्सक द्वारा ठीक की जा सकती है। 'तुतलाना' (Stammering) प्रायः किसी आभ्यन्तरिक मानसिक क्षोभ के कारण प्रारम्भ होता है। बहुधा देखा जाता है कि क्रोध में मनुष्य तुतलाने लगता है। यह ठीक है कि तुतलायेगा वही जिसका स्नायवीय-गठन दोष-युक्त हो, इसलिए तुतलाने का स्नायुओं तथा मानसिक-क्षोभ—इन दोनों के साथ सम्बन्ध है। तुतलाने वाला अगर धीरे-धीरे

बोले और बोलते हुए मुँह में एक छोटा-सा पत्थर रख ले, तो इस दोष में कमी आ जाती है, इससे कभी-कभी यह दोष जाता रहता है।

६. दाँत

दाँत दो तरह के होते हैं—दूध के दाँत और पक्के दाँत। छः मास की अवस्था में दूध के दाँत निकलने शुरू होते हैं, सात-आठ वर्ष की अवस्था में उनके स्थान पर पक्के दाँत आने लगते हैं। पक्के दाँतों की संख्या ३२ होती है। मसूड़े तक दाँत की सफ़ेदी को 'इनमैल' कहते हैं, इसमें ज्ञान-तन्तु नहीं होते, इनमैल के नीचे भीतरी हिस्से को 'डेन्टाइन' कहते हैं, इसमें ज्ञान-तन्तु रहते हैं। 'इनमैल' सख्त होता है, 'डेन्टाइन' कोमल होता है।

मुख का रस 'अल्कली' होता है, परन्तु अगर मुख में भोजन के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहें तो सड़ कर 'अम्ल' उत्पन्न कर देते हैं। यही अम्ल 'इनमैल' को खा जाता है, और इसे दाँतों में कीड़ा लगना, या 'केरीज़' कहा जाता है। 'इनमैल' के नष्ट हो जाने पर भीतर का 'डेन्टाइन' बाहर आ जाता है, खाते समय 'डेन्टाइन' के ज्ञान-तन्तुओं को, स्पर्श से, मीठा आदि लगने लगता है। भोजन के टुकड़ों के सड़ने से उत्पन्न हुए 'अम्ल' को रोकने के लिए 'सोडा बाई-कार्ब' या 'बोरैक्स' का किसी 'एन्टी-सेप्टिक' के साथ प्रयोग करने से मुख शुद्ध होता है, दाँत ख़राब नहीं होते। दूध के दाँतों को भी मंजन से साफ़ करना आवश्यक है, क्योंकि सड़े हुए दाँत के बाद सड़ा हुआ दाँत निकलने की सम्भावना रहती है। नीम की दातुन अच्छी है, इससे मुख का स्वाद भी ठीक बना रहता है। प्रातः उठने के बाद और सोने से पहले दाँत साफ़ कर लेना अच्छा है। बच्चों के दाँतों की तरफ़ बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि दाँत के दर्द को ठीक करने की अपेक्षा दर्द न होने देना अधिक बुद्धिमत्ता है।

७. सिर की सफ़ाई

वैसे तो सभी अंगों की सफ़ाई आवश्यक है, परन्तु बच्चों के सिर की सफ़ाई का प्रश्न बहुत विकट है। लड़कियों और लड़कों के सिर जूँओं से भरे रहते हैं। एक जूँ की आयु तीन-चार सप्ताह तक की है, और इस अरसे में वह सौ अण्डे दे देती है जिन्हें लीख कहते हैं। एक से दूसरे तक पहुँचने में इन्हें देर नहीं लगती। बालक खुजा-खुजा कर तंग हो जाते हैं। जिस

बालक के जूँएँ पायी जाँय, उसे अन्य बालकों से पृथक् कर देना चाहिए और रात को सोने से पहले साबुन से सिर धोकर सिर में अच्छी तरह से 'पैरेफ़ीन ऑयल' मल देना चाहिए। दो-तीन रात लगातार साबुन से सिर धोकर 'पैरेफ़ीन ऑयल' लगाने से जूँएँ मर जाती हैं, और पतली कंघी फेरने से लीख निकल जाती हैं। कभी-कभी गन्दे कपड़े रखने से 'कपड़े की जूँ' पैदा हो जाती हैं। इनका इलाज ऐसे कपड़ों पर इस्त्री करा देना है। इस्त्री की गर्मी से वे मर जाती हैं। जब तक किसी बालक के सिर या कपड़ों में जूँएँ हों तब तक उसे दूसरों के साथ नहीं मिलने देना चाहिए।

८. पेट की सफ़ाई

दाँत ठीक न होने से पाचन-शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है, दाँतों का काम पेट को करना पड़ता है। पाचन ठीक न होने से पेट साफ़ नहीं होता, और बालक को कब्ज की शिकायत रहती है। ठीक समय पर पेट का साफ़ होना अत्यन्त आवश्यक है। गन्दी और सड़ी हुई हवा से बीमारी होती है, इसे सब कोई जानते हैं, परन्तु पेट में जो गन्दी और सड़ी हवा जमा रहती है, उसकी तरफ़ हमारा ध्यान नहीं जाता। प्रातःकाल ठीक समय पर प्रति-दिन शौच जाने से उसी समय शौच जाने का अभ्यास हो जाता है, और आयु-पर्यन्त यह अभ्यास स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखता है, औषधियों की आवश्यकता नहीं रहती। पेट में कृमि हों, तो बालक सोते हुए दाँत किट-किटाता है, उसके पेट में एकदम दर्द हो उठता है, कभी-कभी मृगी आने लगती है, ऐसे समय डाक्टर को दिखाकर फ़ौरन इलाज कराना चाहिए।

९. सांस ठीक-से लेना

नाक का काम साँस लेना है, परन्तु कई बालक मुख से साँस लेते हैं। मुख से साँस लेने का कारण आदत भी हो सकती है, परन्तु प्रायः इसका कारण नाक का रुक जाना है। नाक रुकने के अनेक कारण हैं। सर्दी लग जाना, नाक की झिल्ली का मोटा पड़ जाना, नाक में बटन, इकन्नी आदि का फँस जाना तथा 'ऐडेनॉयड' से बच्चे मुख से साँस लेने लगते हैं। 'ऐडेनॉयड' नाक की भीतरी सतह पर, जहाँ नाक मुँह में खुलती है, मोटे-मोटे दानों के पैदा हो जाने का नाम है। प्राणायाम से 'ऐडेनॉयड' ठीक हो जाते

हैं, बहुत बढ़ जाँय तो इनका आपरेशन करा देना अच्छा है। अध्यापक को चाहिए कि जो बालक मुख से साँस लेते हैं उनका ध्यान रक्खे।

फेफड़ों से हम शुद्ध हवा लेते हैं। फेफड़ों द्वारा ही हवा की ऑक्सीजन रुधिर में मिलती और कार्बन गैस बाहर निकलती है। साधारणतया हमारा साँस फेफड़ों के ऊपर-ऊपर ही रहता है, फेफड़ों की गहराई तक नहीं पहुँचता, इसलिए सारे फेफड़े में 'ऑक्सीजन' नहीं पहुँच पाती। गहरा साँस लेने से पूरे फेफड़े में 'ऑक्सीजन' पहुँच जाती है।

१०. नींद

बालक की नींद कम करना उसका भोजन कम कर देने के समान है। ६ वर्ष से कम के बालकों को १३ घंटे सोना चाहिए, ७ वर्ष के बालक को १२½ घंटे, ८ वर्ष के बालक को १२ घंटे, इस प्रकार १९ वर्ष तक आध-आध घंटे कम करते हुए १९ वर्ष के व्यक्ति को ९ घंटे सोना चाहिए। कई लोगों का विचार है कि मानसिक कार्य की थकावट को शारीरिक परिश्रम से दूर किया जा सकता है। यह ग़लत धारणा है। मानसिक तथा शारीरिक थकावट—दोनों थकावटें हैं, और थकावट की दूरी नींद से, विश्राम से होती है। प्रायः देखा गया है कि कम नींद लेने पर बालक लिखने-पढ़ने में ज्यादा अशुद्धियाँ करता है, वही बालक नींद लेने पर कम अशुद्धियाँ करता है। बालकों की वृद्धि का अधिक भाग नींद लेते समय होता है, अतः नींद में कमी नहीं आने देनी चाहिए। छोटे बालकों का स्कूल के समय भी सोने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके बजाय कि बालक सब अन्तरों में सोते रहें, या ऊँघते रहें, किसी एक निश्चित समय पर आध घंटे के लिए सुला दिये जाँय, तो उनमें नव-जीवन आ जाता है। दीर्घावकाश का महत्त्व यही है कि उसमें अत्यन्त परिश्रम कर लेने के बाद बालकों को आराम करने का समय मिल जाता है। हमारे बालकों को जितना मानसिक परिश्रम करना पड़ता है, उसके साथ दीर्घावकाश न हो तो कई बालकों का स्वास्थ्य बिल्कुल गिर जाय। दीर्घावकाश के समय को साल भर में बाँट देना अधिक उपयोगी है।

प्रश्न

(१) बालक के विकास के शारीरिक-दोषों पर एक निबन्ध लिखो और दर्शाओ कि उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?

१६

बालक के विकास के मानसिक तथा उद्वेगात्मक दोष एवं अस्वाभाविकता—कारण तथा निदान

(INTELLECTUAL AND EMOTIONAL DEFECTS AND ABNORMALITIES OF DEVELOPMENT OF THE CHILD—THEIR CAUSES AND REMEDIES)

१. ,दोष' तथा 'अपराध' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

रुकावट पाकर 'ज्ञान', 'इच्छा', 'क्रिया' का सीधे नहीं परन्तु टेढ़ ढंग से अपने को पूरा करना अपराध का पहला रूप है—

हम पहले देख चुके हैं कि पशुओं तथा मनुष्यों में कई 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) होती हैं, जो इस जन्म में नहीं सीखी जातीं, जो जन्म के साथ ही आती हैं। इन 'प्राकृतिक-शक्तियों' के कारण प्राणी में तीन बातें पाई जाती हैं। पहली बात तो यह है कि प्राणी तथा उसकी जाति की जीवन-रक्षा के लिए जो बातें आवश्यक हैं, उनकी तरफ़ उसमें खुद-ब-खुद 'रुचि' (Interest) उत्पन्न होती है, उनकी तरफ़ उसका ध्यान खिंचता है; दूसरी बात यह है कि उनकी तरफ़ ध्यान खिंचने के बाद प्राणी में सुख या दुःख का 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग' (Emotion) उत्पन्न होता है; तीसरी बात यह है कि इस 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग' के उत्पन्न होते ही प्राणी के शरीर में 'क्रिया' (Action) उत्पन्न होती है, जिसके कारण वह उस वस्तु को प्राप्त करने या उससे दूर भागने का प्रयत्न करता है। प्राणी के प्रारम्भिक इतिहास से ही हमारी किन्हीं वस्तुओं को देखकर उनकी तरफ़ 'रुचि'; उसके अनुकूल या प्रतिकूल 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग'; और उस 'क्षोभ' या 'उद्वेग' की बेचैनी को दूर करने के लिए परिणाम-स्वरूप प्राणी का 'व्यवहार' या 'क्रिया'—ये तीन प्रक्रियाएँ पाई जाती हैं। ये

तीनों 'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing) के ही रूपान्तर हैं। पशु ने तो 'संयम' सीखा नहीं होता, अतः शेर अगर 'भूखा' हो, तो शिकार देखकर 'बेचैन' हो जाता है, और यह 'बेचैनी' तब तक दूर नहीं होती, जब तक वह उस पर 'लपक' कर उसे खाने नहीं लगता। हरिण भेड़िये को 'देख' कर 'डर' जाता है, और अपनी जान बचाने के लिए या तो 'भाग' खड़ा होता है, या भाग नहीं सकता तो सींगों से 'लड़ता' है। ये सब 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) ऊपर की तीनों प्रक्रियाओं—'ज्ञान', 'इच्छा', 'कृति'—में से स्पष्ट गुज़रती नज़र आती हैं। जीवन की रक्षा के लिए 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का उक्त तीनों प्रक्रियाओं में से गुज़रना आवश्यक है, नहीं तो प्राणी इस जीवन-संग्राम में टिक नहीं सकता। जब तक मनुष्य जंगली अवस्था में था, तब तक उसके जीवन की रक्षा के लिए भी 'रुचि'—'मानसिक-क्षोभ'—'क्रिया' इसी प्रक्रिया की आवश्यकता थी, परन्तु ज्यों-ज्यों वह सभ्य होता गया, त्यों-त्यों उसने 'संयम' सीखना शुरू किया। भूखे आदमी के लिए भोजन देखते ही बेचैन होकर उस पर टूट पड़ना अनुचित समझा जाने लगा; पुरुषों तथा स्त्रियों का पशुओं की तरह मिलना-जुलना लज्जास्पद हो गया; भयानक वस्तु को देखकर भाग खड़े होना कायरता हो गया। परन्तु इस प्रकार के नियन्त्रण के लिए 'संयम' की आवश्यकता है, यह 'संयम' तो सीखा जाता है, जन्म से तो हम पशुओं की तरह 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) को लेकर ही आते हैं। भूख-प्यास, लड़ना-झगड़ना, छीनना-झपटना, विषय-वासना आदि 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) को संयम में न रखकर, 'रुचि'—'मानसिक-क्षोभ'—'क्रिया' इस प्रक्रिया में से पशु की तरह बिना रुकावट बहने देने को मनुष्य-समाज उचित नहीं समझता। 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) तो अपना पूरा रास्ता—'रुचि', 'क्षोभ', 'क्रिया'—तय करके दम लेती है—यह प्रक्रिया तो उसकी जान है—परन्तु मानव-समाज के नियम इस प्रक्रिया में रुकावट डालते हैं। परिणाम यह होता है कि 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) इस प्रक्रिया को तो पूरा कर लेती है, परन्तु सीधे ढंग से पूरा करने के स्थान में टेढ़े ढंग से पूरा करती है। इसी टेढ़े ढंग से 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) की

'रुचि'—'क्षोभ'—'क्रिया' की प्रक्रिया के पूरा होने को हम 'दोष' या 'अपराध' कहते हैं। बालक को भूख लगी। बालक अगर पशु के तरीक़े से चले तब तो जहाँ उसे भोजन दीखे वहाँ से उठाकर खा ले। परन्तु समाज इसमें रुकावट डालता है, इसे बुरा मानता है। नतीजा यह होता है कि 'भूख' की 'प्राकृतिक-शक्ति' सीधे रास्ते से अपनी प्रक्रिया पूरा करने के स्थान पर, समाज के नियमों को रुकावट के तौर पर अपने सम्मुख खड़ा हुआ देख, टेढ़े रास्ते से उसी प्रक्रिया को पूरा करती है, और बच्चा 'चोरी' करके भूख को शान्त कर लेता है। 'प्राकृतिक-शक्ति' के क्रिया में परिणत होने के मार्ग में जो रुकावटें आती हैं—भले ही वे माता-पिता द्वारा खड़ी की गई हों, भले ही समाज द्वारा खड़ी की गई हों—उन्हें बालक जिन उपायों से दूर करता है, उन्हीं उपायों को हम 'दोष' (Fault) या 'अपराध' (Delinquency) कहते हैं। बालक को अपराध से बचाने का उपाय यही है कि उसकी 'प्राकृतिक-शक्ति' के प्रवाह को सीधा रोकने के स्थान पर उसे उचित दिशा में बहने दिया जाय। इसके बजाय कि बालक चोरी से किसी चीज़ को ले, और वह यह समझ ले कि चोरी से ही वह कुछ पा सकता है, इसके बिना नहीं, माता-पिता को चाहिए कि स्वयं उसे यह चीज़ दें, और उसमें यह भावना उत्पन्न कर दें कि पूछ कर चीज़ लेने में किसी प्रकार की आशंका नहीं बनी रहती। 'प्राकृतिक-शक्तियों' को शुद्ध मार्ग में, देख-रेख में, बहने का अवसर देना ही 'दोष' या 'अपराध' से बचाने का उपाय है।

अपराध का दूसरा रूप 'भावना-ग्रन्थियाँ हैं—

हमने अभी देखा था कि 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) में अपने को 'क्रिया' में लाने की एक अदम्य क्षमता होती है। इसका क्या कारण है? इसका कारण वह 'मानसिक-क्षोभ', 'उद्वेग' या 'बेचैनी' (Emotional disturbance) है, जो प्रत्येक 'प्राकृतिक-शक्ति' का आवश्यक अंग है। भूखे को भोजन देखकर 'बेचैनी' हो जाती है। कामी को विषय देखकर 'मानसिक-क्षोभ' उत्पन्न हो जाता है। यह 'बेचैनी', यह 'मानसिक-क्षोभ' तब तक बना रहता है, जब तक इच्छा पूर्ण नहीं हो जाती। बालक में किसी चीज़ के लिए जब बेचैनी पैदा हो जाती है, तब या तो अपनी इच्छा को पूर्ण करके वह उस बेचैनी को दूर कर लेता है, और कोई अपराध

कर बैठता है, और या उसे दवा देता है। अगर दबा देता है, तो क्या होता है? मनोविज्ञान का कथन है कि कोई इच्छा, ख़ास कर एक 'बेचैन-इच्छा', दबती नहीं। यह अन्दर जाकर दूसरे रूप में प्रकट होती है, और साथ ही अपनी बेचैनी किन्हीं दूसरी इच्छाओं को भी दे देती है। बच्चा किसी चीज़ को लेने के लिए बेचैन है। माँ ने उसे धमका दिया। बच्चे की इच्छा उस समय दव गई, परन्तु मौक़ा पाते ही उसने उसे चुरा लिया। साथ ही, क्योंकि उसकी वेचैनी अन्दर चली गई थी इसलिए दूसरी इच्छाओं के साथ भी वह जुड़ गई। इतना ही नहीं कि उसने चोरी करना सीख लिया, वह घर से भागना, अकारण गुस्सा करना भी सीख गया। दबा हुआ 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग' (Emotion) भीतर जाकर नष्ट नहीं होता। प्रकृति का नियम यह है कि शक्ति कभी लुप्त नहीं होती। ये दबे हुए 'मानसिक-क्षोभ' ही 'अज्ञात-चेतना' में 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) बना देते हैं। ये मानो 'अज्ञात-चेतना' में भावना की एक गाँठ बाँध देते हैं। जब तक यह गाँठ नहीं खुलती, तब तक बालक का व्यवहार स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक रहता है, वह 'अपराध' किया करता है। बच्चे को 'दोषों' या 'अपराधों' से बचाने का उपाय 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) को न बनने देना है। इच्छा के होते हुए 'मानसिक-क्षोभ' का होना 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का अंग है, परन्तु इच्छा के होने पर 'मानसिक-क्षोभ' को न होने देना मानवता की पराकाष्ठा है, विकास का ध्येय है। गीता में इसी अवस्था को 'निस्संगता', 'निष्कामता' कहा गया है, क्योंकि निष्काम-व्यक्ति की 'अज्ञात-चेतना' में 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) का निर्माण नहीं होता। यह मानसिक स्थिति साधना से प्राप्त होती है।

अपराध का तीसरा रूप 'प्राकृतिक-शक्ति' की प्रवलता या निर्बलता है—

'प्राकृतिक-शक्तियों' के प्रवाह के सामने रुकावट का आना तथा 'भावना-ग्रन्थियों' का बनना—इन दो के अतिरिक्त 'अपराध' का एक तीसरा रूप भी है। 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) दो प्रकार की हैं: 'सबल' (Sthenic) तथा 'निर्बल' (Asthenic)। 'सबल' में 'भोजनान्वेषण', 'भोग', 'क्रोध', 'संचय', 'पीछा करना', 'विचरण', 'जिज्ञासा',

'गिरोह में रहना', 'आत्म-गौरव' तथा 'क्रूरता'; 'निर्बल' में 'दैन्य', 'भय', 'घृणा', 'प्रेम', 'दुःख', 'खुशी' तथा 'खेल' सम्मिलित हैं। कई बालकों में जन्म से ही 'सबल-प्राकृतिक-शक्तियाँ' अधिक मात्रा में होती हैं, कई में न्यून मात्रा में; इसी प्रकार कई बालकों में 'निर्बल-प्राकृतिक-शक्तियाँ' जन्म से ही अधिक मात्रा में होती हैं, कई में न्यून मात्रा में। साधारण अवस्था का बालक तो संयम से काम ले लेता है, परन्तु स्वभाव से ही 'सबल' तथा 'निर्बल' प्राकृतिक-शक्तियों के बालकों के लिए 'संयम' संभव नहीं होता। इन प्राकृतिक-शक्तियों के बहुत अधिक या बहुत न्यून होने के कारण बालक जो-कुछ करते हैं, उसे भी हम 'दोष' या 'अपराध' कहते हैं। जिस बालक में भूख की 'प्राकृतिक-शक्ति' ही अधिक मात्रा में है, वह मौका पाकर चोरी कर सकता है; पूछने पर झूठ बोल सकता है; इस इच्छा पर रुकावट देखकर घर से भाग सकता है। जिस बालक में 'दैन्य' की प्रधानता है, वह बुरी संगत में झट पड़ जाता है; भीख माँगने लगता है; बुराई का मुकाबिला नहीं कर सकता। शिक्षक के लिए यह देखना है कि बालक जो अपराध कर रहा है, वह उस 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) के उसमें अधिक या न्यून होने के कारण तो नहीं। जिस बच्चे को भूख ही अधिक लगती है, उसका इलाज उसे अधिक भोजन देना है, नहीं तो वह चोरी से खायेगा। जिसमें काम-वासना अधिक है, उसे कला में व्यस्त कर देना उचित है, नहीं तो वह अपने को, और दूसरों को खराब करेगा। जिसमें क्रोध अधिक है, उसे कमज़ोर साथियों की रक्षा के लिए प्रोत्साहित करना ठीक मार्ग है, नहीं तो वह हर बात में यों ही लड़ेगा।

२. 'दोषों' तथा 'अपराधों' के कारण

'दोषों' तथा 'अपराधों' के कारण 'वंशानुसंक्रमण', 'परिस्थिति', 'शारीरिक-विकार', 'मानसिक-विकास का न होना', 'अवरुद्ध-इच्छा' और 'भावना-ग्रन्थियाँ' हैं। 'वंश' से जो 'दोष' या 'अपराध' आते हैं उनका कोई इलाज नहीं। ऐसे बच्चों के लिए 'रिफ़ार्मेटरी' आदि अलग ही स्थान हैं। ऐसे बालक शिक्षक के सामने बहुत आते हैं, परन्तु शिक्षक के पास उनका कोई इलाज नहीं। इन कारणों पर हम क्रमशः विचार करेंगे :—

अपराध का पहला कारण—'परिस्थिति'—

'परिस्थिति' दो प्रकार की हो सकती है: 'घर' या घर से 'बाहर' स्कूल आदि की परिस्थिति।

'घर' की 'परिस्थिति'—

(क) 'घर' में ग़रीबी के कारण बच्चे चोरी आदि कई अपराध करते हैं। ग़रीबी ही के कारण घर में खेलने की जगह कम होने से वे गलियों में फिरा करते हैं, और वहाँ बहुत-सी गन्दी बातें सीख जाते हैं।

(ख) माता-पिता के मर जाने से, विमाता के कारण, माता-पिता से देर तक पृथक् रहने या घर में इकला बच्चा होने से भी बालक बिगड़ जाते हैं।

(ग) घर के नियन्त्रण के अत्यन्त शिथिल होने या माता-पिता के अत्यन्त नियन्त्रण-शील होने से वालक या तो उच्छृंखल हो जाते हैं, या विद्रोह कर देते हैं, घर से भाग जाते हैं।

(घ) माता-पिता ही कभी-कभी शराबी, व्यभिचारी, झगड़ालू तथा कुसंगी होते हैं। उनके बच्चे उन्हीं से सब दीक्षा ले लेते हैं।

'घर से वाहर' की 'परिस्थिति'—

(क) घर से 'बाहर' या स्कूल की परिस्थिति का भी बच्चों के अपराधों पर बड़ा प्रभाव है। उसे कैसे साथी मिलते हैं, यह देखना बड़ा आवश्यक है।

(ख) ख़ाली समय को वह कैसे बिताता है? यह देखा गया है कि ख़ाली समय में बच्चा अधिक अपराध करता है। ज्यादातर अपराध शनि या रविवार को होते हैं। समय की दृष्टि से ज्यादा अपराध ४–५ बजे के बीच जब बालकों को स्कूल से छुट्टी होती है, तब होते हैं। क्या ख़ाली समय में वह सिनेमा—नाटक-घरों में जाता है, या क्रिकेट आदि खेलता है? क्या ख़ाली समय बिताने के लिए उसके पास आमोद-प्रमोद के उचित साधन हैं? उचित साधन न होंगे, तो अनुचित दिशा में उसका जाना स्वाभाविक हो जायेगा।

(ग) जिस समय उसका ख़ाली समय नहीं होता, वह काम में लगा होता है, उस समय को वह कैसे बिताता है—यह जानना भी आवश्यक है।

(घ) जिस स्कूल में वह पढ़ता है, क्या वह उसके विकास के अनुकूल है, या प्रतिकूल ? जो विषय वह पढ़ता है, उनमें उसकी रुचि है, या नहीं ? जिन अध्यापकों के सम्पर्क में वह आता है, वे कैसे हैं ?

(ङ) अगर बच्चा स्कूल में नहीं पढ़ता, कहीं बाहर नौकरी करता है, तो उसका काम उसकी रुचि के अनुकूल है, या नहीं।

उक्त सब परिस्थितियाँ बच्चे के अपराध करने या न करने में कारण बनकर आ खड़ी होती हैं। इनके आधार में भी कोई-न-कोई 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) या 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) अपने स्वाभाविक प्रवाह के 'अवरुद्ध' (Repressed) हो जाने के कारण, 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) बन जाने के कारण, या इन 'प्राकृतिक-शक्तियों' के न्यूनाधिक होने के कारण, 'अपराध' का रूप धारण कर लेती है।

अपराध का दूसरा कारण—'शारीरिक-विकार'—

कई बच्चों का शरीर विकसित नहीं हो पाता; कइयों का ज़रूरत से ज्यादा लम्बा-चौड़ा हो जाता है; कइयों को जवानी देर में उभरती है; कइयों को जवानी जल्दी आ पकड़ती है; कइयों का चेहरा खूबसूरत होता है; कइयों का बदसूरत। ये भी अपराध में कारण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ—

(क) एक बच्चा ठिगना है। वह देखता है कि उसकी कोई परवाह ही नहीं करता, परन्तु 'आत्म-गौरव' (Self-assertion) की 'प्राकृतिक-शक्ति' तो उसमें भी है। वह डाक्टर बन गया। अब जो कोई भी उससे मिलने आता है, वह आध घंटे से पहले बाहर नहीं निकलता। वह अपने मित्रों को भी इस प्रकार सताता है। उसके सामने बच्चे भी बीमार पड़ जाँय, तो रोगी के बिना दस बार गिड़गिड़ाने के वह दवाई नहीं देता। ठिगनेपन के कारण दुनिया ने जो उसका तिरस्कार किया उसी का वह दुनिया को सताकर बदला ले रहा होता है। एक बच्चे की आँखें कमज़ोर थीं, वह पढ़ नहीं सकता था। उसने दूसरे बच्चों की ऐनकें चुरानी शुरू कर दीं। आँखें कमज़ोर होने के कारण वह क्लास में पीछे था; दूसरे बच्चे ऐनक लगाने के कारण सब-कुछ देख सकते थे, और पीछे नहीं थे। 'प्रतिस्पर्धा' की भावना ने पढ़ाई में तेज़ होने के स्थान पर ऐनक चुराने का रूप धारण कर लिया।

(ख) एक बच्चा अपनी श्रेणी के अध्यापक से भी लम्बा-चौड़ा था। बचपन का मन और पूरे जवान का-सा शरीर! सब उस पर हँसते थे—वह घर से भाग गया।

(ग) जवानी भी कई 'अपराध' करा देती है। जब बच्चा अपने भीतर कोई नई शक्ति देखता है, तो प्रलोभन में फँस जाता है। जब वह पाँवों पर खड़ा होना सीखता है, तो दिनभर भागा फिरता है, निश्चल नहीं बैठ पाता। जब बोलना सीखता है, तो बेमतलब 'अ-आ'—'ऊ-ऊ' किया करता है। नई शक्ति को देखकर वह उसके ओर-छोर को देखने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब उसकी जननेन्द्रियों में विकास होता है, तब वह इन अंगों का कभी-कभी दुरुपयोग करने लगता है, जो प्रायः 'जिज्ञासा'-वश भी होता है।

(घ) खूब-सूरत बच्चे अपनी खूबसूरती के कारण मारे जाते हैं, और बदसूरत अपनी कमी को पूरा करने के लिए मार-पीट करने लगते हैं। शिक्षक के लिए उचित है कि 'प्राकृतिक-शक्तियों' तथा 'शारीरिक-विकार' के परिणामस्वरूप जो 'अपराध' उत्पन्न होते हैं, उनके मनोवैज्ञानिक रूप को समझकर उनका परिमार्जन करता रहे।

अपराध का तीसरा कारण—'मानसिक-विकास का अभाव'—

कई बच्चे 'मन्द-बुद्धि' होते हैं; कई 'तेज़' होते हैं। कई पढ़ने में, गणित में या किसी विषय में कमज़ोर होते हैं, कई बात-चीत में, कल्पना-शक्ति में या दस्तकारी आदि में तेज़ होते हैं।

(क) बुद्धि की मन्दता प्रायः 'अपराध' की तरफ़ ले जाती है। 'मन्द-बुद्धि'-बालक में इतनी दीर्घदर्शिता नहीं होती कि वह समझ सके कि प्रलोभनों में फँसने से अन्त में पछताना ही पड़ता है। एक बालक चोरी करता था। उसकी आयु ८ वर्ष की थी, परन्तु परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि उसकी 'मानसिक-आयु' (Mental age) पाँच ही वर्ष की थी। वह किसी चीज़ को चमकता देखकर उठा लेता था। एक दूसरा बच्चा 'भगोड़' था। वह स्कूल जाते हुए रास्ते में गलियों की सैर में पड़ जाता था। वह दस वर्ष का था परन्तु उसकी 'मानसिक-आयु' छः वर्ष की थी। उसकी माँ को समझाया गया कि इसे दस वर्ष का न समझकर छः वर्ष का ही

समझो, और छः वर्ष के बच्चे की-सी इसकी देख-रेख करो। बच्चा सुधर गया। प्रकृति में एक खास क्रम से 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) का विकास होता है। इन शक्तियों पर संयम पाना ही शिक्षा है। 'मन्द-बुद्धि'-बालक इस संयम को नहीं पा सकता। परिणाम-स्वरूप वह बुद्धि के विकास के बहुत निचले स्तरों पर रहता है। इन स्तरों के जो विकास-क्रम हैं, उन्हीं के अनुसार उसके 'अपराध' होते हैं। शुरू-शुरू में बच्चा 'क्रोध' तथा 'घूमना' शुरू करता है, अतः 'मन्द-बुद्धि'-बालकों के ज्यादातर अपराध भगोड़ेपन (Truancy), क्रूरता तथा नुकसान पहुँचाने के होते हैं। 'संचय-शक्ति' का विकास पीछे होता है, इसमें कुछ थोड़ी-बहुत बुद्धि की भी आवश्यकता पड़ती है, अतः चोरी करना, और चोरी को छिपाने के लिए झूठ बोलना बच्चा पीछे सीखता है। साधारण बच्चा 'प्राकृतिक-शक्तियों' के विकास-क्रम में से गुजरता हुआ उनका लाभ उठा लेता है, 'मन्द-बुद्धि' इन्हीं शक्तियों की उलझन में पड़कर अपराधी बन जाता है।

(ख) कभी-कभी 'तेज़' बालक भी अपराध करते हैं। बेवकूफ़ माता-पिता का तेज़ लड़का प्रायः उन्हें चकमा दिया करता है। जो तेज़ लड़के कमज़ोर बच्चों की क्लास में आ पड़ते हैं, वे पाठ को बहुत आसान देखकर अपनी होशियारी को शरारतों में ख़र्च किया करते हैं। ऐसे बच्चों को ऊपर की श्रेणी में चढ़ा देने से उनकी शक्ति ठीक दिशा में चल पड़ती है।

(ग) कई बच्चे किन्हीं ख़ास विषयों में कमज़ोर होते हैं, इसलिए स्कूल से भाग खड़े होते हैं।

(घ) कई बच्चों की कोई-कोई ख़ास योग्यता होती है। जो बच्चे बात-चीत में तेज़ होते हैं, वे पढ़ाई में कमज़ोर होने पर, गप्पे मार-मार कर दूसरों पर रौब जमाया करते हैं, इसी से उनकी झूठ बोलने की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है। कई बच्चों की 'कल्पना-शक्ति' असाधारण होती है। जैसे हम स्थूल-जगत् से काम लेते हैं, वैसे वे काल्पनिक-जगत् से काम लेते हैं। वे अपने साथी को कल्पना में ऐसे ही देखते हैं, जैसे यथार्थ में देख रहे हों। ऐसे बच्चे प्रायः कहा करते हैं कि वे बुराई को जानते हुए भी उससे बच नहीं सकते। 'कल्पना-शक्ति' ही 'यथार्थता' का रूप धारण कर उनसे

हठात् कोई काम करा देती है। कई बच्चे हाथ के काम में कुशल होते हैं, वे मौका पाकर किसी की जेब कतरने में 'संचय-शक्ति', 'जिज्ञासा' या 'आत्म-गौरव' की 'प्राकृतिक-शक्तियों' के वेग को पूरा करते-करते सिद्ध-हस्त चोर हो जाते हैं।

अपराध का चौथा कारण—'अवरुद्ध-इच्छा' (Repressed desire)—

मन के तीन पहलू हैं : 'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing)। 'ज्ञान' की कमी के कारण बालक 'मन्द-बुद्धि' हो जाता है; 'इच्छा-शक्ति' के ठीक संचालन न होने से वह 'अपराधी' हो जाता है; 'कृति-शक्ति' न होने से वह 'अस्थिर' हो जाता है। इस दृष्टि से 'अपराध' का प्रश्न 'ज्ञान' (Knowing) का न होकर वास्तव में 'इच्छा-शक्ति', अर्थात् 'संवेदन' (Feeling) तथा 'उद्वेग' (Emotion) का प्रश्न है, इसलिए हम इस पर कुछ विस्तृत विवेचन करेंगे।

(क) हम पहले देख चुके हैं कि मैक्डूगल ने प्रत्येक 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) के साथ एक 'उद्वेग' या 'क्षोभ' (Emotion) लगा हुआ माना है। 'पलायन' एक 'प्राकृतिक-शक्ति' है, इसके साथ 'भय' का 'उद्वेग' जुड़ा हुआ है। यह 'उद्वेग' ही 'प्राकृतिक-शक्ति' में 'क्रिया-शीलता' को उत्पन्न करता है। 'उद्वेग' से अन्दर-ही-अन्दर जो 'क्षोभ'—'बेचैनी'—पैदा होती है, वह तब तक दूर नहीं होती जब तक 'प्राकृतिक-शक्ति' अपने को पूर्ण न कर ले। पशु इस 'उद्वेग' या 'क्षोभ' को रोकता नहीं, मनुष्य रोकता है। रोकने के कई कारण हैं—मुख्य कारण समाज तथा धर्म हैं। 'उद्वेग' अर्थात् 'क्षोभ' (Emotion) का नियम यह है कि वह क्रिया में आकर ही निवृत्त होता है, अन्यथा वह वैसा ही बना रहता है, या दूसरा रूप धारण कर लेता है। जिस 'उद्वेग' को हमने दबा दिया, वह 'अज्ञात-चेतना' में जाकर भावना की एक गाँठ बना देता है। यह गाँठ वहाँ पड़ी-पड़ी रड़क पैदा करती रहती है। इसी को 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) कहते हैं। ये 'कम्प्लेक्स'—अतृप्त इच्छा—क्षोभ—की गाँठ होती हैं, और हमारे व्यवहार को भीतर से ही प्रभावित करती रहती हैं।

(ख) दबी हुई इच्छाओं के विषय में दूसरी बात यह है कि जब कोई 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) अवरुद्ध होकर 'भावना-ग्रन्थि' उत्पन्न

करती है, तो भीतर जाकर इसकी बेचैनी इसी तक सीमित नहीं रहती। यह अपनी बेचैनी दूसरी इच्छाओं को भी दे देती है, और इसी लिए धमकाये जाने पर बच्चा झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है, घर से भाग भी सकता है, दूसरे पर आक्रमण भी कर सकता है। यही कारण है कि जो बच्चे अपराध करते हैं, वे एक ही नहीं सभी प्रकार के अपराध किया करते हैं।

(ग) तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि दबी हुई इच्छा रूपान्तरित होकर प्रकट होती है। हमने किसी लड़के को किसी लड़की के साथ मिलने-जुलने से मना किया। अब वह उस लड़की की फ़ोटो को उसकी जगह रखने लगा। फ़ोटो भी छीन लिया, तो अनजाने ही वह उस लड़की से मिलती-जुलती किसी लड़की के साथ खेलने लगा। जिस अध्यापक ने मना किया था उसके किसी प्रिय शिष्य पर उसने हमला कर दिया। दबी हुई इच्छा रूपान्तरित हुई, परन्तु फिर भी वह एक ख़ास दिशा में चली। जिस लड़की से मिलने से उसे मना किया गया था उसके कोट में एक फूल लगा हुआ था। वह लड़का बगीचे में जहाँ फूल देखता तोड़ लेता। लड़के में फूलों को तोड़ने की एक बुरी लत पड़ गई। 'भावना-ग्रन्थि' हमारे व्यवहार में परिवर्तन ही नहीं करती, एक ख़ास दिशा में परिवर्तन करती है। जो 'प्राकृतिक-शक्ति' दबाई गई है, उसके साथ मिलते-जुलते किसी 'स्थानापन्न'—'उपलक्षक' (Substitute) को लेकर हमारे व्यवहार में परिवर्तन होता है। परिणाम यह होता है कि बच्चा चोरी तो करता है, परन्तु किसी ख़ास ही चीज की चोरी करता है, हर चीज की नहीं, और वह ख़ास चीज असली चीज़ की 'स्थानापन्न' होती है। जो बच्चा आँख कमज़ोर होने से केवल ऐनक की चोरी करने लगा, वह इसी नियम का दृष्टान्त है।

(घ) 'अवरुद्ध-इच्छाओं' (Repressed desires) के सम्बन्ध में चौथी बात ध्यान देने की यह है कि ये एक अन्तर्द्वन्द्व (Mental conflict) को उत्पन्न कर देती हैं। बच्चा घर में मिठाई देखता है। उसमें इसे लेने की इच्छा होती है, उठा लेगा तो पिटेगा, यह डर भी पैदा होता है। ये दोनों 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' हैं। बालक में जो प्रबल होगी उसी के अनुसार वह कर गुज़रेगा, और प्रायः मिठाई को मुँह में डालकर वह 'अन्तर्द्वन्द्व'

को शीघ्र समाप्त कर देगा। अगर माता-पिता के लिए सम्मान की भावना उसमें प्रबल है, तो वह विना पूछे मिठाई को हाथ नहीं लगाएगा। परन्तु अगर उसे बार-बार वह मिठाई दीखे, और बार-बार ही माता-पिता के सम्मान या डर के कारण उसे अपनी इच्छा दबानी पड़े, तो दोनों भावनाओं के प्रबल हो जाने के कारण 'अन्तर्द्वन्द्व' लम्बा हो जायगा। साधारणतः अच्छे वातावरण में पला हुआ लड़का अपने दिल में कहेगा—'मैं बिना पूछे तो लूँगा नहीं, परन्तु मिठाई को छोड़ूँगा भी नहीं, माँ से जाकर पूछ आता हूँ, मिठाई ले लूँ ?' परन्तु प्रायः या तो बालक ही इस इच्छा को दबा लेता है, या माता-पिता बच्चे की इच्छा पूरी न कर के उसे दबा देते हैं। एक इच्छा दब जाती है; दूसरी जीत जाती है। परन्तु यह दबी हुई इच्छा नष्ट होने के स्थान में 'अज्ञात-चेतना' में जाकर मानो अन्दर का फोड़ा बन जाती है। मवाद अन्दर रुक नहीं सकता, फोड़ा तो फूट कर रहेगा। कोई क्षण आता है कि माता-पिता के सम्मान या डर की भावना को बालक परे फेंक देता है, वह मिठाई चुरा लेता है। वह अपने दिल में कहता है—'मैं पकड़ा नहीं जाऊँगा, फिर मुझे क्या डर है ?' परन्तु कुछ देर बाद वह क्या देखता है कि उसकी आत्मा पर एक बोझ-सा आ पड़ा है, उसके अन्तरात्मा में एक गाँठ-सी पड़ गई है, और वह दुःखी रहने लगा है। कभी-कभी बालक इस प्रलोभन का मुक़ाबिला करता है, वह दिल में कहता है—'मैं चोरी नहीं करूँगा।' कुछ देर बाद ही हम देखते हैं कि वह अनजाने चिड़चिड़ा हो गया है, और यों ही किसी से लड़ने लगा है। कभी-कभी हमारी 'ज्ञात-चेतना' में 'अन्तर्द्वन्द्व' होता है, इसका हमें पता होता है; प्रायः 'अन्तर्द्वन्द्व' हमारी 'अज्ञात-चेतना' में, 'भावना-ग्रन्थि' द्वारा, चल रहा होता है, इसका हमें पता भी नहीं होता—हम सब-कुछ भूल चुके होते हैं। बालक के अनेक 'अपराध' इस 'अन्तर्द्वन्द्व' के परिणाम होते हैं।

भावना-ग्रन्थियाँ (COMPLEXES)

हमने अभी देखा कि दो इच्छाओं की टक्कर से 'अन्तर्द्वन्द्व' प्रारम्भ होता है। एक इच्छा दब जाती है, दूसरी जीत जाती है। ये दोनों ही 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) या 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (Innate

or General Tendencies) होती हैं। जो दब जाती है, उसे हम भूल जाते हैं, वह 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) बन जाती है, और हमारे अन-जाने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) 'अन्तर्द्वन्द्व' (Mental conflict) की ही उपज हैं। वे अनेक हैं, परन्तु हम मुख्य चार का वर्णन करेंगे :—

(क) 'विमाता-ग्रन्थि' (Step-mother Complex)—

यह प्रायः लड़कियों में पैदा होती है। २ वर्ष तक लड़की माता को ही सब-कुछ समझती है। उसके बाद वह इधर-उधर दौड़ने-फिरने लगती है, तो माँ उसे भिन्न-भिन्न बातों में टोकने लगती है। साथ ही पिता का प्रायः लड़के की अपेक्षा लड़की पर ज्यादा प्रेम होता है। बच्ची दिल में सोचने लगती है कि माँ का मुझ से प्रेम कम क्यों हो गया ? पहले तो वह मुझे कभी कुछ न कहती थी, अब मुझे यह हर बात में टोकती है; यह न कर, वह न कर, इधर न जा, उधर न जा! साथ ही वह देखती है कि पिता उससे माता की अपेक्षा अधिक प्रेम करता है। तीन वर्ष की नन्ही बच्ची अपने दिल से पूछती है—'तो क्या यह मेरी असली माता है ?' उसका दिल कहता है, 'नहीं, यह असली माँ होती, तो मुझे टोकती क्यों, पहला-सा प्रेम क्यों न करती ! साथ ही पिता की अपेक्षा ज्यादा प्रेम क्यों न करती ?' यह बच्ची अपनी माता को 'विमाता' समझने लगती है। अगर उसकी माँ वास्तव में ही विमाता हो, और उसका बच्ची या बच्चे को किसी तरह से भान हो जाय, तब तो कहना ही क्या ? बच्ची के हृदय में विद्रोह मच जाता है। परन्तु माँ के प्रति विद्रोह करना वह उचित भी नहीं समझती। इन दो भावनाओं में 'द्वन्द्व' छिड़ जाता है, और बच्चा विमाता की भावना को दबा देता है, यही 'विमाता-भावना-ग्रन्थि' कहाती है। अपनी ही 'माँ' के प्रति लड़की में, और 'विमाता' के प्रति लड़के तथा लड़की दोनों में, यह ग्रन्थि पैदा हो जाती है। परिणाम यह होता है कि बच्चा प्रेम के लिए तरसा करता है। कई बच्चे किसी खोज में घर से भाग जाते हैं। वे अपनी असली माँ को खोजा करते हैं। वे चाहते हैं कि माँ-सा प्रेम देने वाला कोई मिले। माँ नहीं मिलती, तो जो भी उनसे

सहानुभूति दर्शाता है उसी के वे ग़ुलाम हो जाते हैं। बच्चों में घर से विद्रोह तथा बाहर से लगन का यही मनोवैज्ञानिक आधार है।

(ख) 'शासन-ग्रन्थि' (Authority Complex)—

लड़का माँ के प्रति विद्रोह नहीं करता, पिता के प्रति करता है। कारण यह है कि माँ लड़के को ज्यादा प्यार करती है। माँ ने कुछ कहना भी होता है, तो पिता से ही कहलवाती है। माताएँ अक्सर कहा करती हैं, 'आने तो दे बाप को!' लड़के के लिए बाप शासन का, दण्ड का प्रतिनिधि बन जाता है। परन्तु पिता के प्रति विद्रोह करने को भी बच्चा उचित नहीं समझता, अतः इस भावना को वह दबा लेता है, और 'शासन-भावना-ग्रन्थि' का निर्माण हो जाता है। परिणाम यह होता है कि बच्चा पिता से तो डरता है, परन्तु अध्यापक, सभा, सोसाइटी, धर्म—प्रत्येक शासन के प्रति विद्रोह का झण्डा खड़ा कर देता है, कहीं किसी के बस नहीं आता। आज्ञा न पालने की जो प्रायः शिकायत सुनी जाती है, उसका कारण यही 'भावना-ग्रन्थि' है।

(ग) 'लिंग-ग्रन्थि' (Sex Complex)—

ग़रीब घरों में घर छोटे होने के कारण प्रायः बच्चे छुटपन में ही 'लिंग-सम्बन्धी' बहुत-सी बातें जान जाते हैं। इन बातों का जानना इतना नुकसान नहीं पहुँचाता जितना इस सम्बन्ध में उत्पन्न हुई उत्सुकता को दबाना। धनी घरों के बालकों को घर की परिस्थितियों के कारण इन बातों का ज्ञान प्रायः कम रहता है। इन बातों को जानने की जिज्ञासा तो सब में है, परन्तु इनका जानना बुरा समझा जाता है। जानूँ, न-जानूँ—इस अन्तर्द्वन्द्व से ही 'लिंग-सम्बन्धी-भावना-ग्रन्थि' (Sex complex) उत्पन्न होती है जिसे संक्षेप में 'लिंग-ग्रन्थि' कह सकते हैं। जिन बालकों में काम-वासना प्रबल होती है, वे तो अपने को रोक ही नहीं सकते, परन्तु जो अपने को बस में कर लेते हैं, वे काम-प्रवृत्तियों से बचकर भी दूसरे अपराध कर बैठते हैं। इन अपराधों का आधारभूत तर्क यह होता है कि काम-सम्बन्धी कुकर्म तो बहुत बुरा है, इससे कम बुरे कार्य करने में क्या हर्ज है? प्रायः देखा गया है कि धनी माता-पिता के बालक घर में आराम से रहने के बजाय मारे-मारे फिरते हैं, चोरी करते हैं। घर में सब-कुछ होते हुए भी उनकी

इस दशा का कारण उक्त 'भावना-ग्रन्थि' ही है। वैसे यह 'भावना-ग्रन्थि' सभी बच्चों में होती है।

(घ) 'हीनता-ग्रन्थि' (Inferiority Complex)—

छोटे बच्चों में, ख़ासकर ग़रीब बच्चों में, 'हीनता की भावना-ग्रन्थि' पड़ जाती है, जिसे संक्षेप में 'हीनता-ग्रन्थि' कह सकते हैं। छोटा बच्चा तो चारों-तरफ़ से बड़े-बड़े लोगों से घिरा होता है। वे कद में बड़े, हर बात में बड़े, इसलिए हर बच्चे में कुछ-न-कुछ अंश में यह ग्रन्थि होती है। ग़रीब के पास कुछ होता नहीं, उसे सब का मुँह ताकना पड़ता है। परन्तु 'आत्म-गौरव' (Self-assertion) की 'प्राकृतिक-शक्ति' भी सब में है। 'दैन्य' तथा 'आत्म-गौरव' के संघर्ष से 'हीनता-ग्रन्थि' का निर्माण होता है। जो बच्चा एक दिशा में दब गया है, वह दूसरी दिशा में प्रबल वेग से चल निकलता है। बायरन लंगड़ा था, वह अच्छा तैराक बन गया; मिल्टन अन्धा था, वह महान् कवि बन गया। एक प्रकार की न्यूनता दूसरे प्रकार की श्रेष्ठता से पलड़ा बराबर कर लेती है। पत्नी की धिक्कार ने ही कालिदास को कालिदास बना दिया, और तुलसीदास को तुलसीदास। 'आत्म-गौरव' का शुद्ध रूप तो यही है कि बच्चा अच्छे कामों से अपनी हीनता को, क्षति को पूरा करे, परन्तु यह रास्ता कठिन है। प्रायः बच्चा आसान रास्ता पकड़ लेता है। जो बच्चा पढ़ाई में कमजोर है, वह घर से पैसे चुरा लाता है, और साथियों को बाँट देता है, उन पर रौब जमाता है, इसी से वह 'हीनता की भावना' का मुक़ाबिला करता है। काणा अपने काम में तेज होकर भी अपनी हीनता को दूर कर सकता है, रंगीन चश्मा लगाकर भी। 'आत्म-गौरव' की भावना को उत्तेजित कर देना शिक्षक का काम है। अक्सर देखा गया है कि लंगड़े ऐसे चलते हैं जैसे लंगड़े न हों, काणे ऐसे देखते हैं, जैसे उनकी भली-चंगी आँखें हों। जिन लोगों में एक दिशा में कोई कमी होती है, वे दूसरी दिशा में उसे बहुत काफ़ी पूरा कर लेते हैं। यह सब 'आत्म-गौरव' की 'प्राकृतिक-शक्ति' का ही परिणाम है जो अच्छे शिक्षक की देख-रेख में बच्चे को कुछ-का-कुछ बना सकती है।

इस अध्याय में हमने बच्चों के 'साधारण दोष' (Faults) तथा 'अपराध' (Delinquency)—दोनों के मनोवैज्ञानिक आधार का

निरूपण किया है, इसलिए 'चोरी', 'झूठ', 'घर से भागना', 'मारना-पीटना', 'चिड़ना', 'चिड़ाना' आदि का अलग-अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक बालक के 'दोष', 'अपराध' या 'असाधारण-अवस्था' को देखकर उसके कारण का पता लगाना, तथा उस कारण को दूर कर देना ही बच्चे के सुधार का एकमात्र उपाय है।

प्रश्न

(१) इच्छा-पूर्ति में रुकावट आ पड़ने पर बालक अपराध क्यों कर बैठते हैं ?

(२) 'बेचैन-इच्छा' (Emotional disturbance) का क्या अर्थ है ? अपराध में इसका क्या स्थान है ?

(३) क्या किसी 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) के प्रबल या निर्बल होने से भी बालक अपराध करते हैं ? दोनों के उदाहरण देकर समझाओ।

(४) परिस्थिति अपराध में किस प्रकार सहायक है ?

(५) शारीरिक विकारों के कारण बालक क्यों अपराध कर बैठते हैं ? उदाहरण भी दो।

(६) अपराधों का कारण बुद्धि-हीनता है—इस विचार का विस्तार करो।

(७) 'अवरुद्ध-इच्छा' (Repressed desire) किस प्रकार अपराध का कारण बन जाती है ?

(८) बालक के 'अन्तर्द्वन्द्व' (Mental Conflict) को अपने शब्दों में चित्रित करो।

(९) निम्न ग्रन्थियों के विषय में क्या जानते हो ?

   (क) 'विमाता-ग्रन्थि' (Step-mother Complex)
   (ख) 'शासन-ग्रन्थि' (Authority Complex)
   (ग) 'लिंग-ग्रन्थि' (Sex Complex)
   (घ) 'हीनता-ग्रन्थि' (Inferiority Complex)

१७

'व्यक्तिगत-भेद' तथा 'प्रकृति-भेद-वाद'

(INDIVIDUAL DIFFERENCES AND TYPE THEORY)

१. व्यक्तिगत-भेद (INDIVIDUAL DIFFERENCES)

बालक बालक में भेद है—

सब बच्चे एक-से नहीं होते। शिक्षक के लिए आवश्यक है कि उनके वैय्यक्तिक भेद को ध्यान में रखे। १९वीं शताब्दी से पूर्व बच्चों के व्यक्तिगत-भेद की तरफ़ अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का काम 'शिक्षा' की दृष्टि से 'मन' की भिन्न-भिन्न शक्तियों का, जो सब में लगभग एक-समान मानी जाती थीं, अध्ययन था; परन्तु ज्यों-ज्यों स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की संख्या बढ़ने लगी, और मनोविज्ञान का व्यक्तिगत-भेदों की तरफ़ ध्यान आकर्षित होने लगा, त्यों-त्यों बालक के इस पहलू पर शिक्षक के लिए ध्यान देना आवश्यक हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में 'वैय्यक्तिक-मनोविज्ञान' (Individual Psychology या Differential Psychology) ने जन्म लिया जिसने व्यक्ति की मानसिक-शक्तियों को मापना शुरू किया। अब से 'मनोविज्ञान' का काम 'मन' का अध्ययन करना ही न रहा, अपितु व्यक्ति के मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का तथा उनके कारणों का वैज्ञानिक उपायों से अध्ययन करना हो गया।

वृक्ष, पशु, पक्षी भी भिन्न-भिन्न होते हैं—

इस प्रकार की वैय्यक्तिक-भिन्नता सम्पूर्ण प्राणि-जगत् में दृष्टिगोचर होती है। सब वृक्ष एक-समान नहीं बढ़ते, सब बीजों से एक समान उपज नहीं होती, सब घोड़े एक-से बलिष्ठ नहीं होते, न एक-समान ही दौड़ते हैं। मानव-जगत् की बुद्धि तथा चरित्र की व्यक्तिगत भिन्नता इससे भी ज्यादा है।

इस विभिन्नता का वर्गीकरण—अच्छा-बुरा, ऊँचा-नीचा, तेज़-कमज़ोर—इस प्रकार का ही नहीं; अपितु अच्छे-बुरे, उच्च-नीच, तेज़-कमज़ोर में सैंकड़ों अवान्तर-भेद मौजूद रहते हैं। तेज़, कुछ तेज़, बहुत तेज़; साधारण, अत्यन्त साधारण, साधारण-सा कमज़ोर, बहुत कमज़ोर, अत्यन्त ही कमज़ोर—इस प्रकार न जाने कितने भेद, तेज़ और कमज़ोर बालकों में हैं।

भिन्नता में 'मध्य-मान का नियम' काम करता है—

अगर किसी स्कूल के बच्चों की परीक्षा ली जाय, तो व्यक्तिगत-भेद के विषय में एक नियम दिखाई पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक विषय में उनकी योग्यता में पर्याप्त भेद होता है, परन्तु इस भेद के होते हुए भी सम्पूर्ण श्रेणी की 'योग्यता का एक मध्य-मान' (Medium degree of ability) होता है। प्रत्येक बालक की योग्यता इस 'मध्य-मान' के इधर-या-उधर होती है। शिक्षक का कर्तव्य है कि अपनी श्रेणी के इस 'मध्य-मान' या 'केन्द्रीय-योग्यता' (Central tendency) को ध्यान में रखे।

एक ही श्रेणी के तेज़ या कमज़ोर बच्चों की योग्यता के भेद की मात्रा पर भी ध्यान देना आवश्यक है। एक ही श्रेणी में प्रायः कई बच्चे दूसरे बच्चों की अपेक्षा छः गुना ज्यादा तेज़ होते हैं। उसी श्रेणी के कुछ बच्चों से जितना काम कराया जा सकता है, दूसरे बच्चे उस काम से ५ या ६ गुना ज्यादा काम कर सकते हैं। एक बच्चा गणित के सब प्रश्न ठीक करेगा, तो दूसरा सभी ग़लत करेगा; एक बच्चा अंग्रेज़ी के सभी हिज्जे ठीक लिखेगा, तो दूसरा सभी ग़लत लिखेगा; एक बच्चा अनुवाद में कोई ग़लती नहीं करेगा, तो दूसरे के अनुवाद में कोई वाक्य भी ठीक नहीं होगा।

'मध्य-मान' के बालक ही अधिक होते हैं—

एक ही श्रेणी के बच्चों की योग्यता में इतना भेद होते हुए भी परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि 'मध्य-मान' या 'केन्द्रीय-योग्यता' के बच्चों की संख्या अधिक होती है। अगर किसी श्रेणी में १०० बालक हों, तो 'मध्य-मान' या 'केन्द्रीय-योग्यता' के बच्चे १५–२० निकल आयेंगे; शेष बच्चों में से ८–१० 'मध्य-मान' के ऊपर, और ८–१० उसके नीचे पाये जायेंगे; इसके बाद बचे हुए बालकों में से ५–७ इन ८–१० के ऊपर तथा नीचे

के होंगे; शिखर के १–२ होंगे, और तलेटी के १–२ होंगे। सब विषयों में–गणित, भूगोल, इतिहास, अंग्रेजी आदि में––यही भेद-क्रम पाया जायगा।

किसी एक श्रेणी की योग्यता को चित्र में प्रकट करना चाहें तो यों प्रकट कर सकते हैं:––

श्रेणी में योग्यता-विभाजन दर्शाने का चित्र
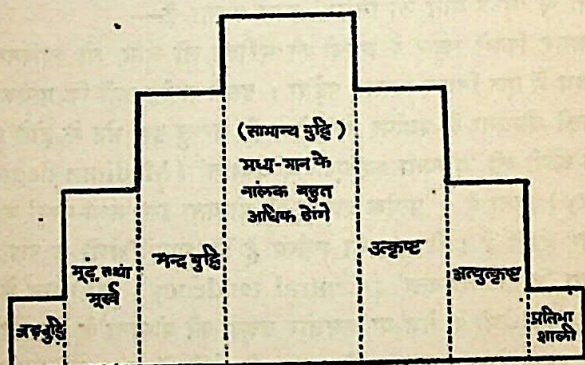
मध्य-मान का नियम––

व्यक्ति-गत भेद का वर्गीकरण करते हुए प्रायः अध्यापक-लोग 'छोटे', 'बीच के' और 'बड़े'––इस प्रकार आयु के अनुसार वर्गीकरण कर देते हैं, परन्तु यह तरीक़ा ठीक नहीं। अगर बालकों की पर्याप्त संख्या लेकर, हजार, दो हजार बच्चों को लेकर, उनका वर्गीकरण किया जाय, तो ज्ञात होगा कि उनमें मानसिक-शक्तियों या गुणों का विभाग अटकलपच्चू नहीं, अपितु एक निश्चित नियम के अनुसार होता है। वह नियम यह है कि एक ही मानसिक-शक्ति की उच्चतम तथा न्यूनतम मात्रावाले बालकों के बीच में भिन्न-भिन्न मानसिक-शक्ति की मात्रा पाई जाती है; किसी एक मानसिक-शक्तिवाले अधिक-से-अधिक बालकों की संख्या उक्त दोनों––उच्च तथा न्यून––सीमाओं से ज्यों-ज्यों 'मध्य-भाग' की तरफ़ हम आते हैं, त्यों-त्यों उस मानसिक-शक्ति वाले बालकों की संख्या बढ़ती जाती है। यह बात निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी:

न्यूयार्क सिटी के एक हाई-स्कूल में गणित की योग्यता को परखने के लिए ९९६ बालकों की परीक्षा ली गई। परिणाम निम्नलिखित निकला :

कितने प्रश्न ठीक किये	बालकों की संख्या	प्रतिशत
०—१	४	०.४
२—३	१५	१.५
४—५	५४	५.५
६—७	१०८	१०.९
८—९	२०६	२०.९
१०—११	२१२	२१.५
१२—१३	२०३	२०.६
१४—१५	११३	१२.५
१६—१७	५८	४.९
१८—१९	१३	१.३

उक्त दृष्टान्त में २१२ (२१.५ प्रतिशत) बालकों ने १० या ११ प्रश्न ठीक किये। १० या ११ प्रश्न ९९६ में से २१२ बालकों ने सही हल किये और क्योंकि ९९६ बालकों में से हल किये इसलिए इन ९९६ बालकों का 'मध्य-मान' या इनकी 'केन्द्रीय-योग्यता' १० या ११ प्रश्न हल करने की समझनी चाहिए। २१२ से ज्यों-ज्यों हम ऊपर चलते चले जायेंगे, त्यों-त्यों कमजोर बच्चों की संख्या कम होती ज़ायेगी, और ज्यों-ज्यों हम इसके नीचे उतरते जाएँगे, त्यों-त्यों तेज़ बच्चों की संख्या कम होती जायगी। परिणामतः, बिलकुल कमजोर बच्चे ४ तथा ख़ूब तेज़ बच्चे १३ पाये गए, अन्य बालक इन सीमाओं के बीच में किसी जगह खप गए। शिक्षक का कर्तव्य है कि अपनी कक्षाओं का इस प्रकार का वर्गीकरण करके उसके अनुसार अपने अध्यापन का समन्वय करे।

व्यक्तिगत-भेदों के कारण

बालकों में जो व्यक्तिगत-भेद पाये जाते हैं, उनके अनेक कारण हैं, परन्तु उनमें से मुख्य कारण निम्न हैं :—

(क) बीज-परम्परा (Biological heredity)
(ख) समाज-परम्परा (Social heredity)
(ग) 'आयु' तथा 'बुद्धि' की परिपक्वता (Maturity)
(घ) पर्यावरण तथा शिक्षा (Environment and Training)
(ङ) लिंग या योनि-गत भेद (Sex difference)

(क) बीज-परम्परा (BIOLOGICAL HEREDITY)

माता-पिता के कारण सन्तान में भेद—

'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' के संबंध में ८वें अध्याय में जो-कुछ लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि 'बीज-परम्परा' के कारण बालक में अनेक प्रकार की भिन्नता पाई जाती है। माता-पिता के बीज का सन्तान के शरीर पर प्रभाव पड़ता है, इसे तो सब मानते ही हैं; उनके मानसिक-संस्कार भी बच्चों को विरासत में मिलते हैं, इस बात को भी शिक्षा-विज्ञ मानने लगे हैं। माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुण किसी ख़ास सीमा तक ही सन्तान में संक्रान्त होते हैं, वे सारे-के-सारे ही सन्तान में नहीं आ जाते, और न उस सीमा से अधिक संक्रान्त हो सकते हैं। इस सीमा के भीतर भी, माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुणों का किस मात्रा में विकास होगा, इसका निर्णय पर्यावरण तथा शिक्षा के द्वारा होता है। अनुकूल पर्यावरण तथा उचित शिक्षा न मिलने पर, बीज रूप में किसी गुण के माता-पिता द्वारा आने पर भी, वह गुण विकसित नहीं हो पाता। शिक्षक का कर्तव्य है कि अच्छे गुणों के बीज रूप में विद्यमान होने पर भी वह बालक के पर्यावरण तथा उसकी शिक्षा को इस प्रकार चलाये जिससे वे बीज पौधे का रूप धारण कर लें, फूलें और फलें।

बालकों में जो व्यक्तिगत भेद पाये जाते हैं, उनका एक बड़ा कारण बीज-परम्परागत-भेद (Biological heredity है। भिन्न-भिन्न माता-पिताओं के बीजगत भेद को आसानी से नहीं पाया जा सकता, इसलिए माता-पिता के सम्बन्ध में विचार करने की अपेक्षा शिक्षा-विज्ञ लोग उनकी नस्ल (Race) पर विचार करने लगते हैं, और कहने लगते हैं कि अमुक गुण नीग्रो लोगों में पाये जाते हैं, अमुक यहूदियों में, अमुक युरोपियनों में। इस सम्बन्ध में थॉर्नडाइक का कथन है कि शिक्षा की

दृष्टि से बच्चों के नस्ल के भेद अधिक महत्त्व के नहीं हैं। नीग्रो बच्चों में तेज दिमाग़ के बालक पाये जा सकते हैं, और युरोपियन बच्चों में कमज़ोर दिमाग़ के बालक पाये जा सकते हैं। इस दृष्टि से बीज-परम्परागत-भेद यद्यपि बालकों की पारस्परिक भिन्नता का एक कारण है, तथापि इसका बहुत अधिक महत्त्व नहीं है।

(ख) समाज-परम्परा (SOCIAL HEREDITY)

समाज के वातावरण से बच्चों में भेद—

नीग्रो बच्चों से अगर युरोपियन बच्चे अधिक तेज पाए जाते हैं, तो सम्भवतः इसका कारण बीज-परम्परागत उतना नहीं है, जितना 'समाज-परम्परागत'। बालक एक विशेष माता-पिता के घर ही जन्म नहीं लेता, एक विशेष समाज में भी जन्म पाता है; और उस समाज के रीति-रिवाज, उसकी संस्थायें, उसके विचार, क्रियाएँ, भावनाएँ—सभी उसे विरासत में 'सामाजिक-परम्परा' के रूप में प्राप्त होते हैं। समुन्नत समाज में जन्म पाने वाले बालक को बहुत-सी बातें मानो सीखनी ही नहीं पड़तीं, वह उन्हें सीधा अपने समाज से सीख लेता है। हिन्दू परिवार में जन्म पाने वाला बालक जिन बातों को अपनी समाज की परम्परा से सीख जाता है, मुस्लिम परिवार का बालक उनसे वंचित रह जाता है। इसी प्रकार मुस्लिम बालक अपने समाज में जो बातें सहज सीख जायगा, हिन्दू बालक उनसे वंचित रहेगा। जो बालक रोज़ रेडियो सुनता है, हवाई जहाज़ के अड्डे पर रहता है, बड़े-बड़े लोगों के सम्पर्क में आता है, उसके मानसिक-विकास का एक दूसरे बालक से क्या मुक़ाबिला किया जा सकता है, जिसने न कभी रेडियो देखा, न कभी हवाई जहाज़ देखा, और न कभी किसी महान् व्यक्ति के सम्पर्क में आया। शिक्षा-विज्ञों का कथन है कि 'बीज-परम्परा' बालकों के 'व्यक्तिगत-भेद' में उतना कारण नहीं होती जितनी 'समाज-परम्परा'।

(ग) 'आयु' तथा 'बुद्धि' की परिपक्वता (MATURITY)

'आयु' तथा 'बुद्धि' के कारण बच्चों में भेद—

भिन्न-भिन्न आयु में बालक का मानसिक-विकास भिन्न-भिन्न स्तरों

पर होता है। २ से ७ वर्ष की आयु का बालक कल्पना के जगत् में विचरण करता है। वह यथार्थ तथा काल्पनिक-जगत् में भेद नहीं कर सकता। जब वह छड़ी को घोड़ा कह कर उस पर चढ़ता है, तब वह यह नहीं समझता कि वह कोई काल्पनिक बात कह रहा है; वह समझता है कि सचमुच घोड़े पर चढ़ रहा है। सात वर्ष के बाद वह 'यथार्थ' तथा 'कल्पना' में भेद करने लगता है। जो बालक इस आयु के बाद भी काल्पनिक-जगत् को यथार्थ समझता है, उसके मानसिक-विकास को सुधारने की आवश्यकता होती है। आयु के कारण इस प्रकार जो बच्चों में मानसिक-विकास की विविधता पाई जाती है, उसका विस्तृत विवेचन एक अलग अध्याय में किया गया है।

शिक्षक के लिए यह देखना भी आवश्यक है कि कलैण्डर की दृष्टि से बालक की आयु भले ही कुछ हो, 'मानसिक-आयु' (Mental age) ही शिक्षा की दृष्टि से आवश्यक आयु है। अगर कोई बालक १० वर्ष का है, परन्तु उसकी 'मानसिक-आयु' ६ वर्ष की है, तो उसके इस व्यक्तिगत भेद को दृष्टि में रखते हुए ही उसकी पढ़ाई ठीक हो सकती है। बालकों की 'मानसिक-आयु' का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक में 'बुद्धि-परीक्षा' नामक अध्याय में किया गया है।

(घ) पर्यावरण तथा शिक्षा
(ENVIRONMENT AND TRAINING)

घर के वातावरण तथा शिक्षा से बच्चों में भेद—

बालकों के माता-पिता के पर्यावरण तथा बालकों की शिक्षा के कारण भी उनमें विभिन्नता पाई जाती है। अमीरी तथा ग़रीबी के कारण भी उनमें कई भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कई परिवार ऐसे पाये जाते हैं जिनमें सब बालक हाई-स्कूल की परीक्षा समाप्त कर लेते हैं; कई परिवारों में कोई भी बालक हाई-स्कूल तक नहीं पहुँच पाता; और कई परिवारों में कुछ बच्चे शिक्षित तथा कुछ अशिक्षित रह जाते हैं। परन्तु ग़रीबी का मानसिक-शक्ति के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। अमीरों के लड़के बेवकूफ़ और ग़रीबों के अक्लमन्द

हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि बालकों के व्यक्तिगत-भेद में परिवार की परिस्थिति भी कारण होती है, इस बात का शिक्षक को ध्यान रखना चाहिए। अगर एक ग़रीब बच्चे को घर आकर पढ़ाई के अलावा घर के काम भी करने पड़ते हैं, तो वह पढ़ने में तेज़ होता हुआ भी पिछड़ सकता है।

बच्चों की किसी काम में दिलचस्पी तथा उनके जीवन के उद्देश्य आदि में भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है, और इसका कारण भी उनकी घर की परिस्थिति है। कारीगर का बच्चा हाथ के काम में होशियार होगा। प्रोफ़ेसर का लड़का पढ़ने-लिखने में तेज़ होगा। कोई बालक छुटपन में इंजिनियर बनने की धुन में होगा, कोई बड़ा होकर भी नहीं जानेगा कि उसे जीवन में क्या करना है। इन सब व्यक्तिगत भेदों का कारण पर्यावरण है।

(ङ) लिंग या योनि-गत भेद
(SEX DIFFERENCES)

लड़का अथवा लड़की होने से बच्चों में भेद—

बालकों तथा बालिकाओं के मानसिक-विकास में भी भेद पाया जाता है। लड़कियों का शरीर लड़कों से १–२ साल पहले उभर आता है। लड़कियाँ ११ से १४ साल की आयु में लड़कों की अपेक्षा ऊँचाई तथा वज़न में ज्यादा तेज़ी से बढ़ती हैं, इससे पहले और पीछे लड़के लड़कियों के अपेक्षा तेज़ी से बढ़ते हैं। लड़कियों में युवावस्था का आगमन भी लड़कों की अपेक्षा पहले ही होता है।

थॉर्नडाइक का कथन है कि शरीर-गत इन भेदों के होते हुए भी लड़के-लड़कियों के मानसिक-विकास में कोई बहुत लम्बा-चौड़ा भेद नहीं है। जो भेद पाया जाता है, उसका कारण बहुत-कुछ पर्यावरण तथा शिक्षा है। अगर हम इन भेदों को समाज के लिए हितकारक समझें तब तो लड़के-लड़कियों का शिक्षा-क्रम अलग-अलग होना चाहिए, उन्हें रखना भी अलग-अलग चाहिए, परन्तु अगर हम उन मानसिक-भेदों को मिटाना चाहें, तो दोनों के लिए एक-ही-सी शिक्षा तथा सह-शिक्षा (Co-education)

आवश्यक होगी। मानसिक-भेदों को अगर हम मिटा भी लें, तो इसमें सन्देह नहीं कि शरीर-गत भेदों को नहीं मिटाया जा सकता।

२. प्रकृति-भेद-वाद (TYPE THEORY)

व्यक्ति-व्यक्ति में 'भेद' होते हुए भी 'समानता' पाई जाती है—यही 'टाइप' कहाता है—

यह तो हमने देखा कि व्यक्ति-व्यक्ति में भेद है। परन्तु इन व्यक्तिगत भेदों के होते हुए भी कई व्यक्तियों की प्रकृति एक-सी होती है। भिन्नता में वर्तमान इस समानता को 'टाइप' (प्रकृति) का नाम दिया गया है। भारतीय आयुर्वेद में वात, पित्त, कफ़—ये तीन 'शारीरिक-प्रकृति' तथा भारतीय मनोविज्ञान में सात्विक, राजसिक, तामसिक—ये तीन 'मानसिक-प्रकृति' मानी जाती हैं। ये 'टाइप' ही हैं। ग्रीक लोग शरीर में चार रस (Humours) मानते थे। लिवर से काला-पित्त (Black bile) निकलता है—इससे व्यक्ति विचार में कुण्ठ, निराश-प्रकृति का हो जाता है; गॉल ब्लैडर से पीला-पित्त (Yellow bile) निकलता है, इससे मनुष्य तेज स्वभाव का, क्रोधी हो जाता है; जिसमें रुधिर अधिक बनता है वह आशावादी (Sanguine temperament); जिसमें कफ़ अधिक होता है, वह मोटा (Plethoric) हो जाता है। इस आधार पर अरस्तू चार प्रकृतियाँ मानता था जिन्हें अंग्रेजी में मैलन्कोलिक (Melancholic), कोलरिक (Choleric), सँगुइन (Sanguine) तथा फ़्लैगमैटिक (Phlegmatic) कहते हैं। शिक्षा की दृष्टि से मुख्य तौर पर मानव-समाज में तीन 'टाइप' पाये जाते हैं:—

(क) विचार-प्रधान व्यक्ति (Men of thought—KNOWING)
(ख) भाव-प्रधान व्यक्ति (Men of feeling—FEELING)
(ग) क्रिया-प्रधान-व्यक्ति (Men of action—WILLING)

तीनों 'टाइपों' के दृष्टान्त—

'विज्ञान-वेत्ता' अथवा 'आविष्कर्त्ता' विचार-प्रधान हैं; 'कवि' तथा 'गायक' भाव-प्रधान हैं; 'राजनीतिज्ञ' तथा 'सेनापति' क्रिया-प्रधान हैं। स्कूल में भी अगर बालकों के सम्मुख कोई प्रस्ताव रखा जाय, उदाहरणार्थ,

अगर उन्हें कहा जाय कि पढ़ाई स्कूल के कमरों में न होकर बाहर वृक्ष की छाया के नीचे हुआ करेगी, तो 'विचार-प्रधान' बालक इस बात के पक्ष-विपक्ष में युक्तियाँ ढूंढने लगेंगे; 'भाव-प्रधान' बालक या तो चिल्ला उठेंगे—'बिलकुल ठीक' या चिल्ला उठेंगे 'नहीं, बिल्कुल नहीं'; 'क्रिया-प्रधान' बालक अपना सामान उठाकर बाहर चलने की तय्यारी करने लगेंगे, या जो जाने लगेंगे, उन्हें पकड़-पकड़ कर रोकने लगेंगे। ये तीनों भेद उनकी अपनी-अपनी 'प्रकृति' अपने-अपने 'टाइप' के कारण हैं।

(क) 'विचार-प्रधान'-व्यक्ति (MEN OF THOUGHT)

'विचार-शक्ति' (Thought) की दृष्टि से बालकों के भिन्न-भिन्न 'टाइप' माने गए हैं। हम यहाँ पर थॉर्नडाइक, वारनर, टरमैन, मनो-विश्लेषणवादी युंग, स्टीफ़न्सन, कैटल तथा ग्रन्थि-भेद द्वारा किये गए बालकों के प्रकृतिगत-भेदों का क्रमशः उल्लेख करेंगे।

थॉर्नडाइक-कृत 'टाइप'—'विचार' तथा 'कल्पना' की दृष्टि से भेद—

थॉर्नडाइक का कथन है कि विचार की दृष्टि से बच्चों के भिन्न-भिन्न 'टाइप' हैं। कई बच्चे 'सूक्ष्म-विचारक' (Abstract thinkers) होते हैं। ये विचार की क्रियात्मकता की तरफ़ ज्यादा ध्यान नहीं देते। गणित, एल-जेब्रा तथा ज्यामिति के प्रश्न वे मन-ही-मन में कर लेते हैं—तर्क में इनकी अबाध गति होती है। कई बच्चे 'प्रत्यय-विचारक' (Idea thinkers) होते हैं। वे संख्या, शब्द तथा अन्य चिह्नों द्वारा ही विचार कर सकते हैं, बिना चिह्नों के, मन-ही-मन नहीं। कई बच्चे 'स्थूल-विचारक' (Thing thinkers) होते हैं।
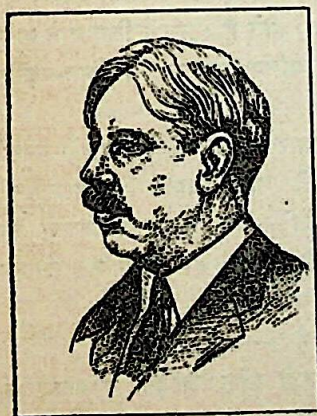
थॉर्नडाइक ऑफ़ कोलम्बिया यूनिवर्सिटी (१८७४–१९४८)

गणित की कोई बात तब तक नहीं समझ सकते जब तक दुकान पर बैठा

कर उन्हें क्रियात्मक तथा स्थूल रूप में सब कुछ नहीं दिखा दिया जाता।

जिस प्रकार 'विचार-शक्ति' की दृष्टि से थॉर्नडाइक ने बच्चों को उक्त तीन 'टाइप' में विभक्त किया है, इसी प्रकार 'कल्पना-शक्ति' (Imagery) की दृष्टि से भी उसने बच्चों को कुछ 'टाइप' में विभक्त किया है। किसी बच्चे में कोई इन्द्रिय प्रधान होती है, किसी में कोई। इसी आधार पर प्रकृति-भेद पाया जाता है। कई बच्चे 'शब्द-प्रधान' (Audiles) होते हैं। वे अपने मन में उसी चीज की कल्पना कर सकते हैं जिसे वे कानों द्वारा सुनते हैं। कई 'दृष्टि-प्रधान' (Visualizers) होते हैं। वे उसी बात को मन में बैठा पाते हैं जिसे वे आँखों से देख लेते हैं। कई 'गति-प्रधान' (Motiles) होते हैं। वे किसी शब्द को तभी याद कर सकते हैं जब उसे वे अपने हाथ से लिख लेते हैं। कई 'गन्ध-प्रधान' (Olfactory type) होते हैं। वे उसी वस्तु का स्मरण कर सकते हैं कि जिसे वे सूंघ चुके होते हैं। कई 'रस-प्रधान (Gustatory type) होते हैं। उनके किसी चीज को जानने और स्मरण करने के लिए उसे चखना जरूरी है। कई 'स्पर्श-प्रधान' (Skin-sense type) होते हैं। उनके लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्पर्श आवश्यक है। अधिक संख्या 'मिश्रित-प्रकृति' (Mixed type) की पाई जाती है।

शिक्षक का कर्त्तव्य है कि 'सूक्ष्म-विचारक', 'प्रत्यय-विचारक', 'स्थूल-विचारक', 'शब्द-प्रधान', दृष्टि-प्रधान', 'गति-प्रधान', 'गन्ध-प्रधान', 'रस-प्रधान', 'स्पर्श-प्रधान', 'मिश्रित-प्रकृति'—सब प्रकार के बच्चों का ध्यान रखकर पढ़ाये और प्रत्येक बच्चे के 'टाइप' को समझ कर उसकी कठिनाई को दूर करे।

वारनर-कृत टाइप—शरीर की दृष्टि से भेद—

वारनर ने भी अपनी पुस्तक 'दी स्टडी ऑफ चिल्ड्रन' में बच्चों के 'टाइप' पर विचार किया है। उसने बच्चों को निम्न 'टाइप' में विभक्त किया है :—

(१) स्वस्थ (Normal)

(२) अविकसित शरीर (Physically undeveloped)

(३) अपरिपुष्ट (With low nutrition)
(४) अंगहीन (Crippled)
(५) स्नायविक (Nervous)
(६) सुस्त, पिछड़ा हुआ (Dull, backward)
(७) चालाक (Mentally exceptional)
(८) मन्द-बुद्धि (Mentally feeble)
(९) स्नायु-रोगी (With abnormal nerve-signs)
(१०) मृगी-ग्रस्त (With hysterical fits)

बालकों के ये विभाग, शरीर (Body), स्नायु (Nervous system) तथा पोषण (Nutrition) की दृष्टि से किये गए हैं। जिस बालक का शरीर स्वस्थ है, जिसे स्नायु-सम्बन्धी कोई रोग नहीं, जिसे ठीक-ठीक भोजन मिलता है और वह उसे पचा सकता है—वह 'स्वस्थ' है। जिसका शरीर उचित भोजन के मिलने पर भी विकसित नहीं होता, वह 'अविकसित-शरीर', जो खाने-पीने पर भी नहीं बढ़ता वह 'अपरिपुष्ट' तथा जो किसी अंग के न होने से लड़कों की छेड़खानी का विषय बन जाता है, वह 'अंगहीन' कहलाता है। जो बच्चा ठीक खड़ा नहीं हो सकता, ठीक बैठ नहीं सकता, हिलता-डुलता रहता है, आँखें इधर-उधर दौड़ाता रहता है, वह 'स्नायविक'; जो शरीर के ठीक विकास होने पर भी पढ़ाई में पिछड़ा रहता है, वह 'पिछड़ा हुआ'; जो पढ़ाई में ठीक चलने पर भी चोरी आदि दुर्गुणों से छूट नहीं सकता, वह 'चालाक'; जो किसी विषय में चल ही नहीं सकता, वह 'मन्द-बुद्धि'; जो स्नायु-सम्बन्धी कुछ लक्षणों को प्रकट करता है, वह 'स्नायु-रोगी' और जिसे मृगी के दौरे पड़ते हैं वह 'मृगी-ग्रस्त' बालक है। शिक्षक के लिए इन सब का जानना आवश्यक है ताकि वह बालकों की इन भिन्नताओं को जानता हुआ उनके साथ अनुकूल व्यवहार कर सके।

टरमैन-कृत 'टाइप'—बुद्धि की दृष्टि से भेद—

कैलीफ़ोर्निया के प्रोफ़ेसर टरमैन ने सहस्रों बालकों का अध्ययन करके 'बुद्धि-सम्बन्धी' अनेक परिणाम निकाले जिनका वर्णन 'बुद्धि-परीक्षा'

के अध्याय में किया गया है। इन परीक्षणों के अनुसार बालकों को निम्न 'टाइप' में बाँटा गया है :—

प्रतिभाशाली (Genius)
उप-प्रतिभाशाली (Near Genius)
अत्युत्कृष्ट-बुद्धि (Very Superior Intelligence)
उत्कृष्ट-बुद्धि (Superior Intelligence)
सामान्य-बुद्धि (Normal, Average)
मन्द-बुद्धि (Backward)
मूर्ख (Feeble-minded)
मूढ़ (Dull)
जड़-बुद्धि (Idiot)

जो शारीरिक-क्षति से अपने को बचा नहीं सकते, चलते-चलते ताँगे से टकरा जायेंगे, मकान से छलांग मार देंगे—वे 'जड़-बुद्धि' हैं; जो अपने को सम्भाल नहीं सकते, उन्हें कपड़ा भी पहनाना पड़े, भोजन भी खिलाना पड़े—वे 'मूढ़' हैं; जिन पर निगरानी रखनी पड़े, और निगरानी रखकर ही उनका तथा दूसरों का भला हो सके, नहीं तो वे ख़ुद बिगड़ें और दूसरों को बिगाड़ें—वे 'मूर्ख' हैं; जो इनसे कुछ ऊपर हों—वे 'मन्द-बुद्धि'। इस प्रकार ऊपर-ऊपर चलते हुए जो बुद्धि के उच्च शिखर पर हों—वे 'प्रतिभाशाली' कहे जाते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल ने ६ वर्ष की आयु में रोम का इतिहास लिखना शुरू किया था, मैकाले ने तीन वर्ष की आयु से पढ़ना शुरू किया था और सात वर्ष की आयु में कविता लिख डाली थी, गेटे ने ७ वर्ष की आयु में प्रहसन लिखा था, और पास्कल ने बचपन में यूक्लिड के ३२ साध्य बिना किसी की सहायता के स्वयं कर डाले थे—ये 'प्रतिभाशाली' व्यक्तियों के दृष्टान्त हैं। शिक्षक के लिए बालकों को बुद्धि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न भागों में बाँट लेने से बहुत सहायता मिलती है।

युङ्ग-कृत 'टाइप'—'अन्तर्मुख' तथा 'बहिर्मुख'-वृत्ति से भेद—

मनोविश्लेषणवादी युङ्ग ने 'प्रकृति-गत भेदों' को दो हिस्सों में बाँटा है। 'अन्तर्मुख-वृत्ति' (Introvert) तथा 'बहिर्मुख-वृत्ति'

(Extrovert)। इन दोनों की मध्य-वृत्ति को 'उभय-वृत्ति' (Ambivert) कहा गया है।

उक्त वृत्तियों का पता लगाने के लिए लगभग निम्न प्रश्नों का उत्तर पूछा जाता है :—

क्या वह इने-गिने लोगों से ही मेल-जोल रखता है ?
क्या वह थोड़ी-सी बात से नाराज हो जाता है ?
क्या वह शक्की तबीयत का है ?
क्या वह सभा-सोसाइटी में पीछे रहता है ?
क्या वह इकला रहना पसन्द करता है ?
क्या वह झट-से घबड़ा जाता है ?
क्या वह सभा में बोलने से कतराता है ?
क्या उसे किसी डर की आशंका बनी रहती है ?
क्या वह बैठा-बैठा कुछ सोचा करता है ?
क्या वह दिवा-स्वप्न लिया करता है ?
क्या वह उखड़ा-उखड़ा-सा रहता है ?
क्या वह किसी भी काम में रत हो जाता है ?
क्या निर्णय करने में उसे देर लगती है ?

उक्त प्रश्नों का 'हाँ' में उत्तर देने वाला 'अन्तर्मुख', तथा 'न' में उत्तर देने वाला 'बहिर्मुख' कहा जाता है। अधिकतर संख्या ऐसे व्यक्तियों की पायी जाती है, जो इन दोनों के बीच में आते हैं, जिन्हें 'उभयवृत्ति' कहा जा सकता है। शिक्षक का काम बच्चों को किसी एक दिशा में अनुचित तौर पर झुकने से बचाना है।

स्टीफ़न्सन-कृत 'टाइप'—'प्रसारक' (Perseverator) तथा 'अप्रसारक' (Non-perseverator)—

परन्तु 'अन्तर्मुख' तथा 'बहिर्मुख' का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ? हम पहाड़ी रास्ते से मोटर में आ रहे हैं, अब घर आ गए, परन्तु रास्ते के चक्कर अब भी परेशान कर रहे हैं; हमने एक गाना सुना, वह समाप्त हो गया, परन्तु उसकी तान अब भी दिमाग़ में उठ रही है। यही 'संस्कार-प्रसक्ति' है—संस्कार मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं में 'प्रसक्त' (Perse-

verate) हो रहा है, उन्हें झंकृत कर रहा है, कारण चला गया परन्तु उसके चले जाने पर भी स्नायु-तन्तुओं की गति नहीं गई। परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि 'अन्तर्मुख' व्यक्ति में 'संस्कार-प्रसक्ति' (Perseveration) देर तक बनी रहती है, 'बहिर्मुख' में नहीं। 'अन्तर्मुख' पर जो संस्कार पड़ते हैं, वे उसके स्नायु-तन्तुओं में देर तक गति बनाये रखते हैं, 'बहिर्मुख' पर पड़े संस्कार, अर्थात् उसके स्नायु-तन्तुओं में उत्पन्न हुई गति जल्दी समाप्त हो जाती है। अतः 'अन्तर्मुख'-व्यक्ति 'संस्कार-प्रसारक' (Perseverator), तथा 'बहिर्मुख-व्यक्ति' 'संस्कार का अप्रसारक' (Non-perseverator) कहा जाता है।

कौन व्यक्ति कितना 'प्रसारक' है, कितना 'अप्रसारक'—इस पर परीक्षण किये गए हैं। लकड़ी का एक वृत्ताकार टुकड़ा काट कर उस पर सफ़ेद और काली लकीरें डाल दी जाती हैं। फिर उसे घुमाया जाता है। जिस व्यक्ति में बहुत ज्यादा 'प्रसक्ति' होगी उसे जल्दी दोनों रंग अलग-अलग दिखने बंद हो जायेंगे, क्योंकि सफ़ेद रंग, देखने पर, देर तक उसके दिमाग़ में बना रहेगा, और इतने में झट-से वृत्त का काला रंग उसके सामने आ जायगा, दिमाग़ का सफ़ेद और वृत्त का काला मिलकर बहुत जल्दी उसे भूरा रंग दीखने लगेगा। इसके विपरीत जिस व्यक्ति में 'प्रसक्ति' की मात्रा कम है, उसे देर तक दोनों रंग अलग-अलग दीखते रहेंगे, क्योंकि किसी रंग का संस्कार उसके तन्तुओं में प्रसक्त नहीं होगा। इसी प्रकार एक और परीक्षण किया जाता है। पहले दो मिनट तक किसी व्यक्ति को कोई अक्षर दबादब लिखने को कहा जाता है। उदाहरणार्थ, 'ण' या 'w' लिखने को कहा गया। वह बाँयें से दाँयें को लिखेगा। इसके बाद उसे दाँयें से बांयें को 'ण' या 'w' लिखने को कहा जाता है। लिखना भी कैसे? पहले 'ण' या 'w' की अन्तिम मात्रा को लिखे, फिर दूसरी मात्रा को, उसके बाद 'ण' के 'र' हिस्से को। इस प्रकार परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ है कि जिस व्यक्ति में 'संस्कार-प्रसक्ति' अधिक होती है, वह दायीं तरफ़ से बहुत ही थोड़े 'ण' लिख सकता है। थोड़े इसलिए क्योंकि पहले दो मिनट तक उसने जो बाँयें से दाँयें 'ण' लिखे थे, उनकी 'प्रसक्ति' (Perseveration) उसे छोड़ती नहीं। कम 'प्रसक्ति' वाला व्यति दाँयें से

बाँयें को अधिक 'ग्ग' या 'w' लिख लेता है, क्योंकि उसके स्नायु-तन्तुओं में कोई रुकावट नहीं। इस दृष्टि से स्टीफ़न्सन ने 'अन्तर्मुख' को 'प्रसारक' (Perseverator) तथा 'बहिर्मुख' को 'अप्रसारक' (Non-perseverator) इन भागों में बाँटा है।

'अति-प्रसक्ति' (High Perseveration) का परिणाम बुरा होता है। जिनमें 'संस्कार-प्रसक्ति' बहुत बढ़ जाती है, वे 'प्रसरण' से अपने को हटा नहीं सकते, एक ही विचार उन्हें घेरे रहता है, और इतना घेर लेता है कि वे पागल हो जाते हैं। ऐसे पागल सदा मौन रहते हैं, अन्दर की ही दुनिया में पड़े रहते हैं। जिनमें 'संस्कार-प्रसक्ति' बहुत ही कम होती है, अत्यन्त कम, वे भी पागल हो जाते हैं, वे मौन नहीं रहते, मारते-पीटते हैं, शोर मचाते हैं, एक बात से दूसरी बात, और दूसरी बात से तीसरी बात तक मानो उड़े-से जाते हैं। बालकों की 'संस्कार-प्रसक्ति' का जानना अत्यन्त आवश्यक है। कई बालक झट-से रो देते हैं; ज़रा-सी बात को बहुत बड़ा मानते हैं; कई किसी बात की पर्वाह नहीं करते, एक कान से सुनते हैं, दूसरे से निकाल कर बाहर करते हैं। शिक्षक को अगर इसका मनोवैज्ञानिक आधार ज्ञात हो, तो वह अन्य उपायों से काम लेने के बजाय समझ से काम लेता है।

कैटल-कृत 'टाइप'—'वेगवान्' (Surgent) तथा 'वेगहीन' (Desurgent)—

बालकों के प्रकृति-भेद के सम्बन्ध में एक और 'टाइप' कहा जाता है जिसे हम 'वेगवान्' (Surgent) तथा 'वेगहीन' (Desurgent) कह सकते हैं। 'सर्ज' का अंग्रेज़ी में अर्थ है—'लहर'। ऐसे बालक जो लहरी होते हैं, समाज में मिलते-जुलते, सदा प्रसन्न, इससे मज़ाक, उससे मज़ाक, बोलना नहीं जानेंगे परन्तु हर सभा में आगे ही जाकर बैठेंगे—वे 'वेगवान्' (Surgent) कहलाते हैं; जो शर्मीली तबीयत के होते हैं, किसी से मिलते-जुलते नहीं, सभा में जाते हैं, विद्वान् हैं, तो भी सब से पीछे छिप कर जा बैठते हैं, उन्हें उठा कर आगे लाना पड़ता है, वे 'वेगहीन' (Desurgent) कहलाते हैं। यह हो सकता है कि 'वेगवान्' बालक में 'संस्कार-प्रसक्ति' (Perseveration) बहुत अधिक हो, यह भी हो सकता है कि बहुत कम ही हो; इसी प्रकार 'वेगहीन' बालक में 'संस्कार-प्रसक्ति' अधिक भी हो सकती है, कम भी।

'वेग' तथा 'वेगहीनता' का आधार 'सम्बन्धों की शीघ्रता' (Frequency of associations) है। अगर स्याही की एक बूंद पर स्याही-चूस की जगह कागज़ दबा दिया जाय, तो बेडौल-सी शक्ल बन जायगी। उस बेडौल शक्ल को देख कर किसी के मन में आग की लपटों का-सा सम्बन्ध उठ खड़ा होगा, किसी के मन में बादल की-सी शक्ल उठ खड़ी होगी। 'वेगवान्' (Surgent) व्यक्ति के मन में एक मिनट में १०–१२ सम्बन्ध आ जायेंगे, 'वेग-हीन' (Desurgent) के मन में कुल तीन-चार।

ग्रन्थियों पर आश्रित प्रकृति-भेद (Gland-Types)—

शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न 'ग्रन्थियाँ' (Glands) हैं। मस्तिष्क में 'पिच्युटरी-ग्रन्थि' (Pituitary gland) है। गले में टेंटुए के पास 'थॉयरायड' (Thyroid) और उसी के पास 'पैरा-थॉयरायड' (Parathyroid), छाती के ऊपर के स्थान में 'थायमस' (Thymus) तथा जनन-स्थानों में 'जनन-ग्रन्थियाँ' (Sex glands) हैं। जिन ग्रन्थियों का हमने परिगणन किया है, ये 'प्रणालिका-रहित-ग्रन्थियाँ' (Ductless glands) हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रणालिका-सहित ग्रन्थियाँ' भी हैं परन्तु उनसे हमें यहाँ कोई मतलब नहीं। शरीर-रचना-विज्ञों का कथन है कि प्रणालिका-रहित ग्रन्थियों में से एक 'अन्तःस्राव' (Internal secretion) निकलता है, इसे 'हॉरमोन' (Hormone) कहते हैं। इस 'हॉरमोन' का मनुष्य की मानसिक प्रकृति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

थॉयरायड-प्रकृति—

जिस व्यक्ति की 'थॉयरायड-ग्रन्थि' बढ़ जाय वह पतला हो जाता है, उसके शरीर में सौन्दर्य और कोमलता आ जाती है। वह क्रियाशील हो जाता है, जीवन से भरा हुआ, झट उत्तेजित हो जाने वाला, और ज़रा-सी बात में चिन्तायुक्त हो जाता है। उसकी विचार-शक्ति तीव्र होती है, झट-से किसी बात को समझ जाता है।

'थॉयरायड-ग्रन्थि' का अगर ठीक विकास न हो पाये, तो मनुष्य मोटापे की तरफ़ बढ़ जाता है, आकृति में रूखापन आ जाता है, बाल झड़ने लगते हैं, आराम पसन्द और सुस्त हो जाता है। शरीर की शक्तियों

का जब चौमुखा ह्रास हो रहा हो, तब 'थॉयरायड' के सत से डाक्टर लोग शरीर को शक्ति पहुँचाते हैं।

एड्रिनल-प्रकृति—

अगर मेंडक के छोटे-छोटे बच्चों को 'एड्रिनेलीन' खाने को दी जाय, तो उनमें से मादा कोई नहीं बन पाता, सब नर बनते हैं। इसी लिए अगर एड्रि-नल-ग्रन्थि बहुत बढ़ जाय, तो पुरुष तो लड़ाकू हो जाता है, और स्त्री, पुरुष-जैसी हो जाती है। इन लोगों को थकावट बहुत कम आती है। इस ग्रन्थि का पूर्ण विकास न हो तो पुरुष स्त्री जैसा, और स्त्री और भी दब्बू बन जाती है। ये ग्रन्थियाँ पेट में गुर्दों के पास होती हैं।

विषयी-प्रकृति—

पुरुष तथा स्त्री में 'जनन-ग्रन्थियाँ' (Sex Glands) होती हैं जिनके 'बहिःस्राव' द्वारा सन्तानोत्पत्ति तथा 'अन्तःस्राव' द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न 'प्रकृति-भेद' उत्पन्न होते हैं। पशुओं में ऐसे परीक्षण किये गए हैं जिनमें नर की जनन-ग्रन्थि मादा में, और मादा की नर में लगा दी गई। परिणाम यह हुआ कि नर की शक्ल मादा की-सी, और मादा की नर की-सी हो गई। अगर इन ग्रन्थियों का कार्य बढ़ जाय, तो व्यक्ति में विषय-वासना बढ़ जाती है; ये ग्रन्थियाँ अगर बहुत अविकसित रहें, तो प्राणी का प्रजनन की तरफ़ ध्यान ही नहीं जाता।

थायमस-प्रकृति—

यह ग्रन्थि हृदय के कुछ ऊपर छाती की हड्डी के पास बच्चों में पाई जाती है। यह जनन-ग्रन्थियों के शीघ्र विकास को रोकती है, और किशोरावस्था के आने पर समाप्त हो जाती है। एक प्रकार से, प्रकृति का मनुष्य पर नियन्त्रण रखने के लिए यह पहरेदार है। जब इसकी आव-श्यकता नहीं रहती, तब प्रकृति इसे हटा लेती है। थायमस-ग्रन्थि बहुत बढ़ जाय, तो पुरुष में पुरुषत्व की कमी आ जाती है, अगर बहुत घट जाय, तो समय से पहले ही उसमें 'परिपक्वता' (Precociousness) आ जाती है।

पिच्युटरी-प्रकृति—

खोपड़ी के ठीक बीच में आध इंच की यह ग्रन्थि है। इसके अगले भाग के स्राव से हड्डियों का निर्माण होता है, और पिछले भाग के स्राव

से शरीर में शर्करा का नियमन, चर्बी का उत्पादन और शरीर के भीतरी अवयवों का नियन्त्रण होता है। अगर यह ग्रन्थि बहुत बढ़ जाय, तो भारी-भरकम हड्डियों का ढाँचा खड़ा होता है, दुनिया पर राज करने वाला, ज्ञान-शक्ति से काम लेने वाला व्यक्ति ! अगर इस ग्रन्थि का विकास न हो, तो इन गुणों की कमी हो जाती है।

भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों का शरीर में स्थान सामने के चित्र से प्रकट हो जायगा।

मनुष्य में भिन्न २ ग्रन्थियों का चित्र

(ख) 'भाव-प्रधान'-व्यक्ति

(MEN OF FEELING)

'भावना' (Feeling) की दृष्टि से भी बालकों के 'प्रकृति-भेद' (Type) होते हैं। कई बालक 'भावना-प्रधान' (Emotional) होते हैं। जब वे अच्छे होते हैं, तब बहुत अच्छे; और जब बुरे होते हैं, तब बहुत बुरे ! उनके रुख पर ही तो सब-कुछ निर्भर रहता है। जरा-सी बात से वे उत्साह से भर जाते हैं, जरा-सी वात से उनकी सारी आशाएँ पानी में मिल जाती हैं। उनका हृदय काम करता है, न कि दिमाग़ ! शिक्षक के लिए ऐसे बालक एक पहेली बने रहते हैं।

चार प्रकार के 'भाव-प्रधान' बालक—

ऐसे बालकों को 'आशावादी' (Elated type), 'निराशावादी' (Depressed type), 'आशा-निराशावादी' (Unstable type) तथा 'चिड़चिड़े' (Irritable type)—इन चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहली कोटि के तो यह समझा करते हैं कि वे जो-कुछ करेंगे, ठीक होगा। वे परीक्षा में सब उत्तर अशुद्ध लिख आने के बाद भी कहेंगे कि उन्होंने सब-कुछ ठीक लिखा है। इसके विपरीत दूसरी कोटि के बालक कितना ही अच्छा काम क्यों न करें, वे यही कहेंगे कि उन्होंने कुछ नहीं
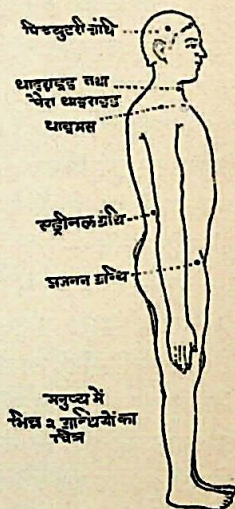
किया। तीसरे अस्थिर स्वभाव के होते हैं, कभी आशा और कभी निराशा में गोते खाते हैं। चौथे हर समय भुनभुनाया करते हैं।

'भाव-प्रधान' बालक को विचार के लिए प्रेरित करो—

'भावना-प्रधान' बालक को यह नहीं कहना चाहिए कि देखो, तुम क्या जल्दबाज़ी कर रहे हो! पहले उसे यह आदत डलवानी चाहिए कि जब भी वह कुछ करने लगे, तो पहले कागज़ पर लिख ले कि वह क्या करने लगा है, और क्यों? कुछ देर बाद उसे यह सोचने की आदत डलवानी चाहिए कि वह जो-कुछ करने लगा है, उसके विपरीत कार्य को क्यों नहीं कर रहा? उसके बाद उसे यह सोचने की आदत डलवानी चाहिए कि वह जो-कुछ करने लगा है उस काम के अतिरिक्त उसके पास अन्य क्या-क्या विकल्प हैं, और उन तीन-चार विकल्पों में से जिस विकल्प को वह करने लगा है, वह क्यों, और जिन विकल्पों को नहीं कर रहा, उनमें से प्रत्येक के न करने के विषय में क्या-क्या युक्तियाँ हैं? 'आशावादी' बालक को समझाना होगा कि तुम तो समझते हो कि तुमने जो-कुछ किया ठीक किया, देखना यह है कि क्या दूसरे लोग भी ऐसा ही समझते हैं? 'निराशावादी' बालक को समझाना होगा कि तुम इस समय बुरा अनुभव कर रहे हो, परन्तु इसमें घबराने की कोई बात नहीं, कष्ट सदा निकल जाते हैं, कठिनाइयाँ सदा दूर हो जाती हैं, रुकावटें सदा हट जाती हैं। 'आशा-निराशावादी' अस्थिर स्वभाव के बालक में स्थिरता लाना शिक्षक का कर्तव्य है। जो बच्चे हर समय 'चिड़चिड़े' रहते हैं, उनके मन में कोई गुत्थी रहती है, उसे निकाल कर उनका स्वभाव बदला जा सकता है। यह भी सम्भव है कि किसी शारीरिक बीमारी के कारण बच्चा चिड़चिड़ा रहता हो। ऐसी अवस्था में उसकी डाक्टरी परीक्षा करानी उचित होगी। संक्षेप में, 'भाव-प्रधान' (Emotional) बालक को विचार करने के लिए प्रेरित करना शिक्षक का कर्तव्य है। जब बालक विचार से काम करने लगेगा, तब उसमें इकतरफ़ापन न रहेगा।

व्यक्तित्व-विच्छेद (Splitting of Personality)—

'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence test) के उपायों से बालक की 'बुद्धि' की परीक्षा तो हो जाती है, उसके 'आचार' (Character) की परीक्षा नहीं होती। कभी-कभी आचार बुद्धि की अपेक्षा जीवन में

अधिक महत्त्व रखता है। आचार के सम्बन्ध में मनोविश्लेषणवाद से बहुत सहायता मिलती है। आचार का आधार 'बुद्धि' नहीं, अपितु 'संवेदन' (Feelings) हैं। उच्च-बुद्धि होते हुए भी भावनाएँ (Feelings and sentiments) ऊँची न हों, तो बालक का 'आचार' ऊँचा नहीं हो सकता। बुद्धि कम होते हुए भी 'भावना' ऊँची हो, तो बालक ऊँचे 'आचार' का होगा। प्रत्येक बालक के 'आचार' में विविधता पाई जाती है। मनोविश्लेषणवादियों का कथन है कि इस भिन्नता का कारण व्यक्ति की 'अज्ञात-चेतना' में छिपे 'निरुद्ध-संवेदन' (Suppressed feelings) हैं। ये 'निरुद्ध-संवेदन' ही 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) कहाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न 'भावना-ग्रन्थियाँ' होती हैं जिनसे उसका आचार-व्यवहार भिन्न-भिन्न हो जाता है। जिन बातों को समाज उचित नहीं समझता वे 'ज्ञात-चेतना' में न रहकर 'अज्ञात-चेतना' में चली जाती हैं, दबाई जाकर भी क्रियाशील रहती हैं, और अपना 'पृथक्-व्यक्तित्व' कायम कर लेती हैं। परिणाम यह होता है कि जिस व्यक्ति में भीतर-ही-भीतर, उसके अनजाने, यह उथल-पुथल मच रही होती है, उसमें 'व्यक्तित्व-विच्छेद' (Splitting of Personality) की अवस्था आ जाती है; 'अज्ञात-चेतना' में दबी हुई भावना, अपना अलग ही 'व्यक्तित्व' बनाने लगती है, और उस 'व्यक्तित्व' का 'ज्ञात-चेतना' के 'व्यक्तित्व' से लड़ाई—'अन्तर्द्वन्द्व' (Conflict of Personality) होने लगता है। 'व्यक्तित्व-विच्छिन्नता' की इस अवस्था को 'न्यूरोसिस' (Neurosis) कहा जाता है। अधिकतर 'व्यक्तित्व' का 'विच्छेद' इसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा होता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि बालक में 'भावना-ग्रन्थियाँ' न उत्पन्न होने दे। उसके अस्वाभाविक आचार-व्यवहार की नींव में अगर कोई दबी हुई भावनाएँ हों, तो उनका पता लगाकर उसके मन के बोझ को दूर कर दे। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए इस पुस्तक के तीसरे अध्याय में वर्णित 'मनोविश्लेषणवाद' का अध्ययन करने से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

(ग) 'क्रिया-प्रधान' व्यक्ति (MEN OF ACTION)

'क्रिया' (Action) की दृष्टि से कई बालक 'क्रिया-प्रधान' होते हैं। उनकी यही शिकायत बनी रहती है कि स्कूल में करने को कुछ नहीं है। ऐसे बालक जो स्कूल में कुछ नहीं सीख पाते जब किसी व्यापार या शिल्प में डाल दिये जाते हैं, तो बड़ी शीघ्रता से उन्नति करने लगते हैं। स्कूल में फ़ेल होने वाले लड़के बड़ी-बड़ी कम्पनियों के मैनेजर बनते देखे गए हैं। कोई समय था जब कि इस 'टाइप' के बालकों के लिए स्कूल में कोई विषय नहीं होता था, परन्तु अब तो जिल्दसाज़ी, लकड़ी का काम, खिलौने बनाना आदि विषय 'बेसिक शिक्षा-प्रणाली' में आ गए हैं जिनसे 'क्रिया-प्रधान' बालक भी स्कूल से काफ़ी लाभ उठा सकते हैं।

प्रश्न

(१) 'मध्य-मान' या 'केन्द्रीय-योग्यता' से क्या अभिप्राय है ? उदाहरण तथा चित्र देकर समझाओ।

(२) व्यक्ति-गत भेदों (Individual 'differences) के कारणों पर निबन्ध लिखो।

(३) व्यक्ति-व्यक्ति में 'भेद' होते हुए भी कई व्यक्तियों में 'समानता' पायी जाती है। इस समानता को शिक्षा-मनोविज्ञान में क्या नाम दिया जाता है ?

(४) 'विचार-प्रधान' बालकों के थॉर्नडाइक, वारनर, टरमैन, स्टीफ़न्सन तथा युंग ने क्या भेद बतलाये हैं ? ग्लैंड-कृत भेद क्या हैं ?

(५) 'भाव-प्रधान' बालकों के क्या-क्या भेद हैं ? शिक्षक का उनके प्रति क्या कर्त्तव्य है ?

(६) 'व्यक्तित्व-विच्छेद' (Splitting of Personality) क्या है ? 'अन्तर्द्वन्द्व' (Conflict of Personality) क्या है ?

(७) बेसिक-शिक्षा-प्रणाली ने 'क्रिया-प्रधान' बालकों की समस्या को कैसे हल किया है ?

१८

बुद्धि-परीक्षा, प्रकृति-परीक्षा, स्वभाव-परीक्षा
(INTELLIGENCE TESTS, CHARACTER TESTS AND TEMPERAMENT TESTS)

१. बुद्धि' तथा 'विद्या' में भेद

'बुद्धि' जन्मगत है, 'विद्या' जन्मगत नहीं, सीखी जाती है—

प्राचीन-काल में 'बुद्धि' (Intelligence) तथा 'विद्या' (Knowledge) को एक समझा जाता था। जिसमें जितनी अधिक विद्या होती थी, जो जितना अधिक पढ़ा होता था, वह उतना ही अधिक बुद्धिमान् समझा जाता था। परन्तु आजकल ऐसा नहीं माना जाता। 'विद्या' पढ़ने-सिखाने से आती है, 'बुद्धि' बालक में पहले से मौजूद होती है; 'विद्या' पर्यावरण का परिणाम है, 'बुद्धि' वंशानुसंक्रमण के द्वारा प्राप्त होती है; हो सकता है कि एक व्यक्ति 'विद्वान्' हो, परन्तु 'बुद्धि' न हो; इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति 'बुद्धिमान्' हो, परन्तु 'विद्वान्' न हो; 'विद्या' बाहर से प्राप्त होती है, 'बुद्धि' मनुष्य का आभ्यन्तर गुण है; 'विद्या' बढ़ सकती है, 'बुद्धि' नहीं बढ़ सकती; बहुत-सी बातें जान लेना 'विद्या' है, परन्तु उनका इस्तेमाल कर सकना, उन्हें जीवन में उपयोगी बना सकना 'बुद्धि' है।

'बुद्धि' का लक्षण—

जीवन में 'विद्या' तथा 'बुद्धि' दोनों की उपयोगिता है, परन्तु 'बुद्धि' 'विद्या की अपेक्षा भी अधिक उपयोगी है। 'बुद्धि' क्या है? 'बुद्धि' मनुष्य की एक स्वाभाविक शक्ति का नाम है जिसे वह जन्म से ही अपने साथ लाता है। 'बुद्धिमान्' व्यक्ति नवीन पर्यावरण में घबराता नहीं, झट-से अपने को उसके अनुकूल बना लेता है; वह मानसिक कार्यों को

मूर्ख व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आसानी से कर सकता है; किन्हीं पदार्थों की तुलना, उनके वर्गीकरण, उनके विषय में विचार करने में उसे कठिनाई नहीं होगी; वह किसी बात को जल्दी सीख जाता है, और उसे देर तक अपने दिमाग़ में रख सकता है। 'बुद्धि' के इस लक्षण से स्पष्ट है कि शिक्षा की दृष्टि से इस शक्ति की कितनी उपयोगिता है। इसीलिए, चिर-काल से, 'बुद्धि' को परखने के अनेक उद्योग होते रहे हैं। इस विषय में आगे बढ़ने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि वे उद्योग क्या रहे हैं?

२. 'बुद्धि-परीक्षा' का इतिहास

प्रचलित परीक्षा-प्रणाली 'विद्या' को मापती है, 'बुद्धि' को नहीं—

जैसा अभी कहा गया, शुरू-शुरू में 'बुद्धि' तथा 'विद्या' में भेद नहीं समझा जाता था। प्रचलित परीक्षा-प्रणाली से ही उस समय 'विद्या' को मापा जाता था, और 'विद्या' के मापने को ही 'बुद्धि' का मापना समझा जाता था। किन्तु धीरे-धीरे यह भाव उत्पन्न हुआ कि प्रचलित प्रणाली से तो 'विद्या' मापी जा सकती है, पुस्तक को कितना घोट लिया है, यह मापा जा सकता है, इससे 'बुद्धि' को नहीं मापा जा सकता। इस विचार के उत्पन्न होने के साथ-साथ 'विद्या' को माप कर 'बुद्धि' को पता लगाने के प्रयत्न को छोड़ दिया गया, और 'बुद्धि' को मापने के स्वतन्त्र उपायों का अवलम्बन किया जाने लगा। पहले-पहल 'मुख' और 'सिर' की आकृति को देख कर बुद्धि-परीक्षा का श्री-गणेश हुआ।

लेवेटर का मत—मुखाकृति से बुद्धि-परीक्षा—

(क) १४७५–७८ में लेवेटर ने मुखाकृति-विज्ञान (Physiognomy) पर एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें बतलाया गया था कि चेहरे को देखकर किसी व्यक्ति की बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। नाक लम्बी हो, तो एक बात सूचित होती है, चपटी हो, तो दूसरी। बड़े-बड़े कानों से एक बात सूचित होती है, छोटे कानों से दूसरी। इस प्रकार लेवेटर तथा उसके अनुयायियों ने मुख की भिन्न-भिन्न आकृतियों से बुद्धि की परीक्षा करने का प्रयत्न किया जिसे अब प्रामाणिक नहीं माना जाता।

गॉल का मत—सिर की आकृति से बुद्धि-परीक्षा—

(ख) अठारहवीं शताब्दी के अन्त में गॉल (१७५८–१८२८) तथा स्पुरज्हीम ने मस्तिष्क के उभार तथा दबाव के आधार पर बुद्धि-परीक्षा करने का प्रयत्न किया। स्पुरज्हीम का कथन था कि कोई खास शक्ति बढ़ी हुई हो, तो मस्तिष्क का एक खास हिस्सा उभर जाता है; वह हिस्सा दबा हो, तो मनुष्य में उस शक्ति की कमी होती है। इन सिद्धान्तों को आधार बनाकर गॉल ने 'कपाल-रचना-विज्ञान' (Phrenology) की नींव रखी, परन्तु इसे भी अब प्रामाणिक नहीं माना जाता।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लोम्ब्रोसो ने अनेक अपराधियों के सिर, नाक, कान आदि का अध्ययन करके इस बात पर जोर दिया कि अपराधियों के सिर आदि की बनावट दूसरों से भिन्न होती है, अतः इसके आधार पर बुद्धि की परीक्षा भली प्रकार की जा सकती है। बर्ट तथा पीयरसन ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया, और अब इस सिद्धान्त को भी कोई नहीं मानता।

३. बिने-साइमन परीक्षा-प्रणाली

बिने का मत—'मानसिक आयु' (Mental age) क्या है, उसके प्रश्न—

'बुद्धि' को मापने के उक्त उद्योगों के बाद आजकल बीसवीं सदी में जो उद्योग किए गए उनमें से मुख्य बिने-साइमन परीक्षा-प्रणाली है। बिने (Binet १८५७–१९११) फ्रांस का रहने वाला मनोविज्ञान का पण्डित था। फ्रांस की पाठशालाओं के प्रबन्ध-कर्ताओं ने उससे ऐसे बालकों का पता लगाने में सहायता चाही जो बुद्धि की दृष्टि से हीन कहे जा सकते थे, और दूसरे बालकों के साथ किसी प्रकार भी नहीं चल सकते थे, ताकि उन्हें तेज लड़कों से अलग करके पृथक् स्कूलों में भर्ती किया जाय। साइमन भी फ्रांस का मनोवैज्ञानिक पण्डित था, और उसने इन परीक्षणों में सहायता दी थी। बिने तथा साइमन ने अनेक परीक्षणों के बाद एक परीक्षा-प्रणाली निर्धारित की जो 'बिने-साइमन परीक्षा-प्रणाली' के नाम से प्रसिद्ध है। इन लोगों ने १९०५ में अपनी पद्धति को पूर्ण करके ५४ प्रश्न तैयार किए,

जिनके आधार पर बालकों की बुद्धि की परीक्षा की जाती थी। इन प्रश्नों से तीन वर्ष से लेकर युवावस्था तक के बालक की बुद्धि की परीक्षा होती थी। तीन वर्ष के बालक के लिए जो प्रश्न निश्चित किए गए थे, अगर वह उन सब का उत्तर दे सकता था, तब तो उसकी 'मानसिक-आयु' (Mental age) भी तीन वर्ष की समझी जाती थी, नहीं तो बरसों की दृष्टि से तीन वर्ष का होने पर भी उसकी 'मानसिक-आयु' तीन से कम समझी जाती थी। प्रत्येक वर्ष के लिए पाँच-पाँच प्रश्न निश्चित किए गए थे, परन्तु चार वर्ष की आयु वाले बालक के लिए केवल चार प्रश्न। ११–१३–१४ वर्ष के लिए वे लोग किन्हीं निश्चित प्रश्नों का निर्धारण न कर सके। एक-एक प्रश्न उस वर्ष की आयु के उतने ही हिस्से को सूचित करता था। अगर १० वर्ष का बालक ९ वर्ष के सब प्रश्नों का उत्तर दे दे, परन्तु १० वर्ष के पाँच प्रश्नों में से केवल एक प्रश्न का उत्तर दे सके, तो उसकी 'मानसिक-आयु' १० वर्ष न होकर ९ वर्ष और $१२ \times \frac{१}{५} = २\frac{२}{५}$ महीने होगी। १२ यहाँ पर वर्ष के १२ महीनों को सूचित करता है, और $\frac{१}{५}$ उन ५ प्रश्नों में से एक को जो इस आयु में वह कर सक रहा है। अगर वह ५ प्रश्नों में से एक के स्थान में दो को ठीक कर लेता है, तब उसकी 'मानसिक-आयु' $१२ \times \frac{२}{५} = ४\frac{४}{५}$ अर्थात् ९ वर्ष तथा $४\frac{४}{५}$ मास होगी। अगर प्रश्न पाँच की जगह छः बना दिए जाएँ, तो एक-एक प्रश्न दो-दो महीने को सूचित करेगा, और जो बालक १० वर्ष की आयु में १० वर्ष के केवल तीन प्रश्न हल कर सकेगा, उसकी 'मानसिक-आयु' ९ वर्ष और $१२ \times \frac{३}{६} = ६$ महीने गिनी जाएगी। किसी बालक की 'मानसिक-आयु' निकालने का तरीका यह है कि पहले उसकी आयु लिख ली जाती है, फिर उस आयु के प्रश्न उसे हल करने को दिये जाते हैं। अगर वह उन प्रश्नों को हल कर ले, तब तो उसकी वही 'मानसिक-आयु' समझी जाती है। नहीं तो, उस आयु से नीचे के प्रश्न हल करने को उसे दिए जाते हैं। जितने प्रश्नों को वह हल कर सके, उनकी संख्या के नीचे, उस आयु के लिए निश्चित प्रश्न रखकर १२ से गुणा कर दिया जाता है। कई बालक अपनी आयु से ऊपर के प्रश्नों को हल कर सकते हैं। उन प्रश्नों की संख्या के अनुसार उन्हें उसी 'मानसिक आयु' का कहा जाता है। बिने के प्रश्नों का नमूना निम्न प्रकार है:—

तीन वर्ष

१. आँख, नाक, मुंह को उँगली से बता सके।
२. दो अंक, जैसे २–३, ५–६ को एक वार सुनकर दोहरा दे।
३. किसी चित्र को देखकर उसमें की वस्तुओं को वता दे।
३. अपना नाम बता सके।
५. छः शब्दों के सरल वाक्य को दोहरा सके।

चार वर्ष

१. अपने बालक या बालिका होने को बता सके।
२. चाबी, चाकू, पैसे को देखकर इनका नाम ले सके।
३. तीन अंक जैसे ५, ६, ७ को एक वार सुनकर दोहरा दे।
४. दो रेखाओं में छोटी और बड़ी को पहिचान सके।

पाँच वर्ष

१. दो वज़नों की तुलना कर सके।
२. एक चतुर्भुज को देखकर उसकी नकल कर सके।
३. दस शब्दों के सरल वाक्य को दोहरा सके।
४. चार पैसों को गिन सके।
५. एक आयत के दो टुकड़ों को जोड़ सके।

४. टरमैन की परीक्षा-प्रणाली

बर्ट तथा टरमैन द्वारा मानसिक-आयु के प्रश्नों का संशोधन—

बिने की १६११ में मृत्यु हो गई, नहीं तो वह स्वयं अपनी प्रश्नावली का परिशोधन तथा परिवर्धन करता। बिने के बाद इन प्रश्नों को और अधिक परिष्कृत करने का प्रयत्न किया गया। ये उद्योग इंगलैण्ड तथा अमेरिका में हुए। इंगलैण्ड में बर्ट ने बिने के साथी साइमन की सहायता से लण्डन के स्कूलों में उक्त प्रश्नों के द्वारा बालकों की बुद्धि-परीक्षा की। बर्ट ने बिने के प्रश्नों में संशोधन भी किया, और उसकी संख्या ५४ से ६५ तक बढ़ा दी। ये प्रश्न ३ वर्ष से १६ वर्ष की आयु तक के लिए हैं और प्रत्येक वर्ष के प्रश्नों की संख्या बराबर नहीं है। इन प्रश्नों का दूसरा
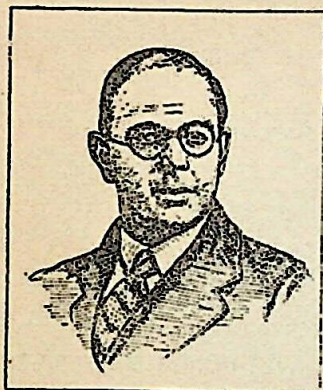
वर्ट

संशोधन अमेरिका में टरमैन ने किया, इन्हें 'स्टेनफ़ोर्ड-संशोधन तथा परिवर्धन' (Stanford Revision and Extension) कहते हैं। टरमैन के प्रश्नों की संख्या ६० है। प्रत्येक वर्ष के लिए पाँच की जगह छः प्रश्न हैं, १२ वर्ष की आयु के लिए ८ प्रश्न हैं। बिने की प्रश्नावली में से केवल १६ को टरमैन ने वैसे-का-वैसा रखा है, नहीं तो सब में अदला-बदली कर दी है। नमूने के तौर पर हम टरमैन के कुछ प्रश्नों को नीचे देते हैं :—

तीन वर्ष

[प्रत्येक प्रश्न दो-दो मास का सूचक है]

१. आँख, नाक, मुंह आदि अंगों को उँगली से बता सके।
२. चाबी, चाकू, पैसे आदि को देखकर इनका नाम ले सके।
३. किसी सरल चित्र को देखकर उसकी कुछ वस्तुएँ बता सके।
४. अपने बालक या बालिका होने को बता सके।
५. अपने घराने का नाम बता सके।
६. छः-सात अक्षरों तक के वाक्य को दोहरा सके।

चार वर्ष

[प्रत्येक प्रश्न दो-दो मास का सूचक है]

१. दो रेखाओं में से छोटी-बड़ी को पहचान सके।
२. वृत्त, वर्ग, आयत आदि को पहचान सके।
३. चार पैसों को गिन सके।
४. एक सम-चतुर्भुज को देखकर उसकी नकल कर सके।
५. सरल समझ को परखना, जैसे भूख लगे तो क्या करोगे ?
६. चार अंक, जैसे ४, ३, ७, ९ को सुनकर इकठ्ठा दोहरा सके।

पाँच वर्ष

[प्रत्येक प्रश्न दो-दो मास का सूचक है]

१. दो वज़नों की तुलना कर सके।
२. लाल, पीले, नीले हरे रंग को पहचान सके।
३. दो वस्तुओं की तुलना करके अधिक सुन्दर को बता सके।
४. कुर्सी, घोड़ा, गुड़िया आदि का लक्षण कर सके।
५. कुछ ऐसे परीक्षण जिनसे धैर्य की परीक्षा हो।
६. तीन बातें जिस क्रम से करने को कही जायँ उन्हें उस क्रम से कर सके।

टरमैन का मत—'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence Quotient) क्या है—

बिने ने 'मानसिक-आयु' (Mental Age) निकालने के लिए अपने प्रश्न बनाये थे; टरमैन ने उन प्रश्नों का संशोधन करने के अतिरिक्त 'शारीरिक-आयु' (वर्षायु) तथा 'मानसिक-आयु' के अनुपात—'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence Quotient या Intelligence Ratio) के निकालने के नियम का प्रतिपादन किया। केवल 'मानसिक-आयु' के पता लगाने से यह ज्ञात नहीं होता कि बालक कितना तेज या सुस्त है। 'कितना'—इस बात को जानने के लिए 'मानसिक-आयु' तथा बरसों की आयु अर्थात् 'वर्षायु' के पारस्परिक अनुपात को जानना आवश्यक है। 'मानसिक-आयु' तथा 'वर्षायु' के पारस्परिक अनुपात को जानने का सरल तरीक़ा यह है कि 'मानसिक-आयु' को 'बरसों की आयु' से भाग दे दिया जाय। इसी को 'बुद्धि-लब्धि'—'मानसिक आयु का अनुपात'—(Intelligence Quotient या IQ) कहते हैं। अगर किसी की 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष हो, 'वर्षायु' १२ वर्ष हो, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' $\frac{८}{१२}$=.६७ होगी। इसी प्रकार अगर किसी की 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष और 'वर्षायु' ५ वर्ष हो, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' $\frac{८}{५}$=१.६ होगी।
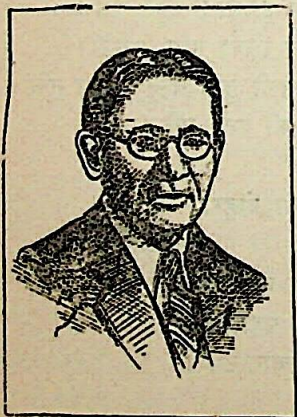
टरमैन

जिस बालक की 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष तथा 'वर्षायु' भी ८ वर्ष हो, उसकी 'बुद्धि-लब्धि' $\frac{८}{८}$=१ होगी। 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) को प्रायः प्रतिशत में प्रकट किया जाता है, और इसलिए किसी बालक की 'बुद्धि-लब्धि' निकालने के लिए 'मानसिक-आयु' को बरसों की आयु अर्थात् 'वर्षायु' से भाग देकर उसे १०० से गुणा कर दिया जाता है। १०० से गुणा इसलिए किया जाता है जिससे दशमलव के झगड़े में न पड़ना पड़े, और सम्पूर्ण समस्या पर प्रतिशत के रूप में विचार किया जा सके। इस दृष्टि से साधारण बुद्धिवाले बालक की 'बुद्धि-लब्धि' १०० मानी गई है, जिसका अर्थ यह है कि उसकी जो 'वर्षायु' है, उसी के अनुसार उसकी 'मानसिक-आयु' भी है। 'बुद्धि-लब्धि' को चित्र में यों लिखा जाता है :—

$$\text{बुद्धि-लब्धि (IQ)} = \frac{\text{मानसिक-आयु}}{\text{वर्षायु}} \times १००$$

हज़ारों बालकों पर परीक्षण करके मनोवैज्ञानिकों ने 'बुद्धि-लब्धि' का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया है। इसमें १५० आदि का अर्थ १५० प्रतिशत से है :—

बुद्धि-लब्धि	बुद्धि
१५० से अधिक ...	प्रतिभाशाली (Genius)
१४० से १५० ...	उप-प्रतिभा-शाली (Near Genius)
१२० से १४० ...	अत्युत्कृष्ट (Very Superior Intelligence)
११० से १२० ...	उत्कृष्ट-बुद्धि (Superior Intelligence)
९० से ११० ...	सामान्य-बुद्धि (Normal, Average)
८० से ९० ...	मन्द-बुद्धि (Backward)
७० से ८० ...	मूर्ख, हीन-बुद्धि (Feeble-minded or Moron)
७० से कम ...	मूढ (Dull)
५५ से कम ...	जड़-बुद्धि (Deficient, Idiot, Imbecile)

५. समूह-बुद्धि-परीक्षा (GROUP OR COLUMBIA TESTS)

टरमैन, बैलार्ड, बर्ट और टामसन की समूह-प्रश्नावली—

बिने तथा टरमैन की जिन परीक्षा-प्रणालियों का ऊपर उल्लेख किया गया है, इनका सबसे बड़ा दोष यह था कि इनमें समय बहुत लगता था।

एक-दो बालकों की बुद्धि की परीक्षा करनी हो, तब तो ठीक था, परन्तु अगर अनेक बालकों की परीक्षा करनी हो, तब इस प्रकार परीक्षा करने से बहुत समय नष्ट होता था, इसलिए यह अनुभव होने लगा कि समूह-के-समूह की इकट्ठी परीक्षा लेने का उपाय निकालना चाहिए। वह उपाय १९१४ के महायुद्ध के समय अमेरिका में निकला, और इसे 'समूह-बुद्धि-परीक्षा' (Group Test) कहा जाता है। युद्ध के समय यह देखने की आवश्यकता होती थी कि कौन-से व्यक्ति सेना में भर्ती होकर बुद्धि-पूर्वक कार्य करने की योग्यता रखते हैं। तब एक-एक की परीक्षा की जाती, तो बहुत समय लगता। उस समय मनोवैज्ञानिकों ने सोच-विचार कर 'समूह-बुद्धि-परीक्षा' को निकाला। इसमें कई प्रश्न बनाए गए थे, जो छापकर, जिनकी परीक्षा लेनी होती थी, उन्हें बाँट दिये जाते थे, और उनके उत्तरों से उनकी बुद्धि की परीक्षा एक-साथ हो जाती थी। इन प्रश्नों का चुनाव भी बड़े सोच-विचार के बाद किया गया था, और इन प्रश्नों को प्रामाणिक बना लिया गया था। अमेरिका में टरमैन ने 'टरमैन समूह-बुद्धि-परीक्षा'-प्रश्न तैयार किये। इसी प्रकार इंगलैण्ड में बैलार्ड ने 'चेलसी-समूह-बुद्धि-परीक्षा', बर्ट और टामसन ने 'नार्थम्बरलैण्ड समूह-बुद्धि परीक्षा'-प्रश्न तैयार किये। इन प्रश्नों द्वारा कहीं-कहीं स्कूलों के बालकों की बुद्धि-परीक्षा की जाने लगी है। स्कूल के बालकों के लिए जो प्रश्न किए जाते हैं, उनका कुछ नमूना 'नार्थम्बरलैण्ड समूह-बुद्धि-परीक्षा' से नीचे दिया जाता है :—

(क) नीचे लिखी शब्दावली की श्रेणी में से उस शब्द को काट दो, जो श्रेणी में उचित न प्रतीत हो :—

बाल पर ऊन घास लट

दान दया क्षमा बदला प्रेम

(ख) नीचे लिखी अंकमाला में जो अंक अपनी श्रेणी में उचित न प्रतीत होता हो, उसे काट दो :

२६ ३ ७ ३९ १३ ५२

१८ २२ ३० २४ ३ १२

(ग) नीचे लिखी प्रत्येक पंक्ति के पहले दो शब्दों में कुछ सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध को मालूम करो, और दिए हुए शब्दों में जिस-जिस

शब्द का अन्य किसी शब्द के साथ वही सम्बन्ध हो, उसके नीचे लकीर खींच दो :—

(बन्दूक : निशाना लगाना) चाकू, दौड़ना, काटना, चिड़िया, टोपी

(जूता : पैर) टोपी, कोट, नाक, सिर, कालर

'समूह-बुद्धि-परीक्षा' के प्रश्नों की संख्या १८० है। ये प्रश्न एक पुस्तिका में छाप दिए गए हैं। उत्तर देने के लिए समय निश्चित कर दिया जाता है। प्रश्नों को भिन्न-भिन्न मानसिक-शक्तियों के आधार पर बाँट दिया गया है। कुछ प्रश्न 'तर्क'-सम्बन्धी, कुछ 'सामान्य-ज्ञान'-सम्बन्धी होते हैं। हजारों बालकों की परीक्षा लेकर देखा गया है कि इन प्रश्नों में से ३२ प्रश्नों को १० वर्ष के बालक, ४२ को ११ वर्ष के, ५० को १२ वर्ष के, ५५ को १३ वर्ष के, और ५८ को १४ वर्ष के बालक ठीक कर सकते हैं। अतः जो बालक इन प्रश्नों में से ३२ ठीक करे, उसकी 'मानसिक-आयु' १० वर्ष की कही जायगी; जो ४२ ठीक करे, उसकी 'मानसिक-आयु' ११ वर्ष की। यह परीक्षा शुरू-शुरू में 'कोलम्बिया' में प्रारंभ की गई थी, अतः इन्हें 'कोलम्बिया-टेस्ट्स' (Columbia Tests) कहा जाता है।

६. क्रिया-परीक्षा (PERFORMANCE TEST)

ऊपर हमने 'व्यक्तिगत' तथा 'समूह-बुद्धि-परीक्षा' का वर्णन किया है, परन्तु इन सब में भाषा की आवश्यकता पड़ती है। जहाँ हम दूसरे की बात समझ न सकते हों, वहाँ उक्त परीक्षाएँ काम नहीं आ सकतीं। बहरों, गूंगों तथा बिना पढ़े-लिखों या कम पढ़े-लिखों के लिए जो 'परीक्षाएँ' (Tests) बनायी गई हैं, उन्हें 'क्रिया-परीक्षाएँ' (Performance tests) कहा जाता है। इन 'क्रिया-परीक्षाओं' में लिखने की जरूरत नहीं होती। लकड़ी के कुछ भिन्न-भिन्न आकारों के टुकड़े लेकर, उन्हें बीच में से काटकर, उन्हें जोड़ने के लिए कहा जाता है। देखना यह होता है कि कौन बालक कितनी जल्दी और ठीक-से इन टुकड़ों को सही शक्ल में जोड़ लेता है। इस प्रकार की परीक्षा को 'फ़ौर्म बोर्ड टेस्ट' (Form Board Test) कहा जाता है। इस प्रकार के कुछ टुकड़े १९२३ में श्री कोह ने बनाए थे जिन्हें 'ब्लॉक डिज़ाइन टेस्ट्स' (Block Design Tests) कहा

जाता है। श्री कोह ने कुछ डिज़ाइन बनाये थे जो एक-दूसरे से ज्यादा पेचीदा थे। उन डिज़ाइनों को रंगदार डिज़ाइनों से बनाने को परीक्षार्थी को कहा जाता है। श्री कोह की 'क्रिया-परीक्षा' के अतिरिक्त श्री एलग्जैण्डर की भी एक 'क्रिया-परीक्षा' है। पहले दिनों भारत के विद्यार्थियों पर अलाहाबाद के ब्यूरो ऑफ़ साईकौलोजी के डायरेक्टर श्री भाटिया ने कुछ परीक्षण किये हैं, जिनके आधार पर उन्होंने 'Performance-Tests of Intelligence Under Indian Conditions'—इस नाम से एक पुस्तक लिखी है। इसमें उन्होंने 'क्रिया-परीक्षा' के कुछ परीक्षण दिये हैं जिनमें कागज़ पर चौकोर-लम्बी आदि कुछ शक्लें पेंसिल से खींच कर बालक को वैसी शक्लें कागज़ से पेंसिल बिना उठाये कम-से-कम समय में खींचने को कहा जाता है, और जो ठीक शक्ल खींच सके और कम समय में खींच सके, उसकी बुद्धि दूसरों से उत्तम मानी जाती है। इस प्रकार के परीक्षणों से उन बालकों की 'बुद्धि-परीक्षा' की जाती है, जिनकी पहले लिखे उपायों से नहीं की जा सकती।

'क्रिया-परीक्षा' (Performance test) के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :—

(क) मनुष्य का रेखा-चित्र बनाने द्वारा परीक्षा (Man-drawing test)–

बच्चे से कहा जाता है कि पेंसिल से कागज़ पर मनुष्य का अच्छे-से-अच्छा रेखा-चित्र बनाये। इस रेखा-चित्र में मनुष्य के भिन्न-भिन्न अंगों तथा उनके आपस के संबंधों को जो ज्यादा-से-ज्यादा दर्शाता है उसे सब से अधिक अंक दिये जाते हैं। इस रेखा-चित्र की सुन्दरता को अंक देते हुए उतना महत्त्व नहीं दिया जाता।

(ख) ब्लॉक डिज़ाइन टेस्ट (Block design test)—

इस परीक्षा में लकड़ी के भिन्न-भिन्न आकार के टुकड़ों को एक तख्ते में बने हुए उस-उस आकार के छेदों में जड़ने को कहा जाता है। जो बच्चा जितने अधिक टुकड़े जड़ सकता है उसे उतने ही अधिक अंक दिये जाते हैं। जो भिन्न आकार के टुकड़े को भिन्न आकार के छेद में डालने का प्रयत्न करता है, उसके अंक कट जाते हैं। कितने समय में कोई बच्चा इस काम को करता है, यह भी अधिक अंक देने में सहायक है।

(ग) घुमरघेरी द्वारा परीक्षा (Maze test)—

एक घुमरघेरी बनाकर पेंसिल से उसका मार्ग ढूंढ निकालने के लिए बालक को कहा जाता है। जो बालक मार्ग ढूंढ लेता है उसे अधिक अंक दिये जाते हैं। जो जितनी जल्दी घुमरघेरी का मार्ग ढूंढ निकालता है, वह उतने ही अधिक अंकों का अधिकारी होता है।

'क्रिया-परीक्षा' द्वारा अन्धे-बहरे, अपढ़ व्यक्तियों की बुद्धि-परीक्षा तो होती ही है, भिन्न-भिन्न जाति तथा देश के व्यक्तियों की जो एक ही भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते एक-साथ बुद्धि-परीक्षा हो सकती है।

७. शिक्षा-परीक्षा

(EDUCATIONAL OR SCHOLASTIC TESTS)

'क्रिया-परीक्षा' (Performance Test) के अतिरिक्त 'शिक्षा-परीक्षा' (Educational or Scholastic Test) के भी मनोवैज्ञानिकों ने प्रश्न तैयार किये हैं। वैसे तो प्रत्येक स्कूल में 'शिक्षा-परीक्षा' ली जाती है, तो भी इन परीक्षाओं में प्रामाणिकता लाने के लिए डा० बैलार्ड ने गणित, इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी आदि सब विषयों की प्रश्नावली तय्यार की है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि भिन्न-भिन्न विषयों में बालक की शिक्षा की योग्यता उसकी 'मानसिक-आयु' से मेल खाती है या नहीं। अगर सात वर्ष की 'मानसिक-आयु' का बालक सात वर्ष की आयु के लिए निश्चित किये गए प्रश्नों को ठीक-ठीक कर सकता है, तब तो उसकी 'शिक्षा की आयु' सात ही वर्ष की समझी जायगी, अन्यथा ऊपर-नीचे। शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्नावली को विस्तृत रूप से जानने के लिए 'हौडर तथा स्टौटन' (Hodder and Stoughton) के प्रकाशित किए हुए 'दि न्यू एग्जामिनर' (The New Examiner) को देखना चाहिए। बर्ट ने भी अपनी पुस्तक 'Mental and Scholastic Tests' में विद्यालय के भिन्न-भिन्न विषयों का वर्गीकरण करके उनकी परीक्षा-विधि दी है, जिससे बालक की भिन्न-भिन्न विषयों में योग्यता का उसकी बरसों की आयु अर्थात् 'वर्षायु' से सम्बन्ध का पता लग जाता है।

किसी बालक की 'शिक्षा-लब्धि' (Scholastic or Educational Quotient) पता लगाने से यह ज्ञात हो जाता है कि उसकी शिक्षा की

आयु (Educational age) का उसकी 'वर्षायु' (Chronological age) से क्या सम्बन्ध है। 'शिक्षा-लब्धि' (Scholastic Quotient) निकालने के लिए पहले 'शिक्षा की आयु' (Scholastic or Educational age) निकालते हैं जिसका नियम निम्न-लिखित है :—

$$\text{शिक्षा की आयु (Scholastic age)} = \frac{\text{भिन्न-भिन्न विषयों की आयु का जोड़}}{\text{जितने विषयों की आयु जोड़ी गई है}}$$

इसके बाद 'शिक्षा-लब्धि' (Scholastic Quotient) निकालने का नियम निम्न है :—

$$\text{शिक्षा-लब्धि (Scholastic Quotient)} = \frac{\text{शिक्षा की आयु} \times १००}{\text{बरसों के अनुसार आयु (वर्षायु)}}$$

८. 'योग्यता-परीक्षा'

(ACHIEVEMENT OR ATTAINMENT TEST)

'शिक्षा-परीक्षा' (Scholastic Test) के बाद 'योग्यता-परीक्षा' (Achievement or Attainment Test) की बारी आती है। बालक ने जो पुस्तकों द्वारा पढ़ा है उसमें, और पढ़ने के बाद उसने जो योग्यता प्राप्त कर ली है—उसे अपने सामान्य-ज्ञान का अंग बना लिया है—इन दोनों बातों में अन्तर है, और इस अन्तर को परीक्षणों द्वारा पता लगाना शिक्षक का कर्त्तव्य है। १९वें अध्याय में इस पर विस्तार से विचार किया जायगा।

९. दो परिणाम

'बुद्धि-परीक्षा' पर जो परीक्षण हुए हैं, उनसे दो ऐसे परिणाम निकलते हैं जिनपर ध्यान देना आवश्यक है। वे परिणाम निम्न हैं :—

'बुद्धि-लब्धि' हर आयु में एक-समान रहती है—

(क) 'बुद्धि-लब्धि' प्रत्येक बालक की भिन्न-भिन्न होती है, और इस पर शिक्षा का प्रभाव नहीं पड़ता। टरमैन ने परीक्षणों से सिद्ध किया है कि अगर किसी बालक की छः वर्ष में 'बुद्धि-लब्धि' १०० है, तो १० वर्ष में भी थोड़े-बहुत हेर-फेर से लगभग इतनी ही रहती है। एक लड़की पर इस सम्बन्ध में परीक्षण किये गए, जो इस प्रकार थे :—

	वर्षायु		मानसिक-आयु		बुद्धि-लब्धि
प्रथम परीक्षा	६ वर्ष	८ महीने	५ वर्ष	४ महीने	८३
द्वितीय परीक्षा	७ व०	१ म०	५ व०	४ म०	७५
तृतीय परीक्षा	८ व०	२ म०	६ व०	१० म०	८४
चतुर्थ परीक्षा	८ व०	७ म०	७ व०	० म०	८१
पंचम परीक्षा	१२ व०	१० म०	९ व०	१० म०	७७

इसी प्रकार अनेक लड़कियों पर भिन्न-भिन्न आयुओं में परीक्षण किए गए, और यही परिणाम निकला कि 'बुद्धि-लब्धि' में बहुत अधिक भेद नहीं पड़ता। इस परिणाम के आधार पर बचपन में ही बालक के भविष्य की गति-विधि पर सोचा जा सकता है।

मानसिक-आयु १६ वर्ष तक बढ़ती है—

(ख) दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि 'मानसिक-आयु' (Mental Age) १६ वर्ष के क़रीब-क़रीब पहुँच कर आगे नहीं बढ़ती। मन्द-बुद्धि बालक १४ वर्ष में ही अपनी अधिक-से-अधिक 'मानसिक-आयु' पर पहुँच जाते हैं, तीक्ष्ण-बुद्धि वाले १८ वर्ष तक उन्नति करते रहते हैं, परन्तु उसके बाद 'विद्या' में तो उन्नति हो सकती है, 'बुद्धि' में नहीं। 'मानसिक-आयु', 'बुद्धि-लब्धि' तथा 'विद्या की आयु' के पारस्परिक सम्बन्ध को निम्न चित्र से दर्शाया जा सकता है :—

मानसिक-आयु, बुद्धि-लब्धि तथा विद्या की आयु का चित्र
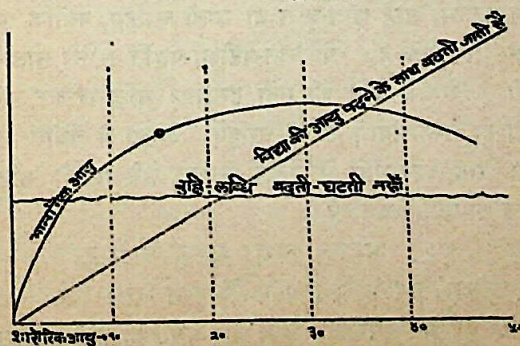
१०. शिक्षा में बुद्धि-परीक्षा का उपयोग

'बुद्धि-परीक्षा' का शिक्षा की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। आजकल बच्चों की शिक्षा अन्धाधुन्ध चलती है। तेज़ और कमज़ोर बालकों को इकट्ठा पढ़ाया जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शिक्षक न तेज़ बालकों को ही अपने साथ रख सकता है, न कमज़ोर बालकों को ही। हमारे शिक्षा-क्रम में कई ऐसे बालकों को जबर्दस्ती पढ़ाया जाता है, जिन्हें कभी का दस्तकारी या इसी प्रकार के अन्य किसी धन्धे में लग जाना चाहिए था। बहुत-से तेज़ बालक जो डाकगाड़ी की भाँति कई स्टेशन एकदम पार कर सकते थे, मालगाड़ी की चाल से चलते हैं, क्योंकि उसी कक्षा में सब तरह का माल भरा होता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का यह बड़ा भारी दोष है। सबसे अच्छा तो यह हो, अगर प्रत्येक बालक पर वैय्यक्तिक ध्यान दिया जा सके, परन्तु अगर इतना नहीं हो सकता, तब यह तो जरूर होना चाहिए कि प्रत्येक कक्षा में लगभग एक ही 'बुद्धि-लब्धि' के बालक हों, ताकि वे सब एक-साथ चल सकें। अनेक तेज़ बालकों को जब मालगाड़ी की रफ़्तार से चलने को बाधित किया जाता है, तब वे अपनी अतिरिक्त-शक्ति का शरारतों में प्रयोग करते हैं, और तेज़ कहे जाने के बजाय शरारती कहे जाते हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि ऐसे बालकों को या तो 'डबल प्रमोशन' दे दे, या उन्हें छाँटकर उनकी अलग कक्षा बनाये। तेज़ बालकों को छात्र-वृत्ति देने में भी बुद्धि-परीक्षा का अच्छा उपयोग हो सकता है। जिनकी 'बुद्धि-लब्धि' ऊँची हो, उनके ग़रीब होने पर भी उन्हें छात्र-वृत्ति दी जानी चाहिए, क्योंकि ऐसे बालक देश की सम्पत्ति होते हैं। प्रचलित-परीक्षा-पद्धति से तो तोता-रटन की जाँच होती है, असली बुद्धि की नहीं, इसलिए 'बुद्धि-परीक्षा' की प्रणाली का जितना हो सके, प्रयोग करना चाहिए। स्कूलों में नवीन छात्र भर्ती करने तथा अन्य व्यवसायों में नवीन व्यक्ति लेने में भी 'बुद्धि-परीक्षा' करना बहुत उपयोगी रहता है।

११. भारत तथा बुद्धि-परीक्षा

'बुद्धि-परीक्षा' का प्रारम्भ फ्रांस में हुआ था। बिने ने फ्रांस के अरब बालकों पर अपने परीक्षण किये थे। अमेरिका तथा इंगलैण्ड में बिने

की प्रश्नावली में परिवर्तन करना पड़ा। सैंकड़ों बालकों पर परीक्षण करने के बाद उक्त प्रश्नावलियाँ निर्धारित की गईं, इसलिए भारत में उन प्रश्नों का सिर्फ़ अनुवाद कर लेने से काम न चलेगा। प्रत्येक देश की अवस्था भिन्न-भिन्न होती है। आवश्यकता इस बात की है कि कुछ मनोवैज्ञानिक देश में हज़ारों बालकों पर परीक्षण करके निश्चित प्रश्नावलियों का निर्धारण करें। कई स्थानों पर इस विषय में बड़े उपयोगी परीक्षण हो रहे हैं।

बनारस में ट्रेनिंग कॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल रा० ब० लज्जाशंकर झा इस विषय में बहुत दिलचस्पी लिया करते थे। उन्होंने सी० ए० रिचर्डसन द्वारा रचित 'समूह-बुद्धि-माप' को भारतीय परिस्थिति के अनुसार संशोधित करके एक प्रश्न-पुस्तिका तैयार की थी, जो बड़ी उपयोगी है। कुछ काम क्रिश्चियन कॉलेज लाहौर की तरफ़ से वहाँ के प्रिंसिपल सी० एच० राइस ने बिने के बुद्धि-परीक्षा-प्रश्नों को भारतीय परिस्थितियों के अनुसार बनाकर किया था। मद्रास युनिवर्सिटी के टीचर्स कॉलेज ने भी एक बुलेटिन प्रकाशित की थी। इटावा में भी इस सम्बन्ध में कुछ परीक्षण हुए। उत्तर-प्रदेश में लेफ्टिनेंट कर्नल डॉ० सोहनलाल की अध्यक्षता में इस सम्बन्ध में एक अनुसन्धान-विभाग खोला गया था। इस समय अलाहाबाद में 'ब्यूरो ऑफ़ साइकौलोजी' (Bureau of Psychology) नाम से एक संस्था उत्तर-प्रदेश सरकार की तरफ़ से काम कर रही है जिसका काम शिक्षा-संस्थाओं की तथा माता-पिताओं की अपनी सन्तान-सम्बन्धी शिक्षा-समस्याओं को हल करना है। इस संस्था ने भारतीय पर्यावरण के अनुसार अनेक प्रश्न तैयार किये हैं जिनसे शिक्षक-वर्ग लाभ उठा सकता है। परन्तु इन बिखरे हुए परीक्षणों की अपेक्षा भारत के मनोवैज्ञानिकों के संगठित तथा सुनियन्त्रित परीक्षणों की आवश्यकता है, तभी हम भारतीय पर्यावरणों के अनुकूल किसी निश्चित प्रश्नावली पर पहुँच सकेंगे।

१२. प्रकृति, स्वभाव तथा चरित्र परीक्षा
(TYPE, TEMPERAMENT AND CHARACTER TEST)

'प्रकृति' तथा 'स्वभाव' में भेद—

'बुद्धि' की परीक्षा के बाद हम बालकों की 'प्रकृति', 'स्वभाव' तथा 'चरित्र' की परीक्षा की तरफ़ आते हैं। 'प्रकृति' तथा 'स्वभाव' का एक-सा

अर्थ प्रतीत होता है, इसलिए इनमें भेद जानना आवश्यक है। १७वें अध्याय में हमने 'प्रकृति-भेद-वाद' (Type Theory) का वर्णन किया है। मनुष्य की 'प्रकृति' (Type) का आधार 'व्यवसाय-शक्ति' (Will-power) है। 'प्रकृति' द्वारा मनुष्य 'अन्तर्मुखी' हो सकता है, 'बहिर्मुखी' हो सकता है। 'बहिर्मुखी' व्यक्ति की 'व्यवसाय-शक्ति', 'क्रिया-शक्ति' प्रबल होती है, 'अन्तर्मुखी' की निर्बल। 'स्वभाव' (Temperament) का आधार 'व्यवसाय-शक्ति' न होकर 'उद्वेग' (Emotion) होता है। 'स्वभाव' से कोई व्यक्ति कामी, कोई क्रोधी, कोई द्वेषी, कोई मैत्री स्वभाव का होता है। काम, क्रोध, आदि 'उद्वेग' हैं। 'बुद्धि' जन्मगत होती है, उसे शिक्षक घटा-बढ़ा नहीं सकता, 'प्रकृति' तथा 'स्वभाव' को बदला जा सकता है, पर्यावरण के प्रभाव से किसी की कैसी और किसी की कैसी 'प्रकृति' और 'स्वभाव' बन जाते हैं। इस दृष्टि से शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालकों की 'प्रकृति' तथा 'स्वभाव' की तरफ़ विशेष ध्यान रखे।

'प्रकृति'-परीक्षा (Type test)—

वैसे तो 'प्रकृति' तथा 'स्वभाव' का परिचय किसी व्यक्ति के निकट में आने से, उससे बातचीत करने से ही अधिक होता है, फिर भी मनोवैज्ञानिकों ने इनकी परीक्षा के कुछ साधन निकाले हैं। हम १७वें अध्याय में बतला चुके हैं, कि मनुष्य के 'अन्तर्मुखी' (Introvert), 'बाह्यमुखी' (Extrovert) एवं अन्य जितने प्रकृति-गत भेद किये जाते हैं, सब का मूल आधार 'संस्कार-प्रसक्ति' (Perseveration) है। 'संस्कार-प्रसक्ति' के परीक्षण ही मनुष्य की 'प्रकृति' को जानने के परीक्षण कहे जा सकते हैं। हम १७वें अध्याय में 'संस्कार-प्रसक्ति' के परीक्षणों का वर्णन करते हुए 'ग' तथा 'w' के परीक्षणों का वर्णन कर आये हैं। इन अक्षरों को पहले बाँये से दाँये को दो मिनट तक दबादब लिखने को कहा जाता है। उसके बाद दाँये से बाँये को, और वह भी उलटे ढंग से, जैसे 'ग' के विषय में १७वें अध्याय में लिखा जा चुका है। परिणाम यह होता है कि 'अति-प्रसक्ति' (High perseveration) वाला उल्टी तरफ़ से, और उल्टे ढंग से 'ग' तथा 'w' को कम लिख सकता है, 'न्यून-प्रसक्ति' (Low perseveration) वाला अधिक लिख सकता है। जो 'अति-प्रसक्ति' वाला होगा

वह 'अन्तर्मुखी'-प्रकृति का और जो 'न्यून-प्रसक्ति' वाला होगा, वह 'वहिर्मुखी'-प्रकृति का होगा।

'स्वभाव'-परीक्षा (Temperament test)—

जैसा अभी कहा गया, 'प्रकृति' का आधार 'व्यवसाय-शक्ति' (Will-power) और 'व्यवसाय-शक्ति' का आधार 'संस्कार-प्रसक्ति' है, इसी प्रकार 'स्वभाव' का आधार 'उद्वेग' और 'उद्वेग' का आधार 'संबंध-वाहुल्य' (Frequency of associations) है। एक शब्द को सुन कर या एक वस्तु को देख कर थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक सम्बद्ध बातों का मन में जाग उठना ही मनुष्य के स्वभाव का परिचायक है। अगर किसी के मन में एक शब्द को सुनते या किसी वस्तु को देखते ही बीसियों बातें जाग उठें, तो या तो वह क्रोध में आ सकता है, या किसी को झट-से मार सकता है, या बीसियों अन्य बातें कर सकता है; अगर न जागें तो उसका व्यवहार किसी दूसरी तरह का हो सकता है। 'संबंध-वाहुल्य' के परीक्षण में परीक्षण-कर्ता परीक्षार्थी के सम्मुख एक शब्द बोलता है, या उसे कोई वस्तु दिखाता है। शब्द को सुनते ही अथवा वस्तु को देखते ही परीक्षार्थी को जितने शब्द या जो-जो चीज़ें याद आयें उन सब को बिना रुके कहने के लिए परीक्षार्थी को कहा जाता है। इस परीक्षण को 'शब्द-संबंध-प्रतिक्रिया-काल' (Reaction-time experiment with word associations) कहा जाता है। जिसकी प्रतिक्रिया झट-झट होती है, उसका स्वभाव 'वेगवान्' (Surgent) होगा, जिसकी रुक-रुक कर होगी, उसका स्वभाव 'वेगहीन' (Desurgent) होगा। 'वेगवान्' तथा 'वेगहीन' के संबंध में १७वें अध्याय में विस्तार से लिखा जा चुका है।

'स्वभाव-परीक्षा' (Temperament test) यथार्थ में 'वेग-परीक्षा' (Frequency test) है। एक वस्तु को देख कर एकदम कितने संबंधों (Associations) का 'वेग' (Frequency) जाग उठता है? इस संबंध में मसीखंड-परीक्षण भी किया जाता है। एक काग़ज़ पर स्याही के धब्बे गिरा कर काग़ज़ को इस प्रकार मोड़ दिया जाता है जिससे धब्बा फैल जाय और उससे काग़ज़ पर एक तरह की शक्ल बन जाय। परीक्षार्थी को कहा जाता है कि आध मिनट के भीतर-भीतर स्याही के धब्बे को देख-

कर जो-जो शक्लें उसे दीखती हैं, उन सब का नाम ले। आध मिनट में किसी को ५ ही शक्लें दीखती हैं। किसी को १०-१२ दीख जाती हैं। जिसे कम दीखती हैं, वह 'वेगहीन'-स्वभाव का है, जिसे अधिक दीखती हैं, वह 'वेगवान्'-स्वभाव का है। 'वेगहीन'-स्वभाव का व्यक्ति कम क्रोध करेगा, उद्वेगों के आवेग में कम आयेगा; 'वेगवान्'-स्वभाव का व्यक्ति अधिक क्रोध करेगा, उद्वेगों के आवेग में अधिक आयेगा।

चरित्र-परीक्षा (Character test)—

बालक सच्चा है—झूठा है, ईमानदार है—बेईमान है, धोखेबाज है—सीधा है, आज्ञापालक है—आज्ञाभंग करने वाला है—यह सब जानना चरित्र का जानना है। बालक के शिक्षणालय में प्रवेश करते ही शिक्षक के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वह उसके चरित्र के विषय में पूरी जानकारी हासिल करे ताकि जो अवगुण उसमें हों, उन्हें दूर किया जा सके। चरित्र जानने के लिए बालक के अभिभावकों को कहा जायगा, तो वे उसके चरित्र की ठीक-ठीक परीक्षा नहीं कर सकेंगे क्योंकि हर-एक अभिभावक अपने बच्चे को जैसा-कुछ वह है, उससे अच्छा दिखलाने की कोशिश करता है। बालक के चरित्र को ठीक-ठीक जानने के लिए उसके विना जाने उसकी परीक्षा करनी होगी। जब बालक को यह पता चल गया कि उसके चरित्र को परखने के लिए उसकी परीक्षा की जा रही है, तब वह झूठा होता हुआ भी अपने को सच्चा और चोर होता हुआ भी अपने को दूध का धुला हुआ दिखलाने का प्रयत्न करेगा। सच-झूठ, चोर-अचोर आदि की परीक्षा बच्चे के विना जाने करने की कुछ पद्धतियाँ बनी हुई हैं, जिनमें से दो को हम यहाँ दे रहे हैं। इन पद्धतियों में बच्चे को ऐसे पर्यावरण में उसके विना जाने डाल दिया जाता है जिसमें वह अपने चरित्र के अनुसार स्वाभाविक आचरण करता है। उदाहरणार्थ :—

(क) *सच-झूठ की परीक्षा*—पहले एक कक्षा के विद्यार्थी-समूह की परीक्षा की जाती है। अनेक बच्चों से ऐसे प्रश्न किये जाते हैं, जिनका संबंध ऐसे व्यावहारिक-आदर्शों से होता है जिन आदर्शों की प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं, परन्तु जिन्हें व्यवहार में थोड़े ही बच्चे ला पाते हैं। उदाहरणार्थ, उनसे पूछा जाता है, कि जब तुम्हारा साथी तुम्हारी कोई चीज छीन लेता है

तो क्या तुम गुस्सा तो नहीं करते, तुमसे जब कोई कसूर हो जाता है तो तुम उसे अपने माता-पिता से छिपाते तो नहीं, तुम्हारे सामने किसी राह जाते व्यक्ति की अगर दुअन्नी गिर पड़े तो तुम उसे उठा कर अपनी जेब में तो नहीं रख लेते। ऐसे प्रश्नों का 'हाँ' में भी उत्तर हो सकता है, 'न' में भी। विद्यार्थी-समूह इन प्रश्नों का जैसा उत्तर दे उन उत्तरों का मध्यमान निकाल लेने से यह जान पड़ जाता है कि इस आयु के बालकों का ऐसे प्रश्नों के उत्तरों का मध्यमान यह है। अब प्रत्येक बालक से ऐसे ही प्रश्न किये जाते हैं। जो बालक इस मध्यमान से अधिक उत्तर 'हाँ' में दे वह झूठे चरित्र का समझा जाना चाहिए, जो इस मध्यमान से कम उत्तर 'हाँ' में दे वह सच्चे चरित्र का समझा जाना चाहिए।

(ख) चोर-अचोर की परीक्षा—इस परीक्षण में कुछ डब्बे बना कर उनमें से प्रत्येक में कुछ-कुछ पैसे डाल दिये जाते हैं। परीक्षणकर्ता को मालूम होता है कि किस डब्बे में कितने पैसे हैं। डब्बों में एक छेद होता है, जिसमें से पैसे निकल सकते हैं, और डाले जा सकते हैं। बच्चों को कुछ देर इन पैसों से खेलने दिया जाता है और कुछ देर के बाद उन्हें पैसे अपने-अपने डब्बों में डाल कर डब्बे वापस करने को कहा जाता है। परीक्षणकर्ता सब डब्बों के पैसे गिनता है। जिस बालक के डब्बे में पैसे कम मिलते हैं, वह चोर-चरित्र का समझना चाहिए।

प्रश्न

(१) 'बुद्धि' तथा 'विद्या' में क्या भेद है?

(२) प्रचलित परीक्षा-प्रणाली 'विद्या' को मापती है, या 'बुद्धि' को?

(३) मुखाकृति-विज्ञान तथा कपाल-रचना-विज्ञान का 'बुद्धि-परीक्षा' से क्या सम्बन्ध है?

(४) बिने ने साइमन के सहयोग से 'मानसिक-आयु' को परखने के जो प्रश्न बनाए, उनका उल्लेख करो।

(५) एक दस वर्ष के बालक की 'मानसिक-आयु' ९ वर्ष ६ मास है— इसका अर्थ समझाओ।

(६) 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) निकालने का क्या नियम है? 'बुद्धि-लब्धि' का क्या अर्थ है?

(७) 'समूह-बुद्धि-परीक्षा' (Group test) का क्या अभिप्राय है ? उदाहरण देकर समझाओ।

(८) 'क्रिया-परीक्षा' (Performance test), 'योग्यता-परीक्षा' (Achievement test) तथा 'शिक्षा-परीक्षा' (Educational test) का क्या अर्थ है ?

(९) बुद्धि-परीक्षा द्वारा 'बुद्धि-लब्धि' तथा 'मानसिक-आयु के सम्बन्ध में क्या परिणाम निकाले गए हैं ? उनकी बालकों की शिक्षा में क्या उपयोगिता है ?

(१०) शिक्षा में 'बुद्धि-परीक्षा' का क्या उपयोग किया जा सकता है ?

(११) 'प्रकृति' तथा 'स्वभाव'-परीक्षाओं (Character and Temperament tests) का उल्लेख करो।

१६

योग्यता की जांच तथा परीक्षा-पद्धति

(ATTAINMENT OR ACHIEVEMENT TEST AND EXAMINATIONS)

पिछले अध्याय में 'बुद्धि-परीक्षा' के विषय में हमने जो-कुछ लिखा है उसको सामने रखते हुए शिक्षक के लिए परीक्षा का प्रश्न एक विकट समस्या के रूप में उठ खड़ा होता है। प्रश्न यह है कि क्या हमारी प्रचलित-परीक्षा-पद्धति बालक की योग्यता की ठीक-ठीक जाँच कर सकती है?

इस प्रश्न के दो उत्तर हैं। एक उत्तर तो यह है कि अगर योग्यता की जाँच से हमारा अभिप्राय यह है कि बालक की 'मानसिक-आयु' (Mental age) क्या है, तब तो वर्तमान प्रचलित-परीक्षा-पद्धति इस काम को नहीं कर सकती। इस काम के लिए 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence test) की प्रक्रिया ही काम देगी, वह प्रक्रिया जिसका हम पिछले अध्याय में वर्णन कर आये हैं। अगर योग्यता की जाँच से हमारा अभिप्राय यह है कि बालक ने क्या-कुछ पढ़ लिया है, जो-कुछ पढ़ा है, उसे पचा लिया है या नहीं, तब यह काम कुछ हद तक वर्तमान-परीक्षा-पद्धति से चल सकता है।

१. 'बुद्धि-परीक्षा' तथा 'योग्यता-परीक्षा' में भेद

असल में, 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence test) तथा 'परीक्षा-पद्धति' (System of examination) में एक आधारभूत भेद है, जिसे समझ लेना जरूरी है। 'बुद्धि-परीक्षा' का काम 'परीक्षा-पद्धति' का स्थान ले लेना नहीं है। 'बुद्धि-परीक्षा' का काम बालक की जन्मजात योग्यता की जाँच करना है, वह योग्यता जो पढ़ाई-लिखाई पर आश्रित नहीं, जो एक खास आयु में आकर बढ़ती नहीं, जो उसकी स्वाभाविक है; 'परीक्षा-पद्धति' का काम उस योग्यता की जाँच करना है, जो पढ़ाने-लिखाने से बढ़ती और बिना पढ़ाई-लिखाई के घटती है, जो जन्मजात नहीं, पर्यावरण

पर, अनुभव पर आश्रित है। यह हो सकता है कि एक बालक की 'बुद्धि' बहुत तीव्र हो, परन्तु क्योंकि उसे पढ़ने-लिखने का मौका नहीं मिला, इसलिए उसकी 'विद्या' कुछ भी न हो। उसकी योग्यता की जाँच 'बुद्धि-परीक्षा' के प्रश्नों से होगी, 'परीक्षा-पद्धति' से नहीं। यह भी हो सकता है कि दूसरे बालक की 'विद्या' बहुत अधिक हो, परन्तु जन्मजात 'बुद्धि' बेपढ़ व्यक्ति से भी कम हो। उसकी योग्यता की जाँच 'परीक्षा-पद्धति' के प्रश्नों से होगी, 'बुद्धि-परीक्षा' से नहीं। 'बुद्धि' की जाँच के प्रश्नों को 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence tests) के प्रश्न कहा जाता है, 'विद्या' की जाँच के प्रश्नों को 'योग्यता-परीक्षा' (Attainment tests या Achievement tests) कहा जाता है। 'बुद्धि-परीक्षा' से हमें यह तो पता चल सकता है कि बालक भविष्य में क्या-कुछ बन सकता है, यह नहीं पता चलता कि बालक ने वर्तमान में क्या-कुछ विद्या प्राप्त कर ली है। शिक्षक के लिए जैसे यह जानना आवश्यक है कि बालक में क्या-कुछ बनने की संभावना है, वैसे उसके लिए यह जानना भी आवश्यक है कि बालक ने जो-कुछ पढ़ा-लिखा है, वह पचा लिया है या नहीं—इसलिए 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence test) के साथ-साथ 'विद्या-परीक्षा' या 'योग्यता-परीक्षा' (Attainment or Achievement test) भी उसके लिए अत्यावश्यक साधन है।

'योग्यता' (Attainment or Achievement)—अर्थात् यह जानने का हमारे पास क्या साधन है कि बालक ने विद्या के क्षेत्र में क्या-कुछ प्राप्त कर लिया है? अभी तक बालक की 'योग्यता' (Attainment) की जाँच का हमारे पास एक ही साधन रहा है, और वह है प्रचलित-परीक्षा-प्रणाली। परन्तु क्या प्रचलित-परीक्षा-प्रणाली ठीक है, क्या इससे बालक की योग्यता की, उसकी विद्या की ठीक-ठीक जाँच हो सकती है? आज इस प्रणाली से शिक्षा-विज्ञ असन्तुष्ट हैं, और इसके निम्न कारण हैं :—

२. प्रचलित-परीक्षा-प्रणाली के दोष

(क) प्रचलित-परीक्षा-प्रणाली का पहला दोष तो यह है कि परीक्षार्थी के स्वास्थ्य, मानसिक-अवस्था आदि का परीक्षा के उत्तरों पर बड़ा भारी

प्रभाव पड़ता है। लड़के को जुकाम है, खाँसी है, दूसरा कोई शारीरिक कष्ट है। जुकाम-खाँसी न होने पर जैसे उत्तर वह लिख सकता है, वैसे रुग्ण अवस्था में नहीं लिख सकता, और जुकाम-खाँसी के कारण परीक्षा में अदला-बदली भी नहीं हो सकती। खिन्न मानसिक-अवस्था में उत्तर-पत्र वैसा नहीं लिखा जा सकता, जैसा चित्त की प्रसन्न अवस्था में लिखा जा सकता है। एक ही विद्यार्थी उसी प्रश्न-पत्र को आज जैसा कर सकता है, कल वैसा ही नहीं कर सकता--या अच्छा कर जायगा, या बुरा।

(ख) आठ-दस प्रश्नों से किसी विषय में विद्यार्थी की ठीक-ठीक योग्यता का पता नहीं लगाया जा सकता। प्रश्न-पत्र जितना लम्बा होगा, और उत्तर देने का जितना अधिक समय होगा, उसी के अनुसार विद्यार्थी की योग्यता का माप लगाया जा सकेगा। इसी कारण इंगलैण्ड आदि के कई विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी के २४ घंटों के काम को देखकर उसकी योग्यता का निर्णय किया जाता है। वर्तमान प्रचलित-परीक्षा-प्रणाली में ऐसा-कुछ तो हो नहीं सकता। तीन घंटे में ८--१० प्रश्नों के उत्तर देने होते हैं जिनमें सारे पाठ की जाँच करनी पड़ती है। ऐसी जाँच कभी सफल जाँच नहीं कही जा सकती।

(ग) प्रचलित-परीक्षा-प्रणाली मुख्य तौर पर प्रस्ताव लिखने की प्रणाली है। गणित आदि विषयों को छोड़कर इतिहास, भूगोल आदि अन्य विषयों में जो विद्यार्थी अच्छा प्रस्ताव लिख लेता है, वह अच्छे नम्बर ले जाता है। अनेक बालक दूसरों से विषय का अच्छा ज्ञान रखते हुए भी भाषा-विषयक कमज़ोरी के कारण पीछे रह जाते हैं।

(घ) भिन्न-भिन्न परीक्षकों का उत्तीर्ण करने का माप-दंड भिन्न-भिन्न होता है। अगर किसी एक विषय का परीक्षक बहुत ऊँचा माप-दंड रखता है और थोड़े ही परीक्षार्थियों को पास करता है, तो दूसरे विषय का परीक्षक नीचा माप-दंड रखता है, और बहुत-सों को पास कर देता है। इन भिन्न-भिन्न परीक्षकों का एक-सा माप-दंड नहीं हो सकता और यह नहीं कहा जा सकता कि जिसे एक परीक्षक ने फ़ेल कर दिया है, उसे दूसरा पास नहीं कर देगा। एक परीक्षक तरो-ताज़ा दिमाग़ से जब पर्चे देखने लगता है, तब उसका माप-दंड और होता है, जब वही परीक्षक

उत्तर-पत्र देखता-देखता थक जाता है, तब उसका माप-दंड दूसरा हो जाता है। कभी-कभी परीक्षक की अपनी आन्तरिक-भावनाएँ विद्यार्थी के उत्तीर्ण होने में रुकावट बन जाती हैं। परीक्षार्थी यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि परीक्षक क्या चाहता है, उसने पहले कौन-कौन-से पर्चे बनाये हैं, और उनमें वह क्या चाहता था। परीक्षकों के माप-दंड की भिन्नता पर जो परीक्षण किये गए हैं, वे बड़े दिलचस्प हैं, और उनसे सिद्ध होता है कि जब हम किसी विद्यार्थी को पास या फ़ेल करते हैं, तब संभव है हम किसी के साथ भारी रियायत कर रहे हों, या किसी के साथ भारी अन्याय कर रहे हों। स्टार्च और इलियट ने १९१३ में एक ही विद्यार्थी के ज्यामिति के एक प्रश्न-पत्र के उत्तर की कापियाँ करा कर ११६ स्कूलों के ज्यामिति के अध्यापकों के पास जाँच करने के लिए भेजीं। एक ही उत्तर-पत्र पर किसी ने २८ प्रतिशत अंक दिये, तो किसी ने ९२ प्रतिशत। दो परीक्षकों ने ९० प्रतिशत से ज्यादा अंक दिये, १८ ने ८० से ९० प्रतिशत के बीच, १८ ने ३० से ६० प्रतिशत के बीच, और २ ने ३० प्रतिशत। अंग्रेजी तथा इतिहास के संबंध में भी इसी प्रकार के अत्यन्त भिन्न-भिन्न अंक दिये गए। वुड महोदय ने एक अन्य घटना का उल्लेख किया है। एक उत्तर-पत्र को छः परीक्षकों ने जाँचा। पहले परीक्षक ने अपने पथ-प्रदर्शन के लिए उन प्रश्नों पर एक उत्तर-पत्र स्वयं लिखा जिसे वह अपनी दृष्टि में प्रामाणिक समझता था। भूल से यह उत्तर-पत्र भी अन्य उत्तर-पत्रों के साथ परीक्षकों के पास चला गया। उन बाकी ४ परीक्षकों ने उसे किसी विद्यार्थी का उत्तर-पत्र समझ कर जाँचा और किसी ने उसे ४० प्रतिशत अंक दिये, तो किसी ने ९० प्रतिशत।

प्रचलित 'परीक्षा-पद्धति' के संबंध में ऊपर जो दोष कहे गए हैं, इनके अतिरिक्त अन्य भी कई दोष बतलाये जाते हैं। उन सब की चर्चा न करके हम फिर उसी प्रश्न पर आते हैं जिस प्रश्न से हमने इस प्रकरण को उठाया था। शिक्षक के लिए यह जानना आवश्यक है कि विद्यार्थी ने क्या 'योग्यता' (Attainment or Achievement) प्राप्त की। अगर 'योग्यता' की जाँच के लिए प्रचलित 'शिक्षा-प्रणाली' ठीक नहीं है, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि किस पद्धति से विद्यार्थी की 'योग्यता'

को परखा जा सकता है ? इस संबंध में शिक्षा-विज्ञों ने जिस पद्धति को वर्तमान-प्रचलित-पद्धति से अधिक उपयुक्त पाया है, उसे 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' (New Type of Examination) का नाम दिया जाता है। यह 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' क्या है ?

३. नवीन-परीक्षा-पद्धति

परीक्षार्थी की 'योग्यता' (Attainment or Achievement) को परखने के लिए हमारे पास दो प्रकार की 'योग्यता-परीक्षाएँ' (Attainment or Achievement tests) हैं—एक 'पुरानी-परीक्षा-पद्धति' दूसरी 'नवीन-परीक्षा-पद्धति'। 'पुरानी-परीक्षा-पद्धति' के दोष हम देख चुके हैं, इसी कारण 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' का निर्माण हुआ है। अमरीका में यह 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' देर से चल रही है, इंगलैण्ड में १९२३ से श्री बैलार्ड ने इस पद्धति पर ज़ोर देना शुरू किया और अब धीरे-धीरे शिक्षा-विज्ञों का ध्यान इस पद्धति की तरफ़ जाने लगा है।

'नवीन-परीक्षा-पद्धति' में लगभग उसी प्रकार के प्रश्न बनाये जाते हैं जैसे 'बुद्धि-परीक्षा' में बनाये जाते हैं, भेद इतना ही है कि 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' का उद्देश्य विद्यार्थी की 'योग्यता' (Attainment or Achievement) की जाँच करना है, 'बुद्धि-परीक्षा' का उद्देश्य उसकी 'बुद्धि' (Intelligence) की जाँच करना है। इसमें लम्बे-लम्बे निबन्ध नहीं लिखने होते जैसे 'पुरानी-परीक्षा-पद्धति' में लिखने होते हैं। प्रश्न छोटे-छोटे होते हैं, 'पुरानी-परीक्षा-पद्धति' की तरह इतने लम्बे नहीं होते कि एक ही प्रश्न के उत्तर में पुस्तक-की-पुस्तक लिखनी पड़ जाय। प्रश्न इस प्रकार के होते हैं जिनका उत्तर एक शब्द में आ जाय, यहाँ तक कि उत्तर लिखना तक न पड़े, सिर्फ़ उत्तर के नीचे लकीर खींच दी जाय। इस 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' के उत्तर कोई भी देख सकता है—सिर्फ़ उसे उत्तरों की लिस्ट दे दी जाय, और वह उनसे उत्तर मिलाता जाय। परीक्षक के थक जाने से, उसके अपने मानसिक-क्षोभों से किसी को कम और किसी को ज्यादा अंक देने की संभावना इस पद्धति में नहीं रहती, सबके साथ एक-सा न्याय होता है और विद्यार्थी की ठीक-ठीक योग्यता क्या है—

इस बात का पता चल जाता है। इस पद्धति में ८–१० प्रश्न नहीं होते, १००–१५० प्रश्न होते हैं—ऐसे प्रश्न जो पुस्तक के सम्पूर्ण विषय पर बनाये जाते हैं, परन्तु उत्तर लम्बा-चौड़ा नहीं होता। अध्यापक जब पढ़ा रहा हो, तब उसे पढ़ाते-पढ़ाते ऐसे प्रश्न सूझते जाते हैं, और तभी सम्पूर्ण विषय पर इस प्रकार के प्रश्न बनाते जाना आसान रहता है। इस पद्धति में परीक्षार्थी से भी ज्यादा परिश्रम परीक्षक को करना पड़ता है, इसलिए करना पड़ता है क्योंकि उसे पुस्तक के हर विषय पर कोई-न-कोई प्रश्न बनाना ही होगा—आसान पर भी, कठिन पर भी, और ८–१० नहीं, १००—२०० प्रश्न बनाने होंगे। परन्तु प्रश्न-पत्र बनाने में जितनी मेहनत पड़ेगी उतनी ही उत्तर-पत्र देखने में बच जायगी क्योंकि उत्तर लम्बे-लम्बे निबन्ध के रूप में न होकर एक-एक शब्द के रूप में होंगे।

इस 'नवीन-परीक्षा-प्रणाली' में लगभग ३५ प्रकार के प्रश्न बनाये गए हैं, जिनमें से ७–८ प्रकार के प्रश्न प्रचलित हैं और आजकल भिन्न-भिन्न परीक्षाओं में 'योग्यता' की जाँच के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। ये प्रकार निम्न हैं:—

(क) साधारण-स्मृति के प्रश्न (Questions of Simple Recall)
(ख) पूरक-प्रश्न (Completion type questions)
(ग) हाँ-ना, सही-ग़लत-सूचक प्रश्न (Yes-no, True-false Type)
(घ) सम्बन्ध-द्योतक-प्रश्न (Association tests)
(ङ) सर्वोत्तम-उत्तर-सूचक-प्रश्न (Best answer tests)
(च) परिगणन-प्रश्न (Enumeration tests)
(छ) तर्क-सूचक-प्रश्न (Reasoning tests)
(ज) व्यवस्था-सूचक-प्रश्न (Rearrangement or matching type tests)

(क) साधारण-स्मृति के प्रश्न—इन प्रश्नों से किसी भी विषय के सम्बन्ध में स्मृति-संबंधी बातों की जाँच की जाती है। उदाहरणार्थ, 'सत्याग्रह-आन्दोलन के जन्मदाता का नाम है....'—इस वाक्य में स्मृति के आधार पर 'महात्मा गांधी' भरना होगा। जो विद्यार्थी इस छुटे हुए

स्थान पर ठीक नाम भर देगा उसे १ अंक दिया जा सकेगा, जो महात्मा गांधी के अतिरिक्त दूसरा कोई भी नाम भरेगा उसे शून्य अंक मिलेगा। इस प्रश्न को दूसरी तरह भी किया जा सकता है। सीधा ही पूछा जा सकता है कि सत्याग्रह-आन्दोलन के जन्मदाता का नाम क्या था? स्मृति संबंधी ये प्रश्न छोटे होने चाहिएँ, इतने छोटे कि इनका उत्तर सिर्फ़ एक शब्द में आ सके और एक ही उत्तर हो सके, दो उत्तर हो ही न सकें। भिन्न-भिन्न विषयों में—इतिहास, भूगोल, गणित आदि में—इस प्रकार के सैंकड़ों प्रश्न बनाये जा सकते हैं।

(ख) पूरक-प्रश्न—पूरक-प्रश्नों में एक वाक्य लिखा जाता है, जिसके बीच में कुछ स्थान दो-तीन जगह खाली छोड़ दिया जाता है और विद्यार्थी को वह वाक्य भरने को कहा जाता है। इस प्रकार के प्रश्न हर विषय के लिए बनाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, शिक्षा-मनोविज्ञान में निम्न पूरक-प्रश्न पूछा जा सकता है: 'अगर १० वर्ष का बालक ९ वर्ष के सब प्रश्नों को हल कर ले, परन्तु १० वर्ष के पाँच प्रश्नों में से केवल एक प्रश्न का उत्तर दे सके, तो उसकी मानसिक-आयु...न होकर ९ वर्ष और १२×...=२ २/५ महीने होगी'—इस प्रश्न में खाली जगह को भरने को कहा जाय तो पहली खाली जगह पर १० अंक भरना होगा, दूसरी जगह पर १/५ भरना होगा। इस प्रश्न में खाली जगहों पर १० और १/५ ही भरा जा सकता है, अन्य जो-कुछ भरा जायगा, ग़लत होगा, अतः परीक्षक के सामने यह समस्या नहीं आ सकती कि वह १ अंक दे या आधा दे। जो ठीक उत्तर देगा उसे पूरा १ अंक मिल जायेगा, जो ठीक नहीं देगा उसे शून्य अंक मिलेगा। इसके अतिरिक्त यह भी ज़रूरी नहीं कि परीक्षक ही उत्तर-पत्र की जाँच करे, कोई भी इन उत्तरों की जाँच कर सकता है। साथ ही क्योंकि उत्तर निबन्ध रूप में नहीं होगा, सिर्फ़ एक-दो अक्षरों या अंकों के रूप में होगा इसलिए थोड़े समय में बहुत अधिक उत्तर जाँचे जा सकेंगे। 'नवीन-परीक्षा-प्रणाली' की 'पुरानी-परीक्षा-प्रणाली' से यह विशेषता है। पूरक-प्रश्नों से विद्यार्थी की सामान्य-ज्ञान की भी परीक्षा हो जाती है। 'भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री श्री........ने लोक-सभा में ...दिया'—इस वाक्य में श्री के आगे 'जवाहरलाल नेहरू' भरना होगा

और अगली खाली जगह पर 'भाषण' भरना होगा। 'जवाहरलाल नेहरू' के लिए ६ तथा 'भाषण' के लिए ३ बिन्दु दिए गए हैं जिससे परीक्षार्थी उत्तर देता हुआ यह भी समझ जाय कि उत्तर ठीक है या नहीं। नौ तथा तीन बिन्दुओं का मतलब है कि उत्तर नौ तथा तीन अक्षरों का है।

(ग) हाँ-ना, सही-ग़लत सूचक प्रश्न—ये प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनका उत्तर हाँ या ना में दिया जाता है। उदाहरणार्थ, शब्द के हिज्जे याद हैं या नहीं—यह जाँचने के लिए कुछ ठीक और कुछ ग़लत हिज्जों के शब्द लिख दिये जाते हैं और कहा जाता है कि जो ग़लत हों, उन पर निशान लगा दो। अकबर, शाहजहाँ, औरंगजेब—ये तीन नाम लिखकर कहा कि जो नाम ग़लत लिखा है, उस पर निशान लगाओ। इसी प्रकार एक वाक्य में व्याकरण के अशुद्ध शब्द शुद्ध शब्दों के बीच लिखकर पूछा जा सकता है कि इस वाक्य में अशुद्ध शब्द या अशुद्ध रचना जहाँ हो, वहाँ चिह्न लगा दो। भूगोल की जाँच के लिए कुछ ऐसे वाक्य बनाये जा सकते हैं, जिनमें से कुछ सही और कुछ ग़लत हों, और पूछा जा सकता है कि ग़लत पर निशान लगा दो। उदाहरणार्थ, भारत की राजधानी दिल्ली और पाकिस्तान की राजधानी पेशावर है—लिख कर पूछा जाय कि इन दोनों वाक्यों में सही कौन-सा और ग़लत कौन-सा है, तो परीक्षार्थी के भूगोल की इस सम्बन्ध में योग्यता पता चल सकती है। इसी प्रकार के अन्य सैंकड़ों प्रश्न बनाये जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये प्रश्न थोड़े नहीं, बहुत होंगे, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि क्योंकि इनके उत्तर हाँ-ना में ही होंगे अतः परीक्षार्थी की ठीक-ठीक और पूरी-पूरी जाँच हो सकेगी।

(घ) सम्बन्ध-द्योतक-प्रश्न—माता, चावल, पिता, दाल आदि कुछ शब्द लिख कर पूछा जा सकता है कि जिन शब्दों का एक-दूसरे से संबंध हो उन पर निशान लगा दो। नैपोलियन, लाहौर, सेंट हलीना—इन शब्दों को लिखकर पूछा जा सकता है कि जिन शब्दों का आपस में सम्बन्ध हो उन पर निशान लगा दो। अगर परीक्षार्थी नैपोलियन और सेंट हलीना पर निशान लगाता है, तो इससे स्पष्ट होगा कि उसे मालूम है कि नैपोलियन सेंट हलीना में कैद रहा था। यह भी हो सकता है कि परीक्षार्थी

को नैपोलियन के सेंट हलीना में कैद होने का ज्ञान न हो, सिर्फ़ इन दोनों का कुछ सम्बन्ध है, इतना ही ज्ञान हो। ऐसी अवस्था में अगर परीक्षक यह जानना चाहता है कि विद्यार्थी को उक्त बात का ज्ञान है या नहीं, तो वह 'सही-ग़लत-सूचक-प्रश्न' बना सकता है। उदाहरणार्थ, 'नैपोलियन वाटर्लू में कैद हुआ था और सेंट हलीना में हारा था'—यह वाक्य लिख कर कहा जा सकता है कि इसमें जहाँ ग़लती है, वहाँ सुधार कर दो। जिस परीक्षार्थी को ठीक ज्ञान है, वह 'कैद' काट कर 'हारा' और 'हारा' काट कर 'कैद' कर देगा।

(ङ) *सर्वोत्तम-उत्तर-सूचक-प्रश्न*—एक ही प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं। प्रश्न-कर्त्ता उन चार-पाँच-छः उत्तरों को लिख देता है और पूछता है कि इनमें से सब से अच्छा उत्तर कौन-सा है। इस प्रकार के उत्तरों में प्रश्न-कर्ता की भावनाएँ, उसकी अंतरंगता (Subjectivity) भी काम कर सकती है, इसलिए ऐसे प्रश्न बिलकुल 'बहिरंग-प्रश्न' (Objective tests) नहीं कहे जा सकते। 'पुरानी-परीक्षा-पद्धति' में सबसे बड़ा दोष तो यही कहा जाता है कि उसमें प्रश्न-कर्ता की 'अंतरंगता' (Subjectivity) काम करती है, वह अपनी भावनाओं से उत्तरों की जाँच करता है, और हो सकता है कि कोई उत्तर ठीक हो, परन्तु प्रश्न-कर्ता की भावनाओं से मेल न खाता हो, इसलिए प्रश्नों में 'बहिरंगता' (Objectivity) होनी चाहिए, अपने-आप में वे ठीक होने चाहिएँ, उनका ठीक होना-न-होना प्रश्न-कर्ता की मनोवृत्ति पर निर्भर नहीं होना चाहिए। 'सर्वोत्तम-उत्तर-सूचक-प्रश्नों' में यद्यपि 'बहिरंगता' अपने पूर्ण रूप में नहीं पायी जाती, तो भी अगर कई उत्तरों में एक उत्तर बिलकुल स्पष्ट है, तो यह कहना कठिन नहीं होगा कि परीक्षार्थी की उक्त उत्तर को समझने की योग्यता है या नहीं। उदाहरणार्थ, अगर कहा जाय कि पानी क्यों बरसता है, और इस प्रश्न के उत्तर में एक उत्तर यह लिखा जाय कि सूर्य पानी बरसाता है, और दूसरा उत्तर यह लिखा जाय कि सूर्य की किरणों से धरती का पानी वाष्प के रूप में ऊपर उठकर वहाँ की ठंडक से जमकर बूंदों के रूप में गिर पड़ता है, तो इन उत्तरों में से दूसरे उत्तर को सर्वोत्तम कहने वाला परीक्षार्थी ज्यादा समझदार है—यही कहना होगा।

(च) *परिगणन-प्रश्न*—भारत के उच्च-कोटि के नेता चार हैं—श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री जगजीवनराम, श्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद। नेताओं के इन नामों में ख्याति के अनुसार क्रम-संख्या लगाने को कहा जाय, तो विद्यार्थी किस नाम को पहले रखता है, किसको पीछे—इससे उनकी योग्यता का परिचय प्राप्त हो सकता है। चारों नेता नामी हैं परन्तु फिर भी उनमें एक-दूसरे से कुछ अन्तर है, और उस अन्तर को किसी क्रम से सूचित किया जा सकता है। इसी प्रकार २, ४, ३, १, ५, ७, ६ लिखकर बच्चों को कहा जा सकता है कि इस क्रम को ठीक करो। यह प्रश्न-कर्ता की योग्यता पर निर्भर है कि वह इस 'नवीन-परीक्षा-प्रणाली' का प्रश्नों के बनाने में कहाँ तक उपयोग कर सकता है। यह समझना ग़लत है कि इस पद्धति का छोटे बच्चों पर ही प्रयोग हो सकता है। ऊँची-से-ऊँची कक्षाओं में, विश्व-विद्यालयों में भी इस पद्धति का प्रयोग हो सकता है, सिर्फ़ प्रश्न-कर्ता के जागरूक होकर प्रश्न बनाने भर की आवश्यकता है।

(छ) *तर्क-सूचक-प्रश्न*—ऐसे प्रश्न बनाये जा सकते हैं जिनसे विद्यार्थी की तर्क-सम्बन्धी योग्यता का पता चले।

(ज) *व्यवस्था-सूचक-प्रश्न*—इस प्रकार के प्रश्नों में एक तरफ़ कुछ प्रश्न लिख दिये जाते हैं, दूसरी तरफ़ कुछ उत्तर लिख दिये जाते हैं, और परीक्षार्थी को कहा जाता है कि जो उत्तर जिस प्रश्न का है, उनका मेल किसी संकेत द्वारा मिला दे। उदाहरणार्थ, हमने एक तरफ़ १९४७, प्रधान-मन्त्री, स्वतंत्र-भारत के प्रथम गवर्नर जनरल, राष्ट्रपति लिख दिया, और दूसरी तरफ़ श्री जवाहरलाल, भारत के स्वतंत्र होने का साल, श्री डा० राजेन्द्रप्रसाद और श्री राजगोपालाचार्य लिख दिया। हमने पहले चार, क्रम से १–२–३–४ संख्या देकर लिखे, उनके सामने ही अगले चार लिख दिये। उत्तर देते हुए हमारे दिये उत्तरों के सामने परीक्षार्थी वह संख्या लिख देगा जिसे ठीक समझेगा। प्रश्न तथा उत्तर निम्न प्रकार होंगे, ठीक उत्तर भी सामने लिख दिये गए हैं :—

(१) १९४७	श्री जवाहरलाल	(२)
(२) प्रधान मन्त्री	भारत के स्वतंत्र होने का साल	(१)

(३) स्वतंत्र भारत के
प्रथम गवर्नर जनरल डा० राजेन्द्रप्रसाद (४)
(४) राष्ट्रपति श्री राजगोपालाचार्य (३)

हमने 'नवीन-शिक्षा-पद्धति' के जिन प्रश्नों का उल्लेख किया है, वह 'पुरानी-परीक्षा-पद्धति' को बिल्कुल हटा कर उसका स्थान ले लेगी, यह नहीं कहा जा सकता। 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' का जन्म अमरीका में हुआ और वहाँ भी समझा जाने लगा है कि निबन्ध-लेखन की 'पुरानी-परीक्षा-पद्धति' के अनेक गुण हैं जिनका स्थान 'नवीन-परीक्षा-पद्धति' नहीं ले सकती। इस समय आवश्यकता दोनों के मेल की है। इन दोनों के सम्मिश्रण से ही विद्यार्थी की वास्तविक योग्यता को परखा जा सकता है।

प्रश्न

(१) 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence test) और 'योग्यता-परीक्षा' (Attainment test) में क्या भेद है ?
(२) 'नवीन-परीक्षा-प्रणाली' तथा 'प्राचीन-परीक्षा-प्रणाली' इन दोनों को 'योग्यता-परीक्षा' (Attainment test) क्यों कहा जाता है ?
(३) भारत में प्रचलित-परीक्षा-पद्धति के क्या दोष हैं ?
(४) 'नवीन-परीक्षा-प्रणाली' क्या है ? उसकी विस्तार-पूर्वक व्याख्या करो।
(५) 'नवीन-परीक्षा-प्रणाली' में प्रश्न-कर्त्ता को किस-किस प्रकार के प्रश्न बनाने चाहिएँ।

२०

'मन्द-बुद्धि' तथा 'उत्कृष्ट-बुद्धि' बालक
(BACKWARD AND PRECOCIOUS CHILDREN)

१. 'मन्द' तथा 'उत्कृष्ट' बुद्धि का मनोवैज्ञानिक आधार

समस्या-शिशु (Problem Child)—

अब तक इस पुस्तक में हमने सर्व-साधारण बालकों को सम्मुख रखकर लिखा है, परन्तु सभी बालक साधारण कोटि में नहीं होते। कई बालक ऐसे होते हैं जो शिक्षक के लिए 'समस्या' बने रहते हैं। ऐसे 'समस्या-शिशु' (Problem Children) पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—'चरित्र' तथा 'बुद्धि'। 'चरित्र' की समस्याओं पर हम १६वें अध्याय में विचार कर आये हैं। इस अध्याय में बालक की 'बुद्धि' की समस्या पर विचार किया जायगा।

'बुद्धि-परीक्षा' के अध्याय में हम देख चुके हैं कि 'बालक की आयु' को हम कई पहलुओं से देख सकते हैं :—

(क) 'शारीरिक-आयु' (वर्षायु) (Chronological age)

(ख) 'मानसिक-आयु' (Mental age)

(ग) 'शिक्षा की आयु' (Educational or Scholastic age)

(घ) 'विद्या अथवा योग्यता की आयु' (Achievement age)

एक ख़ास आयु में बालक का एक ख़ास, निश्चित शारीरिक-विकास होना चाहिए। अगर वंशागत बीमारी, अपनी बीमारी, ग़रीबी आदि किन्हीं कारणों से वह विकसित नहीं हो पाता, तो बालक जन्म-पत्री की दृष्टि से आठ वर्ष का होते हुए भी कम वर्ष के शारीरिक-विकास का समझा जाता है। इसी प्रकार 'मन', 'शिक्षा' तथा 'विद्या' के विकास में बालक अपने 'वर्षायु' से आगे या पीछे रह सकता है। निश्चित माप से एक ख़ास

मात्रा में आगे रहने वाले बालकों को तेज़ और उस माप से पीछे रहने वालों को कमज़ोर कहा जाता है।

तेज़ या कमज़ोर बालकों को पहचानने के लिए उनकी 'मानसिक', 'शिक्षा', तथा 'विद्या' की आयु जान लेना पर्याप्त नहीं है। असल में जानने की तीन बातें हैं:—

(क) शारीरिक तथा मानसिक-विकास का पारस्परिक-अनुपात

(ख) शरीर तथा शिक्षा के विकास का पारस्परिक-अनुपात

(ग) मानसिक तथा शिक्षा या बुद्धि के विकास का पारस्परिक-अनुपात

शरीर तथा मन का अनुपात—

(क) शारीरिक तथा मानसिक-विकास के पारस्परिक अनुपात को जानने के लिए 'मानसिक-आयु' को 'बरसों की आयु' से भाग देकर १०० से गुणा कर दिया जाता है। अगर छः वर्ष के बालक की 'मानसिक-आयु' ४ वर्ष की है, तो उसके शारीरिक तथा मानसिक विकास का आनुपातिक सम्बन्ध जानने के लिए ४ को ६ से भाग देकर १०० से गुणा कर देंगे, जो $\frac{४}{६} \times १०० = ६७$ प्रतिशत निकलेगा। इसका अभिप्राय यह होगा कि अगर बालक का शारीरिक विकास १०० माना जाय, तो उसका मानसिक-विकास ६७ है, अर्थात् ३३ कम है। इस ६७ को 'मानसिक-अनुपात' (Mental Ratio) या 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence Quotient) कहा जाता है। ९० से ११० तक के 'मानसिक-अनुपात' के बालक 'साधारण' (Average) कहे जाते हैं, ११० के ऊपर के 'मानसिक-अनुपात' के बालक 'उत्कृष्ट' (Super-normal) तथा ९० से नीचे के 'मानसिक-अनुपात' के बालक 'हीन' (Sub-normal) कहे जाते हैं। 'उत्कृष्ट' तथा 'हीन' में कई अवान्तर भेद हैं। अनुपात जानने का फ़ार्मूला निम्न है:—

$$\text{'बुद्धि-लब्धि' अर्थात् शरीर तथा मन का पारस्परिक अनुपात} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{शारीरिक आयु}} \times १००$$

शरीर तथा शिक्षा का अनुपात—

(ख) 'शारीरिक-आयु' (वर्षायु) तथा 'शिक्षा की आयु' का पारस्परिक अनुपात जानना भी आवश्यक है। इसे जानने के लिए भिन्न-भिन्न

विषयों की 'शिक्षा की आयु' को 'शारीरिक-आयु' (वर्षायु) से भाग देकर १०० से गुणा कर देते हैं। अगर १२ वर्ष के बालक की डा० बैलार्ड-रचित शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्नों द्वारा गणित में परीक्षा लेने से 'शिक्षा की आयु' १० वर्ष की निकलती है, तो उसके 'शरीर' तथा 'गणित की शिक्षा' के विकास का आनुपातिक-सम्बन्ध जानने के लिए १० को १२ से भाग देकर १०० से गुणा कर देंगे, तो $\frac{१०}{१२} \times १०० = ८४$ प्रतिशत निकलेगा। इसका अभिप्राय यह होगा कि अगर बालक का शारीरिक-विकास १०० माना जाय, तो उसने १०० के बजाय गणित में ८४ शिक्षा प्राप्त की है, जो १६ कम हैं। इस ८४ को 'गणित की शिक्षा का अनुपात' (Educational ratio in Arith.) या 'गणित की शिक्षा-लब्धि' (Educational Quotient in Arith.) कहते हैं। यह 'शिक्षा-लब्धि' (Educational ratio) प्रत्येक विषय की अलग-अलग होगी। गणित, इतिहास, भूगोल, रसायन, अंग्रेज़ी—सब की 'शिक्षा-लब्धि' लेकर उनका फिर अनुपात निकाल लेने से वास्तविक 'शिक्षा-लब्धि' (Educational ratio) प्राप्त हो जाती है। परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि ८५ प्रतिशत से नीचे के 'शिक्षा के अनुपात' (Educational ratio) के बालक 'हीन' श्रेणी में गिने जाने चाहिएँ। 'शिक्षा के अनुपात' का फ़ार्मूला निम्न है :—

$$\left.\begin{array}{l}\text{शारीरिक आयु तथा किसी}\\\text{विषय की शिक्षा की आयु}\\\text{का पारस्परिक अनुपात}\end{array}\right\} = \frac{\text{किसी विषय की शिक्षा की आयु}}{\text{शारीरिक आयु (वर्षायु)}} \times १००$$

मन तथा शिक्षा का अनुपात—

(ग) 'मानसिक-आयु' (Mental Age) तथा 'शिक्षा की आयु' (Educational age) का पारस्परिक अनुपात भी पता लगाया गया है। इसे जानने के लिए 'शिक्षा की आयु' को 'मानसिक-आयु' से भाग देकर १०० से गुणा कर देते हैं। अगर किसी बालक की 'शिक्षा की आयु' १० वर्ष की है, 'मानसिक-आयु' ८ वर्ष की है, तो स्कूल तथा इधर-उधर से प्राप्त की हुई शिक्षा तथा बालक की स्वाभाविक बुद्धि का पारस्परिक आनुपातिक सम्बन्ध जानने के लिए १० को ८ से भाग देकर १०० से गुणा कर देंगे, जो $\frac{१०}{८} \times १०० = १२५$ होगा। इसका अभिप्राय यह होगा

कि अगर स्कूल की पढ़ाई से बालक १०० शिक्षा प्राप्त करता, तो उसने स्कूल के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रयत्नों से १२५ शिक्षा प्राप्त की, जो २५ अधिक है। इस १२५ को 'विद्या या योग्यता का अनुपात' (Achievement ratio) या 'योग्यता-लब्धि' (Achievement Quotient) कहते हैं। कमजोर बच्चों की 'योग्यता-लब्धि' ९१ के लगभग होती है। अगर बालक की 'योग्यता-लब्धि' १०० से बहुत अधिक नीचे गिरने लगे, तो कारण का पता लगाना चाहिए। हो सकता है बालक बीमार रहता हो; उसकी आँख, कान आदि कोई इन्द्रिय कमजोर हो; स्कूल में अनुपस्थित रहता हो। मन तथा शिक्षा के अनुपात का फ़ार्मूला निम्न है :—

$$\text{मानसिक आयु तथा शिक्षा की आयु का पारस्परिक अनुपात} = \frac{\text{शिक्षा की आयु}}{\text{मानसिक आयु}} \times १००$$

बच्चों की मनोवैज्ञानिकों की सहायता से परीक्षा कराकर निश्चय करना चाहिए कि बालक प्रतिभाशाली (Genius) है, उत्कृष्ट-बुद्धि (Very Intelligent) है, सामान्य-बुद्धि (Average) है, मन्द (Backward) है, मूढ़ (Dull) है, या जड़-बुद्धि (Deficient) है।

२. 'मन्द-बुद्धि' बालक (BACKWARD CHILDREN)

जिन बच्चों का 'मानसिक-अनुपात', 'शिक्षा का अनुपात' तथा 'योग्यता का अनुपात' बहुत ही नीचा हो, वे 'जड़-बुद्धि' (Deficient) समझे जाने चाहिएँ, और उनका इलाज सिर्फ़ यह है कि उन्हें स्कूल से निकाल दिया जाय। शिक्षा उनका कुछ नहीं बना सकती। जो बच्चे 'जड़-बुद्धि' (Deficient) नहीं, परन्तु 'मन्द-बुद्धि' (Backward) या 'मूढ़' (Dull) हैं उनके लिए कुछ करना जरूरी है।

मन्दता के भौतिक कारण—

कमजोर बच्चों की शारीरिक परीक्षा लेकर पहले यह निश्चय कर लेना चाहिए कि कहीं किसी रोग के कारण तो उनकी वृद्धि नहीं रुकी हुई है। कई अच्छे बच्चों के भी कमजोर रह जाने का सबसे बड़ा कारण कोई-न-कोई छोटा-मोटा शारीरिक रोग होता है। कई बच्चे बोर्ड पर लिखा ठीक नहीं देख सकते; कई बच्चे अध्यापकों की आवाज ठीक सुन

नहीं सकते; कई तुतलाकर बोलते हैं; कई बाँये हाथ से लिखते हैं। बच्चों के इन दोषों को दूर कर दिया जाय, तो वे सब के साथ ठीक चलने लगते हैं।

मानसिक आयु के क्रमिक विकास का चित्र
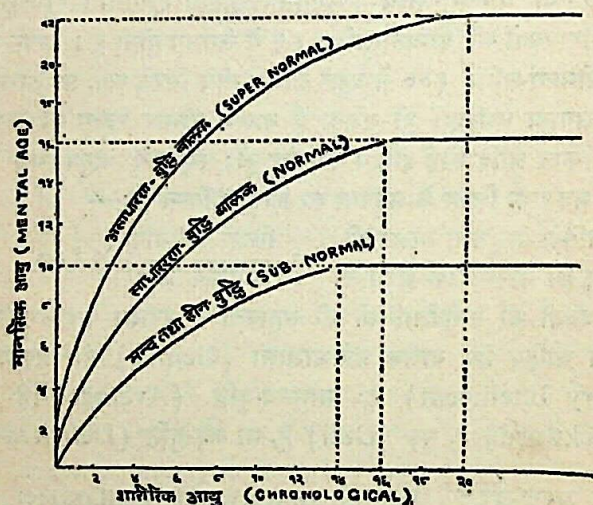
मन्दता का कारण—बुद्धि-हीनता—

'मन्द' तथा 'मूढ़' बालकों के पिछड़ने का सबसे बड़ा कारण बुद्धि की कमी है। हम पहले देख चुके हैं कि शिक्षा द्वारा बालक को अधिक 'विद्वान्' तो बनाया जा सकता है, अधिक 'बुद्धिमान्' नहीं। 'बुद्धि-परीक्षा' के उपायों से यह पता लगाकर कि अमुक बालक 'मन्द-बुद्धि' या 'मूढ़-बुद्धि' है, उसकी तरफ़ विशेष प्रयत्नशील होना चाहिए। मुख्य-मुख्य प्रयत्न निम्नलिखित हैं :—

मन्द बालकों के सुधार के उपाय—

(क) कई जगह ऐसे बालकों के लिए अलग श्रेणियाँ खोल दी जाती हैं। दूसरे बालक इन बालकों को 'मूर्ख-श्रेणी' कहा करते हैं। इससे बालक के स्वाभिमान को बहुत धक्का पहुँचता है, वह पढ़ना ही छोड़ देता है। इसलिए जो-कुछ भी किया जाय, शिक्षक को यह देख लेना

चाहिए कि वह किसी ऐसे उपाय का प्रयोग न करे जिससे बालक के स्वाभिमान को ठेस पहुँचे।

(ख) फिर भी ऐसे बालकों को दूसरों के साथ तो नहीं पढ़ाया जा सकता। अगर वे अपनी आयुवालों के साथ रखे जायेंगे, तो या तो कुछ समझेंगे नहीं, या शिक्षक को उन्हें साथ रखने के लिए दूसरों को भी पीछे रखना होगा। अगर उन्हें निचली श्रेणी में कर दिया जायगा, तो उन बच्चों से शरीर में बड़े होने के कारण वे उन्हें डराया-धमकाया करेंगे। उन्हें अन्य बालकों से अलग तो पढ़ाना होगा, प्रश्न यही है कि अलग कैसे पढ़ाया जाय?

इसका सर्वोत्तम साधन यह है कि स्कूल में कुछ ऐसी श्रेणियाँ खोल दी जाँय जिनमें एक ही साल में परीक्षा देना आवश्यक न हो। जैसे रेल गाड़ियों की तीन तरह की पटरियाँ होती हैं—एक पटरी मेल-ट्रेन के लिए, एक मालगाड़ी के लिए, एक सवारी गाड़ी के लिए—और हर पटरी को दूसरी पटरी से मिलाने के लिए ऐसा प्रबन्ध होता है, जिससे काँटा बदलकर सवारी-गाड़ी को मेल की, और मेल को सवारी-गाड़ी की पटरी पर लाया जा सके, इसी प्रकार स्कूल में तीन तरह के विभाग होने चाहिएँ। मेल की रफ्तार से चलने वाले बालकों के लिए साल से भी पहले ऊपर के दर्जे में जाने का प्रबन्ध होना चाहिए, धीरे चलने वाले बालक जब अपनी कमी पूरी कर लें, तो उनके लिए अपने साथ के बच्चों के साथ मिल जाने का भी प्रबन्ध रहना चाहिए, और जो तेज़ बच्चे कमज़ोरी दिखाने लगें, उन्हें नीचे लाने का प्रबन्ध भी रहना चाहिए। यह प्रणाली अमेरिका में 'श्रेणी-रहित-विभाग' (Ungraded Class) के नाम से सफलतापूर्वक चल रही है।

३. 'उत्कृष्ट-बुद्धि'-बालक (PRECOCIOUS CHILDREN)

'उत्कृष्ट-बुद्धि'-बालकों की उत्कृष्टता की मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है, परन्तु 'उत्कृष्टता' के प्रकार चार हैं:—

(क) ऐसे बालक जिनकी 'सामान्य-बुद्धि' (General Intelligence) ही उच्चकोटि की है, 'उत्कृष्टता' के प्रथम प्रकार हैं। ये बालक सब विषयों में दूसरे बालकों से आगे रहते हैं। जब किसी श्रेणी में

सब तरह के बालक मिले-जुले रहते हैं, तो ये बालक समय नष्ट किया करते हैं, और इसी कारण दूसरों को चिढ़ाना आदि सीख जाते हैं। जो बच्चे अपनी क्लास से बहुत कमज़ोर होते हैं, वे भी स्कूल में किसी प्रकार की दिलचस्पी न दिखाकर आवारा फिरना, चोरी करना आदि सीख जाते हैं। 'उत्कृष्ट' बालकों के लिए 'विशेष-कक्षाएँ' (Elite Classes) बनाकर एक साल में दो-तीन साल की पढ़ाई करा देना उचित है। ये बालक दिन-रात पढ़ते ही न रहें, किताबी कीड़े न बन जाँय, अपना स्वास्थ्य नष्ट न कर लें, और न ही अपने को बहुत बुद्धिमान् समझकर आस्मान में उड़ने लगें—इसकी तरफ़ ध्यान देना चाहिए। ठीक दिशा में चलाने से ये समाज में नेता का स्थान लेते हैं।

(ख) कुछ बालक ऐसे होते हैं जिनकी अन्य विषयों में 'बुद्धि' तो साधारण होती है, परन्तु किसी खास विषय में वे 'असाधारण प्रतिभा-शाली' (Talented) होते हैं। कोई बालक गाने में, कोई आलेख्य में, कोई गणित में आश्चर्यजनक-गति दिखाता है। प्रायः ऐसे बालकों के प्रदर्शन करके उन्हें बिगाड़ दिया जाता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि ऐसे बालकों का पता लगाकर उन्हें अपनी दिशा में उन्नति करने का पूरा अवसर दे। अगर स्कूल का कार्य-क्रम इस प्रकार का बनाया जा सके जिससे सभी श्रेणियों के सब विषय एक ही समय में चल रहे हों, तब ये प्रतिभाशाली बालक अपने असाधारण विषयों को ऊँची श्रेणी के साथ पढ़ सकते हैं, बाकी विषयों को अपनी श्रेणी के साथ।

(ग) कई बालक शुरू-शुरू में पढ़ने-लिखने में कोई रुचि नहीं दिखलाते। खेलना, कूदना, शरारत करना, मारना, पीटना—यही उसके जीवन की एकमात्र दिशा दिखाई देती है, परन्तु आगे चलकर किसी समय यह शक्ति मानसिक-शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। ऐसे बालक मिलते तो हैं, परन्तु इनकी संख्या बहुत कम होती है।

(घ) कई ऐसे भी बालक होते हैं, जो प्रारम्भ में पिछड़े मालूम पड़ते हैं, परन्तु उनके पिछड़ने का कारण कोई बीमारी, कोई आकस्मिक घटना होती है, और उस सामयिक बाधा के निकलते ही वे असाधारण रूप से उन्नति करने लगते हैं।

'मन्द-बुद्धि'-बालक के लिए शिक्षक को कार्य-क्रम, समय-विभाग आदि पर अधिक बल देना पड़ता है; 'उत्कृष्ट-बुद्धि'-बालक के लिए तो उसे अपनी शक्ति को विकसित करने के लिए अवसर देने की आवश्यकता है। 'उत्कृष्ट-बुद्धि'—बालकों की 'मानसिक-आयु का अनुपात' (Mental ratio) १६० से ऊपर होता है, कहीं-कहीं १८० तक पाया जाता है, १४० से नीचे तो शायद ही कहीं होता हो। पिट की 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) १६० थी, बोलटेयर की १८०, कालरिज की १७५, बेन्थम और मैकाले की १८०, गेटे की १८५ और जॉन स्टुअर्ट मिल की १९० थी।

जिन लोगों के हाथ में शिक्षा-विभाग है, उनका कर्तव्य है कि प्रत्येक स्कूल के साथ कुछ मनोवैज्ञानिकों का सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करें जिससे शिक्षक को बालकों के विषय में पूरा-पूरा, ठीक-ठीक, नपा-तुला मनोवैज्ञानिक परिचय प्राप्त हो सके।

प्रश्न

(१) मन्द बालकों के मन्द होने का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है?

(२) 'शरीर की आयु' का 'मन की आयु' से अनुपात कैसे निकालोगे? उदाहरण देकर समझाओ।

(३) 'शरीर की आयु' का 'शिक्षा की आयु' से अनुपात कैसे निकालोगे?

(४) 'शिक्षा की आयु' का 'मन की आयु' से अनुपात कैसे निकालोगे? इस अनुपात निकालने का शिक्षक की दृष्टि से क्या महत्त्व है?

(५) मन्द-बुद्धि बालक किसे कहेंगे? उसके सुधार के क्या उपाय हैं?

(६) उत्कृष्ट-बुद्धि बालक को अन्य विद्यार्थियों के साथ पढ़ाने में क्या हानि है? अगर उसे सबके साथ पढ़ाया जाय, तो क्या किया जाय?

२१

समूह-मनोविज्ञान

(PSYCHOLOGY OF THE GROUP)

'समूह' के रूप में बरतना 'समूह-मनोविज्ञान' है—

'मनोविज्ञान' क्या है ? पुराने ज़माने में मनोविज्ञान का काम व्यक्ति के 'अनुभवों' (Individual Experiences) का अध्ययन करना था; आज मनोविज्ञान वैयक्तिक अनुभवों के स्थान में व्यक्ति के 'व्यवहार' (Individual Behaviour) का अध्ययन करता है। हमें इससे मतलब नहीं कि बालक अपने मन के भीतर क्या-क्या सोचता है—इसे हम जान भी कैसे सकते हैं—हमें तो इससे मतलब है कि बालक एक ख़ास परिस्थिति उत्पन्न होने पर किस प्रकार की प्रतिक्रिया करता है, किस प्रकार का 'व्यवहार' करता है ? जब से मनोविज्ञान ने 'व्यवहार' (Behaviour) को अपना विषय बनाया है, तब से यह भी सोचा जाने लगा है कि 'व्यक्ति' (Individual) ही व्यवहार नहीं करता, 'व्यक्ति-समूह' (Group or Crowd) भी व्यवहार करता है। तब क्यों न 'व्यक्ति-समूह' के व्यवहार का भी अध्ययन किया जाय ? इसी अध्ययन को 'समूह-मनोविज्ञान' (Group or Crowd Psychology) कहा जाता है। 'समूह-मनोविज्ञान' का शिक्षा से बहुत बड़ा संबंध है, क्योंकि पाठशाला में विद्यार्थियों का समूह होता है, और 'समाज' के समूह में 'समूह-मनोविज्ञान' के जो नियम काम करते हैं, वही 'पाठशाला' के विद्यार्थियों में भी काम करते हैं।

'व्यक्ति' की तरह 'समूह' भी 'ज्ञान'—इच्छा'—'क्रिया' करता है—

बम्बई के बाज़ार में चले जाइये। कन्धे-से-कन्धा भिड़ रहा है, लाखों व्यक्तियों का समूह उमड़ा चला जा रहा है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने काम से जा रहा है। इतने में मालूम पड़ा कि एक मकान में आग लग गई, आग बुझाने वाले एंजिन ज़ोर से घंटा बजाते हुए भागे चले

जा रहे हैं, सब का ध्यान उधर चला गया, सब के मन में एक भाव उठ खड़ा हुआ, कहाँ आग लगी, कैसे लगी ! यही समूह जो अभी तक रेता के कणों की तरह अलग-अलग था, प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने विचार में मग्न था, एकदम भीजी मट्टी की तरह एक हो गया, एक-तरह से सोचने लगा। बस, इस अवस्था में इस जन-समूह में 'समूह-भावना' (Group consciousness) पैदा हो गई, और ये हज़ारों, लाखों व्यक्ति जो अब तक अलग-अलग व्यवहार कर रहे थे, मानो मिल गए, और एक-सा व्यवहार करने लगे। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो गया कि हम 'व्यक्ति' (Individual) के रूप में तो 'ज्ञान'—'इच्छा'—'क्रिया' करते ही हैं, परन्तु 'समूह' (Group) के रूप में भी 'ज्ञान' (Thought), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'क्रिया' (Action) करते हैं।

समूह का व्यवहार—

जहाँ दो या तीन व्यक्ति इकट्ठे होते हैं, वहाँ कुछ नवीन शक्तिय उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसी शक्तियाँ जो व्यक्ति में पहले नहीं दीख पड़तीं एक व्याख्याता बोल रहा है, लोगों को धनियों को लूटने के लिए भड़का रहा है। भीड़ लूटने के लिए चल पड़ती है, भले-भले आदमी भी अपने को भूल जाते हैं, और भीड़ की तरह का व्यवहार करने लगते हैं। जब वे लूट-पाट मचा रहे हैं, तभी एक दूसरा व्याख्याता आता है। वह व्याख्यान देना शुरू करता है, और उससे प्रभावित होकर लूट मचाने वाले एक-एक वस्तु को लाकर लौटाने लगते हैं, अपने किये पर पश्चात्ताप करते हैं। भीड़ का अंग बन कर व्यक्ति कभी अपने से ऊपर उठ जाता है, कभी अपने से भी नीचे गिर जाता है। जब व्यक्ति किसी समूह में अपने को पाता है, तब कुछ शक्तियाँ ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं, जो उसके व्यक्तित्व को पीछे धकेल देती हैं, और मानो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मिलने से, उनके सम्मिश्रण से, एक नवीन व्यक्ति उत्पन्न हो जाता है जो अपने ही नवीन ढंग से मानो नवीन शक्तियों से व्यवहार करता है।

सामूहिक-व्यवहार की आधार तीन 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts)—

ये नवीन शक्तियाँ क्या हैं ? हम पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक प्राणी में 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) हैं। 'समूह' की दृष्टि से इनमें से

तीन 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' विशेष महत्त्व की हैं। वे हैं—'सामूहिक प्राकृतिक-शक्ति' (Gregarious Instinct), 'आत्मगौरव की प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct of Self-assertion) तथा 'दैन्य-भावना' (Instinct of Submission)। इनमें से 'सामूहिक प्राकृतिक-शक्ति' के कारण तो प्राणियों में 'सामूहिक-जीवन की भावना' (Group consciousness) उत्पन्न हो जाती है; 'आत्म-गौरव' की भावना से कुछ लोग नेता का काम करने लगते हैं; 'दैन्य-भावना' से कुछ लोग नेताओं के अनुयायियों का काम करने लगते हैं। 'समूह', 'नेता', 'अनुयायी'—इन तीनों के मिलने से ही तो समाज का 'सामूहिक-व्यवहार' (Social behaviour) होता है। समाज के इन तीनों व्यवहारों की आधार-भूत शक्तियाँ वे ही तीन 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) हैं, जिनका अभी उल्लेख किया गया है।

'भाव-संचार' अर्थात् 'मिमेसिस' (Mimesis)—

सैकड़ों व्यक्ति किसी उत्कृष्ट-कोटि के व्याख्याता का भाषण सुन रहे हैं। वह आँसू बहाता है, सब आँसू बहाने लगते हैं, वह किसी बात को कहकर जनता से पूछता है, मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं, सब 'हाँ' पुकार उठते हैं; वह जनता को खड़ा हो जाने को कहता है, सब उठ खड़े होते हैं—नेता की 'इच्छा'-'ज्ञान'-'क्रिया' ही जनता की 'इच्छा'-'ज्ञान'-'क्रिया' हो जाती है। इस प्रकार जन-समूह का कुछ देर के लिए जब अपना 'व्यक्तित्व' पीछे हट-सा जाता है, किसी दूसरे का अस्तित्व, दूसरे की 'इच्छा' (Feeling), दूसरे का 'ज्ञान' (Thought), दूसरे की 'क्रिया' (Action) जन-समूह की 'इच्छा'-'ज्ञान'-'क्रिया' बन जाती है—इस प्रक्रिया को पर्सी नन ने 'भाव-संचार'—'मिमेसिस' (Mimesis)—का नाम दिया है। 'मिमेसिस' के द्वारा जनता कुछ-की-कुछ हो जाती है, व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को खो बैठता है, और समूह में मानो अपने को मिटा देता है, और दूसरों का रूप हो जाता है।

'समूह' में 'सहानुभूति' द्वारा हम दूसरों की 'इच्छा (Feeling) ले लेते हैं:

जब हम 'समूह' में अपनी 'इच्छा' (Feeling) को मानो खोकर दूसरे की 'इच्छा' में लीन कर देते हैं, तब क्या होता है? कोई रो रहा है, हम रोने लगते हैं; कोई हँस रहा है, हम हँसने लगते हैं। यह अवस्था

'सहानुभूति' (Sympathy) की अवस्था है। 'सहानुभूति' मन की उस अवस्था का नाम है जिसमें नेता की इच्छा जनता में प्रवेश कर जाती है। अगर हम व्याख्यान दे रहे हैं, हम में 'आत्म-गौरव' (Self-assertion) की प्रबल भावना है, तब हमारी इच्छा श्रोताओं की इच्छा पर छा जाती है, उनमें 'दैन्य-भाव' (Submission) की 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) उन व्यक्तियों की इच्छा को हमारी इच्छा के आधीन कर देती है। हम उन्हें रुला देते हैं, हँसा देते हैं, क्रोध से पागल कर देते हैं। 'सहानुभूति' की भावना को उत्पन्न कर उन्हें कुछ-का-कुछ बना देते हैं। शिक्षक में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह 'सहानुभूति' द्वारा बालक की इच्छा पर छा सके, उन्हें अपनी इच्छा के आधीन कर सके।

'समूह' में 'निर्देश' द्वारा हम दूसरों का 'विचार' (Thinking) ले लेते हैं—

'इच्छा' के विषय में जो-कुछ कहा गया है, वही 'विचार' (Thought) के विषय में होता है। 'समूह' में पहुँच कर हम अपने विचारों को मानो खो-सा देते हैं, और 'समूह' के विचार में ही बहने लगते हैं। व्याख्याता जो विचार हमें देता चला जाता है, हम उन्हें मानो पीते चले जाते हैं। इसी को 'निर्देश' (Suggestion) कहते हैं। जब हम किसी की युक्ति को समझने के लिए इच्छा-पूर्वक 'हाँ-हाँ' करते हैं—उसे 'निर्देश' नहीं कहते; जब बिना किसी इच्छा के, बिना प्रयत्न के, किसी के 'निर्देशों' को, जैसे वह उन्हें देता चला जाय, वैसे हम उन्हें ग्रहण करते चले जाँय, उन्हें अपना विचार न होते हुए भी अपना समझने लगें—उसे 'निर्देश' कहते हैं। 'समूह' में प्रबल 'आत्म-गौरव' (Self-assertion) वाला व्यक्ति 'दैन्य-भाव' (Submission) वाली जनता को 'निर्देश' देता चला जाता है, और जनता 'हाँ-हाँ' करती चली जाती है। मोह-निद्रा (Hypnotism) में 'निर्देश' का चमत्कार देखा जाता है, व्यक्ति दूसरे के दिये हुए 'निर्देशों' में रम जाता है। शिक्षक में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह 'निर्देशों' द्वारा बालकों के विचारों को अपने विचारों के अनुकूल बना सके।

'समूह' में 'अनुकरण' द्वारा हम दूसरों की 'क्रिया' (Willing) को ले लेते हैं—

'इच्छा' तथा 'विचार' के विषय में जो-कुछ कहा गया, वही 'क्रिया' (Action) के विषय में होता है। 'समूह' में पहुँच कर हम 'अनुकरण'

(Imitation) के द्वारा वैसा ही करने लगते हैं, जैसा 'समूह' कर रहा होता है। 'समूह' भला काम कर रहा होता है, तो हम भी भला करने लगते हैं; 'समूह' बुरा काम कर रहा होता है, तो हम भी बुरा काम करने लगते हैं। दंगे के दिनों में बड़े-बड़े भले-मानस दंगों में शामिल हो जाते हैं; बरात में खाना परोसा जा रहा हो, तो घर बैठे मक्खियाँ मारने वाले भी थाली हाथ में लेकर खाना परोसने लगते हैं। जो व्यक्ति 'आत्म-गौरव' (Self-assertion) से युक्त है, वह 'समूह' में सब का नेता बन जाता है, दूसरे 'दैन्य-भावना' (Submission) वाले उसके अनुयायी हो जाते हैं, और अपनी मर्जी से कुछ करने के बजाय अपने नेता के किए के अनुसार सब काम करते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि 'भाव-संचार' अर्थात् 'मिमेसिस' (Mimesis) के द्वारा 'समूह'-'समाज'-'जनता' अपने नेता की 'इच्छा', 'विचार' तथा 'क्रिया' के पीछे चलते हैं, और नेता लोग 'सहानुभूति' (Sympathy) के द्वारा अपनी अच्छी या बुरी इच्छा को जनता की इच्छा, 'निर्देश' (Suggestion) के द्वारा अपने अच्छे या बुरे विचारों को जनता के विचार, तथा 'अनुकरण' (Imitation) के द्वारा अपने अच्छे या बुरे कामों को जनता के काम बना देते हैं।

'समूह' में 'व्यक्ति' क्यों समूह के पीछे चलता है—

परन्तु ऐसा क्यों होता है ? ले बोन (Le Bon) ने इसका उत्तर यह दिया है कि जब व्यक्ति अपने को समूह में पाता है, तब इतने अधिक व्यक्तियों को एक ही बात और एक ही काम करते देख कर यह अनुभव करता है कि अब तो यह काम होकर रहेगा, और इतनी सारी संख्या देखकर मानो उसे अपने में भी असीम शक्ति का अनुभव होने लगता है। इस अवस्था में आकर वह अपने को अगाध-शक्ति का भण्डार समझता है, और सोचता है कि वह जो चाहेगा कर डालेगा, और भीड़ का अंग बन कर प्रायः ऐसे नासमझी के काम कर बैठता है, जिनके विषय में इकला होने पर वह कभी-कभी पछताया भी करता है।

'समूह' में 'व्यक्ति' क्यों प्रायः बुरे ही काम करता है—

समूह में पड़कर व्यक्ति प्रायः नासमझी के काम करता है, इसका

एक कारण तो यही है कि वह अपने को समूह की शक्ति के कारण इतना शक्तिशाली समझता है कि किसी बात की पर्वाह नहीं करता। इसका दूसरा कारण यह है कि 'समूह' में प्रायः नीच प्रकृति के ही व्यक्ति होते हैं। अगर किसी 'समूह' का उच्च-कोटि का नेता नहीं है, तब क्या होगा? 'भाव-संचार' (Mimesis) के नियम के अनुसार 'सहानुभूति' (Sympathy), 'निर्देश' (Suggestion) तथा 'अनुकरण' (Imitation) ऊँची बातों के विषय में न होकर नीची बातों के विषय में होंगे। एक व्यक्ति अगर नीच प्रकृति का है, तो वह इकला रहता हुआ इतना बिगाड़ नहीं कर सकता जितना अन्य अनेक नीच प्रकृति के व्यक्तियों के साथ मिलकर कर सकता है। जब कई नीच मिलगे, और उनमें 'भाव-संचार' (Mimesis) होगा, एक से दूसरे को वेग मिलेगा, 'सहानुभूति', 'निर्देश' तथा 'अनुकरण' का चक्र चलेगा, तब नीच व्यक्ति अधिक तेजी से नीचता की तरफ़ बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त मनुष्य-समाज का अधिकतर हिस्सा तो 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के स्तर का ही होता है, इसलिए किन्हीं भी दो मनुष्यों के सम्पर्क में आने पर उनके पास जब मौसम या इसी तरह का कोई और विषय बातचीत के लिए नहीं होता, तो वे चुग़लखोरी या दूसरी नीच-प्रकृति की बातों के सिवाय और कोई बात नहीं करते।

'समूह' के तीन भेद—

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि 'समह' में व्यक्ति बुरे ही काम करे। 'समूहों' के भिन्न-भिन्न प्रकारों का विवेचन करने से ज्ञात होगा कि समूह की शक्ति को व्यक्ति तथा समाज की भलाई में भी लगाया जा सकता है। समूहों के निम्न प्रकार हैं:—

(१) 'भीड़'-जसा समूह (Social group of Crowd type)
(२) 'समिति'-जैसा समूह (Social group of Club type)
(३) 'समुदाय'-जैसा-समूह (Social group of Community type)

'भीड़'-जैसा 'समह' (Crowd type) तब दिखाई देता है जब बहुत-से लोग कुछ देर के लिए इकट्ठे होते हैं, और फिर अपने-अपने घर को चल देते हैं। इस भीड़ की सामूहिक 'इच्छा', 'विचार' तथा

'क्रिया' तभी तक रहती है, जब तक यह भीड़ बनी रहती है, उसके बाद इस भीड़ का किसी को स्मरण भी नहीं रहता। इसकी तुलना एक बालक से, या पशु से की जा सकती है, जो सिर्फ़ उसी वस्तु को देखता-सुनता है, जो उसके सामने है। आँखों से ओझल हुई नहीं कि बात मन से उतरी नहीं।

'समिति'-जैसा 'समूह' (Club type) तब दिखाई देता है जब कुछ व्यक्ति केवल सामाजिक-समस्या के हल के लिए ही नहीं, परन्तु किसी ऐसे उद्देश्य के लिए संगठित होते हैं, जो सब का समान होता है। एक ही स्वार्थ, एक ही भावना और एक ही आदर्श से 'समिति' (Club) का निर्माण होता है, और यह आदर्श इतना सबल होता है जिसकी प्रेरणा से 'समिति' के सब सदस्य एक सूत्र में बँधे रहते हैं।

'समुदाय'-जैसा 'समूह' (Community type) और भी अधिक विस्तृत होता है। 'भीड़' तथा 'समिति' की अपेक्षा इसमें स्थिरता का अंश बहुत अधिक पाया जाता है। इसके उद्देश्य इतने अधिक विशाल होते हैं जिनको समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने निजी जीवन के भी उद्देश्य बना सकते हैं। 'समुदाय' या 'समाज' के उद्देश्यों के लिए 'व्यक्ति' जीते-मरते हैं। देश तथा जाति की भावना इसी के अन्तर्गत है।

'समूह का मानस' (Group-mind)—

जैसे 'व्यक्ति' की रचना में 'मन' काम करता है, वैसे ही 'भीड़' (Crowd), 'समिति' (Club) तथा 'समुदाय' (Community) की रचना में भी 'मन' काम करता हुआ दिखाई देता है। यह ठीक है कि जिस प्रकार व्यक्ति में 'मन' को हम मानते हैं, ठीक इसी तरह समूह में 'मन' को नहीं मान सकते, परन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि समूह जब 'इच्छा', 'विचार' और 'क्रिया' करता है, तब समूह का मानो 'मन' काम कर रहा है—ऐसा अनुभव होता है। जब देश जाग जाता है, तब इसी भावना से हम कहा करते हैं कि समाज, देश तथा जाति का मन, उसकी आत्मा जाग उठी है। समाज, देश तथा जाति का मन, उसकी आत्मा कहाँ है? परन्तु फिर भी हम देश के मन तथा आत्मा का नाम लेते हैं। इसी को 'समूह का मानस' (Group-mind) कहा जा सकता है। 'समूह का मानस' भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मनों के समूह का नाम नहीं है

यह 'मानस' व्यक्तियों के मनों से बहुत ऊँचा भी हो सकता है, बहुत नीचा भी हो सकता है। जो व्यक्ति बहुत नीचा है, वह 'समूह के मानस' (Group-mind) के प्रभाव से बहुत ऊँचा उठ सकता है, जो व्यक्ति बहुत ऊँचा है, वह 'समूह के मानस' के प्रभाव से बहुत नीचे भी गिर सकता है—'समूह-मानस' रूपी समुद्र की ऊँची लहर से व्यक्ति ऊपर उठ जाता है, नीची लहर से नीचे जा धँसता है।

शिक्षा-संस्थाएँ तथा 'समूह-मानस' (Group-mind)—

जब हम किसी शिक्षा-संस्था के विषय में कहते हैं कि उसका नैतिक-स्तर ऊँचा होना चाहिए, उसकी 'टोन' ऊँची होनी चाहिए, तब 'समूह-मनोविज्ञान' (Group Psychology) की परिभाषा में हम यह कह रहे होते हैं कि उस संस्था का 'समूह-मानस' (Group-mind) ऊँचे स्तर का होना चाहिए। आजकल की पाठशालाओं में बालक घर से आते हैं, कुछ घंटे वहाँ रहकर घर चले जाते हैं। वे एक प्रकार का 'समिति' (Club) का जीवन व्यतीत करते हैं। उनमें 'समुदाय' (Community) की भावना नहीं पैदा हो सकती। हाँ, जो बच्चे आश्रमों में, गुरुकुलों में, छात्रावासों में रहते हैं, उनमें 'सामुदायिक-भावना' (Community Consciousness) का उदय हो सकता है, क्योंकि वे दिन-रात इकट्ठे रहते हैं। इसी लिए पाठशालाओं के साथ छात्रावास या गुरुकुल-पद्धति बालकों के नैतिक-स्तर को ऊँचा और कभी-कभी नीचा बनाने में भी अधिक काम करती है।

'समूह-मानस' (Group-mind) का शिक्षा में बड़ा महत्त्व है। यह समझना भूल है कि बालक को व्यक्ति रूप से जो पुस्तकों द्वारा पढ़ाया-लिखाया जाता है, उसी से उसका मन बनता है। 'समूह' का बालक के मन, उसकी शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षणालय में 'समूह-मानस' (Group-mind) को उचित दिशा में विकसित करने के लिए जिन बातों की तरफ़ शिक्षक को विशेष ध्यान देना चाहिए, उनका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है:—

(१) शिक्षक के लिए यह देखना आवश्यक है कि बालक 'भीड़-जैसे-समूह' (Crowd type) में ही न बना रहे। बालकों के 'समूह-मानस'

(Group-mind) का विकास तभी होगा, जब बालक अपने को यह न अनुभव करे कि वह जैसे किसी भारी भीड़ में निरुद्देश्य धक्के खा रहा है, या किसी नदी में बहा जाता तिनका है, जिसे लहरें इधर-से-उधर और उधर-से-इधर उठाकर फेंक देती हैं। यह तभी हो सकता है अगर वह एक ही प्रकार के व्यक्तियों में कुछ काल तक नहीं, परन्तु चिरकाल तक रहे। भीड़ में तो घंटे, दो घंटे के लिए लोग इकट्ठे होते हैं, क्षणिक आवेग में आते हैं, और फिर सब तितर-बितर हो जाते हैं। बालक अगर इसी प्रकार अपने को अनुभव करता रहे, तो उसके 'समूह-मानस' (Group-mind) का विकास नहीं हो सकता। जिस समूह में वह रहता है, उससे कुछ ग्रहण करने के लिए उस समूह में पर्याप्त काल तक स्थिर रूप से रहना आवश्यक है। विद्यार्थी कक्षा में कई साल तक साथ-साथ रहते हैं। इसी से उनके 'समूह-मानस' (Group-mind) का विकास हो सकता है। जो बालक कभी किसी स्कूल में, कभी किसी स्कूल में टक्करें खाते हैं, उनके 'समूह-मानस' का विकास नहीं हो पाता—इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि स्थिर-रूप से वे किसी 'समूह' (Group) के अंग नहीं हो पाते। छात्रावासों, आश्रमों तथा गुरुकुलों में 'समूह-मानस' के विकास के लिए अच्छा अवसर रहता है, क्योंकि इनमें स्थिर-रूप से, अनेक वर्षों तक बालकों को एक-साथ रहने का अवसर प्राप्त होता है।

(२) 'समूह-मानस' (Group-mind) के विकास के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि बालक किसी 'समूह' में स्थिर रूप से रहे, यह भी आवश्यक है कि उसमें 'समूह' की भावना' (Group-consciousness) का भी उदय हो, वह अनुभव करे कि वह किसी 'समूह' का अंग है। जो बालक अपने को किसी 'समूह' का अंग अनुभव नहीं करता, वह पाठशाला के नैतिक-स्तर को ऊँचा या नीचा करने में कोई हिस्सा नहीं ले सकता, वह 'समूह' के लिए ऐसे ही है, जैसे हो ही नहीं।

(३) इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि एक 'समूह' (Group) का दूसरे 'समूह' के साथ कभी-कभी मुक़ाबिला हो। प्रत्येक 'समूह' के अपने उद्देश्य, अपनी-अपनी प्रथाएँ तथा अपने-अपने तरीक़े होते हैं। इस प्रकार के मुक़ाबिलों से 'समूह की भावना' (Group-consciousness)

दृढ़ होती है, 'व्यक्ति' अपने 'समूह' की परिभाषा में सोचने लगता है, साथ ही दूसरे 'समूह' में जो अच्छाई है, वह उसके सामने आ जाती है और वह उस अच्छाई को ग्रहण करने की चेष्टा करता है। जहाँ इस 'मुक़ाबिले' से बालकों में 'प्रतिद्वन्द्विता' (Competition) की भावना पैदा होती है, वहाँ 'सहकारिता' (Co-operation) की भावना भी पैदा होती है। 'प्रतिद्वन्द्विता' से बालक में क्रिया-शक्ति बढ़ जाती है। वह क्रिया-शक्ति अपनों के साथ सहयोग की भावना को दृढ़ बनाती है। एक ही कक्षा में दो 'समूहों' का मुक़ाबिला कराया जा सकता है, एक स्कूल का दूसरे स्कूल के साथ मुक़ाबिला कराया जा सकता है—खेल में, बोलने में, पढ़ाई में, सब में। जब एक देश का दूसरे देश से मुक़ाबिला होता है, तो उसे लड़ाई कहते हैं। लड़ाई में भी देश में पहले से अधिक शक्ति प्रस्फुटित हो उठती है, और प्रायः नवीन आविष्कार लड़ाई के समय ही हुआ करते हैं। स्कूलों में भी कभी-कभी प्रतिद्वन्द्विता करते-करते लाठियाँ चल जाती हैं। शिक्षक का कर्तव्य है कि उचित प्रतिद्वन्द्विता को ही प्रोत्साहित करे, अनुचित को नहीं।

(४) स्कूल एक 'समूह' का नाम है। प्रत्येक स्कूल की अपनी ख़ास-ख़ास विशेषताएँ होनी चाहिएँ, ये विशेषताएँ ऐसी होनी चाहिएँ, जिन्हें परम्परा के रूप में स्मरण किया जा सके। जैसे हमारी जाति की परम्परा है, हम सब उसे याद करते हैं, राम-लक्ष्मण का नाम लेते हैं, वैसे ही स्कल की परम्पराएँ ऐसी हों, जिन्हें आगामी आने वाले बालक स्मरण कर के अभिमान से मस्तक ऊँचा करें। इसका परिणाम यह होता है कि नवीन बालक भी ऐसे कार्य करने के लिए प्रोत्साहित होते हैं, जिनसे उन्हें भी स्मरण किया जा सके। इस उद्देश्य से वार्षिकोत्सव करना, किसी नामी पुराने विद्यार्थी को स्कूल में कभी-कभी बुलाकर उसका व्याख्यान कराना, स्नातक-मण्डल बनाना आदि साधन बहुत उपयोगी हैं।

(५) प्रत्येक शासन-व्यवस्था का यह कर्तव्य है कि देश में 'समूह' के निर्माण को प्रोत्साहन दे, और साथ ही यह भी ध्यान रखे कि 'समूह' का नेतृत्व किन्हीं योग्य व्यक्तियों के हाथों में हो। जिस 'समूह' का कोई नेता नहीं, वह निरी 'भीड़' (Crowd) है, उसका 'समह-मानस'

(Group-mind) अभी अविकसित है। 'समूह' विकसित होकर 'भीड़' (Crowd) से 'समुदाय' (Community) बने—इसके लिए योग्य नेतृत्व की आवश्यकता है। अच्छा नेता मानव-समाज को बहुत ऊँचा उठा सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति, व्यक्ति रूप से जितना ऊँचा उठ सकते हैं, आदर्श नेतृत्व पाकर, वे उस स्तर से भी बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। बुरा नेता इसी प्रकार मानव-समाज को बहुत नीचे गिरा सकता है। व्यक्ति-रूप से लोग जितने गिरे हुए हैं, 'समूह' में बुरे नेता के प्रभाव में आकर वे उस स्तर से भी नीचे गिर जाते हैं। महात्मा गांधी के सम्पर्क में आकर नीच-से-नीच अपने से ऊपर उठ गए; हिटलर के सम्पर्क में आकर उच्च-से-उच्च अपने से नीचे गिर गए। इसमें सन्देह नहीं कि संसार की आशा समूह-निर्माण पर आश्रित है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि समूह का निर्माण जितना लाभ पहुँचा सकता है, अगर वह बुराई की तरफ़ चल पड़े, तो उतना ही नुकसान भी पहुँचा सकता है।

शिक्षक के लिए स्कूल में 'समूह' का निर्माण जहाँ अनेक समस्याओं को हल करने वाला होता है, वहाँ कभी-कभी यही उसकी जान का बवाल हो जाता है। ख़ास कर छात्रावासों, गुरुकुलों तथा आश्रमों में जहाँ बालक दिन-रात साथ रहते हैं, 'समह' का निर्माण स्वाभाविक तौर पर हो जाता है, और अगर इस 'समूह' के नेता के विचार शिक्षक के विचारों से भिन्न होते हैं, तो शिक्षक के लिए एक महान् समस्या उपस्थित हो जाती है। शिक्षक छात्रों को एक तरफ़ ले जाना चाहता है, छात्र अपने नेता के आधीन ठीक उल्टी दिशा में जाते हैं। छात्रों की भयंकर हड़-तालें इसी कारण हुआ करती हैं। उस समय अध्यापक लोग छात्रों के नेताओं को अपने क्रोध का केन्द्र बनाते हैं, उन्हें चुन-चुन कर पाठशाला से अलग कर देते हैं। कभी-कभी इससे समस्या हल हो जाती है, कभी-कभी और भी उग्र हो जाती है। अगर छात्रों के एक नेता को पृथक् किया जाता है, तो दूसरा उसका स्थान ले लेता है। इस समस्या का क्या हल है? इस समस्या का हल तो यही है कि अध्यापक स्वयं विद्यार्थियों का नेता बनकर रहे। अध्यापक की 'इच्छा', उसके 'विचार', उसकी 'क्रिया' विद्यार्थियों की इच्छा, विचार तथा क्रिया बन जाय। गुरुकुल-शिक्षा-

पद्धति का आधार-भूत तत्त्व भी यही है। गुरु को शिष्यों के साथ रहना-सहना, उनके साथ खाना-पीना, खेलना-कूदना, उठना-बैठना चाहिए, ताकि वे उसी को हर बात में अपना नेता समझें। जो गुरु ऐसा करते हैं, छात्रों की उनमें श्रद्धा बनी रहती है, और वे अनेक समस्याओं का हल निकाल लेते हैं। प्रायः ऐसा देखा गया है कि गुरु छात्रों का कई कारणों से नेतृत्व नहीं कर सकते—उनके साथ, उन्हीं के अंग होकर जीवन नहीं बिता सकते। ऐसी अवस्था में बालक ही अपना कोई नेता चुन लेते हैं, जैसा वह कहता है, वैसा करते हैं। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार के नेताओं का नेता बन जाय, अगर सब का नेता नहीं बन सकता, तो अपनी योग्यता, अपनी उच्चता अपनी आदर्श-प्रियता से एक का तो नेता बन सकता है! फिर उसकी समस्यायें स्वयं हल हो जाती हैं।

'समूह-मनोविज्ञान' पर और अधिक जानकारी हासिल करनी हो तो प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखित 'समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व' पुस्तक का इसी विषय का अध्याय इस विषय को और अधिक स्पष्ट कर देगा।

प्रश्न

(१) 'व्यक्ति' की तरह 'समूह' की भी 'ज्ञान'-'इच्छा'-'क्रिया' होती है—इस कथन को उदाहरण देकर समझाओ।

(२) व्यक्ति, समूह के भीतर आकर अपने से बहुत नीचे भी गिर सकता है, अपने से बहुत ऊँचे भी उठ सकता है। क्यों?

(३) 'सामूहिक-व्यवहार' (Social Behaviour) की आधारभूत तीन 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' कौन-कौन-सी हैं? उनका नाम देकर उनकी व्याख्या करो।

(४) मिमेसिस (Mimesis)—'भाव-संचार'—का अर्थ उदाहरण देकर समझाओ।

(५) समूह का अंग होने पर व्यक्ति 'सहानुभूति' (Sympathy), 'निर्देश' (Suggestion) तथा 'अनुकरण' (Imitation) द्वारा समूह की 'इच्छा', 'विचार' तथा 'क्रिया' को अपना लेता है—इस कथन की व्याख्या करो।

(६) समह का अंग होने पर व्यक्ति अपनेपन को छोड़कर समूह के पीछे क्यों चल देता है—इसका ले बोन ने क्या समाधान दिया है ?

(७) समूह में व्यक्ति प्रायः बुरे काम ही क्यों करता है ?

(८) भीड़ (Crowd), समिति (Club) और समुदाय (Community) में क्या भेद है ?

(९) 'समूह का मानस' (Group-mind)—इसे समझाओ।

(१०) शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारी 'समूह-मानस' (Group-mind) का क्या उपयोग कर सकते हैं ?

(११) शिक्षा-संस्थाओं में आये-दिन हड़तालें हुआ करती हैं। इनका शिक्षक क्या उपाय कर सकता है ?

प्रारंभिक-मनोविज्ञान

[Principles of Elementary Psychology]

२२

'संवेदन' (भाव); 'उद्वेग'; 'स्थायी-भाव'
(FEELINGS, EMOTIONS, SENTIMENTS)

मनोविज्ञान का मुख्य विषय प्राणी के मानसिक-व्यापारों का अध्ययन करना है। मानसिक-व्यापार तीन प्रकार के माने जाते हैं। 'ज्ञान' (Knowing); 'इच्छा' वा 'संवेदन' (Feeling); 'कृति', 'व्यवसाय' वा 'प्रयत्न' (Willing)। संसार के पदार्थों को देखने, छूने, जानने, स्मरण रखने, उनका सम्बन्ध जोड़ने तथा उनकी कल्पना करने के सम्बन्ध में जो मानसिक-व्यापार होता है, वह सब 'ज्ञान' के अन्तर्गत है। उन पदार्थों के विषय में सुख, दुःख, भय, क्रोध, प्रेम, सन्तोष आदि का अनुभव 'संवेदन' कहा जाता है। मनुष्य के अनुभव में जो-कुछ आता है, उसे वह क्रिया में परिणत करने का इरादा करता है। ध्यान, इरादा, प्रयत्न 'कृति-शक्ति' में प्रविष्ट समझे जाते हैं। सब मानसिक-व्यापार इन तीनों के अन्दर आ जाते हैं, इनके बाहर कोई नहीं रहता।

मानसिक-व्यापारों के उक्त भेदों का यह मतलब नहीं कि मन की ये तीनों भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। मानसिक-व्यापार एक अभिन्न प्रक्रिया का नाम है। उक्त तीनों प्रकार के व्यापार उसमें मिले-जुले रहते हैं। 'ज्ञान' से संवेदन तथा कृति को जुदा नहीं किया जा सकता; 'संवेदन' में ज्ञान तथा कृति शामिल रहते हैं; 'कृति' में ज्ञान तथा संवेदन मौजूद हैं। परन्तु फिर भी हमारे मानसिक-व्यापार में किसी-न-किसी प्रक्रिया की प्रधानता रहती है, उसी के आधार पर हम उस व्यापार को 'ज्ञान', 'संवेदन' अथवा 'कृति' का नाम देते हैं। रास्ते चलते हमें चोट लग जाती है, हम गिर पड़ते हैं, अनेक तमाशबीन इकट्ठे हो जाते हैं। उस समय हमें चोट लगने का 'ज्ञान' तो है ही, दुःख हो रहा है, इसलिए हममें 'संवेदन' भी है, हम पाँव को जोर से हाथ में पकड़े बैठे हैं ताकि दर्द कम हो जाय,

इस दृष्टि से 'कृति' भी है, परन्तु इन तीनों में 'संवेदन' (Feeling) की प्रधानता है। तमाशबीन लोग सहानुभूति प्रकट कर रहे हैं, दर्द दूर करने के लिए कुछ करना भी चाहते हैं, परन्तु किसे चोट लगी, कैसे लगी, कहाँ लगी, इस प्रकार की कौतुक-पूर्ण जिज्ञासा की उनमें प्रबलता है, इसलिए तमाशबीनों का काम 'ज्ञान'-प्रधान (Knowing) कहा जा सकता है। अगर इस समय कोई चिकित्सक आ पहुँचे, और एकदम कपड़ा गीला कर प्रारम्भिक चिकित्सा शुरू कर दे, तो यह तो नहीं कहा जा सकेगा कि उसमें 'ज्ञान' तथा 'संवेदन' नहीं, परन्तु हाँ, इन दोनों की अपेक्षा उसमें 'कृति' अथवा 'प्रयत्न' (Willing) की प्रधानता अवश्य कही जायगी।

हम इस तथा अगले अध्याय में इन तीनों में से केवल 'संवेदन' (Feeling) पर और उसके साथ सम्बद्ध-विषय, 'उद्वेग' अथवा 'क्षोभ' (Emotion) तथा 'स्थायी-भाव' (Sentiment) और 'स्थायी-भाव' के साथ ही 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' (Self-regarding Sentiment) का मनोवैज्ञानिक वर्णन करेंगे। 'ज्ञान' (Knowing) तथा 'कृति' (Willing) का विस्तृत विवेचन अगले अध्यायों में किया जायेगा।

१. संवेदन (FEELING)

'संवेदन' के दो भेद—'इन्द्रिय-संवेदन' तथा 'भाव-संवेदन'—

प्रत्येक व्यक्ति सुख, दुःख, ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध आदि का अनुभव करता है। इन्हीं के अनुभव को 'संवेदन' कहते हैं। 'संवेदन' दो तरह का होता है। (१) 'इन्द्रिय-संवेदन' (Feeling as Sensation), तथा (२) 'भाव-संवेदन' (Feeling as Emotion)। मेरा हाथ दीवार से टकरा गया, मुझे दर्द हुई, यह 'इन्द्रिय-संवेदन' है; एक आदमी मेरी चुगली करता है, मुझे क्रोध आया, यह 'भाव-संवेदन' है। 'इन्द्रिय-संवेदन' जीवन में शुरू-शुरू में होने लगता है, 'भाव-संवेदन' बाद में बड़े होकर आता है; 'इन्द्रिय-संवेदन' में उत्तेजना बाहर से आती है, 'भाव-संवेदन' में उत्तेजना भीतर से आती है; 'इन्द्रिय-संवेदन' में अनुभव का शरीर से सम्बन्ध होता है, 'भाव-संवेदन' में अनुभव का मन से सम्बन्ध होता है; 'इन्द्रिय-

संवेदन' का सम्बन्ध शरीर के किसी एक हिस्से के साथ होता है, 'भाव-संवेदन' में सम्पूर्ण शरीर क्षुब्ध हो जाता है।

प्रारम्भ में 'इन्द्रिय-संवेदन' होता है—इसी को 'संवेदन' (Feeling) कहते हैं—

बालक का जब तक मानसिक-विकास नहीं होता, तब तक वह 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के ही आधीन रहता है, उसमें 'इन्द्रिय-संवेदन' (Sensuous Feeling) रहता है, 'भाव-संवेदन' नहीं उत्पन्न होता। उसे भूख लगी, वह रोने लगता है; पेट भर गया, फिर खेलने लगता है। किसी ने मारा, वह चिल्ला पड़ा; इतने में किसी ने मिठाई दे दी, वह रोना भूलकर खाने में जुट गया। 'इन्द्रिय-संवेदन' से आगे वह नहीं बढ़ता। बालक के 'इन्द्रिय-संवेदन' में अपनी ही चार विशेषताएँ रहती हैं :—

'इन्द्रिय-संवेदन' की चार विशेषताएँ—

(क) स्वार्थमयता—उसके संवेदन बहुत 'प्रारम्भिक-प्रकार' के होते हैं, 'स्वार्थमय' होते हैं। भूखे बालक को जब तक खाने को नहीं दिया जायेगा तब तक वह चीखता ही रहेगा, काबू में हरगिज़ नहीं आयगा। प्यास लगी है, तो जहाँ होगा वहीं शोर मचा देगा, इस बात की पर्वाह नहीं करेगा कि वहाँ शोर मचाना चाहिए या नहीं। क्रोध, आश्चर्य, भय, दुःख, ईर्ष्या आदि के संवेदन उसमें इस समय बहुत निचले दर्जे के होते हैं। वह पशु की सतह पर होता है, और इन वृत्तियों का सम्बन्ध उसके खाने-पीने तथा इसी प्रकार की बातों के साथ रहता है।

(ख) वर्तमानता—बालक की स्मृति तथा बुद्धि विकसित नहीं हुई होती, इसलिए वह भूत तथा भविष्यत् के विषय में तो सोच ही नहीं सकता। इसी लिए जो चीज़ उसके सामने होती है, उसी के साथ उसके 'संवेदन' का सम्बन्ध होता है। अगर उसके सामने बिल्ली है, तो वह डरता है; सामने नहीं है, तो जबतक उसमें कल्पना-शक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती, तबतक नहीं डरता।

(ग) तीव्रता—बालक का संवेदन 'तीव्र' होता है, जबतक उसका संवेदन रहता है, तब तक वह पूर्णतया उसके वशीभूत रहता है।

(घ) अस्थिरता—परन्तु तीव्र होते हुए भी वह देर तक नहीं रहता। तबतक उसमें स्मृति के द्वारा संवेदन करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हुई होती,

इसलिए जोर से रोता हुआ भी झट-से चुप भी हो जाता है। बालकों में आँसुओं-भरी आँखों के साथ हँसते हुए होठ अपूर्व घटना नहीं है।

२. 'उद्वेग' अथवा 'क्षोभ' (EMOTOIN)

बाद में 'भाव-संवेदन' आता है—इसी को 'उद्वेग' (Emotion) कहते हैं—

जब बालक का मानसिक-विकास होने लगता है, तब वह 'इन्द्रिय-संवेदन' (Feeling as Sensation) से ऊपर उठ जाता है; उसमें 'भाव-संवेदन' (Feeling as Emotion) प्रकट होने लगता है। अब खाने-पीने की बातों के साथ ही उसका सुख-दुःख नहीं जुड़ा रहता, कई 'भावों' के साथ भी उसमें नाना प्रकार के संवेदन उठने लगते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस समय बालक में 'उद्वेग'—'क्षोभ' (Emotion)—प्रकट होने लगता है। 'भाव-संवेदन' को 'उद्वेग' का ही दूसरा नाम कह सकते हैं। 'इन्द्रिय-संवेदन' बालक की प्रारम्भिक अवस्था में होता है; 'उद्वेग' उसमें तब प्रकट होने लगता है, जब उसका व्यवहार केवल 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) से ही नहीं चल रहा होता, अपितु उसमें 'विचार-शक्ति' भी उत्पन्न हो जाती है। पहले बालक माता से इस-लिए प्रेम करता है, क्योंकि वह उसे दूध देती है, अब वह उसे प्रेम करता-करता ऊँची भावनाओं के कारण प्रेम करना सीख गया है। पहला प्रेम 'इन्द्रिय-संवेदन' के दर्जे पर है; दूसरा प्रेम 'भाव-संवेदन' या 'उद्वेग' के दर्जे पर कहा जाता है। बालक में 'उद्वेग'—'क्षोभ' (Emotion) की अवस्था 'इन्द्रिय-संवेदन' (Sensuous Feeling) के बाद आती है।

'उद्वेगों' के भिन्न-भिन्न विभाग किए गए हैं। असल में इनका विभाग करना बहुत कठिन है। कई 'उद्वेग' एक-दूसरे से इतने मिलते हैं कि उनका निश्चित रूप ही ठीक नहीं समझ आता। मैक्डूगल ने प्राकृतिक-शक्तियों के प्रेरक के तौर से जो मुख्य १४ उद्वेग कहे हैं, उनका परिगणन हम पाँचवें अध्याय में कर आए हैं। उसका कथन है कि अन्य जो भी उद्वेग हैं, वे इन्हीं में से दो के, तीन के, या कइयों के सम्मिश्रण से बनते हैं, आधारभूत 'उद्वेग' वे ही १४ हैं, जो 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के साथ रहते हैं। इस विभाग के अतिरिक्त 'उद्वेगों' के निम्न तौर से भी विभाग किए जा सकते हैं :—

'उद्वेगों' का एक और वर्गीकरण—

पहला विभाग 'उद्वेगों' के स्वाभाविक-विकास को दृष्टि में रखकर किया जाता है। इस विभाग के अनुसार 'उद्वेग' पाँच प्रकार के हैं—(१) स्वार्थमय उद्वेग—भय, क्रोध, अभिमान आदि। (२) परार्थमय उद्वेग—प्रेम, सम्मान, सहानुभूति आदि। (३) ज्ञानात्मक उद्वेग—विद्यानुराग, सत्य-प्रेम आदि। (४) सौन्दर्यात्मक उद्वेग—सौन्दर्यानुराग आदि। (५) नैतिक उद्वेग—कर्तव्य-परायणता, ईश्वर-प्रेम आदि।

डा० भगवानदास तथा उद्वेगों का वर्गीकरण—

दूसरा विभाग डा० भगवानदास ने किया है। उनका कहना है कि मुख्य-उद्वेग दो हैं—राग तथा द्वेष। राग को प्रेम (Love) कहते हैं, द्वेष को घृणा (Hate)। प्रेम तथा घृणा अपने से बड़े, अपने बराबर वाले तथा अपने से छोटे के प्रति हो सकते हैं। अपने से बड़े के प्रति प्रेम को सम्मान, भक्ति, श्रद्धा, आदर कहते हैं; अपने बराबर वाले से प्रेम को मित्रता, काम-भाव, प्रेम कहते हैं; अपने से छोटों के प्रति प्रेम को दया, सहानुभूति आदि कहते हैं; इसी प्रकार अपने से बड़े के प्रति घृणा को भय, घबराहट, डरपोकपन कहते हैं; अपने बराबरवाले से घृणा को क्रोध, वैर-भाव कहते हैं; अपने से छोटे के प्रति घृणा को अभिमान कहते हैं। कई 'उद्वेग' भिन्न-भिन्न उद्वेगों से मिलकर भी बनते हैं।

'उद्वेगों' की क्या विशेषताएँ हैं? ड्रेवर ने 'उद्वेग' के सम्बन्ध में पाँच विशेषताओं का प्रतिपादन किया है—

'उद्वेगों' की पाँच विशेषताएँ—

(क) *संवेदनात्मक-सम्बन्ध*—जिस व्यक्ति अथवा विचार के विषय में हमारे अन्दर 'उद्वेग' उत्पन्न हुआ है, उसके साथ हमारा 'संवेदनात्मक' (Feeling) सम्बन्ध होना चाहिए। उदाहरणार्थ, मट्टी के सम्बन्ध में हमारे भीतर कोई उद्वेग नहीं उठता, क्योंकि मट्टी से हमारा संवेदनात्मक कोई सम्बन्ध नहीं। अगर वही अपने देश की मिट्टी एक डिबिया में भरकर हमें विदेश बैठे कोई भेज दे, तो उसे देखकर उद्वेगों की बाढ़ आ जाती है। उस समय उस मट्टी को देखकर अपने देश की स्मृति ताज़ी हो

जाती है, और उसके साथ हमारा 'संवेदनात्मक'-सम्बन्ध हो जाता है, इसलिए वह 'उद्वेग' को उत्पन्न कर देती है।

(ख) बाहरी तथा भीतरी परिवर्तन—'उद्वेग' अथवा 'क्षोभ' के समय शरीर में बाहरी तथा भीतरी कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। भय के समय रोंगटे खड़े हो जाना, काँपना; क्रोध में लाल मुंह हो जाना, होठों का फड़कना; प्रसन्नता में चेहरे का खिल जाना आदि क्षोभ के बाह्य-परिवर्तन दिखाई देते हैं। भीतरी परिवर्तनों को देखने के लिए अनेक परीक्षण किए गए हैं। कैनन ने बिल्ली को भोजन कराकर उस पर 'ऐक्स-रे' के परीक्षण किए। बिल्ली का भोजन पेट में पच रहा था, पाचक-रस निकल रहा था, इतने में एक कुत्ते को लाया गया, उसने बिल्ली को देखते ही भौंकना शुरू किया, और बिल्ली डर गई। इस डर का यह परिणाम हुआ कि पेट ने पाचक-रस निकालना बन्द कर दिया, और पेट की सब गतियाँ बन्द हो गईं। कुत्ते के चले जाने के भी १५ मिनट बाद तक बिल्ली की यही हालत रही। तभी 'उद्वेग' या 'क्षोभ' के समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक मनुष्य अपने को ठीक स्थिति में नहीं ला सकता। दफ़्तर में डाँट सुनकर कई लोग जब घर लौटते हैं, तो बच्चों को बिना बात के पीटने लगते हैं। डाँट खत्म हो गई, परन्तु उसका असर अभी तक बना रहता है। भय तथा क्रोध के समय भोजन की सम्पूर्ण आन्तरिक-प्रक्रिया बन्द हो जाती है। इन 'उद्वेगों' का शरीर के अन्य ग्रन्थि-रसों पर भी प्रभाव पड़ता है। दुःख के समय आँसू झरने लगते हैं, क्रोध में पसीना आने लगता है, भय के समय मुंह सूख जाता है, पेट में पाचक-रस निकलना बन्द हो जाता है। ये दृष्टान्त 'प्रणालिका-युक्त ग्रन्थियों' (Glands with Ducts) के हैं। इनके अतिरिक्त शरीर में कई ग्रन्थियाँ ऐसी हैं, जिन्हें 'प्रणालिका-रहित-ग्रन्थि' (Ductless Glands) कहते हैं। उन ग्रन्थियों से जो रस निकलता है, वह किसी प्रणालिका द्वारा शरीर के एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं पहुँचता, बिना प्रणालिका के ही सीधा रुधिर में जा मिलता है। ग्रन्थियों के रस को 'हॉरमोन' (Hormones) कहते हैं। ये 'हॉरमोन' शरीर को शक्ति देते हैं। गले की 'थायराइड'-ग्रन्थि से 'थायरेक्सीन' निकलती है। यह रस पूरी तरह न निकले तो बालक के शरीर का पूरा

विकास नहीं हो पाता, वह मन्द-बुद्धि हो जाता है। जिस बालक में 'थायराइड'-ग्रन्थि का ठीक विकास न हो उसे कृत्रिम तौर पर 'थायरेक्सीन' दी जाती है, और यह कमी पूरी हो जाती है। गुर्दे के पास दो 'प्रणालिका-रहित' ग्रन्थियाँ होती हैं, जिन्हें 'ऐड्रेनल्स' कहते हैं। क्रोध तथा भय के समय इनमें से एक 'हॉरमोन' निकलने लगता है, जिसे 'ऐड्रिनेलीन' कहते हैं। 'ऐड्रिनेलीन' से हृदय शीघ्र गति करने लगता है, रुधिर तेज़ चलने लगता है, और साँस का वेग बढ़ जाता है, जो व्यक्ति दो कदम भी नहीं चल सकता है, वह 'ऐड्रिनेलीन'-रस अधिक निकलने पर छलांगें मारने लगता है। भिन्न-भिन्न उद्वेगों में शरीर के बाहरी अंगों में तो परिवर्तन होता ही है, हम हँसते हैं, रोते हैं, भागते हैं, परन्तु साथ-साथ भिन्न-भिन्न भीतरी भागों पर भी असर पड़ता है, भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों (Glands) से भिन्न-भिन्न रस निकलने लगते हैं। इन ग्रन्थियों का वर्णन इसी पुस्तक के २६२ पृष्ठ पर किया जा चुका है। अगर इन ग्रन्थियों के रसों को सूचि-यंत्र (इंजेक्शन) द्वारा शरीर में पहुँचा दिया जाय, तो भी बिना कारण ही भिन्न-भिन्न 'उद्वेग' उत्पन्न होने लगते हैं।

'उद्वेगों' के समय इन परिवर्तनों को देखकर जेम्स ने अपना एक सिद्धान्त स्थिर किया था, जिसे 'जेम्स-लैंग सिद्धान्त' (James-Lange Theory) का नाम दिया गया है। जेम्स तथा लैंग ने स्वतंत्र रूप से इस सिद्धान्त को क्रमशः १८८४ तथा १८८५ में निकाला था। जेम्स का कहना यह है कि 'उद्वेग' का कारण, उद्वेग के समय शरीर में जो भीतरी तथा बाहरी क्षुब्ध करने वाले परिवर्तन हो जाते हैं, वे हैं। शेर को सामने देखकर शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, पसीना छूटने लगता है। हमारा डरना शेर को देखकर नहीं होता, शरीर के रोंगटों के खड़े होने तथा पसीना छूटने को हम 'डरना' कहते हैं। साधारण विचार तो यह है कि शेर को देखकर हम डरे, डर से शरीर के रोंगटे खड़े हुए; 'जेम्स-लैंग-सिद्धान्त' यह है कि शेर को देखकर शरीर के रोंगटे खड़े हुए और रोंगटों को अनुभव करने से भय उत्पन्न हुआ। जेम्स का सिद्धान्त प्रचलित विचार से उल्टा है। उसका कहना है कि इस सिद्धान्त का शिक्षा में बहुत उपयोग है। अगर हम 'उद्वेगों' से उत्पन्न होने वाले शारीरिक-परिवर्तनों को न होने दें, तो 'उद्वेग' क़ाबू में

आ सकते हैं। क्रोध के समय जो शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं, उन्हें कोई रोक ले, तो वह क्रोध को रोक लेगा; भय के समय के शारीरिक-परिवर्तनों को वश में कर लेने से भय उत्पन्न नहीं होगा।

जेम्स के कथन को अगर यह रूप दे दिया जाय कि 'उद्वेगों' के एकदम साथ शारीरिक-परिवर्तन होते हैं, तो यह सिद्धान्त अधिक युक्तियुक्त हो जाता है। यह कहना कि शारीरिक-परिवर्तन पहले होते हैं, और उद्वेग फिर उत्पन्न होता है, व्यवहार-वाद (Behaviourism) की चरम सीमा है। सब परीक्षणों में यही देखा गया है कि क्रोध तथा भय के साथ-ही-साथ भीतरी तथा बाहरी परिवर्तन होने प्रारम्भ हो जाते हैं।

(ग) *प्रेम अथवा घृणा का भाव*—'उद्वेग' के प्रत्येक अनुभव में सुख या दुःख का भाव छिपा रहता है। हम किसी से प्रेम इसलिए करते हैं क्योंकि उसकी तह में सुख का भाव छिपा होता है; घृणा इसलिए करते हैं क्योंकि उस व्यक्ति अथवा पदार्थ से दुःख का कोई सम्बन्ध होता या हो सकता है।

(घ) *तीव्रता*—'उद्वेग' में विचार-शक्ति काम नहीं कर रही होती, इसलिए वह तीव्र होता है।

(ङ) *विचार का न होना*—'उद्वेग' के समय विचार-शक्ति नहीं रहती, इसलिए भिन्न-भिन्न मार्गों में से किसी एक का चुनाव भी इसमें नहीं होता। क्रोध की अवस्था में मनुष्य यह नहीं सोच सकता कि इस बात का निपटारा फिर कर लूँगा, किसी को बीच में डाल कर इस समस्या को हल करूँगा, इत्यादि। वह 'उद्वेग' में, जो विचार सामने आ जाता है, वही कर डालता है।

शिक्षा की दृष्टि से 'उद्वेगों' का महत्त्व—

शिक्षा की दृष्टि से 'उद्वेगों' का बड़ा महत्त्व है। ये जीवन में कार्य-शक्ति का संचार करते हैं। मनुष्य जितना ही 'उद्वेग' के निकट पहुँचता है, उतना ही संकल्प को क्रिया में परिणत करने के नजदीक पहुँच जाता है। जिन लोगों ने बड़े-बड़े काम किए हैं, उनकी कृतकार्यता का स्रोत कोई-न-कोई 'उद्वेग' रहा है। 'उद्वेगों' को जीवन में से निकाल देना 'प्रेरणा-शक्ति' को नष्ट कर देना है। प्रचलित-शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध यह ठीक

आक्षेप किया जाता है कि इसमें पढ़ाई-लिखाई बहुत है, परन्तु बालक के 'उद्वेगों' के विकास तथा संगठन पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। हमारे बालक शारीरिक उद्योग को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, पढ़ने-लिखने के बाद माता-पिता की उपेक्षा करने लगते हैं, देश के प्रति उदासीन रहते हैं, यह अवस्था शोचनीय है, और इसलिए होती है, क्योंकि जिस बात के लिए उनके हृदय में 'उद्वेग' नहीं होगा उसे करने के लिए उनमें तीव्रता भी नहीं आ सकती।

३. 'स्थायी-भाव' का निर्माण (GROWTH OF SENTIMENTS)

'उद्वेग' तथा 'स्थायी-भाव' में भेद—'स्थायी-भाव' का विकास—

पहले 'उद्वेग' (Emotion) तथा 'स्थायी-भाव' (Sentiment) में कोई भेद नहीं समझा जाता था। मनोवैज्ञानिक लोग 'स्थायी-भाव' को 'उद्वेग' ही कहते थे। शैंड ने पहले-पहल 'उद्वेग' तथा 'स्थायी-भाव' में भेद किया। प्रेम, द्वेष, लज्जा आदि 'उद्वेग' (Emotions) हैं, परन्तु जब ये 'उद्वेग' किसी वस्तु, किसी व्यक्ति, किसी विचार, भाव अथवा आदर्श के साथ स्थायी रूप से जुड़ जाते हैं, तब इन्हें 'स्थायी-भाव' (Sentiments) कहा जाता है। बच्चे को माता से प्रेम है क्योंकि वह उसे दूध पिलाती है। अभी यह भाव 'उद्वेग' के दर्जे पर नहीं आया। वह कुछ बड़ा होता है, दूध पीना छोड़ देता है, परन्तु माता-पिता के बिना नहीं रह सकता। इस समय उसमें 'उद्वेग' उत्पन्न हो गया है। वह 'उद्वेग' बढ़ता जाता है, रोज़ के अभ्यास से दृढ़ हो जाता है। 'स्थायी-भाव' के उत्पन्न होने में पहली बात यह है कि वह एक ही 'उद्वेग' के किसी वस्तु या व्यक्ति के साथ बार-बार जुड़ते रहने से उत्पन्न हो सकता है। बालक कॉलेज में पढ़ने योग्य हो गया। वह दूर किसी शहर के कॉलेज में दाखिल हो जाता है। वहाँ बैठे एक दिन संध्या के समय उसे अपनी माँ की याद आ जाती है, उसकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़ते हैं। यह 'स्थायी-भाव' के कारण है। परन्तु बालक का अपनी माता के विषय में जो 'स्थायी-भाव' उत्पन्न हो गया है, उसमें प्रेम का बार-बार का अनुभव ही कारण नहीं है। माता के प्रति उस प्रेम में अन्य भी कई 'उद्वेग' शुरू से ही जुड़ते गए हैं। जब वह छोटा

था, तो माँ उसकी रक्षा करती थी, इसलिए बच्चा उसके प्रति 'कृतज्ञता' का भाव अनुभव करता था; उस समय माँ उसकी तारीफ़ करती थी, इसलिए उसमें 'आत्माभिमान' उत्पन्न होता था। ये सब 'उद्वेग' धीरे-धीरे जुड़ते चले गए, संगठित होते गए, एक ही दिशा में बढ़ते गए, और कई वर्षों के बाद 'प्रेम', 'कृतज्ञता', 'आत्माभिमान' तथा 'सहानुभूति' के उद्वेगों ने मिलकर पुत्र में माता के प्रति प्रेम के 'स्थायी-भाव' को उत्पन्न कर दिया। यह 'स्थायी-भावों' के उत्पन्न होने में दूसरी बात है। इसका मतलब यह नहीं कि प्रत्येक 'स्थायी-भाव' में कई 'उद्वेग' संगठित रूप से अवश्य ही पाये जायेंगे, हो सकता है कि एक ही 'उद्वेग' बार-बार के अनुभव से 'स्थायी-भाव' बन जाय। 'स्थायी-भाव' तब उत्पन्न होता है, जब 'उद्वेग' किसी वस्तु, व्यक्ति, अथवा विचार के इर्द-गिर्द इकला या अन्य 'उद्वेगों' के साथ मिलकर संगठित हो जाता है। एक बालक को अपने जन्म के मकान के साथ विशेष प्रेम हो जाता है, दूसरे को उसी मकान के साथ घृणा का भाव भी हो सकता है, तीसरे को उसके प्रति कोई भाव नहीं होता। बालक को किसी ख़ास शिक्षक के प्रति प्रेम हो सकता है, भय हो सकता है, घृणा भी हो सकती है। इसी प्रकार सफ़ाई, सादगी, न्याय, सच्चाई आदि के लिए बालकों में प्रेम, श्रद्धा आदि उत्पन्न हो सकते हैं। 'स्थायी-भावों' की रचना में तीसरी बात यह है कि वे जन्म से नहीं आते। जन्म से तो 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) आती हैं, और शुरू-शुरू में बालक का सारा व्यवहार उन्हीं के आधीन रहता है। परन्तु बालक के मानसिक-विकास के हो जाने पर उसका व्यवहार 'प्राकृतिक-शक्तियों' के आधीन नहीं रहता, तब उसका व्यवहार 'स्थायी-भावों' के आधीन हो जाता है। 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' 'मानसिक-रचना' (Mental Structure) का हिस्सा होती हैं, उसकी बनावट में ओत-प्रोत होती हैं, इसलिए बालक को अपने वश में रखती हैं; इसी प्रकार मनुष्य में 'स्थायी-भाव' भी उसकी 'मानसिक-रचना' के अभिन्न अवयव बन जाते हैं, उसकी बनावट में ओत-प्रोत हो जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि जैसे बचपन में हम 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के आधीन थे, वैसे बड़े होकर 'स्थायी-भावों' (Sentiments) के आधीन हो जाते हैं।

'स्थायी-भाव' के निर्माण में क्रम—

'स्थायी-भावों' का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है? 'संवेदन' के प्रकरण में हमने कहा था कि संवेदन दो प्रकार का होता है—'इन्द्रिय-संवेदन' तथा 'भाव-संवेदन'। शुरू-शुरू में बालक उन्हीं पदार्थों के विषय में संवेदन कर सकता है, जो इन्द्रिय-ग्राह्य हैं, स्थूल हैं, देखे तथा स्पर्श किए जा सकते हैं। यह मानसिक-विकास की पहली अवस्था है। इसमें पदार्थ का होना जरूरी है। इस अवस्था तक 'स्थायी-भाव' की उत्पत्ति नहीं होती। मानसिक-विकास की दूसरी सीढ़ी 'भाव-संवेदन' है। इसमें स्थूल-विषय के सामने न रहते हुए भी उस वस्तु का विचार ही प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होता है। 'भाव-संवेदन' मानसिक-विकास की दूसरी अवस्था है, और यह अवस्था पहली अवस्था के बाद आती है, और उससे ऊँची है। मानसिक-विकास की इस अवस्था के बाद ही तीसरी अवस्था में 'स्थायी-भाव' उत्पन्न होता है, पहली और दूसरी अवस्था में नहीं। तीसरी अवस्था के बाद मानसिक-विकास की चौथी अवस्था 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' (Self-regarding Sentiment) की आती है, जिससे बालक का 'व्यक्तित्व' (Personality) बनता है। इसका वर्णन हम कुछ देर बाद करेंगे।

'स्थायी-भावों' के निर्माण में निम्न दो बातें होती हैं :—

वस्तु या विचार की स्पष्टता—

(क) क्योंकि मानसिक-विकास की दूसरी सीढ़ी पर ही 'स्थायी-भाव' उत्पन्न हो सकता है, इसलिए 'स्थायी-भाव' के निर्माण में पहली बात यह है कि मनुष्य में पदार्थ को समझने की शक्ति हो जाय, उसका पदार्थ के विषय में ज्ञान कहने-सुनने से ही प्राप्त न हुआ हो, परन्तु वह उसे देख चुका हो, समझ चुका हो, खूब अच्छी तरह से जान-बूझ चुका हो। अगर ठीक तरह से जाना-बूझा न होगा, तो 'स्थायी-भाव' किस चीज के प्रति होगा? अज्ञात या अस्पष्ट-ज्ञात वस्तु के प्रति 'स्थायी-भाव' नहीं होता।

वस्तु या विचार के साथ उद्वेगात्मक सम्बन्ध—

(ख) उस पदार्थ के इर्द-गिर्द किसी एक अथवा अनेक 'उद्वेगों' (Emotions) का संगठन होना भी आवश्यक है। अगर किसी पदार्थ

के विषय में ज्ञान पूरी तरह से हो गया है, परन्तु उसके साथ हमारा कोई उद्वेगात्मक संबंध नहीं हुआ, तो उस पदार्थ के विषय में हममें कोई 'स्थायी-भाव' नहीं होगा। 'स्थायी-भाव' बड़ी भारी मानसिक-शक्ति है। जिस बात के विषय में 'स्थायी-भाव' बन जाता है, वह कितनी ही छोटी हो, जीवन को मानो घेर लेती है। इसलिए शिक्षक का यह कर्तव्य है कि बालकों के 'स्थायी-भावों' को 'भावात्मक-विचारों' के साथ जोड़ने का प्रयत्न करे। उदाहरणार्थ, न्याय, सत्य, ईमानदारी आदि 'भावात्मक-विचार' हैं। अगर इन विचारों के साथ बालक में 'स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाँय, तो जीवन में वह न्याय से प्रेम करने वाला, सत्य पर दृढ़ रहने वाला तथा ईमानदार आदमी बन जायगा, इसके विपरीत अगर इन विचारों के साथ कोई 'स्थायी-भाव' न हो, तो न्याय के मौक़े पर वह अन्याय कर बैठेगा, सत्य बोलने के स्थान पर झूठ बोलने से न झिझकेगा।

शिक्षक बालक में 'स्थायी-भाव' कैसे उत्पन्न करे ?—

परन्तु प्रश्न यह है कि इन सूक्ष्म विचारों के साथ 'स्थायी-भाव' किस प्रकार उत्पन्न किए जाँय ? बालकों को शिक्षा देने वाले जानते हैं कि स्थूल पदार्थों के साथ उनके 'स्थायी-भावों' को आसानी से उत्पन्न किया जा सकता है। संसार का नियम ही स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़ जाना है। शिक्षक बड़ी आसानी से स्थूल पदार्थों के साथ बालक के 'स्थायी-भावों' को उत्पन्न कर सकता है। जब उनके साथ बालकों के 'स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाँय, तो उन्हें स्थूल से सूक्ष्म भावों के साथ जोड़ देने का ही काम रह जाता है। 'स्थायी-भाव' को पहले 'विशेष' से जोड़ा जाता है, फिर 'सामान्य' से, और उसके बाद 'भावात्मक-विचार' से। उदाहरणार्थ, हमने बालकों के हृदय में 'सत्य' के प्रति 'स्थायी-भाव' को उत्पन्न करना है। इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उन्हें राजा हरिश्चन्द्र की कहानी सुनाई जाय। वे कहानी के हरिश्चन्द्र से प्रेम करने लगेंगे, ऐसे हरिश्चन्द्र से जो सच्चा था, जिसने सच के लिए अपने राज तक को ठुकरा दिया। इसके बाद वे उन सब से प्रेम करने लगेंगे जो हरिश्चन्द्र-सरीखे सत्यवादी हों, धार्मिक हों। जब हरिश्चन्द्र तथा उस-सरीखे अन्य सत्यवादियों के विषय में बालकों का 'स्थायी-भाव' बन जाय, तब शिक्षक कह सकता है, आखिर, हरिश्चन्द्र

तथा उस-सरीखे दूसरे महापुरुष इसी लिए तो इतने महान् थे क्योंकि वे 'सत्य' पर दृढ़ रहे। इस प्रक्रिया से बालकों में 'सत्य' के 'भावात्मक-विचार' के लिए श्रद्धा, प्रेम आदि 'स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाते हैं। यह प्रक्रिया खुद-ब-खुद, रोज़, हमारे जीवन में काम करती हुई दीख भी पड़ती है। एक अध्यापक बालक को पीटता है, बालक को अध्यापक से घृणा उत्पन्न हो जाती है। अध्यापक पढ़ाता तो अच्छा है, परन्तु वह घृणा उसके विषय के साथ भी हो जाती है, जिसे वह अध्यापक पढ़ाता है। बढ़ते-बढ़ते कई बार उस स्कूल के प्रति भी घृणा हो जाती है, जिसमें वह अध्यापक था। स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़ मन अपने-आप जाता रहता है। मन की इस प्रक्रिया का शिक्षक को लाभ उठाना चाहिए और इतिहास, भूगोल, साहित्य आदि विषयों को पढ़ाते हुए देश-भक्ति, न्याय, सेवा, समाज-सुधार आदि बातों के लिए उसमें 'स्थायी-भाव' उत्पन्न करते रहना चाहिए।

'स्थायी-भाव' तथा 'आदत' में भेद—

'स्थायी-भाव' तथा 'आदत' में भेद है। एक बालक को लोटा साफ़ रखने की आदत है। वह लोटे को खूब माँजता है, परन्तु यह जरूरी नहीं कि लोटा साफ़ रखने की आदत के कारण उसमें सफ़ाई की भी आदत हो, वह हर-एक वस्तु को सफ़ा रखे। सफ़ाई की आदत तब पड़ती है, जब सफ़ाई के साथ बालक के हृदय में 'स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से शिक्षक का कर्त्तव्य है कि 'आदत' तथा 'स्थायी-भाव' में भेद करे, और बालक में किसी बात के लिए 'आदत' डालने के बजाय उस बात के लिए 'स्थायी-भाव' उत्पन्न करे।

प्रश्न

(१) इच्छा, ज्ञान, कृति का वर्णन करते हुए यह बतलाओ कि प्रत्येक में तीनों रहती हैं।

(२) 'इन्द्रिय-संवेदन' (Feeling) क्या है ? इसकी चार विशेषताएँ क्या हैं ?

(३) 'इन्द्रिय-संवेदन' (Feeling) और 'भाव-संवेदन' अर्थात् 'उद्वेग' (Emotion) में क्या भेद है ?

(४) 'उद्वेगों' (Emotions) के क्या-क्या वर्गीकरण किए गए हैं ?

(५) 'उद्वेगों' की पाँच विशेषताएँ क्या हैं ?

(६) जेम्स-लैंग-वाद (James-Lange Theory) क्या है ? शिक्षा में इसकी क्या उपयोगिता है ?

(७) 'स्थायी-भाव' (Sentiment) तथा 'उद्वेग' (Emotion) में क्या भेद है ?

(८) 'स्थायी-भाव' (Sentiment) का निर्माण कैसे होता है ? 'इन्द्रिय-संवेदन' (Feeling) से प्रारम्भ करके 'स्थायी-भाव' बनने तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन करो।

(९) 'स्थायी-भावों' के निर्माण के लिए किन ऐसी बातों का होना आवश्यक है कि जिनके बिना स्थायी-भाव बन ही नहीं सकता ?

(१०) शिक्षक बालक में स्थायी-भावों का निर्माण कैसे कर सकता है ?

२३

'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव'
(SELF-REGARDING SENTIMENT)

मानसिक-रचना 'सुसंगठित' (Integrated) है, 'असंगठित' (Un-integrated) नहीं—

जैसे बीज से अंकुर फूटता है, अंकुर से तना, तने से शाखा, शाखा से पत्ती, और सुसंगठित वृक्ष खड़ा हो जाता है—हर-एक अंग का दूसरे-से ठीक-ठीक सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, जैसे मनके एक सूत्र में पिरोये होते हैं, उनके मिलने से माला बन जाती है, वैसे ही मनुष्य के मन में हर-एक विचार, हर-एक भावना सुसंगठित है, एक-दूसरे से पिरोई हुई है, गुंथी हुई है, यों ही बिखरी नहीं पड़ी। अगर कोई विचार या भावना, हम जो कुछ हैं, उससे मेल नहीं खाती, तो वह पैर में चुभे काँटे की तरह चुभती रहती है, अखरती है, और जब तक हम उसे आत्मसात् नहीं कर लेते तब तक वह हमें बेचैन बनाये रखती है। यह प्रक्रिया 'स्थायी-भाव' (Sentiments) के सम्बन्ध में भी होती है। हमारे 'स्थायी-भाव' मन में बिखरे हुए, असम्बद्ध, विषम-रूप में नहीं पड़े रहते, उनका आपस में सम्बन्ध जुड़ता रहता है, 'संगठन' (Integration) होता रहता है। 'स्थायी-भावों' (Sentiments) के इसी संगठन की प्रक्रिया का हम इस अध्याय में वर्णन करेंगे।

'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' के निर्माण का क्रम—

हम पिछले अध्याय में 'संवेदन' (Feeling), 'उद्वेग' (Emotion) तथा 'स्थायी-भाव' (Sentiment) का वर्णन कर चुके हैं। हमने देखा कि 'संवेदन' (Feeling) तथा 'उद्वेग' (Emotion) कभी-कभी स्थूल पदार्थ के साथ अपने को जोड़ लेते हैं, और उस पदार्थ के साथ हमारे भीतर

'स्थायी-भाव' (Sentiment) उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी स्थूल पदार्थ की अनुपस्थिति में भी 'संवेदन' (Feeling) या 'उद्वेग' (Emotion) किसी सूक्ष्म भाव या विचार के साथ जुड़ जाते हैं, और उस भाव या विचार के लिए हमारे भीतर 'स्थायी-भाव' (Sentiment) उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ, हम बहुत अच्छे खिलाड़ी हैं। खेल के साथ हमारा 'स्थायी-भाव' (Sentiment) बन चुका है। हम पढ़ते हैं, तो खेल-विषयक समाचारों की 'जिज्ञासा' के लिए; किसी की प्रशंसा करते हैं, तो खिलाड़ियों की; सहानुभूति प्रकट करते हैं, तो अच्छा खेलने परन्तु फिर भी हार जाने वालों के साथ। हमारी सम्पूर्ण मानसिक-रचना, हमारे सम्पूर्ण भाव तथा 'उद्वेग' खेल ही के आस-पास चक्कर काटते हैं। हम उसी के लिए मानो रह गए हैं, उसी के साथ हमारा मानस 'संगठित' (Integrated) हो गया है, और किसी चीज़ के लिए नहीं। इसी प्रकार ऐसा भी हो सकता है कि एक दूसरे व्यक्ति के जीवन में अन्य ही कोई 'स्थायी-भाव' बना हुआ है, और उसकी एक-एक क्रिया उसी 'स्थायी-भाव' से चलती है। जीवन में एक नहीं, कई 'स्थायी-भाव' हो सकते हैं। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब मानस में प्रत्येक वस्तु संगठित है, तागे में मनके की तरह पिरोई हुई है, तो क्या इन 'स्थायी-भावों' का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है? इन्हें आपस में जोड़ने वाला कोई इनसे भी बड़ा भाव क्या हममें नहीं है? हमने 'प्राकृतिक-शक्तियों' के अध्याय को प्रारम्भ करते हुए कहा था कि आधार-भूत 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' तीन हैं—'नेमें', 'हौर्मे' तथा 'कोहीयन'। मानसिक-प्रक्रिया में इन तीनों में से 'कोहीयन'—अर्थात् 'सम्बन्ध-शक्ति' बड़े महत्त्व की है। बिना सम्बन्ध स्थापित किये हुए मन में कुछ नहीं टिकता। 'कोहीयन', अर्थात् 'सम्बन्ध' स्थापित होने से ही तो मन में 'सुसंगठन', (Integration) होता है। 'स्थायी-भाव' भी तो तभी पैदा होता है, जब 'उद्वेग' का किसी वस्तु, व्यक्ति या विचार के साथ 'कोहीयन', अर्थात् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वे आपस में स्थायी-रूप से 'संगठित' (Integrated) हो जाते, जुड़ जाते हैं। तो, हमारे भिन्न-भिन्न 'स्थायी-भावों' को आपस में जोड़ने वाला, 'कोहीयन'—सम्बन्ध—स्थापित करने वाला सूत्र कौन-सा है? 'स्थायी-भाव' (Sentiment) तो भिन्न-भिन्न

'उद्वेगों' (Emotions) के वस्तु, व्यक्ति या विचारों के साथ जुड़ जाने से बनता है, उनका राजा है, प्रश्न यह है कि भिन्न-भिन्न 'स्थायी-भावों' को कौन जोड़ता है, इनका कौन राजा है ? बस, बालक में 'स्थायी-भावों' के भी सूत्र, इनके भी राजा, इनके भी 'शासक-भाव' का उत्पन्न हो जाना ही मानसिक-विकास की अन्तिम सीढ़ी है।

'स्व' के साथ 'स्थायी-भाव' का जुड़ना—

यह 'शासक स्थायी-भाव' कैसे उत्पन्न होता है ? पहले कहा जा चुका है कि जब 'उद्वेग' किसी 'विषय' के साथ जुड़ जाते हैं, तब 'स्थायी-भाव' उत्पन्न होता है। इस 'शासक-स्थायी-भाव' (Master-Sentiment) को उत्पन्न करने के लिए भी 'स्थायी-भावों' को किसी ऐसे ही 'विषय' के साथ जुड़ना होगा। वह विषय 'स्व' (Self) है। 'स्व' का अर्थ है, अपना 'आत्मा', 'मैं', 'मेरा व्यक्तित्व'। मैक्डूगल का कहना है कि 'स्व' के साथ, 'आत्मा' के साथ, 'अपने' साथ जब 'स्थायी-भाव' जुड़ जाते हैं, तो 'स्थायी-भावों' का राजा 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' (Self-regarding Sentiment) उत्पन्न हो जाता है, और तब से मनुष्य के प्रत्येक व्यवहार का शासक यही भाव बन जाता है, उसमें 'व्यक्तित्व' (Personality) अभिव्यक्त हो जाता है।

अपने नहीं, परन्तु दूसरों के माप-दण्ड से अपने को परखना—

परन्तु 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' कैसे उत्पन्न होता है ? हमने अभी कहा कि 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' की रचना में 'स्व' आधार बनता है, उसके चारों तरफ़ 'स्थायी-भाव' जुड़ने लगते हैं। परन्तु 'स्व' का ज्ञान बालक को कैसे होता है ? बालक अपने चारों तरफ़ अनेक चीज़ें देखता है। वह ख़ुद देखता, सुनता और बोलता है। शुरू-शुरू में वह समझता है कि ये पदार्थ भी उसी की तरह देखते-सुनते वा बोलते हैं। उसे अपने 'व्यक्तित्व' का पृथक् बोध नहीं होता। वह बैठा-बैठा अपने खिलौनों के साथ घंटों बातें किया करता है। परन्तु धीरे-धीरे उसे ज्ञान होने लगता है कि खिलौना उससे बातें नहीं करता, वह यों ही पड़ा रहता है। इसके विपरीत वह देखता है कि उसकी परिस्थिति में कई ऐसे व्यक्ति हैं, जो उसी की तरह बात करते हैं। इस भेद को देखकर उसके भीतर जड़-

चेतन का ज्ञान, जो पहले नहीं होता, उत्पन्न हो जाता है। पहले वह खिलौनों को भी अपने सरीखा समझता था, अब वह सिर्फ़ चलने, फिरने, बोलने वालों को ही अपने-सरीखा समझने लगता है। उसके ज्ञान की यह पहली अवस्था होती है। जड़-चेतन का तो वह भेद सीख गया, परन्तु चेतनों में अभी तक वह अपने तथा दूसरों में भेद करना नहीं सीखा होता। दूसरी अवस्था में वह इस भेद को सीख जाता है। वह देखता है कि उसकी माँ उसे पुचकारती है, उसका पिता उसे चीजें लाकर देता है। बालक भी अपने से छोटे बच्चे को पुचकारने लगता है, उसे चीजें लाकर देता है। माता-पिता उस के प्रति जैसा व्यवहार करते हैं, अपने से छोटों के प्रति वह भी वैसा व्यवहार करने लगता है। इस अवस्था में चेतन-जगत् के सम्बन्ध में भी उसके मन में 'स्व'-'पर' का भाव उत्पन्न हो जाता है। वह अपने-आपको 'स्व' समझने लगता है, दूसरों को 'पर', तभी तो वह अपने से छोटों के साथ वैसा व्यवहार करता है, जैसा माता-पिता उसके साथ करते हैं। जब बालक में 'स्व' का, अपने 'व्यक्तित्व' का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब इसके साथ 'स्थायी-भाव' जुड़ने लगते हैं, और 'स्व' के ज्ञान के विकास के साथ-साथ 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' का धीरे-धीरे निर्माण होने लगता है। 'स्व' के साथ 'आत्म-सम्मान' का 'स्थायी-भाव' कैसे जुड़ता है ? 'स्व' अपने-आपको दो भागों में बाँट लेता है—'द्रष्टा' (I), और 'दृश्य' (Me)। पहले वह 'द्रष्टा' (I) के रूप में हर-एक चीज को देखता है, और अपनी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को अच्छा या बुरा कहता है। परन्तु सामाजिक-व्यवहार से उसे अनुभव होने लगता है कि दूसरे भी उसके विषय में अपने विचार रखते हैं, उसके व्यवहार के अच्छा या बुरा होने के विषय में अपना निर्णय देते हैं। पहले तो वह अपने निर्णय ही सबसे मनवाना चाहता है। जिसे वह ठीक कहे वह ठीक, जिसे वह बुरा कहे वह बुरा। परन्तु यह बात कितनी देर तक चल सकती है ! धीरे-धीरे वह देख लेता है कि दुनिया उसके पीछे नहीं चलेगी, उसे दुनिया के पीछे चलना होगा—इसी में उसका भला है।

दूसरों की इस दृष्टि के सम्मुख अब वह इच्छापूर्वक स्वयं 'दृश्य' (Me) बन जाता है, यह सोचने लगता है कि मैं दूसरों ही के विषय में अपनी राय

नहीं देता, दूसरे भी मेरे विषय में अपनी राय देते हैं, और उसी के अनुसार चलना मेरे लिए हितकर है। पहले दूसरे ही उसे 'दृश्य' बनाते थे, अब वह अपने लिए 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' दोनों बन कर देखता है। अब वह अपने विषय में अपनी सम्मति को छोड़ देता है, और दूसरों की अपने विषय में सम्मति को अपने लिए माप बना लेता है, उसी के अनुसार बनने का प्रयत्न करता है, उसका 'दृश्य-स्व' (Objective-Self) उसके लिए 'आदर्श-स्व' (Ideal-Self) बन जाता है, इन दोनों का भेद मिट जाता है। इस अवस्था में दूसरे उसके विषय में जो सम्मति रखते हैं, उसी के प्रकाश में वह अपना 'आदर्श-स्व' बना लेता है, और वह 'आदर्श-स्व' ही उसके प्रत्येक कार्य का शासक बन जाता है। जैसे दूसरे चाहते हैं, उसके माता-पिता, गुरु, साथी-संगी, वैसा बनने के लिए वह व्यग्र हो उठता है, तड़पता है, वैसा न बन सके तो रोता है, खीझता है। जब यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है, तब 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाता है। अब वह स्वयं 'द्रष्टा' बनकर अपने प्रत्येक कार्य की, अपने 'दृश्य-स्व' अर्थात् 'आदर्श-स्व' के माप से आलोचना करता है। अगर उसमें कोई बुरे भाव उत्पन्न हो रहे हैं, तो वह सोचता है कि मेरे साथी, मेरे माता-पिता, गुरु मुझे देखकर क्या कहेंगे, उन्होंने मेरी जो कल्पना कर रक्खी है, उसके मैं प्रतिकूल जा रहा हूँ, मैं यह काम नहीं करूँगा, यह बात करना मेरे लिए ठीक नहीं है। इस प्रकार की मानसिक-प्रक्रिया इसलिए होती है क्योंकि इस बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' बन चुका होता है, वह अपने 'दृश्य' अर्थात् 'आदर्श-स्व' के साथ प्रेम करने लगता है। शिक्षक की दृष्टि से बालक में 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' का निर्माण बड़ा आवश्यक है। बालक में जो भी 'आदर्श-स्व' की कल्पना हुई है, वह पिता-माता, साथी तथा गुरुओं के द्वारा ही उत्पन्न हुई है। 'स्व' के विषय में ऊँची कल्पना करने के स्थान पर वे नीचा भाव भी उत्पन्न कर सकते हैं। अगर किसी बालक को सदा झूठा कहा जायगा, तो उसके 'स्व' की कल्पना यही हो जायेगी कि मैं झूठा हूँ। वह झूठ बोलेगा, तो झिझकेगा नहीं, क्योंकि वह सोचेगा, मैं झूठा तो हूँ ही, मेरे माता-पिता मुझे झूठा कहते हैं, मेरे गुरु मुझे झूठा कहते हैं, मैं झूठ ही बोल सकता हूँ, सच नहीं बोल सकता। जिस बालक में

'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाता है, वह जीवन में गिरता नहीं, उठता ही जाता है, वह ऐसा ही काम करता है, जो उसके आत्मा को ऊँचा उठाता हैं। अगर वह गिरने लगता है, तो वह अपने को ही सम्बोधन करके पूछता है, क्या ऐसा करना मुझे शोभा देता है ? उसके शिक्षक भी उसे उल्टे रास्ते पर जाते देख कर कहते हैं, यह तुम्हें शोभा नहीं देता ! उस समय 'आदर्श-स्व' को सामने रखकर, उसके माप से, उसके मुक़ाबिले से ही कहा जाता है—'मुझे शोभा नहीं देता', या 'तुम्हें शोभा नहीं देता।' 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' ही वह काम करता है, जो फ्रॉयड की परिभाषा में 'प्रतिरोधक' (Censor) करता है। 'प्रतिरोधक' का काम 'अज्ञात-चेतना' में छिपी कुप्रवृत्तियों को बाहर न आने देना है, 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' भी कुप्रवृत्तियों को दूर रखता है—इसलिए कि वे हमें शोभा नहीं देतीं, अर्थात् हमारे 'आदर्श-स्व' की कल्पना के साथ मेल नहीं खातीं। जरा गहरा विचार किया जाय, तो 'आत्मा की आवाज़' (Conscience) भी 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' के उत्पन्न हो जाने का ही दूसरा नाम है। इस 'आदर्श-स्व' के प्रति प्रेम, सम्मान का भाव उत्पन्न कर देना, अर्थात् 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' को उत्पन्न कर देना शिक्षक का सबसे मुख्य कर्त्तव्य है।

प्रश्न

(१) 'आत्म-सम्मान के स्थायी भाव' (Self-regarding Sentiment) का बालक में निर्माण कैसे होता है ?

(२) 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' की शिक्षा में क्या उपयोगिता है ?

२४

'व्यवसाय', 'चरित्र-निर्माण' तथा 'भावना-ग्रन्थि'

(WILL, FORMATION OF CHARACTER AND COMPLEXES)

१. व्यवसाय (WILL)

'कृति' तथा 'व्यवसाय' में भेद—

मानसिक-प्रक्रिया में से 'संवेदन' (Feeling) का हमने पिछले अध्याय में वर्णन किया है, इस अध्याय में हम 'कृति' (Willing) का वर्णन करेंगे। 'कृति' शब्द का विस्तृत अर्थों में प्रयोग होता है। इसमें शरीर तथा मन की सब प्रकार की चेष्टाएँ आ जाती हैं। आँख के फड़कने से लेकर देश के राज्य करने तक सब 'कृति' में समा जाता है। परन्तु 'व्यवसाय'-शब्द इतना विस्तृत नहीं है। 'कृति' में ऐच्छिक (Voluntary) तथा अनैच्छिक (Involuntary) क्रियाएँ सब समाविष्ट हैं; 'व्यवसाय' में केवल ऐच्छिक (Voluntary) क्रियाएँ गिनी जाती हैं। हम यहाँ पर 'अनैच्छिक-क्रियाओं'—अर्थात् 'सहज-क्रिया' (Reflex action), 'प्राकृतिक-क्रिया' (Instinctive action), 'विचार-क्रिया' (Ideo-motor action)—का वर्णन न करके केवल 'ऐच्छिक-क्रिया', अर्थात् 'व्यवसाय' (Voluntary action) का वर्णन करेंगे।

'ज्ञान'-'इच्छा'-'विश्वास'—ये तीन प्रक्रियाएँ 'व्यवसाय' में होती हैं—

'व्यवसाय' (Will) 'ऐच्छिक-क्रिया' है। 'व्यवसाय' का प्रारम्भ 'ज्ञान' से होता है। जिस वस्तु के विषय में हमें ज्ञान नहीं, जिसका हमें पता नहीं कि वह क्या है, उसके विषय में 'व्यवसाय' क्या हो सकता है? 'ज्ञान' के बाद दूसरी वस्तु 'इच्छा' है। यह हो सकता है कि हमें किसी वस्तु का 'ज्ञान' हो, परन्तु उसके विषय में कोई 'इच्छा' न हो। 'व्यवसाय'

तभी होगा जब उस वस्तु के 'ज्ञान' के साथ 'इच्छा' भी रहेगी। परन्तु इतना भी काफ़ी नहीं है। हो सकता है, हमें किसी वस्तु का 'ज्ञान' हो, उसके लिए 'इच्छा' भी हो, परन्तु वह दुष्प्राप्य हो। इसलिए 'व्यवसाय' के उत्पन्न होने में तीसरी शर्त यह भी है कि 'ज्ञान' तथा 'इच्छा' के साथ हमें यह भी 'विश्वास' हो कि वह वस्तु हमें प्राप्त हो सकती है, वह हमारे लिए दुष्प्राप्य नहीं है। जब ये तीनों बातें होंगी, तब 'व्यवसाय' हो सकता है। 'व्यवसाय' द्वारा हम 'द्विविधा' (Conflict) में से निकलते हैं—

'व्यवसाय' में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया क्या होती है? हमारे मन में कोई 'प्रयोजन' (Purpose) होता है। अगर एक ही प्रयोजन हो, तब तो कोई कठिनाई नहीं होती। 'प्रयोजन' खुद-ब-खुद क्रिया में परिणत हो जाता है। परन्तु अक्सर ऐसा नहीं होता कि मन में एक ही प्रयोजन हो। होता यह है कि मन में एक प्रयोजन है, परन्तु उस प्रयोजन के क्रिया में परिणत होने में अनेक रुकावटें भी मौजूद हैं सबसे बड़ी रुकावट यह होती है कि मन में कई परस्पर-विरुद्ध 'प्रयोजन' (Purposes) उत्पन्न हो जाते हैं, और उनके पारस्परिक-संग्राम में हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि किस प्रयोजन को पूरा करें, और किसे न करें। यह द्विविधा की अवस्था होती है। इस अवस्था में 'व्यवसाय-शक्ति' (Will) का काम निर्णय कर देना है। यह निर्णय कैसे होता है? द्विविधा की अवस्था देर तक बनी नहीं रह सकती। मनुष्य किसी निश्चय पर पहुँचना ही चाहता है। निश्चय पर पहुँचने के लिए 'प्रयत्न' (Effort) करना पड़ता है। 'द्विविधा' (Conflict) की अवस्था में 'प्रयत्न' (Effort) द्वारा ही किसी एक मार्ग को चुना जाता है। 'प्रयत्न' द्वारा मनुष्य में साधारण अवस्था की अपेक्षा कुछ अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, और उस शक्ति द्वारा वह किसी एक तरफ़ निश्चय कर देता है। मन में कोई 'प्रयोजन' उत्पन्न न हो, तो द्विविधा की अवस्था भी न हो; 'द्विविधा' की अवस्था न हो, तो प्रयत्न न हो; 'प्रयत्न' न हो, तो व्यवसाय न हो, निश्चय की अवस्था उत्पन्न न हो; 'व्यवसाय' न हो, तो कोई काम न हो। इसी भाव को यों भी कह सकते हैं कि किसी 'विचार' को 'व्यवसाय' तक पहुँचने के लिए चार प्रक्रियाओं में से गुज़रना ज़रूरी है:—

'विचार' के 'व्यवसाय' तक पहुँचने के चार क्रम—

(१) पहले विचारों का संग्रह होना आवश्यक है। जिस काम को हम क्रिया में परिणत करना चाहते हैं, उसके अनुकूल-प्रतिकूल सब बातों का ज्ञान ज़रूरी है।

(२) इसके बाद हम अनुकूल तथा प्रतिकूल पक्ष की एक-एक युक्ति को लेकर विचार करते हैं। अनुकूल युक्तियाँ भी काफ़ी मिल जाती हैं, प्रतिकूल भी काफ़ी। विचार-संघर्ष की इस अवस्था में 'द्विविधा' उत्पन्न हो जाती है। हम न यह कर सकते हैं, न वह कर सकते हैं। इस समय या तो हम सोचना छोड़कर कोई तीसरा ही काम हाथ में ले सकते हैं, या विचारों के संग्रह में से किसी एक को चुन सकते हैं।

(३) इस प्रकार 'द्विविधा' में से निकलकर किसी एक विचार को चुन लेना तीसरा क़दम है।

(४) चुनने के बाद मनुष्य संकल्प कर लेता है और हमारा विचार क्रिया में परिणत हो जाता है।

'व्यवसाय' की उक्त मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया को समझने के लिए हम एक दृष्टान्त ले लेते हैं। हम बिस्तर पर पड़े सो रहे हैं। सुबह हो गई। आँख खुली। काम में जुट जाने का वक्त है। एक भाव सामने आता है, उठो, मुँह-हाथ धोकर तैयार हो जाओ। परन्तु सर्दी बहुत पड़ रही है, कौन उठे, बिस्तरे में तो खूब गर्मी है, आनन्द से लेट रहो। इन दो परस्पर-विरुद्ध 'प्रयोजनों' (Purposes) के मन में उत्पन्न हो जाने पर संग्राम छिड़ जाता है। दोनों पक्षों के अनुकूल तथा प्रतिकूल युक्तियाँ आती हैं। एक विचार कहता है, आलसी मत बनो, कर्तव्य का पालन करो; दूसरा कहता है, इतनी जल्दी क्या है, कुछ देर में काम कर लेना। इस विचार-संघर्ष में कर्तव्य का विचार प्रबल हो उठता है, और हम बिस्तर छोड़कर खड़े हो जाते हैं। परन्तु सदा कर्तव्य का विचार ही प्रबल हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। प्रायः कर्त्तव्य का विचार निर्बल रहता है, आलस्य का विचार प्रबल रहता है। ऐसी अवस्था में 'प्रयत्न' के द्वारा साधारण की अपेक्षा अधिक शक्ति उत्पन्न करने की ज़रूरत पड़ती है, तब जाकर कहीं आलस्य के भावों को दबाया जा सकता है। इस प्रकार 'प्रयत्न' (Effort)

की सहायता से निर्बल भावों को प्रबल और प्रबल को निर्बल बनाया जा सकता है। जेम्स ने इसी बात को गणित की परिभाषा में यों प्रकट किया है कि 'उच्च-आदर्श' को क्रिया में परिणत करने की भावना के साथ अगर 'प्रयत्न' न जोड़ा जाय, तो उसकी शक्ति 'स्वाभाविक-प्रवृत्ति' से कम रहती है, परन्तु अगर 'उच्च-आदर्श' के साथ 'प्रयत्न' जोड़ दिया जाय, तो उसकी शक्ति 'स्वाभाविक-प्रवृत्ति' से बहुत ज्यादा हो जाती है। 'स्वाभाविक-प्रवृत्ति' का मार्ग आसान मार्ग है, उसमें कोई रुकावट नहीं, कोई कठिनाई नहीं। इसलिए अगर 'प्रयत्न' द्वारा शक्ति-संग्रह न किया जाय, तो मनुष्य न्यूनतम बाधा के मार्ग का अवलम्बन करेगा। परन्तु 'प्रयत्न' अथवा 'व्यवसाय' द्वारा वह अधिकतम बाधा के मार्ग का अवलम्बन करता है, और कृतकार्यता से उसे पार कर लेता है।

'व्यवसाय' में अतिरिक्त-शक्ति 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' से आती है—

परन्तु 'प्रयत्न' के द्वारा साधारण की अपेक्षा अधिक शक्ति कैसे उत्पन्न हो जाती है ? कई लोगों का कहना है कि 'प्रयत्न' (Effort), 'व्यवसाय' (Will) का गुण है, और 'व्यवसाय' द्वारा ही 'प्रयत्न' में साधारण की अपेक्षा अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। परन्तु 'व्यवसाय' में इस प्रकार का गुण कहाँ से आया ? 'व्यवसाय' में यह शक्ति 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' (Self-regarding Sentiment) से आती है। कल्पना कीजिए कि एक बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' उत्पन्न हो चुका है। वह कक्षा में सदा प्रथम रहा है। उसका इम्तिहान भी नजदीक है। इन्हीं दिनों शहर में एक नाटक हो रहा है। उसकी चारों तरफ़ बड़ी धूम है। यह बालक सोचता है, मैं भी देख आऊँ, फिर नाटक कम्पनी चली जायगी। प्रलोभन बड़ा जबर्दस्त है। परन्तु उसके साथी यह आशा करते हैं कि वह इम्तिहान में पहला आएगा। वह सोचता है, अगर मैं नाटक देखने गया, तो तैयारी ठीक से न कर सकूँगा। 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' नाटक न देखने की निर्बल भावना को प्रबल बना देता है, और वह नाटक देखने नहीं जाता। इस प्रकार 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' हमारे 'प्रयत्न' में साधारण की अपेक्षा अधिक-शक्ति को उत्पन्न कर देता है। उच्च आदर्शों को क्रियात्मक रूप देने में 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' का बड़ा महत्त्व है।

'व्यवसाय' के लिए 'प्रयोजन' का होना आवश्यक है—

'व्यवसाय' के विषय में जो बातें कही गई हैं, शिक्षा की दृष्टि से वे बड़ी आवश्यक हैं। कोई भी विचार तब तक क्रिया में परिणत नहीं होता जब तक उसका 'प्रयोजन' (Purpose) नहीं होता। इसी प्रकार बालक के सम्मुख जब तक 'प्रयोजन' (Purpose) न हो, तब तक वह यों ही समय बिताता है। जब कोई काम करना हो, तो प्रयोजन, उद्देश्य या लक्ष्य का बना लेना सबसे ज्यादा आवश्यक है। प्रयोजन होगा तो रुचि भी होगी, अवधान भी होगा, व्यवसाय भी होगा; प्रयोजन नहीं होगा, तो रुचि भी नहीं होगी, ध्यान भी नहीं लगेगा, काम भी कुछ नहीं होगा। यही मनोवैज्ञानिक सत्य 'प्रोजेक्ट-पद्धति' के आधार में है।

२. चरित्र-निर्माण (FORMATION of CHARACTER)

'चरित्र' और 'आदत' में भेद—

हम पहले देख चुके हैं कि 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' जन्म-सिद्ध हैं, और वे बालक की प्रत्येक क्रिया को प्रेरित करती हैं। 'चरित्र' भी बालक की प्रत्येक क्रिया को प्रेरित करता है, परन्तु यह बात जन्म-सिद्ध (Innate) नहीं है, अर्जित (Acquired) है। बालक का 'प्राकृतिक-व्यवहार' (Instinctive Behaviour) तो 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) के द्वारा प्रेरित होता है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों 'प्राकृतिक-व्यवहार' की जगह वह व्यवहार आता जाता है, जिसे वह माता-पिता, साथियों, गुरुओं तथा समाज से सीखता है, जो 'अर्जित' है। इसी को 'चरित्र' कहते हैं। 'चरित्र' में 'आदत' का अंश भी रहता है। मनुष्य को एक खास प्रकार की परिस्थिति में, एक खास ढंग से, व्यवहार करने की 'आदत' पड़ जाती है। इसी लिए कई लोग 'चरित्र' (Character) को 'आदतों का समूह' (Bundle of Habits) कहते हैं। परन्तु 'चरित्र' 'आदतों' के अतिरिक्त भी बहुत-कुछ है। 'आदत' यान्त्रिक होती है, जैसी आदत पड़ जाय, वैसा करने को मनुष्य बाधित होता है; 'चरित्र' यान्त्रिक नहीं होता। चरित्र में आदत हो सकती है, परन्तु भिन्न-भिन्न स्थिति में मनुष्य चरित्र की दृष्टि से भिन्न-भिन्न व्यवहार भी कर सकता है, जो यन्त्र में नहीं होता। जीवन में एक ही स्थिति बार-बार उत्पन्न नहीं होती। अगर एक ही स्थिति

बार-बार उत्पन्न होती हो, तब तो 'आदत' काम दे सकती है। परन्तु भिन्न-भिन्न स्थितियों का मुक़ाबिला करने के लिए 'चरित्र' ही काम देता है। 'चरित्र' में भिन्न-भिन्न स्थितियों का मुक़ाबिला करने की शक्ति कहाँ से आती है ? 'स्थायी-भावों' से ! 'स्थायी-भावों' (Sentiments) के प्रकरण में हम पहले भी बतला चुके हैं कि उनमें तथा 'आदत' (Habit) में भेद है। 'आदत' का प्रभाव जीवन के किसी एक पहलू पर ही होता है, 'स्थायी-भाव' का प्रभाव सम्पूर्ण जीवन पर होता है। क्योंकि चरित्र को 'स्थायी-भावों' से शक्ति प्राप्त होती है, 'आदत' से नहीं, इसलिए चरित्र का जीवन पर प्रभाव स्थायी-भावों की तरह का होता है, आदतों की तरह का नहीं।

ड्रेवर तथा 'चरित्र'—

चरित्र के विकास में तीन क्रम दीख पड़ते हैं। ड्रेवर ने दो दृष्टियों से इनके तीन-तीन विभाग किये हैं। पहली दृष्टि 'संवेदन' (Feeling) की है। 'संवेदन' की दृष्टि से चरित्र के विकास के निम्न तीन विभाग किये गए हैं :—

(क) 'अपरिपक्व-संवेदन' (Crude Emotion) की अवस्था
(ख) 'स्थायी-भाव' (Sentiment) की अवस्था
(ग) 'आदर्श' (Ideal) उत्पन्न हो जाने की अवस्था

'ज्ञान' (Knowing) की दृष्टि से भी ड्रेवर ने चरित्र के विकास को तीन भागों में बाँटा है। वे विभाग निम्न हैं :—

(क) 'इन्द्रियानुभव' की अवस्था (Perceptual)
(ख) 'भावानुभव' की अवस्था (Ideational)
(ग) 'तर्कानुभव' की अवस्था (Rational)

मैक्डूगल तथा 'चरित्र'—

मैक्डूगल ने चरित्र के विकास में चार क्रमों का प्रतिपादन किया है। वे ये हैं :—

(क) सुख-दुःख से निर्धारित चरित्र
(ख) पारितोषिक तथा दण्ड से निर्धारित चरित्र
(ग) प्रशंसा तथा निन्दा से निर्धारित चरित्र
(घ) आदर्श (आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव) से निर्धारित-चरित्र

मनुष्य का चरित्र उक्त चार क्रमों में से गुज़रता हुआ आदर्श तक पहुँचता है। मैक्डूगल ने जिन क्रमों का प्रतिपादन किया है, हम उनकी संक्षेप से व्याख्या करेंगे, और इस व्याख्या में ही ड्रैवर के वर्गीकरण की व्याख्या भी स्वतः हो जायेगी :—

(क) सुख-दुःख—बालक दूर की नहीं सोच सकता, इसलिए प्रारम्भिक-अवस्था में उसके चरित्र का निर्धारण उन बातों से ही होता है, जिनका उस पर सुख तथा दुःख के रूप में तात्कालिक प्रभाव होता है। वह आग से ख़ुद-ब-ख़ुद बचता है, क्योंकि इससे उसका हाथ जलता है। मिठाई को देखकर उसे मुँह में डाल लेता है, क्योंकि इससे उसे मिठाई का आनन्द मिलता है। ड्रैवर के वर्गीकरण में यह 'संवेदन' में वर्णित 'अपरिपक्व-संवेदन' तथा 'ज्ञान' में वर्णित 'इन्द्रियानुभव' की अवस्था है।

(ख) पारितोषिक तथा दण्ड—इसके बाद बालक के विकास में वह अवस्था आती है, जबकि उसके चरित्र का निर्धारण सुख-दुःख की प्राकृतिक-शक्तियों पर ही नहीं रहता, वह शिक्षक के डर से काम करने लगता है। उस डर के साथ पारितोषिक का भाव मिलकर चरित्र-निर्माण में सहायक बनता है। अगर अमुक काम करोगे, तो इनाम मिलेगा, अमुक करोगे, तो दण्ड मिलेगा। इनाम के लोभ तथा दण्ड के भय से बालक वैसा ही करता है, जैसा शिक्षक उससे कराना चाहता है। शिक्षक पारितोषिक देने के प्रलोभन तथा दण्ड के भय से बालक से बहुत-कुछ करा सकता है, परन्तु अन्त तक इसी व्यवहार का रहना बालक के मानसिक-विकास में घातक सिद्ध होने लगता है। वह बिना इनाम या बिना दण्ड के कुछ करता ही नहीं। ड्रैवर के वर्गीकरण में यह 'स्थायी-भाव' अथवा 'भावानुभव' की अवस्था है।

(ग) प्रशंसा तथा निन्दा—कुछ देर बाद जब बालक में 'स्थायी-भाव' उत्पन्न होने लगते हैं, तब उसके चरित्र का निर्धारण प्रशंसा तथा निन्दा से होने लगता है। अब उसे इनाम तथा भय का उतना ध्यान नहीं रहता जितना अपने साथियों तथा गुरुओं की अपने विषय में सम्मति का। जिस बात से वे उसकी प्रशंसा करते हैं, वह उसे करता है; जिससे निन्दा करते हैं, उसे नहीं करता। शिक्षक बालक के चरित्र निर्माण में निन्दा तथा प्रशंसा के बहुमूल्य साधन का बड़ी सफलता से प्रयोग कर सकता है।

ड्रेवर के वर्गीकरण में यह भी 'संवेदन' में वर्णित 'स्थायी-भाव' तथा 'ज्ञान' में वर्णित 'भावानुभव' की ही अवस्था है। मैक्डूगल के उक्त दो वर्गों की जगह ड्रेवर ने एक ही विभाग किया है।

(घ) आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव—चरित्र-निर्माण में अन्तिम अवस्था वह है जब बालक में 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' (Self-regarding Sentiment) उत्पन्न हो जाता है । इस अवस्था में युवक सुख वा दुःख, प्रलोभन वा दण्ड, प्रशंसा वा निन्दा, किसी की परवाह नहीं करता। उसके सामने एक 'आदर्श' बन चुका होता है, उस 'आदर्श' के पीछे वह पागल हो जाता है। इस अवस्था में वह 'कर्त्तव्य' को संसार के प्रत्येक 'प्रलोभन' से पहले स्थान देता है। वह किसी काम को करता हुआ यह नहीं सोचता कि इसमें सुख होगा या दुःख होगा, लोग प्रशंसा करेंगे या निन्दा करेंगे; वह सोचता है, वह काम उसकी आत्मा को शान्ति देगा, या न देगा। 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' उसके जीवन की हर-एक क्रिया, हर-एक पहलू को प्रभावित करता है, उसके सम्पूर्ण व्यवहार में यही ओत-प्रोत हो जाता है। चरित्र-निर्माण की यह सबसे ऊँची सीढ़ी है, और इस सीढ़ी तक पहुँचना ही शिक्षा का सबसे बड़ा उद्देश्य है। जब चरित्र-निर्माण इस अवस्था तक पहुँच जाता है, तब युवक के मानसिक-विचारों में परस्पर संघर्ष नहीं होता, उनका प्रवाह एक ही दिशा में बहने लगता है, उसके मन, वचन तथा कर्म में एक अपूर्व समता का राज्य हो जाता है।

३. 'भावना-ग्रन्थियाँ' (COMPLEXES)

हम बतला चुके हैं कि मनुष्य के व्यवहार का निर्धारण 'स्थायी-भावों' (Sentiments'), 'व्यवसाय' (Will) तथा 'चरित्र' (Character) द्वारा होता है। परन्तु हम में से प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से जानता है कि हमारी सब 'इच्छाएँ', सब 'उद्वेग' क्रिया में परिणत नहीं होते और हमारे 'व्यवहार' को नहीं बनाते। जो हो जाते हैं, वे विकसित होते चले जाते हैं, परन्तु जो 'भाव', जो 'उद्वेग' प्रकट नहीं होते, उनका क्या होता है ?

कई कहते हैं कि उनमें से बहुत-से तो भुला दिये जाते हैं, कई भाव अपने मौक़े की इन्तज़ार में बैठे रहते हैं; कई भिन्न-भिन्न प्रकार से रूपांतरित

होते रहते हैं। इस विषय में 'मनोविश्लेषणवादी' फ्रॉयड, एडलर तथा युंग ने विस्तृत विवेचन किया है। उनका कहना है कि स्थायी-भाव, व्यवसाय तथा चरित्र तो 'ज्ञात-चेतना' के विषय हैं; जो भाव दबा दिए जाते हैं, वे 'अज्ञात-चेतना' में चले जाते हैं। 'अज्ञात-चेतना' में पड़े-पड़े वे दो काम करते हैं :—

(क) मनुष्य के 'व्यवहार' को उसके बिना जाने प्रभावित करते रहते हैं—यह उनका पहला काम है; और दूसरा उनका यह काम है कि

(ख) अन्दर-अन्दर अन्य दबे भावों के साथ मिलकर 'भावना-ग्रन्थियाँ' या 'विषम-जाल' बनाते रहते हैं। वे मनुष्य की मानसिक-रचना का, उसकी 'भावना' का ज़बर्दस्त हिस्सा बन जाते हैं, इसी लिए उन्हें 'भावना-ग्रन्थि' (Complexes) कहते हैं।

'स्थायी-भाव' भी मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करते हैं, 'भावना-ग्रन्थि' भी, परन्तु इनमें भेद यह है कि 'स्थायी-भाव' तो 'ज्ञात-चेतना' में रहते हैं, 'भावना-ग्रन्थियाँ' रहती हैं 'अज्ञात-चेतना में; 'स्थायी-भाव' जिसमें होते हैं, उसे उनका ज्ञान होता है, 'भावना-ग्रन्थियाँ' जिसमें होती हैं, उसे उनका ज्ञान नहीं होता।

शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक में उक्त प्रकार की 'भावना-ग्रन्थियाँ' न बनने दे।

हर दबी हुई इच्छा की 'भावना-ग्रन्थि' बन सकती है। मनोविश्लेषण-वादियों ने 'विमाता-ग्रन्थि' (Step-mother complex), 'शासन-ग्रन्थि' (Authority complex), 'लिंग-ग्रन्थि' (Sex complex) तथा 'हीनता-ग्रन्थि' (Inferiority complex)—मुख्य तौर से इन चार 'ग्रन्थियों' का वर्णन किया है। इनका विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के सोलहवें अध्याय में किया गया है। इन चार के अतिरिक्त 'स्वात्म-प्रेम' (Narcissism), 'पितृ-विरोधी-ग्रन्थि' (Edepus complex—इडीपस कौम्प्लेक्स) तथा 'मातृ-विरोधी-ग्रन्थि' (Elektra complex—एलेक्ट्रा कौम्प्लैक्स) का भी मनोविश्लेषणवादी उल्लेख करते हैं। इनका विस्तृत विवेचन इस पुस्तक के तेरहवें अध्याय में किया जा चुका है।

प्रश्न

(१) 'व्यवसाय (Will) में 'ज्ञान', 'इच्छा' तथा 'विश्वास'—ये तीनों प्रक्रियाएँ होती हैं—इस कथन का क्या अर्थ है ?

(२) मन में जब 'द्विविधा' (Conflict) होती है, तब हम 'व्यवसाय' अथवा 'प्रयत्न' द्वारा उसमें से निकलते हैं—इसे उदाहरण देकर समझाओ।

(३) 'व्यवसाय' तक पहुँचता हुआ 'विचार' किन चार क्रमों में से गुज़रता है ?

(४) 'व्यवसाय' (Will) में वह शक्ति कहाँ से आती है जो किसी विचार को सबल बना देती है।

(५) प्रोजेक्ट-पद्धति में 'प्रयोजन' (Purpose) का होना क्यों आवश्यक समझा गया है ?

(६) 'चरित्र' तथा 'आदत' में क्या भेद है ?

(७) ड्रेवर तथा मैक्डूगल ने चरित्र-विकास के जो क्रम बताये हैं, उन्हें समझाओ।

(८) 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) कैसे बनती है ?

(९) 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) तथा 'स्थायी-भाव' (Sentiment) में क्या समानता और क्या भेद है ?

२५

तन्तु-संस्थान
(NERVOUS SYSTEM)

'इच्छा' (Feeling), 'ज्ञान' (Knowing), 'कृति' (Willing) में से 'इच्छा' तथा 'कृति' का वर्णन हो चुका है, अब 'ज्ञान' (Knowing) का वर्णन होगा। हमारे 'ज्ञान' का भौतिक-आधार मस्तिष्क है, इसलिए मस्तिष्क की रचना पर कुछ प्रारम्भिक बातों का वर्णन कर देना आवश्यक है।

हम कई प्रकार के अनुभव तथा कई प्रकार की क्रियायें करते हैं। इन सबके नियन्त्रण के लिए शरीर में बड़ा सुव्यवस्थित प्रबन्ध है। जिस प्रकार तार-घर में तारें लगी होती हैं, वे तारें किसी एक केन्द्र में जाकर मिलती हैं, और वहाँ से हम जहाँ चाहें वहाँ सन्देश भेज सकते हैं, इसी प्रकार शरीर में भी तन्तुओं (Nerves) का जाल-सा बिछा हुआ है, जो एक केन्द्र में जाकर मिलता है, और वहाँ से सब जगह सन्देश भेजे जाते हैं। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से तन्तु मस्तिष्क में पहुँचते हैं, वही ज्ञान ग्रहण करने तथा सन्देश भेजने का केन्द्र है, और वहाँ से दूसरे तन्तुओं के द्वारा संदेश बाहर भेजा जाता है। तन्तुओं के इस सम्पूर्ण संस्थान को 'तन्तु-संस्थान' कहते हैं। 'तन्तु-संस्थान' को तीन भागों में बाँटा गया है:—

'तन्तु-संस्थान' के तीन भाग—

(क) 'केन्द्रीय-तन्तु-संस्थान' (Central Nervous System or Cerebro-spinal System)। इसमें मस्तिष्क तथा मेरु-दण्ड आ जाता है।

(ख) 'त्वक्-तन्तु-संस्थान' (Peripheral Nervous System)। यह सारे शरीर में बिछे हुए उस तन्तु-जाल को कहते हैं जो एक ओर

तो त्वचा में फैला रहता है, और दूसरी ओर मेरु-दण्ड से मिला रहता है। इसमें 'ज्ञान-वाहक' तथा 'चेष्टा-वाहक' तन्तु आ जाते हैं।

(ग) 'स्वतन्त्र-तन्तु-संस्थान' (*Autonomic Nervous System*)

१. 'केन्द्रीय-तन्तु-संस्थान'
(CENTRAL NERVOUS SYSTEM)

इसमें मस्तिष्क के चार अंग आ जाते हैं :—

(क) बृहत्-मस्तिष्क (Cerebrum)
(ख) मेरुदण्ड (Spinal cord)
(ग) लघु-मस्तिष्क (Cerebellum)
(घ) सेतु (Pons)

(क) बृहत्-मस्तिष्क (CEREBRUM)

सिर की खोपड़ी के भीतर जो भेजा होता है, वही दिमाग़ कहाता है। इसमें जो हिस्सा भौंहों के सामने से चलकर सिर के पीछे उभरे हुए स्थान तक चला जाता है, वह बड़ा दिमाग़ होने के कारण 'बृहत्-मस्तिष्क' (Cerebrum) कहाता है। यह दो अर्ध-वृत्तों में बँटा रहता है, और इसकी शक्ल अखरोट की गिरी-जैसी होती है। अखरोट की गिरी में जैसी दरारें होती हैं, वैसी दरारें इसमें भी पाई जाती हैं। ये दरारें मस्तिष्क को भिन्न-भिन्न भागों में बाँटती हैं। जिसमें जितनी अधिक दरारें होती हैं, उसमें उतनी अधिक उस केन्द्र की शक्ति मानी जाती है। 'बृहत्-मस्तिष्क'

मस्तिष्क का चित्र
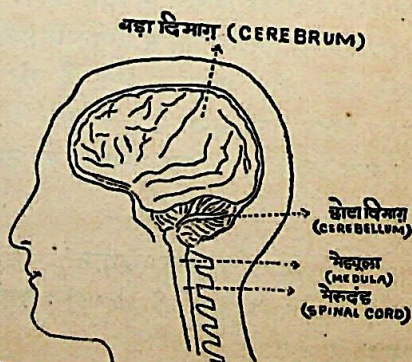
(Cerebrum) ही 'चेतना' (Consciousness) का स्थान है। इच्छापूर्वक कार्यों का नियन्त्रण इसी से होता है। अगर मेंडक का 'बृहत्-मस्तिष्क' निकाल दिया जाय, तो वह साँप को सामने देखकर भी भागने का यत्न नहीं करता। यह नहीं कि उसे दीख नहीं रहा होता। वह सब देख रहा होता है, परन्तु देखते हुए भी उसे कोई ज्ञान—कोई चेतना—नहीं रहती। 'बृहत्-मस्तिष्क' में ज्ञानेन्द्रियों के केन्द्र रहते हैं। आँख, नाक, कान, जिह्वा आदि से 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' बृहत्-मस्तिष्क में ही जाते हैं, इसलिए इसे भिन्न-भिन्न ज्ञानों का केन्द्र माना जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के केन्द्र 'बृहत्-मस्तिष्क' के किस हिस्से में रहते हैं? अगर 'बृहत्-मस्तिष्क' की किसी बड़ी तह को लेकर काटा जाय, तो उसके दो रंग दिखाई देंगे। जैसे कद्दू को काटें, तो छिलके के नजदीक का हिस्सा कुछ लालिमा लिए होता है, और भीतर का सफ़ेदी लिये, इसी प्रकार 'बृहत्-मस्तिष्क' की किसी तह को काटें, तो बाहर की परत के साथ का हिस्सा भूरे रंग का, और भीतर का सफ़ेद रंग का दिखाई देता है। भूरे रंग के इस पदार्थ को 'कॉरटेक्स' (Cortex) कहते हैं, और मस्तिष्क की रचना में यही मुख्य पदार्थ है। ज्ञान-तन्तु 'कॉरटेक्स' में इन्द्रिय के ज्ञान को ले जाते हैं। 'कॉरटेक्स' में प्रत्यक इन्द्रिय के ज्ञान को ग्रहण करने का एक-एक केन्द्र होता है। 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' इसी केन्द्र तक ज्ञान को पहुंचा देता है। 'ज्ञान' को ग्रहण करने के केन्द्रों के अतिरिक्त 'कॉरटेक्स' में 'चेष्टा' के केन्द्र भी रहते हैं। 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' (Sensory nerve) द्वारा 'ज्ञान के केन्द्र' (Sensory centre) तक जब किसी इन्द्रिय का ज्ञान पहुँचता है, तो 'चेष्टा-केन्द्र' (Motor centre) को क्रिया करने का हुक्म होता है, और 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' (Motor nerve) द्वारा मांस-पेशी में क्रिया होती है। 'ज्ञान-केन्द्र' तथा 'चेष्टा-केन्द्र' को मिलाने वाले कुछ तन्तु हैं, जिन्हें 'संयोजक-तन्तु' (Association fibres) कहते हैं। 'ज्ञान-केन्द्र' से जो ज्ञान आता है, उसे समझकर, 'चेष्टा-केन्द्र' को हुक्म दिया जाता है, बिना समझे नहीं दिया जाता, यह बात तो स्पष्ट है। परन्तु समझने के इस काम को कौन करता है? 'ज्ञान-केन्द्र' खुद तो समझ नहीं सकते। 'आत्मा' को न माना जाय, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर है? परन्तु

मनोविज्ञान इस प्रश्न को यहीं छोड़ आगे चल देता है, क्योंकि यह मनोविज्ञान का विषय नहीं है, 'अन्तिम-सत्तावाद' (Metaphysics) का प्रश्न है। मनोविज्ञान इतना ही कहता है कि अगर हमारे सामने फूल है, तो ज्ञान-वाहक-तन्तु 'कॉरटेक्स' में 'ज्ञान-केन्द्र' के पास पुष्प का अनुभव भेज देते हैं, वहाँ से 'चेष्टा-केन्द्र' चेष्टा-वाहक-तन्तुओं द्वारा क्रिया करते हैं, और हाथ फूल को पकड़ लेते हैं। इस प्रकार जब 'बृहत्-मस्तिष्क' काम करता है, तो 'ज्ञानपूर्वक-चेष्टा' होती है, इसे ऐच्छिक-क्रिया (Voluntary action) कहा जाता है, इसमें दिमाग़ सीधा अपने-आप काम करता है।

परन्तु हमारी सब क्रियाएँ ऐच्छिक ही हों, ज्ञानपूर्वक ही हों, सब में दिमाग़ सीधा ही काम करे, यह बात नहीं है। कई क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिनमें दिमाग़ सीधा काम नहीं करता। वे क्रियाएँ 'पृष्ठ-वंश' द्वारा होती हैं जिसे 'मेरुदण्ड' कहते हैं।

(ख) मेरुदण्ड (SPINAL CORD)

जिस प्रकार एक बड़ा दफ़्तर होता है, उसके नीचे कई छोटे-छोटे दफ़्तर उन्हीं का काम हल्का करने के लिए होते हैं, इसी प्रकार 'बृहत्-मस्तिष्क' के कई काम इसके छोटे दफ़्तर मेरुदण्ड के सुपुर्द हैं। मेरुदण्ड रीढ़ की हड्डी का नाम है, जो गर्दन से शुरू होकर नीचे तक चली गई है। इसमें कई मोहरें हैं, और इन मोहरों में वही भूरा तथा सफ़ेद पदार्थ होता है, जो 'बृहत्-मस्तिष्क' में पाया जाता है। 'बृहत्-मस्तिष्क' के तन्तुओं के बारह 'जोड़ें' तो सीधे चेहरे, आँख, नाक, कान, जीभ में चले जाते हैं; इकत्तीस 'तन्तु-युगल' मेरुदण्ड में से होकर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार बहुत-से कामों के लिए, 'मेरुदण्ड' का काम, शरीर तथा 'बृहत्-मस्तिष्क' में माध्यम का काम करना है। देखने, सूंघने, चखने आदि में सीधा 'बृहत्-मस्तिष्क' काम करता है, परन्तु अगर काँटा चुभ जाय, तो पाँव को एकदम खींच लेने का काम बृहत्-मस्तिष्क नहीं करता। यह काम बृहत्-मस्तिष्क ने मेरुदण्ड के सुपुर्द कर रखा है। हाँ, इसकी सूचना बृहत्-मस्तिष्क तक अवश्य पहुँचा दी जाती है। 'सहज-

क्रियाओं' (Reflex Actions) का नियन्त्रण मेरुदण्ड से होता है, 'ऐच्छिक-क्रियाओं' (Voluntary actions) का नियन्त्रण बृहत्-मस्तिष्क से होता है। कई 'जन्मसिद्ध ऐच्छिक-क्रियायें' (Innate Reflexes) होती हैं, जैसे, आँख का झपकना; कई 'अर्जित ऐच्छिक-क्रियायें' (Acquired Reflexes) होती हैं, जैसे चलना, बाईसिकल चलाना। 'अर्जित ऐच्छिक-क्रियाएँ' शुरू-शुरू में बृहत्-मस्तिष्क से होती हैं, अभ्यास हो जाने पर उनका भी नियन्त्रण मेरुदण्ड से होता है।

(ग) लघु-मस्तिष्क (CEREBELLUM)

यह खोपड़ी के भीतर, गले से ऊपर, बड़े दिमाग़ के नीचे, एक कनपटी से दूसरी कनपटी तक फैला रहता है। इसका काम शरीर का बृहत्-मस्तिष्क की आज्ञा के अनुसार 'सम-तुलन' (Equillibrium) रखना है। यह मानो बड़े दिमाग़ रूपी मास्टर का असिस्टेण्ट-मास्टर है। कल्पना करो कि बड़े दिमाग़ की आज्ञा पर हमने दायीं टाँग उठाई। इसके उठते ही शरीर का बोझ बायीं टाँग पर पड़ गया। उसे संभालने के लिए, और इसलिए कि हम गिर न जाँय, सिर को थोड़ा बायीं तरफ़ झुकाना पड़ेगा। यह सब संभाल छोटा दिमाग़ करता रहता है, और इन छोटी-छोटी बातों में बड़े दिमाग़ को कष्ट नहीं देता। चलना, फिरना, उठना, बैठना, खड़े होना—इन सब का संचालन इसी से होता है। कई लोग इसे सांसारिक प्रवृत्तियों का भी केन्द्र मानते हैं। प्रेम-भाव, समाज-प्रेम, दाम्पत्य-स्नेह, वात्सल्य-भाव, मैत्री-भाव आदि का केन्द्र 'लघु-मस्तिष्क' समझा जाता है।

(घ) सेतु (PONS)

यह लघु-मस्तिष्क के दोनों अर्ध-वृत्तों को ऊपर से मिलाए रहता है।

२. 'त्वक्-तन्तु-संस्थान' (PERIPHERAL NERVOUS SYSTEM)

इसमें दो तन्तु गिने जाते हैं: 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' (Sensory or afferent nerves) तथा 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' (Motor or efferent nerves)।

'तन्तु-कोष्ठ', (Nerve cells), 'तन्तु-सूत्र', (Neurones), 'तन्तु-रज्जु' (Nerve fibre), 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body), 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion), 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites), 'वाही-तन्तु' (Axons), 'योजक'—साइनैप्स–(Synapse)—इन सब का क्या अर्थ है—

जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की रचना 'कोष्ठों' (Cells) ारा होती है, इसी प्रकार ज्ञान तथा चेष्टा-वाहक-तंतु भी 'कोष्ठों' (Cells) से बने हैं। ज्ञान तथा चेष्टा-वाहक तंतुओं को बनाने वाले इन कोष्ठों को हम केवल 'कोष्ठ' (Cells) न कहकर 'तन्तु-कोष्ठ' (Nerve cells) कहेंगे, क्योंकि ये ज्ञान के 'तन्तुओं' को बनाते हैं। 'तन्तु-कोष्ठ' ही कुछ बढ़कर 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) बन जाता है, अतः एक दृष्टि से बढ़ा हुआ 'तन्तु-कोष्ठ' (Nerve cell) ही 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) है। जैसे शरीर के अन्य 'कोष्ठों' (Cells) में एक छोटी-सी गाँठ होती है, जिसे 'न्यूक्लियस' (Nerve) कहते हैं, वैसे 'तन्तु-कोष्ठ' (nerve cell) या 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) में भी यह गाँठ-सी होती है, इसे 'न्यूक्लियस' न कहकर 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body) कहते हैं। जब 'तन्तु-सूत्र' (Neurones) मिलते हैं, तो ये गाँठें, अर्थात् 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body) भी मिल जाते हैं, और इनके मिलने से एक मोटी गाँठ बन जाती है, जिसे 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) कहते हैं। 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) की चर्चा हम आगे करेंगे, परन्तु अभी यह बतलाना
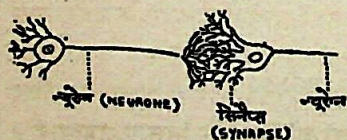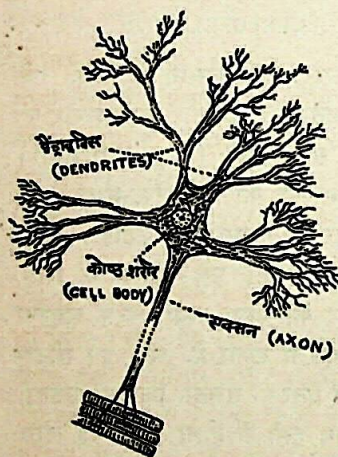
आवश्यक है कि 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body) के दोनों तरफ़ दायें-बायें, धागे-से होते हैं जिनसे मिलकर पूरा 'तन्तु-सूत्र' (Nerve cell or Neurone) बनता है। बड़ा होकर यह 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) दो-तीन फ़ीट का लंबा हो जाता है। इस प्रकार के अनेक, परन्तु एक ही सदृश, 'तन्तु-सूत्र' (Neurones) मिलकर 'तन्तु-रज्जु' (Nerve fibres) बनाते हैं। अनेक 'तन्तु-रज्जुओं' (Nerve fibres) के मिलने से 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' (Sensory nerves) तथा 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' (Motor nerves) बनते हैं।

हमने अभी कहा था कि 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) के दो सिरे होते हैं, जो 'कोष्ठ-शरीर' (Cell body) के दायें-बाँयें निकले होते हैं। इनमें से एक सिरा 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites) कहाता है, दूसरा सिरा 'वाही-तन्तु' (Axon) कहाता है। 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites) वृक्ष की शाखाओं की तरह फैला रहता है, 'वाही-तन्तु' (Axon) में इतनी शाखायें नहीं होतीं, थोड़े फुंगल-से होते हैं। 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites) इतना लम्बा नहीं होता, 'वाही-तन्तु' (Axon) कई इंच, और कभी-कभी कई फ़ीट लम्बा होता है। 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites) को 'ग्राही' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह 'विषय', अर्थात् 'उत्तेजना' (Stimulus) को ग्रहण करता है; 'वाही-तन्तु' (Axon) को 'वाही' इसलिए कहते हैं क्योंकि वह बाहर से भीतर पहुँची उत्तेजना का भीतर से बाहर प्रवाह करता है, अर्थात् 'विषय' की, 'उत्तेजना' की, 'प्रतिक्रिया' (Response) करता है। 'तन्तु-सूत्रों' (Neurones) के एक-दूसरे के साथ आगे-पीछे जुड़ने से ज्ञान तथा चेष्टा के सब तन्तु बने हैं। एक 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) का 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites) अगले सूत्र के 'वाही-तन्तु' (Axon) से जुड़ता है, फिर इसका अगले सूत्र के 'ग्राही-तन्तु' से सम्बन्ध होता है—इस प्रकार जुड़ते-जुड़ते पूरे ज्ञान तथा चेष्टा के तन्तु तैयार हो जाते हैं। जिस स्थान पर एक 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) के 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites) दूसरे 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) के 'वाही-तन्तु' (Axon) के साथ मिलते हैं, उस स्थान को 'योजक'—'साइनैप्स' (Synapse)—कहते हैं। यह जरूरी नहीं कि एक 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) के 'ग्राही-तन्तुओं' (Dendrites)

का सम्बन्ध 'योजकों' (Synapses) द्वारा एक ही 'वाही-तन्तु' (Axon) से जुड़ा हो। यह हो सकता है कि 'ग्राही-तन्तु' (Dendrites) का दो-तीन 'वाही-तन्तुओं' (Axons) से सम्बन्ध जुड़ा हो, अर्थात् दो-तीन 'योजक' (Synapses) हों। जैसे रेल के जंक्शन होते हैं, वहीं से पटरी भिन्न-भिन्न दिशाओं को हमें ले जा सकती है, वैसे 'साइनैप्स' भी मानो ज्ञान-तन्तुओं का एक जंक्शन है, और वहाँ से ज्ञान की गाड़ी भिन्न-भिन्न दिशाओं को जा सकती है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'ग्राही-तंतु' (Dendrites) का काम 'उत्तेजना' (Stimulus) को बाहर से अन्दर लाना है। अब प्रश्न यह है कि जब 'उत्तेजना' आयी, तो वह जंक्शन पर आकर अनेक 'योजकों' में किस 'योजक' (Synapse) से आगे जायगी ? अगर सब 'योजकों' (Synapses) से अन्दर जाय, तब तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाय। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'योजक' (Synapse) का काम 'प्रतिरोध' (Resistance) उत्पन्न करना है, आते हुए ज्ञान की धारा को रोक देना है। इसलिए जिस मार्ग की 'उत्तेजना' प्रबल होती है, वही 'योजक' (Synapse) की प्रतिरोध-शक्ति को तोड़कर अपना मार्ग बना लेती है, और इस प्रकार बार-बार किसी काम को करने से, 'योजक' बड़ी सरलता से उस मार्ग से 'उत्तेजना' को अन्दर जाने का मार्ग दे देते हैं। आदत बनने का यही भौतिक-आधार है। आदत बनने में 'योजक' (Synapse) की प्रतिरोध-शक्ति तोड़ दी जाती है। प्रकृति ने ज्ञान के तन्तुओं में 'योजकों' (Synapses) को इसी लिए रखा है कि वह बहुत देख-भाल कर चलना चाहती है। कौन-सी उत्तेजना मनुष्य के लिए ठीक है, कौन-सी ठीक नहीं—यह जान लेने पर ही आदत डालना और 'योजकों' (Synapses) की प्रतिरोध-शक्ति को तोड़ना ठीक है, अन्यथा नहीं।

हमने अभी कहा था कि 'तन्तु-सूत्र' (Neurone) में एक गाँठ-सी होती है, जिसे 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-body) कहते हैं। जब 'तन्तु-सूत्रों' (Neurones) के मिलने से 'ज्ञान-तन्तु' (Nerves) बनते हैं, तब 'कोष्ठ-शरीर' (Cell-bodies) भी परस्पर मिल जाते हैं, और इस प्रकार जो कोष्ठों का समूह बनता है, उसे 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) कहते हैं। 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' (Sensory nerve) का एक सिरा तो

शरीर के त्वक्-प्रदेश में फैला रहता है, दूसरा सिरा मेरुदण्ड के भीतर समाप्त होता है। परन्तु 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' के भीतर 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) भी तो होता है? वह कहाँ रहता है? शरीर-रचना-विज्ञान का कथन है कि 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' (Sensory nerve) का 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) मेरुदण्ड के भीतर नहीं जाता, बाहर ही रहता है, और शरीर के दूर-दूर से आ रहे अनुभवों में वेग उत्पन्न कर देता है ताकि केन्द्र तक पहुँचते-पहुँचते उनका वेग धीमा न पड़ जाय। मेरुदण्ड के भीतर जहाँ 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' समाप्त होता है, वहाँ, उसके साथ से ही, 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' शुरू हो जाता है। 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' (Motor nerve) का 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) मेरुदण्ड के भीतर ही होता है, बाहर नहीं होता, और ज्ञान तथा चेष्टा-वाहक-तन्तुओं के सिरों के सहयोग से एक छोटे-से दिमाग़ का काम करता है। 'जन्मसिद्ध' (Innate) तथा 'अर्जित' (Acquired) 'सहज-क्रियाओं' (Reflexes) का मेरुदण्ड ही एक छोटे-से दिमाग़ के रूप में संचालन करता है। 'ज्ञान-वाहक-तन्तुओं' (Sensory Nerves) के 'कोष्ठ-समूह' (Ganglia) मेरुदण्ड के बाहर रहते हैं, और ज्ञान के वेग में तेज़ी पैदा करते रहते हैं। 'चेष्टा-वाहक-तन्तुओं' (Motor nerves) के 'कोष्ठ-समूह' (Ganglia) मेरुदण्ड के भीतर रहते हैं, और 'सहज-क्रिया' (Reflex action) का संचालन करते हैं। 'ज्ञान-वाहक-तंतु' त्वक्-प्रदेश के ज्ञान को लाता है, परन्तु 'चेष्टा-वाहक-तंतु' त्वक्-प्रदेश में नहीं जाता, वह मांस-पेशी में जाता है, और इसीलिए 'ज्ञान-वाहक-तंतु' द्वारा किसी ज्ञान के आने पर, हाथ टाँग आदि अंगों की मांस-पेशी में क्रिया उत्पन्न होती है। ज्ञान-वाहक तथा चेष्टा-वाहक तंतु मेरुदण्ड में ही आकर मिलते हैं, इसलिए 'सहज-क्रियाओं' (Reflexes) का संचालन मेरुदण्ड से ही होता है। त्वचा से 'ज्ञान-वाहक-

सहज-क्रिया-चक्र (REFLEX ARC) का चित्र
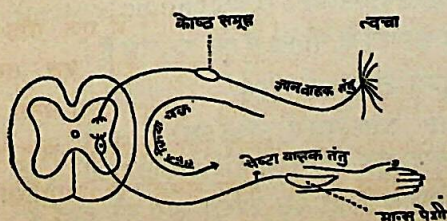
तंतु' ज्ञान को लाता है। मार्ग में 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) से वेग पाकर वह ज्ञान मेरुदण्ड में पहुँचता है। मेरुदण्ड से 'चेष्टा-वाहक-तंतु' आज्ञा भेजता है। यह आज्ञा मांस-पेशी में पहुँचती है, और एक 'सहज-क्रिया' (Reflex action) की जाती है। ज्ञान के इस चक्र को 'सहज क्रिया-चक्र' (Reflex arc) कहते हैं। 'सहज-क्रिया-चक्र' को गत पृष्ठ के चित्र में समझाया गया है।

ज्ञान-वाहक तथा चेष्टा-वाहक तंतु मेरुदण्ड में आते हैं परन्तु वहाँ समाप्त नहीं हो जाते, उसमें से गुज़र कर वे मस्तिष्क में जाते हैं। कई क्रियाओं का संचालन मस्तिष्क की साधारण देख-रेख में मेरुदण्ड द्वारा ही हो जाता है, और कई का सीधे मस्तिष्क द्वारा होता है।

जब 'विषय' सामने आता है, तो 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' बड़े दिमाग़ में समाचार पहुँचाते हैं। आँख के द्वारा ज्ञान होता है, तो देखने के केन्द्र के पास समाचार पहुँचता है; कान के द्वारा होता है, तो सुनने के केन्द्र के पास। जब समाचार दिमाग़ तक अपने केन्द्र में पहुँचता है, तो इसे 'निर्विकल्पक इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान' (Sensation) कहते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना 'ज्ञान' (Sensation) है। इस ज्ञान के बाद उन-उन इन्द्रियों के 'चेष्टा-केन्द्र' 'चेष्टा-वाहक-तन्तुओं' द्वारा मांस-पेशियों में चेष्टा उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आँख नहीं देखती, बृहत्-मस्तिष्क देखता है, वही सूंघता है, वही चखता है। अगर किसी का 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' काट दिया जाय, तो वह चेष्टा तो कर सकेगा, उसे 'ज्ञान' (Sensation) नहीं होगा; अगर 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' काट दिया जाय, तो उसे ज्ञान होगा, परन्तु वह 'चेष्टा' (Motion) नहीं कर सकेगा। 'सहज-क्रियाओं' (Reflex actions) में यह सम्पूर्ण क्रिया बृहत्-मस्तिष्क में न होकर मेरुदण्ड में वर्तमान 'कोष्ठ-समूह-संस्थान' (Ganglionic System) में हो जाती है जिसका उल्लेख मेरुदण्ड के शीर्षक में हम कर चुके हैं।

३. 'स्वतन्त्र-तन्तु-संस्थान'
(AUTONOMIC NERVOUS SYSTEM)

इसका नियन्त्रण 'मज्जादण्ड-मूल' (Medulla oblongata) से होता है। 'मज्जा दण्ड-मूल' मेरुदण्ड के ही उस उपरले भाग को कहते हैं,

जो खोपड़ी में प्रविष्ट होकर उसमें फैल जाता है। 'मैड्यूला' ही हृदय, फेफड़े आदि की गतियों को नियन्त्रित करता है। मेरुदण्ड के दोनों तरफ़, दायें-बायें, 'कोष्ठ-समूह' (Ganglia) होते हैं, यह हम पहले कह आये हैं। मेरुदण्ड की मोहरों के बाहर दोनों तरफ़ गर्दन तक दानों-दानों के रूप में जो ये 'कोष्ठ-समूह' (Ganglion) होते हैं, इनका सम्बन्ध मेरुदण्ड के नीचे से ऊपर गर्दन तक 'मज्जादण्ड-मूल' (Medulla) से होता है। इन 'कोष्ठ-समूहों' से कुछ तंतु हृदय, फेफड़े आदि में जाते हैं और उनकी गतियों को नियन्त्रित करते हैं। 'सहज-क्रियाओं' (Reflex actions) तथा हृदय, फेफड़े आदि की गति का संचालन इसी 'कोष्ठ-समूह-संस्थान' या 'स्वतंत्र-तंतु-संस्थान' (Ganglionic Nervous System or Autonomic Nervous System) द्वारा होता है। इस 'तन्तु-संस्थान' को 'जीवन-योनि-संस्थान' भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह जीवन के कारणभूत हृदय आदि अवयवों का संचालन करता है, और क्योंकि इसका संचालन 'कोष्ठ-समूह' (Ganglia) करते हैं, इसलिए 'जीवन-योनि-संस्थान' को 'कोष्ठ-समूह-संस्थान' (Ganglionic Nervous System) भी कहते हैं। इसे 'स्वतन्त्र-तन्तु-संस्थान' (Autonomic Nervous System) इसलिए कहते हैं क्योंकि 'बृहत्' तथा 'लघु' मस्तिष्क से सम्बन्ध न रखकर, स्वतन्त्र रूप में, यह हृदय-फेफड़े आदि जीवन के लिए आवश्यक अंगों के कार्यों का नियन्त्रण करता है।

'स्वतंत्र-तंतु-संस्थान' (Autonomic Nervous System) शरीर की थायराइड, पैरा-थायराइड, एड्रिनल, पीनियल, पिच्युटरी आदि 'प्रणालिका-रहित-ग्रन्थियों' (Ductless glands) का भी नियन्त्रण करता है। इन ग्रन्थियों का वर्णन इस पुस्तक के ३५८ पृष्ठ में किया जा चुका है।

प्रश्न

(१) 'तन्तु-संस्थान' के मुख्य-मुख्य तीनों भागों को गिनाओ।
(२) जब हम देखते हैं तब 'तन्तु-संस्थान' में क्या प्रक्रिया होती है?
(३) जब हमें काँटा लगता है, तब 'तन्तु-संस्थान' में क्या प्रक्रिया होती है?

(४) 'सहज-क्रिया' (Reflex actions) का केन्द्र कहाँ है ?

(५) 'स्वतन्त्र-तन्तु-संस्थान' (Autonomic Nervous System) क्या है ? इसे 'जीवन-योनि-संस्थान' या 'कोष्ठ-समूह-संस्थान' (Ganglionic Nervous System) भी क्यों कहा जाता है ?

(६) निम्न पर टिप्पणी करो :—
'कॉर्टेक्स', 'गैंग्लियॉन', 'मैड्यूला ऑवलौंगेटा', 'एसोसियेशन-फाइबर', 'नर्व-सेल', 'सेल-बॉडी', 'डैंड्राइटीज़', 'साइनैप्स', 'एक्सन'। इन शब्दों के हिन्दी में क्या नाम हैं ?

२६

निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष (SENSATION, PERCEPTION AND APPERCEPTION)

१. निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष (SENSATION)

मानसिक-प्रक्रिया के हमने तीन विभाग किये थे :—'ज्ञान' (Knowing), 'संवेदन' (Feeling) तथा 'कृति' अथवा 'व्यवसाय' (Willing)। इनमें से 'संवेदन' तथा 'कृति' अथवा 'व्यवसाय' का वर्णन हम कर चुके, अब 'ज्ञान' का वर्णन करेंगे। 'ज्ञान' में 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष', 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष', 'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष', 'रुचि', 'अवधान', 'प्रत्यय-सम्बन्ध', 'स्मृति', 'कल्पना', 'विचार', 'तर्क', 'शिक्षण' तथा 'स्वभाव' आ जाते हैं। अगले अध्यायों में हम इन्हीं सब का वर्णन करेंगे।

निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष किसे कहते हैं—

तो फिर 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' किसे कहते हैं? कोई 'वस्तु' या 'विषय' हमारे सामने है। उस पर सूर्य की किरणें पड़ रही हैं। वे लहरें ईथर के माध्यम से हमारी आँख की बाहर की तह को आकर छूती हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक इन्द्रिय के बाह्य त्वक्-प्रदेश में ज्ञान-तन्तुओं का जाल बिछा है, जिसे 'त्वक्-तन्तु-संस्थान' (Peripheral system) कहते हैं। जब वे लहरें आँख के ज्ञान-वाहक-तन्तुओं पर पड़ती हैं, तो उस ज्ञान को ये तन्तु दिमाग के भूरे रंग के पदार्थ—'कॉरटेक्स'—तक पहुँचाते हैं। 'कॉरटेक्स' में 'ज्ञान-केन्द्र' होता है। जब 'कॉरटेक्स' के 'ज्ञान-केन्द्र' तक अनुभव पहुँच जाता है, तभी उसे 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' या 'इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान' (Sensation) कहते हैं। आँख, नाक, कान, रसना, त्वचा, सब इन्द्रियाँ इसी प्रकार अपने ज्ञान को 'कॉरटेक्स' के ज्ञान-केन्द्र में पहुँचाती हैं।

'कॉर्टेक्स' के ज्ञान-केन्द्र में पहुँचकर, अनुभव का, झट-से 'कॉर्टेक्स' के अन्य भागों से भी सम्बन्ध हो जाता है। आँख आदि से आने वाले अनुभवों को हम पिछले अनुभवों के प्रकाश में ही देखते हैं, और हमें शुद्ध 'इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान' की कभी अनुभूति नहीं होती। 'शुद्ध-इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान' (Pure Sensation) 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' को कहते हैं, जिसमें जिस इन्द्रिय से ज्ञान आ रहा है, उस इन्द्रिय-ज्ञान की अनुभूति के सिवा अन्य कोई अनुभव शामिल न हो। होता क्या है? किसी ने 'काग़ज़'-शब्द कहा। इसे सुनते ही दिमाग़ की 'कॉर्टेक्स' के श्रवण के 'ज्ञान-केन्द्र' तक ख़बर पहुँची, परन्तु साथ हमें उसकी सफ़ेदी, उसकी लम्बाई-चौड़ाई आदि का ध्यान भी आया। यह तो 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) हो गया। प्रत्येक इन्द्रिय के साथ ऐसा ही होता है। हमारा निर्विकल्पक-ज्ञान पिछले अनकूल-प्रतिकूल अनुभवों के प्रकाश में ही नवीन-ज्ञान को देखता-सुनता है। इस दृष्टि से 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' अथवा 'शुद्ध-इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान' (Pure Sensation) तो होता ही नहीं है।

निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष के दृष्टान्त—

'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' को हम दो-एक दृष्टांत देकर और अधिक समझाने का प्रयत्न करेंगे। हम पड़े सो रहे हैं, गाढ़ निद्रा में हैं। इतने में दरवाज़े की खटखटाहट से हमारी आँख खुल जाती हैं। हम अपने चारों तरफ़ मेज़-कुर्सी-पलंग देखते हैं, परन्तु हमें कुछ सेकिण्ड तक यह ज्ञान नहीं होता कि हम कहाँ हैं, ये क्या वस्तुएँ हैं, दूसरे ही क्षण हमें सब ज्ञान हो जाता है। पहले क्षण, आँखें खोलने के ठीक बाद, जब हमारे सम्मुख धुन्धला-सा ज्ञान था, ज्ञान था भी परन्तु ज्ञान नहीं भी था, उसे 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Sensation) कहा जा सकता है, परन्तु दूसरे ही क्षण वह 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) में बदल गया। हम लिख रहे हैं, हमारा ध्यान काग़ज़ की तरफ़ है, जो शब्द लेखनी से निकल रहे हैं, उनकी तरफ़ है। परन्तु हमारे कपड़े भी हमारे अंगों को छू रहे हैं, उनका हमें 'निर्विकल्पक-ज्ञान' हो रहा है, परन्तु ज्यों ही हमने उनको सोचना शुरू किया, त्यों ही उनका ज्ञान 'निर्विकल्पक' नहीं रहा, 'सविकल्पक' हो गया। आँखें बन्द कर ली जाँय, सामने दीपक हो, उसकी रोशनी का कुछ-कुछ असर

बन्द आँखों पर भी पड़ रहा हो, हम दीपक के विषय में कुछ सोच रहे हों, उस समय जो रोशनी का असर होता है, उसे 'निर्विकल्पक' कहा जा सकता है। जब हम पैदा हुए थे, एकदम संसार को हमने आँखें खुलते ही देखा था, वह 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' था। किसी जन्मान्ध की एकदम आँखें खुल जाँय, उसे जो पहले-पहल ज्ञान होगा, वह 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Pure Sensation) कहा जायगा।

२. सविकल्पक-प्रत्यक्ष (PERCEPTION)

'कॉरटेक्स' में जब अनुभव पहुँचता है, तब उसे 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' या 'इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान' (Sensation) कहते हैं; जब मन उस अनुभव को समझ लेता है, यह अनुभव क्या है, कैसा है, कहाँ से आ रहा है, इन बातों का ज्ञान कर लेता है—तो उसे 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) कहते हैं। 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Sensation) के बाद होता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, हमारा ज्ञान, हमारा अनुभव 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' ही होता है। जब तक हमें पदार्थ के विषय में भान-सा होता है, अस्पष्ट-सा, धुन्धला-सा ज्ञान होता है, तभी तक वह 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Sensation) के क्षेत्र में होता है; ज्यों ही हमें उसका स्पष्ट ज्ञान होने लगता है, ज्यों ही हम विषय को पहचानने लगते हैं, त्यों ही वह 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) के क्षेत्र में आ जाता है। हमारा ज्ञान 'सविकल्पक' ही रहता है; 'निर्विकल्पक-ज्ञान' तो कल्पना की वस्तु समझना चाहिए। 'सविकल्पक' का अर्थ है, संकल्प-विकल्पों वाला; 'निर्विकल्पक' का अर्थ है, जिसमें संकल्प-विकल्प न हों।

इन्द्रियों पर आश्रित 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' के भेद—

'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) पाँच इन्द्रियों के कारण पाँच प्रकार के माने गये हैं। परन्तु कई मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हम अंधेरे में किसी वस्तु को पकड़ने के लिए इतना ही हाथ बढ़ाते हैं जितनी दूर वह होती है। क्यों? इससे ज्ञात होता है कि शरीर की गतियों को साधने, नजदीकी-दूरी को अनुभव करने का एक स्वतन्त्र अनुभव है, जो उन पाँचों

से पृथक् एक छठा अनुभव है। इसे 'देशानुभव' (Kinaesthetic Sensation) कहा जाता है।

'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) की तीव्रता—

प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियों की अपनी-अपनी तीव्रता (Acuity) होती है, जिसे मापा भी जा सकता है। किसी के कान तेज़ हैं, किसी की आँखें। यह तीव्रता वंशानुसंक्रमण से आती है। कई लोगों का कहना है कि तीव्रता को बढ़ाया भी जा सकता है। तीव्रता विषय के ऊपर भी निर्भर है। कई तीव्र विषय हैं। दीये के सामने बिजली की रोशनी तीव्र है, बाँसुरी की तान के सामने ढोल की आवाज़ तीव्र है। तीव्र विषय मध्यम को दबा लेता है।

इन्द्रियानुभवों पर कई परीक्षण किये गए हैं, जिनमें वीबर का परीक्षण बहुत प्रसिद्ध है। वीबर के परीक्षण को फ़ेचनर ने सब इन्द्रियों के ज्ञानों पर घटाया था, इसलिए इन परीक्षणों के आधार पर बने नियम को वीबर-फ़ेचनर नियम कहते हैं। यह नियम क्या है?

तीव्रता-विषयक वीबर-फ़ेचनर नियम—

कल्पना कीजिए कि हमारे हाथ पर ज़रा-सा काग़ज़ का टुकड़ा रख दिया गया। हमें इसके बोझ का अनभव नहीं होगा। इस बोझ को बढ़ाते जाँय, तो ऐसी अवस्था आ जायगी, जब बोझ का अनुभव होने लगेगा। यहाँ से अनुभव का प्रारम्भ होता है। इससे कम दर्जे के जो अनुभव थे, इन्हें हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। इस बोझ को हम बढ़ाते जाँय, तो अनुभव होता जायगा कि बोझ बढ़ रहा है। परन्तु बोझ के बढ़ते-बढ़ते भी एक ऐसी स्थिति आ जायगी, जब हमारे लिए बोझ असह्य हो जायगा। उस असह्य बोझ की अवस्था में अगर एक सेर बोझ और बढ़ा दिया जाय, तो हमें उसके बढ़ने का अनुभव नहीं होगा, सिर्फ़ इतना अनुभव होता रहेगा कि बोझ असह्य है। अनुभव की उस सीमा को, जब विषय कितना ही क्यों न बढ़ा दिया जाय, अनुभव में भेद नहीं ज्ञात होता, 'परान्त-सीमा' (Maximum Limit) कहते हैं। अनुभव की उस सीमा को जिससे विषय का अनुभव होना शुरू होता है, 'अपरांत-सीमा' (Threshold of Sensation) कहते हैं। हमारा शरीर 'अपरान्त'

तथा 'परांत' सीमा के बीच के भेदों को ही अनुभव करता है, इनके इधर-उधर के भेदों को नहीं। अत्यन्त धीमा शब्द भी हमें सुनाई नहीं देता, और कुछ सीमा के बाद शब्द को कितना ही क्यों न बढ़ाते जाँय, उसमें भी हम भेद नहीं कर सकते। शब्द के कम्पन में भी इतनी अधिक या न्यून मात्रा हो सकती है कि उसका हमें बिल्कुल भी ज्ञान न हो। 'परांत' तथा 'अपरांत' सीमा के इधर-उधर का शब्द सुनाई नहीं देगा।

हमने अभी कहा था कि किसी एक ख़ास सीमा पर आकर ही हम, बोझ के बढ़ने और घटने के भेद को अनुभव कर सकते हैं, और ये सीमायें 'अपरान्त' तथा 'परान्त' कहाती हैं। 'अपरान्त' तथा 'परान्त' सीमाओं में भी विषय की मात्रा में एक निश्चित वृद्धि होनी चाहिए, ताकि पहले अनुभव को दूसरे अनुभव से भिन्न कहा जा सके। प्रश्न यह है कि 'परांत' तथा 'अपरांत' सीमा के भीतर किस विषय को कितना बढ़ा दिया जाय, कि विषय में भेद का अनुभव होने लगे? प्रकाश के सम्बन्ध में पता लगाया गया है कि जितना प्रकाश हमारे कमरे में है, उसका $\frac{१}{१००}$ हिस्सा और बढ़ जाय, तो भेद पता लगेगा; दबाव, गर्मी तथा शब्द में $\frac{१}{३}$ बढ़ना चाहिए; बोझ में $\frac{१}{३०}$; उँगली पर दबाव के लिए $\frac{१}{२०}$। इसे उस विषय की 'अनुभव-भेद-मात्रा' (Differential Threshold) कहते हैं। अगर हमारे सिर पर ३० सेर बोझ है, तो १ सेर बढ़ने से मालूम पड़ेगा कि बोझ बढ़ा, आध सेर बढ़ने से नहीं। यही वीबर-फ़ेचनर ने पता लगाया। कल्पना कीजिये कि हम १० नम्बर वाली बत्ती के प्रकाश में बैठे हैं। इस प्रकाश में 'अनुभव-भेद-मात्रा' तब आयेगी, जब १० बत्ती के प्रकाश का $\frac{१}{१००}$ हिस्सा उसमें जुड़ जायगा, अर्थात् $१०+\frac{१०}{१००}$ होने पर हमें भेद अनुभव होगा। अब कल्पना कीजिये कि १०० बत्ती के प्रकाश में हम उतनी ही बढ़ती करना चाहते हैं, जितनी १० बत्ती के प्रकाश में थी। तब क्या करना होगा? $\frac{१०}{१००}$ बढ़ा देने से प्रकाश में उतनी बढ़ती नहीं होगी। उस समय $१००+\frac{१००}{१००}$ से उतना प्रकाश बढ़ेगा, क्योंकि १०० का $\frac{१}{१००}$ हिस्सा $\frac{१००}{१००}$ है। अर्थात्, प्रकाश की जितनी मात्रा आपके पास है, उसका $\frac{१}{१००}$ हिस्सा बढ़ने से ही अनुभव में भेद पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि १०० नम्बर की बत्ती में अगर हम १ बत्ती बढ़ा दें, तो उसी भेद को १,००० बत्ती

में लाने के लिए १ बत्ती बढ़ाना काफ़ी नहीं होगा, उसमें १० बत्ती बढ़ानी पड़ेंगी, तब जाकर प्रकाश में उतना भेद अनुभव होने लगेगा जितना १०० बत्ती में १ बत्ती के बढ़ाने से अनुभव होता था।

इन्द्रिय-ज्ञान के चार भेद—

'गुण' (Quality), 'मात्रा' (Intensity), 'स्थिति-काल' (Protensity) तथा 'देश' (Extensity) की दृष्टि से इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले 'सविकल्पक-ज्ञान' को चार भागों में बाँटा जाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द 'गुण' हैं। एक ही शब्द ऊँचा हो सकता है, धीमा भी हो सकता है, यह 'मात्रा' है। वह शब्द देर तक रहे, या शीघ्र समाप्त हो जाय, इससे अनुभव भिन्न हो जाता है, इसे 'स्थिति-काल' कहते हैं। नाक के एक स्थान को छुआ जाय, तो भिन्न अनुभव होता है, दूसरे स्थान को छुआ जाय, तो भिन्न। यह 'देश-कृत' भेद है। 'देश', अर्थात् 'स्थान'। 'देश-कृत' भेद स्पर्श में ही पाया जाता है, सब में नहीं।

सविकल्पक-प्रत्यक्ष तथा 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वादी'—

'प्रत्यय-सम्बन्ध-वादियों' (Associationists) का कथन है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान 'प्रत्ययों', अर्थात् 'इन्द्रिय-जन्य-ज्ञानों' के समूह का नाम है। हम अनार देखते हैं। वह गोल है, लाल है, मीठा है, और न जाने बहुत-कुछ है। ये सब अनुभव हमारे भूत के अनुभवों के प्रकाश में हमारे ज्ञान को बनाते रहते हैं। हमने परसों अनार खाया था, उस-जैसा ही यह है। यह उस-जैसा ही गोल, लाल, मीठा है। पुराने अनुभव के प्रकाश में, सादृश्य के कारण, हम इसे अनार कह देते हैं। यह अमरूद नहीं है, क्योंकि कल हमने जो अमरूद खाया था, उसके और इसके गुण भिन्न हैं। इस अन्वय-व्यतिरेक द्वारा 'प्रत्ययों' के सम्बन्ध से हमें 'सविकल्पक-ज्ञान' (Perception) होता है।

सविकल्पक-प्रत्यक्ष तथा 'जेस्टाल्ट-वादी'—

'प्रत्यय-सम्बन्ध-वादियों' के मुक़ाबिले में 'जेस्टाल्ट-वादियों' का कथन है कि 'सविकल्पक-ज्ञान' को हम भिन्न-भिन्न प्रत्ययों में नहीं बाँट सकते। हमें सम्पूर्ण वस्तु का इकट्ठा ज्ञान होता है, और किसी भी ज्ञान में सब इन्द्रियाँ मिलकर, अपना-अपना हिस्सा बाँट कर किसी ज्ञान को पूरा करती हैं।

इस सम्बन्ध में स्ट्रैटन ने एक परीक्षण किया। यह तो सब जानते ही हैं कि आँख की भीतरी दीवाल—रैटिना—पर जो बाह्य-जगत् की तस्वीर खिचती है, वह उल्टी होती है, ठीक इस तरह जैसे कैमरा की प्लेट पर तस्वीर उल्टी पड़ती है। स्ट्रैटन ने ऐसे ताल (लेन्स) बनाये जिनसे उल्टी तस्वीर फिर पलट जाती थी, और उनसे रैटिना पर उलटी तस्वीर पड़ती थी। इस प्रकार की एनक बना कर एक सप्ताह तक वह उसे दिन-रात पहिने रहा। पहले तो उसे सब-कुछ उल्टा दीखने लगा। दायीं चीज़ बायीं तरफ़ मालूम देती, और बायीं चीज़ दायीं तरफ़। जिस चीज़ को पकड़ने के लिए वह दायीं तरफ़ हाथ बढ़ाता वह बायीं तरफ़ होती—बड़े चक्कर में पड़ा! परन्तु सप्ताह भर के बाद सब ठीक हो गया, नया अभ्यास पड़ गया, अब बायीं तरफ़ की चीज़ को पकड़ने के लिए वह बायीं तरफ़ ही हाथ बढ़ाता, दायीं तरफ़ नहीं। इससे स्पष्ट है कि सब इन्द्रियाँ मिलकर ज्ञान के वर्तमान रूप को बनाती हैं। अलग-अलग नहीं। जेस्टाल्ट-वाद पर कुछ विस्तार से हम तृतीय अध्याय में लिख आये हैं।

शिक्षा तथा इन्द्रियों पर आश्रित 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष'—

शिक्षा 'इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान' पर ही आश्रित है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालकों के इन्द्रिय-ज्ञान को परखता रहे। कई बालकों की आँखें खराब होती हैं, और शिक्षक को इसका पता ही नहीं होता। ऐसा बालक बहुधा घाटे में रहता है। शिक्षक का काम बालक को भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के, जितने हो सकें, उतने अनुभव देना है। हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियानुभव पर ही आश्रित है। शिक्षक भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से जितना ज्ञान बालक को दे सकेगा उतना ही बालक के काम आएगा।

मौन्टीसरी-पद्धति तथा 'इन्द्रिय-जन्य-सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception)–

'मौन्टीसरी-पद्धति' में उपकरणों का यही लाभ है। बालक की इन्द्रियाँ उनसे सधती हैं। परन्तु शिक्षक का यही काम नहीं है कि बालकों को इन्द्रियानुभवों का धनी बनाने के लिए केवल उन्हें इन्द्रियानुभवों से घेर दे। हमें देखना चाहिए कि हम इन्द्रियानुभव प्राप्त करने के लिए जिन परिस्थितियों को बालक के चारों तरफ़ उत्पन्न करें, वे सप्रयोजन हों, निष्प्रयोजन नहीं। आजकल स्कूलों में हाथ के कई काम सिखाए जाते

हैं। इनका यही महत्त्व है कि ये बालक के इन्द्रियानुभव को बहुत बढ़ा देते हैं।

शिक्षा तथा 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception)—

'सविकल्पक-ज्ञान' को बालकों की शिक्षा को सम्मुख रखते हुए तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है :—

(क) हम ग्राम के पेड़ को देखते हैं। यह देखना क्या है? जो विषय हमारे सम्मुख है, उसे हम ग्रहण कर रहे हैं, समझ रहे हैं, यह 'दृश्य-रूप'-ज्ञान (Presentative Aspect) कहाता है।

(ख) जब श्राम का पेड़ हमारे सामने नहीं होता, तब भी हम उसका विचार मन में ला सकते हैं, यह 'कल्पना-रूप'-ज्ञान (Representative Aspect) कहाता है।

(ग) ग्राम के पेड़ को हम किन्हीं सम्बन्धों में ही अनुभव करते हैं। अगर हमारे गाँव में हमारा ही कोई बग़ीचा है, उसमें ग्राम ही के पेड़ हैं, तो उस सम्बन्ध से, अथवा किसी अन्य सम्बन्ध से हमारा ग्राम के पेड़ का ज्ञान बना रहता है। इसी प्रकार अन्य ज्ञान भी स्वतन्त्र-रूप से नहीं होते, उनमें किसी-न-किसी प्रकार का 'सम्बन्ध' बना रहता है। इसी को 'सम्बन्ध-रूप'-ज्ञान (Relational Aspect) कहते हैं।

बालकों का ज्ञान 'दृश्य-रूप' का होता है। जिस चीज को समझाना हो, उसे प्रत्यक्ष दिखाना चाहिए। उनमें कल्पना के आधार पर बना ज्ञान बहुत कम होता है। बच्चे जब एक ही चीज को दुबारा देखते हैं, तब भी उन्हें उस वस्तु के पूर्वानुभव की स्मृति बहुत कम होती है। इसलिए बच्चों को एक ही चीज के बार-बार दिखलाने की जरूरत पड़ती है। अगर ग्राम का ज्ञान कराना है, तो उन्हें बग़ीचे में ले जाकर ग्राम दिखा देने से जैसा ज्ञान हो जाता है, वैसा ग्राम का वर्णन कर देने से नहीं होता। बग़ीचे में वृक्ष दिखलाने से 'सविकल्पक-ज्ञान' में रहने वाला 'सम्बन्ध-रूप' भी अपना काम करता है। ग्राम कहाँ है? बाग में है, उसके पास अनार के पेड़ हैं, उसके एक तरफ़ पहाड़ है, 'सम्बन्धों' के कारण ग्राम के पेड़ का ज्ञान 'यथार्थ-ज्ञान' का रूप धारण करता है। कई बालकों में 'स्मृति' तथा 'कल्पना' अधिक होती है। वे जब किसी चीज को देखते

हैं, तब उससे मिलती-जुलती अनेक चीजें उन्हें याद आने लगती हैं। वे किसी गोल चीज़ को देखकर गेंद, अनार, लड्डू न जाने क्या-क्या बोल जाते हैं। 'सविकल्पक-ज्ञान' (Perception) को शुद्ध बनाने के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह बालक को वस्तु बार-बार 'दिखलाए', भिन्न-भिन्न 'सम्बन्धों' (Relations) में उसका ज्ञान कराए, और बालक वस्तु को अपनी 'कल्पना-शक्ति' द्वारा भी अपने मन में ला सके। काल तथा देश के विषय में बालकों का ज्ञान बहुत दोष-पूर्ण तथा अधूरा होता है। दिन, सप्ताह, पक्ष, मास आदि के विषय में उनका ज्ञान स्पष्ट नहीं होता। फ़ुट, गज़, मील आदि को भी वे ठीक-से नहीं समझते। इन विषयों का ज्ञान बालक को स्थूल उपायों से कराना चाहिए।

३. पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष (APPERCEPTION)

हम कह चुके हैं कि 'सविकल्पक-ज्ञान' में पिछले अनुभव काम करते रहते हैं। जब कोई बच्चे को कोनीन खाने को देता है, अगर उसने उसे कभी नहीं खाया, तो वह झट-से उसे मुँह में डाल लेता है। कड़वी लगने पर थूकता है। परन्तु अगर वह पहले कभी उसे चख चुका है, तो कोनीन को लेते ही वह फेंक देता है, कहता है, कड़वी है। अगर किसी बच्चे ने मीठा नहीं खाया, कोनीन का अनुभव कर चुका है, उसे अगर मीठा दिया जाय, तो वह 'कड़वा' कहकर उसे बिना चखे ही फेंक देता है। यह क्यों? इसका यही कारण है कि हमारा सम्पूर्ण नवीन-ज्ञान पूर्ववर्ती-ज्ञान के प्रकाश में हम में प्रविष्ट होता है। हम कई बातों का प्रत्यक्ष कर चुके हैं। जब नया प्रत्यक्ष होता है, मन में एक विचार-प्रक्रिया चल पड़ती है। यह चीज़ अमुक चीज़ से मिलती है, और अमुक से भिन्न है। जिस बालक ने कोनीन चख रखी है, मीठा नहीं चखा, वह मीठे को देखकर उसका कोनीन से मिलान करता है; जिसने मीठा चखा, कोनीन नहीं चखी, वह कोनीन को देखकर उसे मीठा समझता है। अर्थात् हमारा जो भी नवीन प्रत्यक्ष होता है, वह पूर्ववर्ती-प्रत्यक्ष का अनुवर्ती होकर चलता है, इसलिए प्रत्येक नवीन-ज्ञान 'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष' (Apperception) कहाता है। इसी दृष्टि से कई लोगों का कथन है कि सम्पूर्ण 'सविकल्पक-ज्ञान' (Perception) 'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष' (Apperception) ही है।

एक मजदूर वेदों के व्याख्यान को नहीं समझ सकता, एक विद्वान् बड़े विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्यान को क्यों समझता है ? मजदूर देखता है कि उसका जो 'पूर्वानुवर्ती-ज्ञान' (Apperceptive mass) है, वेदों के व्याख्याता की कोई बात भी उससे मेल नहीं खाती। उसके दिमाग़ में जो वर्गीकरण बन चुका है, उसमें वेदों की बात किसी वर्ग में नहीं आती। वेदों के व्याख्याता के मन में जो-कुछ पहले से संचित है, व्याख्याता का विषय उससे बहुत मिलता-जुलता है, इसलिए वह सब-कुछ समझता जाता है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हम नवीन विषय को उतना ही समझ सकते हैं, जितना वह हमारे पूर्व-प्रत्यक्ष से मिलता-जुलता होता है। अगर किसान के सम्मुख 'फल' शब्द का उच्चारण किया जाय, वह इसका अभिप्राय सेव, अमरूद आदि समझेगा; अगर पण्डित के सम्मुख यह शब्द बोला जाय, तो उसका ध्यान 'कर्मों के फल' की तरफ़ जायगा; अगर लोहार के सम्मुख यह शब्द कहा जाय, तो वह इसका अर्थ छुरी, भाला आदि समझेगा। प्रत्येक व्यक्ति का नवीन-ज्ञान उसके पूर्ववर्ती-ज्ञान का अनुवर्ती होगा। नए अनुभव पुरानों से ही मिलते-जुलते होते हैं, इसलिए वे दिमाग़ में स्थान पा जाते हैं। अन्दर जाकर वे पुराने अनुभवों से सम्बद्ध हो जाते हैं, और उनमें अपनी कुछ नवीनता का भी संचार कर देते हैं। इस प्रकार 'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष' पूर्वानुभवों के नवीन-अनुभवों के साथ 'सम्बन्धों' (Associations) का परिणाम होता है।

शिक्षा तथा 'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष'—

शिक्षा में 'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष' का बड़ा महत्त्व है। शिक्षक बालक को वही बात समझा सकता है, जिस तरह की कोई बात वह पहले समझा हुआ है, बिल्कुल नई बात को नहीं समझा सकता। अगर कोई नई बात समझानी हो, तो उसका बालक के 'पूर्वानुवर्ती-ज्ञान' (Apperceptive mass) के साथ किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ना होगा। बालक प्रत्येक पदार्थ का ख़ुद-ब-ख़ुद अपने 'पूर्ववर्ती-ज्ञान' के अनुसार वर्गीकरण करता रहता है। विक्रम की बहन का नाम उमा है। विक्रम को एक लड़की की तस्वीर दिखाई जाती है। उसे देख कर वह झट-से 'उमा' कह उठता है। बड़ा होने पर बालक अक्षराभ्यास सीखता है, परन्तु कुछ ही दिनों में

वह शब्द पढ़ना सीख जाता है। जब वह खूब पढ़ने लगता है, तब वह प्रत्येक शब्द के हिज्जे नहीं करता, शब्द-के-शब्द पढ़ जाता है। अगर ग़लत शब्द लिखा है, उसे भी सही पढ़ जाता है। इसका कारण यही है कि उसके दिमाग़ में जो ज्ञान बन चुका है, उसी के आधार पर वह पढ़ता जाता है, शब्द पढ़ते हुए वह उसके एक-एक अक्षर को नहीं पढ़ता। शिक्षक का काम 'पूर्ववर्ती-ज्ञान' के साथ नवीन-ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करते जाना है।

'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष' (Apperception) तथा हर्बार्ट—

शिक्षा के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को हर्बार्ट ने घटाया था। उसका कथन है कि अध्यापक को नया पाठ पढ़ाते हुए पिछले पाठ के साथ सम्बन्ध अवश्य जोड़ना चाहिए, तभी नया पाठ समझ में आता है, अन्यथा नहीं। हर्बार्ट ने विद्यार्थी को पढ़ाने के लिए जिन पाँच-क्रमों का उल्लेख किया है, उनमें 'विषय की तैयारी' पहला अंग है। इसका सम्बन्ध 'पूर्वानुवर्ती-प्रत्यक्ष' से है। इन पाँच-क्रमों का वर्णन हमने अपने 'शिक्षा-शास्त्र' तथा इस पुस्तक में अन्यत्र विस्तार से दिया है।

प्रश्न

(१) 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Pure sensation) में शारीरिक तथा मानसिक क्या प्रक्रिया होती है? 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' के कुछ दृष्टांत दो।

(२) 'देशानुभव' (Kinaesthetic sensation) क्या है?

(३) 'परान्त-सीमा' (Maximum limit) तथा 'अपरान्त-सीमा' (Threshold of sensation) की व्याख्या करो।

(४) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की 'तीव्रता' (Acuity) के विषय में वीबर-फ़ेचनर नियम क्या है?

(५) प्रकाश तथा भार के विषय में 'अनुभव-भेद-मात्रा' (Differential threshold) को उदाहरण देकर समझाओ।

(६) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के विषय में शिक्षक का कर्त्तव्य क्या है?

(७) मौन्टीसरी पद्धति की शिक्षा के क्षेत्र में क्यों इतनी प्रतिष्ठा है?

(८) 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) में बालकों की शिक्षा को ध्यान में रखते हुए किन तीन बातों को सम्मुख रखना चाहिए?

(९) शिक्षा में निरीक्षण (Observation) तथा 'पूर्वानुवर्ती-ज्ञान' (Apperceptive mass)) का क्या स्थान है?

२७

'सामान्य-प्रत्यय', 'निरीक्षण' तथा 'निर्णय'
(CONCEPTS, OBSERVATION AND JUDGMENT)

'प्रत्यय' (Percept) तथा 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) में भेद—

छब्बीसवें अध्याय में हम 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Sensation) तथा 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) का वर्णन कर आए हैं। 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' उस अनुभव को कहते हैं जिसमें हमें 'निर्गुण'-ज्ञान होता है; वही ज्ञान जब 'सगुण' हो जाता है, तब उसे 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' कह देते हैं। 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) अनुभव की एक 'प्रक्रिया' (Process) का नाम है; इस प्रक्रिया का परिणाम 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) होता है। 'प्रत्यय' का संस्कृत में अर्थ है—भिन्न-भिन्न वस्तुओं का ज्ञान। 'प्रत्यय' के दो भेद हैं—'विशेष' (Particular) तथा 'सामान्य' (General)। हम पुस्तक को देख रहे हैं, तो पुस्तक का 'प्रत्यय'-विशेष हो रहा है; गीत को सुन रहे हैं, तो गीत का 'प्रत्यय'-विशेष हो रहा है; फूल को सूंघ रहे हैं, तो फूल की गन्ध का 'प्रत्यय'-विशेष हो रहा है। इसे 'प्रत्यय-विशेष' इसलिए कहते हैं क्योंकि जो विशेष अर्थात् खास चीज सामने है उसी का हमें ज्ञान होता है, उस-जैसी और सब का ज्ञान अभी नहीं होता। पशुओं का अनुभव 'प्रत्यय-विशेष-ज्ञान' तक ही सीमित रहता है। कोई वस्तु उनके सम्मुख है, तो उन्हें उस विशेष-वस्तु का ही 'प्रत्ययानुभव' (Perceptual Experience) हो रहा है। वह वस्तु सामने से हटा ली गई, तो उस सामने वाली विशेष वस्तु का अनुभव भी जाता रहता है। कई 'प्रत्यय-विशेषों' (Percepts) से 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) बनता है। हमारे सामने जो पुस्तक है, वह तो एक पुस्तक हुई, यह पुस्तक का 'प्रत्यय-विशेष' (Percept) कहाता है; अनेक पुस्तकों को देखकर जब हमें पुस्तक-

मात्र का ज्ञान हो जाता है, तब हमें पुस्तक का 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) हो जाता है। पशुओं को 'प्रत्यय-विशेष' (Percept) तो होता है, 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) नहीं होता। जब किसी वस्तु के सामने न होते हुए भी हम उसकी प्रतिमा मन में ला सकते हैं, तब उस ज्ञान को 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) कहते हैं। कुछ-एक पशुओं को दो-चार बातों का 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) हो सकता है, परन्तु इन 'सामान्य-प्रत्ययों' की संख्या बहुत थोड़ी रहती है। मनुष्य में पशुओं की तरह नहीं होता। मनुष्य के सम्मुख पुस्तक है, तो उसे पुस्तक का 'प्रत्ययानुभव' (Perceptual experience) हो रहा है, पुस्तक सामने से हटा ली गई, तब भी वह पुस्तक की 'प्रतिमा' (Image) को मन में ला सकता है। प्रत्येक विषय में उसका अनुभव इसी प्रकार का होता है, और उसमें ऐसे 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) की संख्या बहुत अधिक होती है।

१. 'सामान्य-प्रत्यय-ज्ञान' (CONCEPTS)

'सामान्य-प्रत्यय' (Concepts) का क्या अर्थ है?

किसी वस्तु के सामने होने पर जो ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यय' (Percept) कहते हैं; उसके सामने न होने पर उसकी जो शक्ल याद आ जाती है, उसे 'प्रतिमा' (Image) कहते हैं; उसके विषय में हम में जो 'सामान्य-ज्ञान' रहता है, उसे 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) कहते हैं। बालक एक बिल्ली को देख रहा है। उसकी एक पूंछ है, चार टाँगें हैं, काला रंग है। यह उसका 'प्रत्यय'-विशेष है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि इसे 'विशेष'-प्रत्यय इसलिए कहते हैं क्योंकि 'प्रत्यय' का अर्थ है चीजों का ज्ञान, और 'विशेष' का अर्थ है ख़ास। यह 'विशेष'-प्रत्यय इसलिए है क्योंकि यह ख़ास चीज़ का ज्ञान है, आम चीज़ का नहीं। इसलिए दूसरी बार जब बालक उसी बिल्ली को देखता है, तो पुराना 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) याद हो आता है, और वह बिल्ली को देखकर समझ जाता है कि यह वही जानवर है, जो उसने पहले देखा था। इस बात के 'प्रत्यय' में पुराने 'प्रत्यय' की 'प्रतिमा' भी काम आ रही है। बिल्ली को बिना देखे भी उसे बिल्ली की 'प्रतिमा' स्मरण आ रही है। बिल्ली को अनेक

बार देखने पर, और कई बिल्लियों को कई बार देखने पर, उसके मन में बिल्ली का एक 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) उत्पन्न हो जाता है। वह बिल्ली बोलने से अपने घर की ही बिल्ली का नहीं, अर्थात् किसी विशेष बिल्ली का नहीं, बिल्ली-मात्र का ग्रहण करने लगता है। धीरे-धीरे बालक बिल्ली, कुत्ता, चूहा, चिड़िया, मेज़, कुर्सी इत्यादि सैकड़ों 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) को सीख जाता है।

'सामान्य-प्रत्यय' में पाँच प्रक्रियाएँ होती हैं—

'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) का ज्ञान बालक को किस प्रकार होता है? शुरू-शुरू में तो बालक को 'प्रत्यय-विशेषों' का, अर्थात् जो प्रत्यय सामने हो, उसी का ज्ञान होता है। वह मेज़ को देख रहा है, तो मेज़ के 'प्रत्यय' का उसे ज्ञान है; कुर्सी को देख रहा है, तो कुर्सी के 'प्रत्यय' का ज्ञान है। बिल्ली को देख रहा है, तो बिल्ली के 'प्रत्यय' का ज्ञान है। जिस बिल्ली को वह देख रहा है, उसके एक पूँछ, चार टाँगें और काला रंग है। अगली बार वह फिर एक बिल्ली को देखता है। इस बार बिल्ली की एक पूँछ, चार टाँगें तो हैं, परन्तु रंग काले की जगह सफ़ेद है। वह देखता है कि इसे भी उसके माता-पिता बिल्ली ही कहते हैं। वह समझ लेता है कि बिल्ली का रंग काला तथा सफ़ेद दोनों हो सकता है। तीसरी बार वह भूरी बिल्ली को देखता है, और उसे भी सब को बिल्ली कहते ही सुनता है। अब वह जो भी बिल्ली सामने आती है, उसे पहचान जाता है, उसे बिल्ली के भिन्न-भिन्न प्रत्ययों को देखकर उसका 'सामान्य-प्रत्यय' हो गया है। 'सामान्य-प्रत्यय' तक पहुँचने में बालक को पाँच-क्रमों में से गुज़रना पड़ता है :—

(क) *निरीक्षण (Observation)*—बालक प्रत्यक्ष द्वारा भिन्न-भिन्न 'प्रत्ययों' को देखता है, या स्मृति द्वारा भिन्न-भिन्न 'प्रतिमाओं' को देखता है। पहले उसने काले रंग की बिल्ली देखी। यह पहली बार का प्रत्यय-'निरीक्षण' था। दूसरी बार जब वह सफ़ेद रंग की बिल्ली को देखता है, तो काले रंग की बिल्ली की 'प्रतिमा' को स्मृति द्वारा मन में लाता है, और साथ ही सफ़ेद रंग की बिल्ली का 'प्रत्यय' जो सामने दीख रहा है— उसे भी मन में लाता है। ये दोनों एक ही साथ उसके मन में आते हैं।

(ख) तुलना (*Comparison*)—इस निरीक्षण के बाद वह पहले प्रत्यय की 'प्रतिमा' की वर्तमान 'प्रत्यय' के साथ तुलना करता है। पहले उसने काले रंग की बिल्ली को देखा था, अब सफ़ेद रंग की बिल्ली को देख रहा है। इन दोनों अनुभवों में भिन्नता है, परन्तु भिन्नता होते हुए समता भी बड़ी है।

(ग) पृथक्करण (*Abstraction*)—अब बालक भिन्नता को पृथक् कर देता है, समानता को पृथक् करके अलग निकाल लेता है। इसमें सन्देह नहीं कि पहली बिल्ली में और सफ़ेद रंग की बिल्ली में रंग का भेद है, परन्तु इन दोनों में समानता इतनी अधिक है कि बालक इस समानता को अलग निकाल लेता है, और इन समान गुणों को जोड़ लेता है। किसी वस्तु के विषय में इन्हीं समान गुणों के संग्रह को 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) कहते हैं।

(घ) जाति-निर्देश (*Generalization*)—'सामान्य-प्रत्यय' के मन में उत्पन्न हो जाने पर वह अधिकाधिक स्पष्ट होने लगता है। बालक के मन में काली, सफ़ेद, भूरी—अनेक बिल्लियों को देखकर 'बिल्ली' का 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) उत्पन्न हो गया। अब वह बिल्ली को ही देखकर बिल्ली कहेगा, और बिल्ली में अनेक प्रकार की भिन्नताओं के होते हुए भी उसे पहचान जायगा। इस अवस्था में हम कहते हैं कि उसे बिल्ली-'जाति' का ज्ञान हो गया।

(ङ) 'परिभाषा' (*Definition*)—'जाति-निर्देश' के बाद 'परिभाषा' का स्थान है। 'परिभाषा' द्वारा हम बालक के मन में उसी विचार को बड़ी आसानी से उत्पन्न कर देते हैं जिसे उसने बड़ी लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया में से गुज़र कर प्राप्त किया है। जब हम 'कुत्ता' कहते हैं, तब वह समझ जाता है कि इसका मतलब बिल्ली-चूहे आदि से नहीं है, चार पाँवों वाले, काटने और भौंकने वाले जानवर से है।

शिक्षक का काम बालक के मन में शुद्ध 'परिभाषा' उत्पन्न करना है—

बालक के मन में 'परिभाषा' का ज्ञान धीरे-धीरे उत्पन्न होता है, और धीरे-धीरे ही उसमें स्पष्टता आती है। शुरू-शुरू में जब बालक को कुत्ते या बिल्ली का ज्ञान होता है, तो वह उनकी 'परिभाषा' तो ठीक-ठीक

नहीं कर सकता, परन्तु उसे कुत्ते या बिल्ली का साधारण-ज्ञान अवश्य हो जाता है। उसे कुत्ते का जो 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) होता है, उसमें अपने घर में देखे गए कुत्ते की 'प्रतिमा' उसके मन में आ जाती है। उसके अन्य 'सामान्य-प्रत्ययों' का भी यही हाल रहता है। धीरे-धीरे उसके 'सामान्य-प्रत्यय' परिष्कृत होते जाते हैं, और कुछ देर बाद जब 'कुत्ता' शब्द कहा जाता है, तो उसे अपने घर के कुत्ते का ख्याल नहीं आता, उसकी प्रतिमा नहीं उत्पन्न होती, अपितु उसके मन में 'कुत्ता-सामान्य' का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। असली 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) इसी को कहा जाता है।

'विशेष' से 'सामान्य' (From Particular to General) को जाओ—

इस दृष्टि से 'सामान्य-प्रत्यय' एक सापेक्षिक शब्द है। पहले बालक को अनेक गौएँ देखकर 'गो-सामान्य' का प्रत्यय होता है। इसी प्रकार घोड़ा, बकरी, गधा आदि का अलग-अलग 'सामान्य-प्रत्यय' होता है, परन्तु चौपायों की दृष्टि से गौ, घोड़े, बकरी, गधे आदि का प्रत्यय भी 'विशेष-प्रत्यय' है, क्योंकि 'चौपाया'-शब्द गौ, घोड़े आदि से भी अधिक 'सामान्य' है, अधिक व्यापक है। बालक का ज्ञान 'प्रत्यय-विशेषों' (Percepts) से 'जाति-प्रत्ययों', (Generic Ideas or Recepts), और 'जाति-प्रत्ययों' से 'सामान्य-प्रत्ययों' (Abstract Ideas or Concepts) की तरफ़ बढ़ता है। पहले वह अनेक गौओं को देखता है, ये भिन्न-भिन्न प्रत्यय हैं। इसके बाद 'गौ' कहने से उसे गो-सामान्य का ज्ञान तो होता है, परन्तु उसके घर की गौ की भी उसके मन के सम्मुख 'प्रतिमा' आ जाती है, यह 'जाति-प्रत्यय' (Generic Idea or Recept) कहाता है। 'जाति-प्रत्यय' के बाद बालक के मन का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, त्यों-त्यों 'सामान्य-प्रत्यय' (Abstract Idea or Concept) का विचार उसमें उत्पन्न होता जाता है। 'सामान्य-प्रत्यय' के उत्पन्न हो जाने पर जब 'गौ' कहा जायगा, तो बालक के मन में उसके घर की गौ की प्रतिमा नहीं उत्पन्न होगी, परन्तु वह 'गो-सामान्य' को समझ जायगा। इस प्रकार बालक के ज्ञान में 'विशेष' (Particular) से 'सामान्य' (General) की तरफ़ विकास होता है, और वह धीरे-धीरे 'सामान्य-

प्रत्ययों' (Concepts) का संग्रह करता है। 'सामान्य-प्रत्ययों' के निर्माण की प्रक्रिया 'विशेष' से 'सामान्य' की तरफ़ होती है, इसलिए शिक्षक को सदा 'विशेष' से 'सामान्य' (From Particular to General) की तरफ़ जाने का प्रयत्न करना चाहिए इसी से बालक किसी बात को ठीक तौर से समझ सकता है।

रियलिज़्म, नौमिनलिज़्म, तथा कनसैप्चुअलिज़्म में भेद—

क्या 'सामान्य-प्रत्यय' काल्पनिक वस्तु हैं, या इनकी यथार्थ में सत्ता है? जब हम 'पंखा'-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब अगर हमारे मन में अपने पंखे का विचार है, तब तो ठीक, क्योंकि हमारा पंखा हमारे सामने मौजूद है, पर जब हमारे मन में 'पंखा-सामान्य' का विचार होता है, तब कोई पूछ सकता है कि 'पंखा-सामान्य' क्या वस्तु है? क्या हमारे पंखे की तरह 'पंखा-सामान्य' की भी सत्ता है? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न दिया गया है। प्लेटो का कथन था कि पंखा-सामान्य काल्पनिक नहीं, सद्वस्तु है, और उसी सद्रूप 'पंखा-सामान्य' की नक़ल में, जिसमें सब पंखों के गुण विद्यमान हैं, भिन्न-भिन्न पंखों का निर्माण हुआ है। प्लेटो के विचार के अनसार 'गोत्व', 'अश्वत्व', 'घटत्व', 'पटत्व' काल्पनिक नहीं, सत्तावान् विचार हैं, और इन्हीं को आदर्श में रखकर भिन्न-भिन्न गौओं, घोड़ों आदि की रचना हुई है। प्लेटो के इस विचार को 'जाति-सत्ता-वाद' (Theory of Ideas) कहा जाता है। इस विचार को 'यथार्थ-सत्तावाद' (Realism) भी कहा जाता है, क्योंकि प्लेटो के अनुयायी गोत्व, अश्वत्व आदि 'सामान्य-प्रत्ययों' की स्वर्ग-लोक में 'यथार्थ-सत्ता' मानते थे। इस विचार के विरोध में 'नाम-रूपात्मवाद' (Nominalism) की उत्पत्ति हुई। इस विचार को मानने वालों का कथन है कि 'विशेष' ही यथार्थ-सत्तावाली वस्तु है, 'सामान्य' नहीं; भिन्न-भिन्न गौएँ तो दीखती हैं, 'गोत्व' या 'गो-पने' की कहीं सत्ता नहीं है। 'सामान्य-प्रत्यय' को हमने अपनी सुविधा के लिए 'नाम' दे रखा है, यह मनुष्य की पैदा की हुई वस्तु है, इसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। इन दोनों विचारों के कुछ-कुछ अंश को लेकर 'सामान्य-प्रत्ययवाद' (Conceptualism) की उत्पत्ति हुई। 'सामान्य-प्रत्ययवाद' का यह मतलब है कि 'सामान्य-प्रत्ययों' की सत्ता तो

है, परन्तु प्लेटो के अनुसार स्वर्ग-लोक में नहीं अपितु इनकी सत्ता हमारे ही मस्तिष्क में है।

शिक्षक का काम 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान कराना है—

'सामान्य-प्रत्यय' कहीं से भी क्यों न आते हों, चाहे ये यथार्थ हों, चाहे नाम-रूपात्मक हों, चाहे हमारे मस्तिष्क में इनकी सत्ता हो, शिक्षा की दृष्टि से वे अत्यन्त आवश्यक हैं। शिक्षा का काम ही बालक के मन में 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) को बढ़ाना है। जिसके मन में जितने अधिक 'सामान्य-प्रत्यय' होंगे, वह उतना ही अधिक शिक्षित कहा जायगा। जैसा अभी कहा गया था, 'सामान्य-प्रत्ययों' को प्रकट करने के लिए 'परिभाषाओं' (Definitions) का प्रयोग होता है। 'नदी' एक परिभाषा है। अगर यह परिभाषा, यह 'सामान्य-प्रत्यय' न हो, तो बालक को नदी का ज्ञान देने के लिए बार-बार नदी के सम्मुख ले जाना पड़े। 'परिभाषा' हमारी विचार-प्रक्रिया को छोटा कर देती है। नदी का बोध उत्पन्न करने के लिए पहले बालक को नदी तक ले जाना पड़ता है, पीछे 'नदी'-शब्द कह देने मात्र से वह सारी प्रक्रिया बालक के मन में हो जाती है जो नदी तक ले जाने से होती। अगर जीवन में 'सामान्य-प्रत्यय' या 'परिभाषा' न होती, तो हमारा व्यवहार ही न चल सकता। एक मनुष्य को गीली हवा अनुकूल नहीं पड़ती, खुश्क हवा अनुकूल पड़ती है। उससे हम पूछते हैं, क्या तुम बम्बई जाओगे, या सोलन? अगर 'परिभाषा' या 'सामान्य-प्रत्यय' न हो, तो हमें पहले तो उसे बम्बई ले जाना पड़े, फिर सोलन ले जाना पड़े, और तब जाकर हम उससे पूछ सकें कि इन दोनों स्थानों में से तुम कहाँ रहोगे। तब भी हम उससे पूछ सकें, या न पूछ सकें, इसमें सन्देह है, क्योंकि जब वह सोलन में होगा, तब बम्बई में न होगा, और जब बम्बई में होगा, तब सोलन में न होगा। 'सामान्य-प्रत्यय' हमारी विचार-प्रक्रिया के दीर्घ-चक्र को बहुत छोटा कर देता है, और हम घर बैठे 'सामान्य-प्रत्यय' से ऐसे खेलते हैं, जैसे खिलौनों से खेला जाता है। 'शब्द' या 'परिभाषा' 'सामान्य-प्रत्यय' को प्रकट करने वाला ही एक चिह्न है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। पशुओं में 'सामान्य-प्रत्यय' नहीं होते, मनुष्यों में होते हैं, और अगर कोई ऐसा मनुष्य हो जिसमें 'सामान्य-प्रत्यय' न हों,

तो उसे पशु-समान ही समझना चाहिए। जंगली जातियों में 'सामान्य-प्रत्यय' बहुत थोड़े होते हैं।

'परिभाषा' का शिक्षण में स्थान : परिभाषाएँ रटवाना मूर्खता है—

इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि असली चीज़ 'सामान्य-प्रत्यय' है, 'परिभाषा' नहीं। 'परिभाषा' तो 'सामान्य-प्रत्यय' को जागृत करने का एक साधन है। कई शिक्षक 'परिभाषा' पर इतना बल देते हैं कि उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि बालक के मन में उस 'परिभाषा' को सुनकर कोई ज्ञान भी उत्पन्न होता है, या नहीं। बालक परिभाषाओं को रट लेते हैं, और शिक्षक समझ लेता है कि उन्हें ज्ञान हो गया। हमें अभी कानपुर में एक बालिका से मिलने का अवसर हुआ। हमने उससे पूछा—'नदी' किसे कहते हैं? उसने झट-से कहा—'नदी मीठे पानी की वह धारा है, जो पहाड़ से निकलकर समुद्र में गिरती है।' फिर हमने पूछा—'क्या तुमने कभी नदी देखी है?' उसने कहा—'नहीं'। वह बालिका उसी समय गंगा से स्नान करके आ रही थी, उसे नदी की परिभाषा भी याद थी, परन्तु वह समझती थी कि उसने नदी कभी नहीं देखी। बालकों की अनेक परिभाषाएँ इसी तरह की होती हैं। शिक्षक को चाहिए कि पहले बिना 'परिभाषाओं' का प्रयोग किए, बालक के मन में 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान उत्पन्न करे। जब 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान उत्पन्न हो जाय, तब 'परिभाषाओं' का प्रयोग करे। 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) को उत्पन्न करने का साधन 'प्रत्यय-विशेषों' (Percepts) को उत्पन्न करना है। बालक को जितना पदार्थ ज्ञान होगा, उतने ही उसके 'सामान्य-प्रत्यय' बढ़ेंगे। 'सामान्य- प्रत्यय' पदार्थ को अधिकाधिक समझने के लिए ही तो हैं, परन्तु जब तक पदार्थों का शुद्ध-ज्ञान नहीं होगा, तब तक 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान कहाँ से हो जायगा। इसीलिए शिक्षक को 'स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़' (From Concrete to Abstract or From Particular to General) जाना चाहिए, 'सूक्ष्म से स्थूल की तरफ़' नहीं। बालक को भिन्न-भिन्न स्थूल-पदार्थों का अनेक बार अनुभव कराना चाहिए। उसका 'प्रत्ययानुभव' (Perceptual experience) जितना-जितना विशद तथा स्पष्ट होगा, उसके 'सामान्य-प्रत्यय' (Con-

cepts) भी उतने ही विशद तथा स्पष्ट होंगे। बालकों के 'सामान्य-प्रत्यय' अस्पष्ट तथा अशुद्ध क्यों होते हैं? क्योंकि उन्हें पदार्थों का ज्ञान बहुत थोड़ा दिया गया होता है। हो सकता है, उन्होंने पदार्थों के निरीक्षण में समता को देखा हो, विषमता को न देखा हो। इसलिए 'सामान्य-प्रत्ययों' के निर्माण के लिए यह बहुत अधिक आवश्यक है कि बालक को पदार्थों का ज्ञान खूब अच्छी तरह से करा दिया जाय। 'प्रत्यय'-ज्ञान में जो कमी रह जायगी, वह उसके 'सामान्य-प्रत्यय' के ज्ञान में भी आ जायगी।

'सामान्य-प्रत्ययों' के ज्ञान का क्या क्रम है—

शिक्षक के लिए यह समझ लेना बहुत आवश्यक है कि बालक के मन में पहले कौन-से 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान होता है, और फिर कौन-से, ताकि जिस आयु में जिस तरह के 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान बालक ग्रहण कर सकता है, उस आयु में उन्हीं 'सामान्य-प्रत्ययों' को उत्पन्न करने का वह प्रयत्न करे, दूसरों को नहीं। यह क्रम इस प्रकार है :—

(क) बचपन में खाने-पीने के पदार्थों की तरफ़ बालक का शौक़ होता है, इसलिए अनाज, सब्ज़ी, फल आदि का ज्ञान सबसे प्रथम कराना चाहिए।

(ख) जो चीजें आम पाई जाती हैं, उनका ज्ञान इनके बाद आना चाहिए। जैसे—वृक्ष, कुत्ता, बिल्ली, सूर्य, चंद्र, तारा आदि।

(ग) इसके बाद उन चीजों का ज्ञान कराना चाहिए जो कम पाई जाती हैं। जैसे—शेर, हाथी, अजगर आदि।

(घ) अन्त में, भाव-वाचक पदार्थों का ज्ञान कराना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, न्याय, परीक्षा, हरियावल, सफ़ेदी आदि। इस आयु में परिभाषा ही सब-कुछ हो जाती है, और विज्ञान आदि उच्च-कोटि के ग्रन्थों का मनुष्य अच्छी तरह अध्ययन कर सकता है।

२. निरीक्षण (OBSERVATION)

हमने देखा कि ज्ञान ग्रहण करते समय पहले-पहल हमारी इन्द्रिय 'विषय' (Object) का 'निर्गुण'-ज्ञान ग्रहण करती है—इसे हमने 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Sensation) का नाम दिया था। यह 'निर्गुण'-ज्ञान

जब 'सगुण' बन जाता है, उसे हमने 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) का नाम दिया। 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' में हमने देखा कि पशुओं में जब तक 'विषय' सामने होता है, तभी तक उन्हें उस 'विषय' का ज्ञान रहता है, जब 'विषय' सामने नहीं होता, तब याद करके उन्हें उसका ज्ञान नहीं होता। मनुष्य में 'विषय' सामने न हो, तब भी वह उसके ज्ञान को मन में ला सकता है। 'विषय' सामने होने पर जो ज्ञान होता है, उसे हमने 'प्रत्यय-विशेष' (Percept) का नाम दिया। 'विषय' सामने न हो, तब भी उस 'विषय' की जब हम 'प्रतिमा' (Image) मन में ला सकते हैं, उसे हमने 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) का नाम दिया।

'प्रत्यय' (Perception) तथा 'निरीक्षण' (Observation) में भेद—

बालक ने अपने घर की सीढ़ी देखी है, यह 'सीढ़ी' का 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) है, अगर वह घर की सीढ़ी को देखकर ही सीढ़ी कहता है, दूसरी जगह की सीढ़ियों को देखकर सीढ़ी नहीं कहता, तब तो उसका ज्ञान 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) तक ही सीमित है; अगर वह जहाँ भी सीढ़ी देखता है, उसे देखकर सीढ़ी कह उठता है, तब उसमें सीढ़ी के 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) का, अर्थात् सब सीढ़ियों का ज्ञान पैदा हो गया। परन्तु क्या 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) के ज्ञान के आगे हमारा ज्ञान नहीं बढ़ता? हम अपने घर की सीढ़ी पर रोज चढ़ते हैं। हमें सीढ़ी का 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) भी है, सीढ़ी का 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) भी है, परन्तु अगर कोई हमसे पूछे कि तुम्हारी सीढ़ी में कितने कदम हैं, तो क्या हम बतला सकते हैं? सैकड़ों बार हम उसी सीढ़ी पर चढ़े हैं, परन्तु हमें आज तक यह मालूम नहीं कि उसमें बीस क़दम हैं, या पच्चीस! हम रोज कुर्त्ता पहनते हैं, परन्तु अगर कोई हम से पूछ बैठे कि कुर्त्ता पहनते हुए पहले दाँयें हाथ को बाँह में डालते हो, या बाँये को, तो हम शायद इसका भी उत्तर न दे सकें। क्यों भाई, जूता पहनते हुए कौन-सा पाँव जूते में पहले डालते हो, भोजन करते हुए कितनी बार चबाते हो—बीसियों बातें ऐसी निकल आयेंगी, जिन्हें हम रोज करते हैं, परन्तु किसी का उत्तर हम ठीक-से नहीं दे सकते। इसका क्या कारण है?

इसका कारण यह है कि हमें 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) का ज्ञान हो गया, 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) का भी ज्ञान हो गया, परन्तु यह सब होते हुए भी हमने अभी अपने ज्ञान का 'विश्लेषण' (Analysis) नहीं किया, उसे टुकड़े-टुकड़े अलग करके हर-एक टुकड़े पर अलग-से ध्यान नहीं दिया। हमारा ज्ञान 'अङ्गी' (Whole) का ज्ञान है, 'अङ्गों' (Parts) का, अलग-अलग टुकड़ों का नहीं। 'जेस्टाल्ट-वाद' (Gestalt theory) का ८० पृष्ठ पर वर्णन करते हुए हमने कहा था कि हमारा ज्ञान सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान होता है, पूरे का ज्ञान होता है, अङ्गी का ज्ञान होता है, उसके भिन्न-भिन्न अंगों का ज्ञान नहीं होता। हम पहाड़ को देखते हैं, उस पर उगे हुए एक-एक वृक्ष को नहीं, हम गाने को सुनते हैं, उसकी एक-एक रागनी को नहीं।

अगर हमें घर की सीढ़ियों की संख्या बतानी हो, अगर हमें यह बताना हो कि हम कुर्त्ते की दाँयी बाँह पहले पहनते हैं या बाँयी, अगर हमें यह बतलाना हो कि पाँव में जूता डालते हुए हम कौन-से पाँव से उसे पहले पहनते हैं, अगर हमें पहाड़ पर क्या-क्या दीख रहा है, यह सब-कुछ बताना हो, तो मन में जो प्रक्रिया होती है, उसे 'निरीक्षण' (Observation) कहते हैं। हमने अभी देखा कि हमारा ज्ञान 'अङ्गी' (Whole) का ज्ञान है। इस 'अङ्गी' में से 'अङ्गों' (Parts) का 'विश्लेषण' (Analysis) करना, उसकी एक-एक बात को सारे में से अलग-अलग कर देना, और फिर उस पर गहराई से ध्यान देना ही 'निरीक्षण' (Observation) कहाता है।

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि 'निरीक्षण' (Observation) तभी हो सकता है जब पहले बालक को 'प्रत्यय'-विशेष (Percepts) तथा 'प्रत्यय'-सामान्य (Concepts) का ज्ञान हो। जब वह घर की सीढ़ी को देखकर, और फिर जगह-जगह सीढ़ियों को देखकर, सीढ़ी का 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) प्राप्त कर चुका है, तभी वह घर की सीढ़ी के विषय में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। घर की सीढ़ी किस रङ्ग की है, कितनी लम्बी-चौड़ी है, ईंटों की, लकड़ी की, या सीमेंट की है? इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिए उसे अनेक

'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) के ज्ञान की आवश्यकता है। जब बालक मन-ही-मन किसी वस्तु के विषय में उसका विश्लेषण कर रहा होता है, विश्लेषण करके उसके एक-एक अङ्ग पर 'ध्यान' (Attention) केन्द्रित कर रहा होता है, इस मानसिक-चिन्तन को, मन में ही उस वस्तु को भिन्न-भिन्न भागों में, भिन्न-भिन्न 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) में विभक्त करके उस पर ध्यान गड़ाने को 'निरीक्षण' (Observation) कहते हैं। और, अगर उस वस्तु का सचमुच विश्लेषण करना शुरू कर दिया जाय, मन में नहीं परन्तु फीता और तराजू हाथ में लेकर उसका नाप-तोल शुरू कर दिया जाय, तो उसे 'परीक्षण' (Experiment) कहते हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं में 'अङ्गी' का 'अङ्गों' में 'विश्लेषण' होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारे ज्ञान में अधिक स्पष्टता लाने का काम 'निरीक्षण' द्वारा ही होता है। हमें इन्द्रियों से पहले 'निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष' (Sensation) होता है, फिर 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) होता है, फिर 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) का ज्ञान होता है, फिर 'प्रत्यय'-सामान्य (Concept) का ज्ञान होता है—परन्तु अभी तक यह सारा 'संश्लिष्ट' ज्ञान होता है, 'अङ्गी' का ज्ञान होता है, 'अङ्गों' का ज्ञान नहीं होता। इसके बाद जब हम अपने ज्ञान का विश्लेषण करने लगते हैं, तब 'विश्लिष्ट' ज्ञान होने लगता है, भिन्न-भिन्न 'अङ्गों' का ज्ञान होने लगता है, उन अंगों पर हम अपना 'ध्यान' केन्द्रित कर देते हैं—यही 'निरीक्षण' (Observation) की अवस्था है। ज्ञान ग्रहण करने के सिलसिले में यह उक्त क्रमों में सबसे बाद की अवस्था है, और सबसे गहरी अवस्था है। 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' (Perception) के साथ जब 'अवधान' (Attention) गहराई से मिल जाता है, तब 'निरीक्षण' (Observation) उत्पन्न होता है।

हमारा ज्ञान ठीक-ठीक और बिल्कुल स्पष्ट 'निरीक्षण' द्वारा ही होता है। हम चाँद को उदय होते देखते हैं, अस्त होते भी देखते हैं। दोनों समय वह बड़ा दीखता है, परन्तु असल में यह तो हर समय उतना ही रहता है। बच्चा ऊपर सो रहा है, कहीं जरा-सा शब्द होता है, माता को भ्रम हो जाता है कि उसका बच्चा रो रहा है। देखने, सुनने, सूँघने आदि सभी

इन्द्रियों के भ्रम एक प्रकार के 'ज्ञान' (Perception) तो हैं, परन्तु वे ठीक-ठीक ज्ञान नहीं। इन्हें ठीक करने का काम 'निरीक्षण' का ही है।

यद्यपि 'निरीक्षण'-जैसी मन की कोई विशेष शक्ति नहीं है, तो भी बालकों का 'निरीक्षण' बढ़ाया जा सकता है। डा० एडम्स ने अपनी कक्षा के विद्यार्थियों को इतना साध लिया था कि वे पाँच सेकण्ड में इतना देख लेते थे जितना दूसरे दो मिनट में देख पाते थे। इस प्रकार बालकों को साधने के लिए कई उपाय बर्ते जाते हैं, जिनमें से दो निम्न हैं :—

(१) उन्हें एक तस्वीर दिखाई जाती है, और फिर उसे हटाकर उसके भिन्न-भिन्न भागों का वर्णन करने को कहा जाता है। इसके बाद वह तस्वीर उन्हें फिर दिखाई जाती है, और अपने वर्णन में उन्होंने जो-जो ग़लतियाँ की थीं, उन्हें ठीक करने को कहा जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे वे दूसरे ही निरीक्षण में कम ग़लतियाँ करना सीख जाते हैं।

(२) बालकों को ठीक-ठीक वर्णन करने के लिए उन्हें कुछ इनाम दिया जाता है, कुछ अंक दिये जाते हैं। जो ठीक-ठीक वर्णन करता है, उसे सबसे ज्यादा अंक मिलते हैं। इससे भी वे अपना ध्यान खब गहराई से गड़ा देते हैं और जिस वस्तु का निरीक्षण करना हो, उसके अंग-अंग का पता निकाल लेते हैं।

निरीक्षण तथा शिक्षा—

हमारा ज्ञान 'प्रत्यय-सामान्य' (Concepts) का ज्ञान है। हम बालक को नदी, पहाड़, वृक्ष, देश आदि अनेक बातों का ज्ञान करा देते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि नदी कहने में जो-जो बात ध्यान में आनी चाहिए, वह सब बालक के मन में 'नदी'-शब्द कहने से आ जाती है या नहीं ? अगर बालक ने नदी को कई बार देखा है, उसमें स्नान किया है, उसमें तैरा है, नदी और नहर दोनों की सैर कर चुका है, तब तो उसका ज्ञान शुद्ध है, स्पष्ट है, नहीं तो वह समुद्र को, नाले को, नहर को भी नदी समझ सकता है। शब्दों का कुछ अर्थ नहीं, अगर वे बालक के मन में ठीक-ठीक अर्थ नहीं उत्पन्न करते। प्रायः देखा जाता है कि बालक जिन शब्दों का प्रयोग करता है, उनके ठीक-ठीक अर्थ को वह सत्तर-अस्सी फ़ी-सदी नहीं समझ रहा होता। 'निरीक्षण' का काम शब्दों के साथ ठीक-ठीक अर्थ का

सम्बन्ध जोड़ देना है, उन खाली शब्दों में मानो ठीक-ठीक अर्थों को भर देना है। इसका यही उपाय है कि बालकों को 'निरीक्षण' करते हुए उनके मन में कोई 'प्रयोजन' (Purpose) उत्पन्न कर दिया जाय। जब बालक किसी 'प्रयोजन' से कोई काम करने लगते हैं, तब वे उसे कर डालते हैं। अगर उन्हें कहा जाय कि तुम्हारे घर में जैसी सीढ़ियाँ हैं, ठीक वैसी मास्टर-साहब अपने घर में बनवाना चाहते हैं, तो वे उसकी एक-एक बात निकाल कर ला देंगे, और जितना वे उसकी गहराई में जाएँगे, जितना उसका 'निरीक्षण' करेंगे उतना वे उसे जान जायेंगे।

३. निर्णय (JUDGMENT)

प्रत्येक 'प्रत्यय' तथा 'सामान्य-प्रत्यय' के साथ-साथ 'तुलना' तथा 'निश्चय' चलते हैं—

'सामान्य-प्रत्यय' के उत्पन्न होने के समय हमारे मन में एक खास प्रक्रिया होती है, जिसका वर्णन हमने नहीं किया। जब हम कहते हैं, 'कृष्णपट्ट बड़ी उपयोगी चीज है', तब हमारे मन में क्या प्रक्रिया होती है? हमने सब चीजों के मन में दो विभाग कर लिए: उपयोगी तथा अनुपयोगी। हमने कृष्णपट्ट की उपयोगी तथा अनुपयोगी दोनों चीजों से 'तुलना' की, और तुलना करने के बाद यह 'निश्चय' किया कि कृष्णपट्ट में अधिक गुण ऐसे पाये जाते हैं, जो उपयोगी चीजों में होते हैं, ऐसे नहीं जो अनुपयोगी में होते हैं। इसलिए प्रत्येक 'सामान्य-प्रत्यय' में निम्न दो प्रक्रियाएँ अवश्य होती हैं :—

(क) 'तुलना' (Comparison)

(ख) 'निश्चय' (Decision)

'तुलना' तथा 'निश्चय' को ही 'निर्णय' (Judgment) कहते हैं :—

'तुलना' तथा 'निश्चय' ये 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) में ही नहीं, 'प्रत्यय-विशेष' (percept) में भी रहते हैं, और हम हर-एक 'सामान्य-प्रत्यय' तथा 'प्रत्यय'-विशेष के ज्ञान के साथ-साथ 'निश्चय' भी कर रहे होते हैं। ऐसा नहीं होता कि 'सामान्य-प्रत्यय-ज्ञान' पहले हो, और 'निश्चय' बाद में हो। जब हम कहते हैं, यह वृक्ष ऊँचा है, तब हम एक

'निश्चयात्मक' वाक्य कह रहे होते हैं। परन्तु इस 'निश्चयात्मक' वाक्य के कहने से पहले हमें 'वृक्ष' तथा 'ऊँचाई' का 'सामान्य-प्रत्यय' होना चाहिए, तभी हम उक्त निश्चयात्मक वाक्य कह सकते हैं। परन्तु जब हमें 'वृक्ष' का 'सामान्य-प्रत्यय' हुआ था, तब अनेक वृक्षों को देखकर हमने उनकी 'तुलना' की थी, और इन गुणों वाली चीज़ को 'वृक्ष' कहते हैं, यह 'निश्चय' किया था। 'तुलना' तथा 'निश्चय' को ही 'निर्णय' कहते हैं। 'निर्णय' तथा 'सामान्य-प्रत्यय' साथ-साथ चलते हैं; प्रत्येक 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) तथा 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) में 'निर्णय' अन्तर्निहित रहता है; 'निर्णय' परिणाम है—'तुलना' तथा 'निश्चय' का।

'निर्णय' के दो प्रकार : 'स्वाभाविक' तथा 'सप्रयास'—

'निर्णय' दो प्रकार का होता है : 'स्वाभाविक' (Intuitive) तथा 'सप्रयास' (Deliberate)। 'स्वाभाविक'-निर्णय वे हैं, जिनमें हम किसी बात को ख़ुद-ब-ख़ुद जान जाते हैं। आग जलाती है, यह 'स्वाभाविक-निर्णय' है। 'सप्रयास'-निर्णय उसे कहते हैं जिसमें हमें अपना दिमाग़ लगाना पड़ता है। कुत्ता पशु है, ईमानदारी सब से अच्छी नीति है, ये निर्णय हैं, परन्तु 'सप्रयास-निर्णय' हैं। 'स्वाभाविक-निर्णय' बालक पहले-पहल स्वयं करने लगता है; 'सप्रयास-निर्णयों' में अधिक अनुभव की ज़रूरत पड़ती है।

'निर्णयों' (Judgments) में अशुद्धि के चार कारण—

बालक तथा बड़े आदमी के भी अनेक 'निर्णय' (Judgments) अशुद्ध होते हैं। इन अशुद्ध निर्णयों के चार कारण कहे जाते हैं :—

(क) प्रत्ययों का स्पष्ट न होना—'निर्णय' में 'तुलना' मुख्य बात है। 'तुलना' किस की? प्रत्ययों, प्रतिमाओं तथा सामान्य-प्रत्ययों की। अगर हमारा 'प्रत्यय-ज्ञान' अस्पष्ट है, तो 'निर्णय' कैसे हो सकता है? इसलिए स्पष्ट 'निर्णय' के लिए स्पष्ट 'प्रत्ययों' का होना सबसे मुख्य बात है।

(ख) निर्णय में पर्याप्त समय न मिलना—हमारे मन में दो विचार हैं, और हम एक-दम किसी निर्णय पर पहुँच जाते हैं। ऐसे निर्णय अधकचरे रहते हैं। बालक किसी बात पर देर तक नहीं सोचते, इसलिए

उनके निर्णयों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। शिक्षकों को चाहिए कि बालकों में देर तक सोचने की आदत डालें। इसका यह मतलब भी नहीं कि वे किसी बात को सोचते ही रहें। सोचने का मतलब है, किसी 'निर्णय' तक पहुँचने के लिए सोचना।

(ग) दूसरों के दिमाग़ से सोचना—कई लोग अपने दिमाग़ से नहीं सोचते, उन्हें दूसरा जो-कुछ कह दे, वही उनके लिए पत्थर की लकीर हो जाता है। कई लोग किताबी बातों के ग़ुलाम हो जाते हैं। शिक्षक को बालक के अन्दर स्वतन्त्र निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए।

(घ) पक्षपात—हमारा जिस विषय में पक्षपात हो जाता है, उसमें हम स्वतन्त्र विचार करना छोड़ देते हैं। राजनैतिक तथा धार्मिक मामलों में पक्षपात के कारण ही हमारे निर्णय एकांगी होते हैं। बालकों को पक्ष-पात-रहित निर्णय करना सिखाना चाहिए।

'निर्णय'-शक्ति को परिष्कृत करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना उपयोगी रहता है :—

(क) अक्सर शिक्षक लोग किसी बात को रटवा देते हैं, यह उनके लिए आसान रहता है, परन्तु ऐसा न करके बालकों की 'निर्णय'-शक्ति के द्वारा किसी बात को समझाना चाहिए।

(ख) अक्सर शिक्षक लोग किसी बात के विषय में 'निर्णय' पहले ही बतला देते हैं, परन्तु ऐसा न करके बालक को 'प्रत्यय'-विशेषों (Percepts) द्वारा 'सामान्य-प्रत्यय' (Concepts) का ज्ञान कराना चाहिए, और 'सामान्य-प्रत्ययों' की तुलना' तथा 'निश्चय' से 'निर्णय'-ज्ञान कराना चाहिए। शिक्षा का अभिप्राय यह है कि बालक को सोचने की, प्रत्ययों की तुलना करके निर्णय करने की आदत डाली जाय। जो शिक्षक बने-बनाए निर्णय बालकों को रटवा देता है, वह बालकों से सोचने की प्रक्रिया न करवा कर उसे स्वयं करने लगता है। जब बालक अपना भोजन स्वयं पचाता है, तो वह अपनी विचार-प्रक्रिया क्यों न स्वयं करे।

(ग) बालक पुस्तकों की बातों को पढ़कर उनके निर्णयों को मान लेते हैं, उनकी परीक्षा नहीं करते। ऐसा नहीं होना चाहिए। पुस्तकों के निर्णयों को अनुभव द्वारा परखना चाहिए।

प्रश्न

(१) 'प्रत्यय'-विशेष (Percept) तथा 'प्रत्यय'-सामान्य, अर्थात 'सामान्य-प्रत्यय' (Concept) में क्या भेद है ?

(२) 'सामान्य-प्रत्यय' क्या है, और इसके उत्पन्न होने के पाँच क्रम क्या हैं ?

(३) शिक्षक को 'विशेष' से 'सामान्य' (From Particular to General) तथा 'स्थूल से सूक्ष्म' (From Concrete to Abstract) की ओर जाना चाहिए—इन दोनों बातों का उदाहरण देकर अर्थ समझाओ।

(४) प्लेटो का 'जाति-सत्तावाद' (Theory of Ideas) क्या है ? प्रत्ययों के सम्बन्ध में 'नाम-रूपात्मवाद' (Nominalism) तथा 'सामान्य-प्रत्ययवाद' (Conceptualism) क्या है ?

(५) शिक्षक का काम बालक के मन में 'सामान्य-प्रत्यय' (Concepts) उत्पन्न करना है, 'परिभाषाएँ' (Definitions) रटाना नहीं—इस कथन की व्याख्या करो।

(६) बालक को पहले कौन-से 'सामान्य-प्रत्यय' सिखाने चाहिएँ, और बाद को कौन-से ?

(७) 'प्रत्यय'-विशेष (Percept), 'जाति-प्रत्यय' (Generic Idea or Recept), 'सामान्य-प्रत्यय' (Abstract Idea or Concept)—इन तीनों में क्या भेद है ?

(८) 'निरीक्षण' (Observation) पर एक निबन्ध लिखो।

(९) 'परीक्षण' (Experimentation) पर एक निबन्ध लिखो।

(१०) 'प्रत्यय' तथा 'सामान्य-प्रत्यय' के साथ-साथ 'तुलना' तथा 'निश्चय' चलते हैं—इसका क्या अर्थ है ?

(११) 'तुलना' तथा 'निश्चय' को ही 'निर्णय' कहते हैं—इसे समझाओ।

(१२) बालकों तथा बड़े आदमियों के निर्णयों (Judgments) में भी अशुद्धि के क्या चार कारण हैं ?

२८

विचार, तर्क तथा भाषा

(THINKING, REASONING AND LANGUAGE)

'सामान्य-प्रत्ययों' का संग्रह 'मनोवैज्ञानिक-क्रम' से होता है—

हमने देखा कि 'प्रत्यय-विशेषों' (Percepts), 'प्रतिमाओं' (Images) तथा 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) का निर्माण किस प्रकार होता है। अगली देखने की बात यह है कि इन 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) का मन में संग्रह किस क्रम से होता है। इस प्रश्न पर विचार करने वालों ने दो क्रम बतलाये हैं :—

(क) मनोवैज्ञानिक-क्रम (Psychological order)

(ख) तार्किक-क्रम (Logical order)

शिक्षा तथा 'मनोवैज्ञानिक-क्रम'—

'मनोवैज्ञानिक-क्रम' उसे कहते हैं जिसमें 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान बालक के मानसिक-विकास के अनुसार होता है, यह जरूरी नहीं कि वह क्रम तर्क पर आश्रित भी हो। बालक को पहले-पहल अपने घर, अपने गाँव, अपने शहर का ज्ञान होता है, संसार का ज्ञान पीछे होता है। यह 'मनोवैज्ञानिक-क्रम' है। 'तार्किक-क्रम' में तो संसार पहले आता है, उसके बाद देश, फिर प्रान्त, फिर शहर, और फिर गाँव। पढ़ने में 'मनोवैज्ञानिक-क्रम' को ही सामने रखना चाहिए, 'तार्किक-क्रम' को नहीं। बालक को भूगोल पढ़ाना है, तो संसार से चलने के बजाय, बालक के गाँव से चलना चाहिए, क्योंकि बालक को पहले-पहल अपने गाँव का ही ज्ञान होता है। 'संसार' के वर्णन से जो लोग भूगोल को पढ़ाना शुरू करते हैं, वे 'तार्किक-क्रम' का अनुसरण करते हैं, क्योंकि तर्क की दृष्टि से 'संसार' का 'गाँव' से पहले स्थान है, परन्तु वे बालक को कुछ पढ़ा नहीं सकते।

हमें यह देखना चाहिए कि बालक का मानसिक-विकास किस क्रम से होता है। इस विकास को सम्मुख रखकर पढ़ाना 'मनोवैज्ञानिक-क्रम' कहाता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि इस क्रम से चलकर बालक के विचारों में तार्किक शृंखला उत्पन्न करता जाय।

'सामान्य-प्रत्यय' मन में कैसे जुड़े रहते हैं—

'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) का संग्रह 'मनोवैज्ञानिक' तथा 'तार्किक'—इन दो क्रमों से होता है। 'सामान्य-प्रत्यय' मन में जाकर असम्बद्ध रूप से नहीं पड़े रहते, उनका आपस में सम्बन्ध जुड़ता जाता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इन 'प्रत्ययों' का आपस में सम्बन्ध किस प्रकार का होता है? स्पीयरमैन ने इस सम्बन्ध पर विचार करके दो मुख्य सम्बन्धों का निर्धारण किया है:—

स्पीयरमैन

(क) सजाति-सम्बन्ध (Principle of Relation)

(ख) इतरेतर-सम्बन्ध या सानुबन्धता (Principle of Correlation)
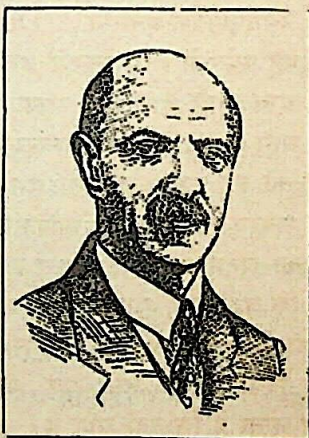
'सजाति-सम्बन्ध' उसे कहते हैं जब दो या दो से अधिक 'सामान्य-प्रत्यय' आपस में निकटता-दूरी, आगे-पीछे, कार्य-कारण, न्यून-अधिक आदि सम्बन्धों से जुड़ जाँय। 'इतरेतर-सम्बन्ध' उसे कहते हैं जब मन में एक सम्बन्ध हो, तो दूसरा खुद-ब-खुद उत्पन्न हो जाय। पति कहने से पत्नी का विचार आ जाता है, पिता कहने से पुत्र या माता का विचार स्वयं आ जाता है। ये सब 'इतरेतर-सम्बन्ध' हैं।

'सामान्य-प्रत्ययों' का आपस में सम्बन्ध 'अनुमान' द्वारा होता है—

जब हमारे मन में 'सामान्य-प्रत्ययों' के सम्बन्ध उत्पन्न होने लगते हैं, तब हम एक विचार से दूसरे विचार, और दूसरे से तीसरे विचार को अपने

दिमाग़ से सोचने लगते हैं। यह प्रक्रिया 'अनुमान' कहलाती है। तार्किक लोगों ने 'अनुमान' के दो विभाग किए हैं :—

(क) व्याप्तिपूर्वक-अनुमान (निगमन—Deductive)
(ख) दृष्टान्तपूर्वक-अनुमान (आगमन—Inductive)

'अनुमान' के दो भेद : 'निगमन' (Deduction) तथा 'आगमन' (Induction)—

'व्याप्तिपूर्वक-अनुमान' (Deduction) मनुष्य अपने लिए करता है। वह पर्वत में धुआँ देखकर कहता है, जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है; इस पहाड़ पर धुआँ दिखाई दे रहा है, इसलिए वहाँ आग अवश्य है। 'दृष्टान्तपूर्वक-अनुमान' (Induction) में पहले दूसरे को यह समझाना होता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है, तब जाकर वह पर्वत पर धुआँ देखकर वहाँ आग होने का अनमान कर सकता है। परन्तु उसे यह विश्वास कैसे कराया जाय कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है? इसका तरीक़ा यह है कि उसे दस, बीस, पचास, सौ जगह आग और धुएँ का सम्बन्ध दिखा दिया जाय। बस, फिर वह पहाड़ पर धुआँ देखकर अपने-आप समझ जाता है कि वहाँ आग है। इन दोनों अनुभवों को निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है :—

व्याप्तिपूर्वक-अनुमान (निगमन)	दृष्टान्तपूर्वक-अनुमान (आगमन)
क. पहाड़ पर धुआँ अवश्य है।	क. रसोई में धुआँ है, आग भी है। इंजिन में धुआँ है, आग भी है। सिगरेट में धुआँ है, आग भी है।
ख. जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है।	ख. इसलिए जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है।
ग. इस पहाड़ पर धुआँ है, इसलिए पहाड़ पर आग है।	ग. पहाड़ पर धुआँ है, इसलिए वहाँ आग भी है।

'व्याप्तिपूर्वक-अनुमान' (निगमन) तथा 'दृष्टान्त-पूर्वक-अनुमान' (आगमन) की आपस में निम्न तुलना की जा सकती है :—

व्याप्तिपूर्वक-अनुमान (निगमन) (Deductive Method)	दृष्टान्तपूर्वक-अनुमान (आगमन) (Inductive Method)
क. इसमें हम दूसरे के बताए हुए परिणाम से लाभ उठाते हैं।	क. इसमें कई दृष्टान्तों को देखकर हम स्वयं परिणाम निकालते हैं।
ख. इसमें अपने ज्ञान को हम एक नई जगह पर घटाते हैं।	ख. इसमें हमें नया ज्ञान मिलता है।
ग. इसमें निर्णय पहले ही होता है।	ग. इसमें निर्णय बाद को होता है।
घ. इसमें हम दूसरे पर आश्रित हैं।	घ. इसमें हम स्वयं अनुसंधान करते हैं।
ङ. यह बड़ों का तरीक़ा है।	ङ. यह बालकों का तरीक़ा है।

शिक्षा में हर्बार्ट के पाँच क्रम (Five Steps of Herbart)—

शिक्षा 'व्याप्ति-निर्देश-पूर्वक' (Deductive) तथा 'दृष्टान्त-निदश-पूर्वक' (Inductive) दोनों तरह से हो सकती है, परन्तु दूसरे को समझाने का सब से अच्छा तरीक़ा यह है कि पहले खूब दृष्टान्त दिए जाँय, फिर उनसे किसी नियम का, 'व्याप्ति' (Generalisation) का प्रतिपादन कर दिया जाय, और फिर उस 'व्याप्ति' को कई जगह घटाकर दिखा दिया जाय। इस प्रकार उक्त दोनों प्रकारों के सम्मिश्रण से जो तरीका निकलता है, बालकों को समझाने के लिए वह बहुत अच्छा समझा गया है। इस तरीक़े में पाँच क्रम होते हैं। इन क्रमों का प्रतिपादन हर्बार्ट ने किया था, अतः उन्हें 'हर्बार्ट के पाँच-क्रम' (Five Steps of Herbart) कहा जाता है। कल्पना कीजिए कि हमें बालकों को भूत, वर्तमान, भविष्यत् कालों के भेद समझाना है। हमें निम्न पाँच क्रमों द्वारा यह बात बालकों को समझानी होगी :—

(क) तैयारी (Preparation)—पहले हमें बालकों के 'पूर्वानुवर्ती-ज्ञान' (Apperceptive mass) को उद्बुद्ध करना होगा, क्योंकि उसी के प्रकाश में वे नई बातें सीख सकते हैं। इसके लिए अनेक ऐसे दृष्टान्त देने होंगे जिनसे बालक पहले से परिचित है। हम कृष्ण-पट्ट पर निम्न दृष्टान्त लिख देते हैं :—

(१) वह हरिद्वार गया।
(२) कमला गाना गाती है।
(३) शशि कल घर गई।
(४) बच्चा दूध पीता है।
(५) ललित ने दूध पीया।
(६) मेरा भाई बनारस जायगा।

ये दृष्टान्त लिखकर बालकों को कहा जायगा कि उक्त वाक्यों में जो-जो क्रियाएँ हैं, उन्हें अपनी कापियों में अलग लिख लें।

(ख) निरीक्षण (Presentation)—इसके बाद इन क्रियाओं में आपस में जो नवीनता होगी, उसे देखने को उन्हें कहा जायगा। 'जायगी', 'गया', 'गई' आदि से वे पहले ही परिचित हैं। उन्हें 'जायगी' से मिलती-जुलती क्रियाओं का अलग संग्रह करने को कहा जायगा। इसी प्रकार 'गया' और 'जाता है' से मिलती हुई क्रियाओं का वे अलग संग्रह करेंगे।

(ग) तुलना (Comparison)—अब वे इनकी आपस में तुलना करेंगे। 'जायगी', 'पीयेगी', एक तरह की क्रियाएँ हैं; 'गया', 'पीया' आदि दूसरी तरह की क्रियाएँ हैं; 'जाता है', 'पीता है' आदि तीसरी तरह की क्रियाएँ हैं।

(घ) नियम-निर्धारण (Generalisation)—उक्त दृष्टान्तों को देखकर हम यह नियम निकालते हैं कि कई क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिन्हें हम पहले कर चुके होते हैं, इन्हें 'भूत-कालिक-क्रिया' कहते हैं; कई ऐसी होती हैं, जिन्हें हम कर रहे होते हैं, इन्हें हम 'वर्तमान-कालिक-क्रिया' कहते हैं; कई ऐसी होती हैं, जिन्हें हमें अभी करना होता है, ये 'भविष्य-त्कालिक-क्रियाएँ' होती हैं। प्रत्येक क्रिया के इसी प्रकार के तीन काल होते हैं। नियम-निर्धारण की अवस्था में 'परिभाषा' का प्रयोग होता है।

(ङ) प्रयोग (Application)—इसके बाद हम कई ऐसी क्रियाएँ लेते हैं, जो इन दृष्टान्तों में नहीं आईं, और भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों से जिस नियम का हमने प्रतिपादन किया है, उसका हम नवीन दृष्टान्तों पर प्रयोग करके दिखलाते हैं।

इस प्रकार इन पाँच क्रमों में 'तैयारी', 'निरीक्षण',' तुलना' तथा 'नियम-निर्धारण' तक हमने 'दृष्टान्त-पूर्वक-अनुमान' (Induction) के द्वारा काम लिया है, 'प्रयोग' में 'व्याप्ति-पूर्वक-अनुमान' (Deduction) से—और बालक भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् कालों के भेद को अच्छी तरह समझ गया है। हर्बार्ट ने अपनी प्रणाली में 'आगमन' (Induction) तथा 'निगमन' (Deduction)—दोनों को मिला दिया है। 'नियम-निर्धारण तक 'आगमन' (Induction) पूरा हो जाता है। उसके बाद 'प्रयोग' (Application) में, प्राप्त हुए निर्णय को, बालक सब जगह घटा कर उसकी सत्यता की जाँच-पड़ताल करता है। अगर हम बालक को पहले नियम ही बतला देते, तो वह इस भेद को उतना नहीं समझता जितना उसने अब समझा है। छोटे बालकों के लिए यही तरीक़ा सर्वोत्तम समझा जाता है। बड़े विद्यार्थियों के लिए पहले नियम बताकर उसका भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों में प्रयोग अधिक अच्छा रहता है। बालक उदाहरण समझ सकते हैं, नियम नहीं, बड़े लोग नियम को समझ सकते हैं, उन्हें उदाहरण की जरूरत नहीं।

शिक्षा के नियम—

ऊपर जो-कुछ कहा गया है, उन सब बातों को सामने रखते हुए शिक्षा-विज्ञों ने कुछ ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया है, जिनके अनुसार चलने से शिक्षक बालक को अच्छी तरह से अपनी बात समझा सकता है। संक्षेप में वे नियम निम्न हैं:—

(क) 'दृष्टान्तों' से 'व्याप्ति' की तरफ़ जाना चाहिए—(From Induction to Deduction)

(ख) 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की तरफ़ जाना चाहिए—(From Concrete to Abstract)

(ग) 'मनोवैज्ञानिक-क्रम' (Psychological order) को सामने रखते हुए 'तार्किक'-क्रम (Logical order) की तरफ़ जाना चाहिए—(From Psychological to Logical order)

(घ) 'विशेष' से 'सामान्य' की तरफ़ जाना चाहिए—(From Particular to General)

(ङ) 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़ जाना चाहिए—(From Known to Unknown)

(च) 'अवयव' से 'अवयवी' की तरफ़ जाना चाहिए—(From Part to Whole)

(छ) 'सरल' से 'विषम' की तरफ़ जाना चाहिए—(From Simple to Complex)

इन नियमों का विस्तृत वर्णन हमने अपने 'शिक्षा-शास्त्र'-ग्रन्थ में कर दिया है।

भाषा (LANGUAGE)

'भाषा' सामान्य-प्रत्ययों के 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण' का नाम है—

हमारे मन में 'सामान्य-प्रत्यय' (Concepts) रहते हैं, और उन्हीं के द्वारा हमारी सम्पूर्ण विचार-परम्परा चलती है। एक-एक 'सामान्य-प्रत्यय' का हम नाम रख लेते हैं, और इन्हीं नामों को 'शब्द' कहते हैं। 'शब्द' हमारे मन में मौजूद 'सामान्य-प्रत्ययों' के ही चिह्न हैं। इन्हीं शब्दों के सार्थक-सम्बन्ध का नाम 'भाषा' है। बालक के विकास में धीरे-धीरे वह अवस्था आ जाती है, जब 'सामान्य-प्रत्यय' को उत्पन्न करने के लिए पदार्थ को सामने लाने की जरूरत नहीं रहती, 'शब्द' बोल देना ही काफ़ी होता है। इसलिए 'विचार' के लिए 'भाषा' एक आवश्यक माध्यम है। 'भाषा' द्वारा हम क्या करते हैं? भाषा द्वारा हम 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) का 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण' (Analysis and Synthesis) करते हैं। हमने अपने किसी मित्र से कहा—'थाली में आम रखा है।' यह वाक्य बोलते हुए हमने क्या किया? 'थाली' का 'सामान्य-प्रत्यय', 'आम' का 'सामान्य-प्रत्यय', थाली और आम का 'आधाराधेय-भाव'—इन सब प्रत्ययों को शब्दों के संकेतों द्वारा हमने अपने मित्र तक पहुँचा दिया, और उसे थाली तथा आम के बिना देखे हुए भी थाली में आम रक्खे होने का ज्ञान हो गया। हमने विचार की उक्त प्रक्रिया में 'सामान्य-प्रत्ययों' का पहले 'विश्लेषण' किया, फिर एक नए ढंग से 'संश्लेषण' कर दिया। जब बालक 'सामान्य-प्रत्ययों' के संकेतों, अर्थात् 'शब्दों' द्वारा, उनका 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण'—तोड़-जोड़—करने लगता

है, तब हम कहते हैं कि वह भाषा का व्यवहार करने लगा है। 'भाषा' के द्वारा 'सामान्य-प्रत्ययों' का 'विश्लेषण'—तोड़—तथा 'संश्लेषण'—जोड़—आसानी से हो जाता है।

भाषा का विकास बालक में धीरे-धीरे होता है। पहले वह अ-ई-ऊ आदि 'स्वर' बोलने लगता है। वह रोता है, चिल्लाता है, इससे उसके भाषा में काम आने वाले अंग पुष्ट होते हैं। बाद को स्वरों के साथ 'व्यंजन' भी जुड़ने लगते हैं। वह का, ता, बा आदि बोलने लगता है। आवाज़ निकालने से बालक को आनन्द मिलता है, इसलिए वह यों ही कुछ-न-कुछ बोलता रहता है, इससे उसके बोलने वाले अंगों का और अधिक विकास होता है। जब दूसरा कोई बोलता है, तो वह उसका अनुकरण करने लगता है, और दो-तीन अक्षरों वाले शब्द भी बोलने लग जाता है। अभी तक उसमें अनुकरण-शक्ति अविकसित होती है, इसलिए शुरू-शुरू में उसका अनुकरण भी अशुद्ध ही होता है। वह 'माऊँगा' को, अपना छोटा-सा हाथ उठाकर, 'माऊँगा' बोलता है। इन शब्दों और वाक्यों को बोलने में भी वह मन-ही-मन अपने 'सामान्य-प्रत्ययों' का 'विश्लेषण' तथा 'संश्लेषण' कर रहा होता है। जिन बालकों के कण्ठ आदि में कोई दोष होता है, वे शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। जिन बालकों को 'सामान्य-प्रत्ययों' का ज्ञान ठीक नहीं होता, उनमें भी भाषा का विकास नहीं हो पाता। बालकों में भाषा के विकास के लिए भी आवश्यक है कि उन्हें शुद्ध 'प्रत्ययों' (Percepts) के आधार पर 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) का विशद तथा स्पष्ट ज्ञान कराया जाय।

प्रश्न

(१) बच्चों की शिक्षा 'मनोवैज्ञानिक-क्रम' (Psychological-order) से होनी चाहिए, 'तार्किक-क्रम' (Logical-order) से नहीं। क्यों?

(२) शिक्षा के सम्बन्ध में हर्बार्ट के पाँच क्रम (Five Steps of Herbart) उदाहरण देकर समझाओ।

(३) शिक्षा 'दृष्टान्त से व्याप्ति' (From Particular to General) को जानी चाहिए—इससे मिलते-जुलते और सिद्धान्त क्या हैं?

(४) सिद्ध करो कि भाषा 'सामान्य-प्रत्ययों' (Concepts) के विश्लेषण-संश्लेषण (Analysis-Synthesis) को कहते हैं।

२६

चेतना, रुचि, अवधान तथा थकान

(CONSCIOUSNESS, INTEREST, ATTENTION AND FATIGUE)

१. केन्द्रवर्ती तथा प्रान्तवर्ती चेतना

लॉयड मार्गन का 'वृत्त' का दृष्टान्त—

'रुचि' तथा 'अवधान' को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इन दोनों का मनोवैज्ञानिक स्वरूप समझ लिया जाय, और इनके मनोवैज्ञानिक स्वरूप को समझने के लिए 'चेतना' के विषय में दो-एक बातें समझ लेना जरूरी है। लॉयड मार्गन ने 'चेतना' की व्याख्या करते हुए दो शब्दों का प्रयोग किया है: 'केन्द्रवर्ती' (Central) तथा 'प्रान्तवर्ती' (Marginal) चेतना की एक वृत्त से उपमा दी जा सकती है। कुछ विचार चेतना-रूपी वृत्त के केन्द्र में रहते हैं, इन्हें 'केन्द्रवर्ती' कहना चाहिए; कुछ इस वृत्त के केन्द्र में तो नहीं, परन्तु प्रान्त-भाग में रहते हैं, इन्हें 'प्रान्तवर्ती' कहना चाहिए। हम बैठे लिख रहे हैं, हमारे सामने बिजली का पंखा चल रहा है, परन्तु हमारा उसकी आवाज की तरफ़ ध्यान नहीं जाता। क्या पंखे की आवाज हमारी चेतना में नहीं है? है, परन्तु वह आवाज हमारी चेतना के वृत्त के 'प्रान्त-भाग' में है। हम जिस विषय पर लिख रहे हैं, वह हमारी चेतना के 'केन्द्र' में है। इतने में पंखा किसी खराबी के कारण बन्द हो जाता है। हमारी 'प्रान्तवर्ती' चेतना में पंखे का जो विचार था, वह एक-दम चेतना के 'केन्द्र' में चला जाता है, और हम लिखना छोड़कर, यह क्यों बन्द हो गया, इस पर विचार करने लगते हैं।

जेम्स का 'नदी' का दृष्टान्त—

जेम्स ने चेतना को एक नदी की धारा से उपमा दी है। उसका कथन है कि चेतना की धारा में कई विचार ठीक बीच में तैरते रहते हैं,

कई किनारे-किनारे। बीच वालों को मध्यवर्ती या केन्द्रवर्ती (Central) कह सकते हैं, किनारे वालों को तटवर्ती या प्रान्तवर्ती (Marginal)।

'अवधान' में 'चुनाव' हो रहा होता है—

उक्त वर्णन से यह स्पष्ट ही है कि जब कोई विचार 'केन्द्रवर्ती' हो जाता है, तभी हमारा उसकी तरफ़ ध्यान जाता है, जब तक वह 'प्रान्तवर्ती' रहता है, तब तक हमारा ध्यान उधर नहीं जाता। किसी विचार के चेतना के 'प्रान्त' में से निकल कर 'केन्द्र' में आ जाने को ही 'अवधान' (Attention) कहते हैं। केन्द्र में सब विचार नहीं आ जाते। चेतना में जितने भी विचार होते हैं, उनमें से कुछ प्रान्त-भाग में ही रहते हैं, और कुछ केन्द्र-भाग में आ जाते हैं। इस प्रकार प्रान्तवर्ती भाग में से केन्द्रवर्ती भाग में कुछ विचारों का हमारी चेतना 'चुनाव' कर लेती है, और जिन विचारों का चुनाव होता है, वे ही 'अवधान' के विषय बनते हैं।

चुनाव का कारण 'प्रयोजन' है, और उसका कारण 'प्राकृतिक-शक्ति' है—

अब अगला विचारणीय प्रश्न यह है कि विचार चेतना के प्रान्तवर्ती भाग से केन्द्रवर्ती भाग में किस नियम से चुना जाता है? क्या यों ही कोई विचार कभी प्रान्तवर्ती भाग में, और कभी केन्द्रवर्ती भाग में आता-जाता है, या इसका कोई नियम है?

हमारा पंखा चल रहा था, हम लिख रहे थे, हमारा पंखे की तरफ़ ध्यान नहीं था, लिखने की तरफ़ था। पंखे के बन्द हो जाने पर हमारा ध्यान एकाएक पंखे की तरफ़ गया। पंखा 'प्रान्तवर्ती' चेतना से 'केन्द्रवर्ती' चेतना में किस नियम से आ गया? प्रान्तवर्ती चेतना में और भी तो कई विचार थे, वे न आये, उन सब में से केवल पंखे का ही चुनाव क्यों हुआ? इसका कारण यह है कि पंखा हमने हवा के लिए खोल रक्खा था, हवा बन्द हो जायगी, तो इस गर्मी में हम कैसे लिख सकेंगे। पंखा हमारे 'प्रयोजन' (Purpose) को सिद्ध करता है, पंखे के बन्द हो जाने पर हमारा 'प्रयोजन' असिद्ध हो जाता है। अर्थात् जिस बात से हमारा 'प्रयोजन' सिद्ध होता है, उस तरफ़ झट-से हमारा ध्यान चला जाता है, और यही बात चेतना के केन्द्र में आ पहुँचती है। अर्थात् 'प्रयोजन' (Purpose) के कारण ही कोई वस्तु केन्द्रवर्ती-चेतना में आती है।

बालकों के 'प्रयोजन' (Purpose) निचले दर्जे के होते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, उनमें 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) ही अपने यौवन में काम कर रही होती हैं। बालक किसी चीज़ को देखकर उसे मुँह में डालना चाहते हैं। उनके 'प्रयोजन' इसी तरह के होते हैं। बालक के पाँव में काँटा चुभ गया, वह चिल्ला रहा है, इतने में एक मोटर की आवाज़ आई, वह उछलता-कूदता मोटर की तरफ़ लपकता है। नई चीज़ को वह जानना चाहता है। यह उसका 'प्रयोजन' है, इसलिए काँटे की दर्द उसकी चेतना के प्रान्तवर्ती-भाग में चली जाती है, मोटर केन्द्रवर्ती-भाग में आ जाती है।

'प्रयोजन' ही 'रुचि' का कारण है—

'प्रयोजनवाली बात चेतना के केन्द्र में चुन ली जाती है'—इसे यों भी कहा जा सकता है कि जिस चीज़ में हमारी 'रुचि' (Interest) होती है, वही चेतना के केन्द्र में आती है। 'प्रयोजन' हमारी 'रुचि' उत्पन्न करने में सबसे बड़ा कारण है। इसी लिए बालकों में किसी चीज़ के प्रति 'रुचि' उत्पन्न कराना हो, तो उनके हृदय में उस विषय के प्रति कोई-न-कोई 'प्रयोजन' उत्पन्न कर देना सर्वोत्तम साधन है। बच्चों के लिए हिसाब सीखना कितनी नीरस बात है, परन्तु अगर उनसे कहा जाय कि तुम्हें दो पैसे रोज़ मिलेंगे, और हफ्ते भर जितने जोड़ लोगे, उसके दुगुने और दिए जाएँगे, तो वह खुद-ब-खुद हिसाब करने लगता है। बार-बार पूछता है कि हफ्ते में कुल मिलाकर उसे कितने पैसे मिलेंगे। उसके सामने एक 'प्रयोजन' रख दिया गया, उस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उसकी हिसाब में 'रुचि' उत्पन्न हो जाती है। 'प्रयोजन' (Purpose) 'रुचि' (Interest) को उत्पन्न करता है, 'रुचि' (Interest) 'अवधान' (Attention) को उत्पन्न करती है। इस प्रकार कोई विचार प्रान्तवर्ती से केन्द्रवर्ती चेतना में आ जाता है।

२. रुचि (INTEREST)

'प्राकृतिक' तथा 'अर्जित'-रुचि में भेद—

'रुचि' दो प्रकार की होती है : 'प्राकृतिक-रुचि' (Instinctive Interest) तथा 'अर्जित-रुचि' (Acquired Interest)। 'प्राकृतिक-

रुचि' उसे कहते हैं जिसमें विषय को देखकर अपने-आप रुचि उत्पन्न हो। इसका आधार मनुष्य की 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct), उसका 'स्वभाव' है। जब तक कोई विशेष ही कारण न हो, स्वादिष्ट भोजन में प्रत्येक की रुचि होती है। बालकों की रुचि खाने-पीने, खेलने-कूदने, नई बात जानने, लड़ने-भिड़ने आदि में होती है। उनमें यह सब स्वभाव से आता है। जिस बात में रुचि हो, उसमें अवधान स्वयं हो जाता है, इसलिए बालकों का ध्यान खाने-पीने, खेलने-कूदने में अधिक रहता है। 'अर्जित-रुचि' उसे कहते हैं जो प्राकृतिक नहीं होती, किन्तु उत्पन्न की जाती है। उदाहरणार्थ, बच्चे को तरह-तरह के रंग देखने का शौक़ है। यह 'प्राकृतिक-रुचि' है। परन्तु अगर उसके सामने भिन्न-भिन्न रंगों के अक्षर उपस्थित कर दिये जाँय, तो वह रंगों को देखने के साथ-साथ अक्षर पढ़ना भी सीख जाता है। अब अगर उसे इस ढंग से पढ़ने का शौक़ पैदा हो गया, तो यह 'अर्जित-रुचि' कहलाएगी। इसी प्रकार तस्वीर देखने के शौक़ से कई बच्चे पढ़ना सीख जाते हैं, पैसा जमा करने के शौक़ से कई बच्चे हिसाब सीख जाते हैं, गुड़ियों को कपड़े पहनाने के शौक़ से कई लड़कियाँ सीना-पिरोना सीख जाती हैं।

'अर्जित-रुचि' का आधार 'प्राकृतिक-रुचि' ही है—

'प्राकृतिक-रुचि' तो जन्म-सिद्ध होती है, क्योंकि उसका आधार उन बातों पर होता है, जो हमें जन्म से प्राप्त हैं, परन्तु 'अर्जित-रुचि' का आधार क्या है? 'अर्जित-रुचि' का आधार भी 'प्राकृतिक-रुचि' ही है। जिन बातों में रुचि नहीं होती, उन्हें 'प्राकृतिक-रुचि' की बातों के साथ जोड़ने से उनमें भी रुचि उत्पन्न हो जाती है, और जो विषय पहले अरुचि-कर था, अब वह रुचिकर हो जाता है। सबसे ज्यादा रुचि मनुष्य को अपने-आप में, अपनी चीज़ों में, अपने सम्बन्धियों में होती है, इसलिए जिस बात का उसके 'स्व' या 'आत्मा' के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, वह कितनी ही अरुचिकर क्यों न हो, उसके लिए रुचिकर हो जाती है। सबसे अधिक नीरस चीज रेलवे टाइम-टेबल होता है, परन्तु अगर हमें अपने घर जाना हो, तो सारे टाइम-टेबल की छान-बीन कर डालते हैं। दैनिक-पत्र में रोज आधा सफ़ा-भर भिन्न-भिन्न कम्पनियों के हिस्सों की

दरें निकलती रहती हैं, जबतक हमने किसी कम्पनी का हिस्सा नहीं ख़रीदा, तबतक हमारी उस सफ़े पर नज़र भी नहीं जाती, परन्तु अब हिस्से ख़रीदने के बाद सब से पहले वही सफ़ा खुलता है। बच्चों में जिस विषय के प्रति आत्म-भावना उत्पन्न कर दी जाय, उसमें एकदम उनकी रुचि भी बढ़ जाती है। कागज़, कलम, दवात देकर उन्हें कह दिया जाय, ये तुम्हारी हैं, तो उनकी देख-रेख में, उन्हें संभालने में वे अपूर्व सावधानता, तत्परता तथा रुचि दिखाते हैं। रुचि का यह नियम है कि एक रुचिकर विषय के साथ जो दूसरा विषय जुड़ता है, भले ही वह अरुचिकर हो, रुचिकर के साथ जुड़ते ही वह भी रुचिकर हो जाता है। रुचि की आग से उपमा दी जा सकती है। उसमें जो ईंधन पड़ेगा, वह भी प्रज्वलित हो उठेगा। 'अर्जित-रुचि' इसी प्रकार 'प्राकृतिक-रुचि' से अपना जीवन प्राप्त करती है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि जो भी रुचिकर विषय हों, उन्हें बालकों के सम्मुख इस प्रकार रक्खे कि वे बच्चे की किसी-न-किसी 'प्राकृतिक-शक्ति' को सन्तुष्ट करते हों। योग्य शिक्षक इतिहास, भूगोल आदि विषयों को 'संग्रह-शीलता' तथा 'विधायकता' की 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) की सहायता से बहुत रुचिकर बना सकता है।

'अर्जित'-रुचि के तीन क्रम—

'अर्जित'-रुचि के विकास में हमें मानसिक-विकास की उन्हीं सीढ़ियों में से गुज़रना पड़ता है, जिनमें से 'संवेदन' गुज़रता है। 'संवेदन' के प्रकरण में हम लिख चुके हैं कि बालक को पहले 'इन्द्रिय-संवेदन' होता है, फिर 'भाव-संवेदन', अन्त में उसमें 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाता है। 'रुचि' (Interest) 'संवेदन' (Feeling) का ही रूप है, इसलिए 'अर्जित-रुचि' को इन्हीं तीन क्रमों में से गुज़रना होता है। (१) पहले बालक की 'रुचि' उन पदार्थों के प्रति होती है, जो 'इन्द्रिय-संवेदन' के अन्तर्गत हैं। 'इन्द्रिय-संवेदन' इन्द्रिय-ग्राह्य तथा स्थूल पदार्थों के प्रति होता है, उनके प्रति जिन्हें देखा, सूंघा तथा छुआ जा सकता है। बालक की शुरू-शुरू में 'रुचि' (Interest) भी ऐसे पदार्थों में होती है। तब तक उसमें 'भाव-संवेदन' नहीं उत्पन्न हुआ होता, इसलिए भावात्मक बातों में उसकी रुचि भी उत्पन्न नहीं होती। उसके सामने आम रख दिया जाय,

तो उसकी झट से उसके प्रति 'रुचि' उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि 'ग्राम' का खाने के साथ सम्बन्ध है; रंग-बिरंगे खिलौने को देखकर वह उसे पकड़ने को दौड़ेगा, क्योंकि यह भी उसकी किसी-न-किसी 'प्राकृतिक-रुचि' (Instinctive Interest) को सन्तुष्ट करता है। बालक की 'इन्द्रिय-संवेदन' के पदार्थों में 'रुचि' को शिक्षा के काम में लाया जा सकता है। उसे एक-ग्रौर-एक 'दो' होते हैं, सिखाने के बजाय, पहले एक ग्राम देकर फिर एक ग्रौर दे दिया जाय, ग्रौर कह दिया जाय, ये दो हो गए, तो वह तुरन्त सीख जाता है। (२) कुछ बड़ा हो जाने पर बालक में 'भाव-संवेदन'-सम्बन्धी पदार्थों में 'रुचि' उत्पन्न होने लगती है। जहाँ बालकों में ग्रपनी 'ग्रम्मा' का जिक्र चलता है, तो सब बड़ी 'रुचि' से उसकी चर्चा करते हैं; शिक्षक का कर्त्तव्य है कि स्थूल पदार्थों के बाद उन सूक्ष्म पदार्थों में बालक की रुचि उत्पन्न करे जो शिक्षा में सहायक हैं। (३) ग्रन्त में, जब बालक में, 'ग्रात्म-सम्मान का स्थायी-भाव' उत्पन्न हो जाय, तब उसमें सत्य, न्याय ग्रादि भावों के प्रति 'रुचि' उत्पन्न कराना ग्रासान हो जाता है। शिक्षा का काम 'ग्रर्जित' को 'स्वाभाविक' रुचि बना देना है—

'ग्रर्जित-रुचि' (Acquired Interest) बढ़ते-बढ़ते 'स्वाभाविक-रुचि' (Native Interest) जैसी ही बन जाती है। एक ग्रादमी ग्राजीविका के लिए हिसाब का काम सीखता है। पहले उसकी यह रुचि स्वाभाविक न थी, परन्तु काम करते-करते उसकी हिसाब में 'स्वाभाविक-रुचि' हो जाती है। उससे जब बात करें, वह हिसाब की ही बात करता है, ग्रौर किसी चीज में उसे 'रुचि' ही नहीं होती। शिक्षक को चाहिए कि सत्य, न्याय, दया ग्रादि जीवनोपयोगी भावों के लिए बालक में इसी प्रकार की रुचि उत्पन्न कर दे, बिना प्रयत्न के उसकी इन बातों में रुचि हो। 'ग्रात्म-सम्मान का स्थायी-भाव' जब किसी बालक में उत्पन्न हो जाता है, तब इस प्रकार की ग्रवस्था स्वयं ग्रा जाती है।

'रुचि' उत्पन्न करने के तीन साधन—

'रुचि' के क्रमिक विकास को हमने देखा। परन्तु 'रुचि' किन बातों पर ग्राश्रित है, किन बातों के होने पर 'रुचि' होगी, ग्रौर किनके न होने पर नहीं होगी ? इस विषय में तीन नियम हैं :—

(क) 'रुचि' उसी विषय में होगी जिस विषय में हमारा 'पूर्वानुवर्ती-ज्ञान' (Apperceptive mass) कुछ-न-कुछ बन चुका होगा। जिस बात से बालक बिलकुल अनभिज्ञ है, उसके विषय में उसकी 'रुचि' उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए कहा जाता है कि शिक्षा 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़ जानी चाहिए, 'अज्ञात' का 'ज्ञात' से कोई-न-कोई सम्बन्ध जोड़ देना चाहिए।

(ख) इसी प्रकार जिस चीज़ को बालक कई बार देख चुका है, सुन चुका है, उसमें उसकी कोई 'रुचि' नहीं होगी। वह नई चीज़ देखना चाहता है, उसमें 'जिज्ञासा' (Curiosity) काम कर रही है। वह 'अज्ञात' की तरफ़ जाना चाहता है, परन्तु वह 'अज्ञात' को 'ज्ञात' के सहारे से ही समझ सकता है। जो शिक्षक एक ही बात को दोहराते रहते हैं, वे अपने विषय के प्रति 'रुचि' उत्पन्न नहीं कर सकते। एक ही बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए दोहराने की जरूरत हो, तो शिक्षक को चाहिए कि वह उसे भिन्न-भिन्न तौर से, नए-नए ढंग से कहे, तभी बालकों की उसमें 'रुचि' उत्पन्न होगी।

(ग) जितनी मात्रा में किसी बात का सुख-दुःख के अनुभव के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकेगा, अपने 'स्व' के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकेगा, उतनी मात्रा में वह वस्तु 'रुचिकर' अथवा 'अरुचिकर' हो जायगी। इसके कई दृष्टान्त पहले दिए जा चुके हैं।

३. अवधान (ATTENTION)

जैसा कहा जा चुका है, 'अवधान' का आधार 'रुचि' है। 'रुचि' के हमने दो भेद किए थे: 'प्राकृतिक' तथा 'अर्जित'। 'प्राकृतिक-रुचि' वह होती है, जिसमें 'प्रयत्न' (Effort) नहीं करना पड़ता; 'अर्जित' में 'प्रयत्न' करना पड़ता है, उसे सीखना पड़ता है। क्योंकि 'अवधान' का आधार 'रुचि' है, इसलिए 'अवधान' के भी दो भेद हैं—'प्राकृतिक-रुचि' पर आश्रित 'अवधान', जिसे 'प्रयत्न-रहित' अथवा 'अनैच्छिक' (Involuntary) भी कहा जा सकता है, तथा 'अर्जित-रुचि' पर आश्रित 'अवधान', जिसे 'सप्रयत्न' अथवा 'ऐच्छिक' (Voluntary) भी कहा जा सकता है।

'प्रयत्न-रहित'-अवधान (Involuntary attention) के तीन नियम—

'अनैच्छिक-अवधान' में 'प्राकृतिक-रुचि' काम करती है, इसलिए उसमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता, बालक का ध्यान अपने-आप उधर जाता है। 'अनैच्छिक-अवधान' का नियन्त्रण निम्नलिखित तीन नियमों से होता है :—

(क) मात्रा—किसी हद तक जिस अनुपात में 'विषय' (Stimulus) की मात्रा बढ़ती जायगी, उसी अनुपात में बालक का ध्यान भी बढ़ता जायगा। धीमे प्रकाश की अपेक्षा तेज प्रकाश, मध्यम आवाज की अपेक्षा ऊँची आवाज, फीके रंग की अपेक्षा गाढ़ा रंग बालक का ध्यान जल्दी खींच लेता है।

(ख) परिवर्तन—'विषय' (Stimulus) में परिवर्तन बालक का ध्यान अपने-आप खींच लेता है। बालक रो रहा है, अगर उसके सामने गुलाब का फूल धर दिया जाय, तो वह चुप हो जाता है। बड़े होने पर भी मनुष्य नवीनता की तरफ़ भागता है। पाठ्य-क्रम में विविध विषयों का समावेश इसी दृष्टि से किया जाता है।

(ग) हमारे साथ सम्बन्ध—'विषय' के साथ हमारे सुख-दुःख के सम्बन्ध पर भी ध्यान आश्रित रहता है। बालक बीसियों को देखता है, परन्तु उसका ध्यान किसी की तरफ़ नहीं खिचता, इतने में वह अपनी माँ को देखता है, झट-से उसका ध्यान उसकी अपनी माँ की तरफ़ खिच जाता है। इसका कारण यही है कि माता के साथ उसकी अनेक सुख की स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं।

उक्त तीनों प्रकार के 'अनैच्छिक-अवधान' (Involuntary attention) में 'प्राकृतिक-रुचि' काम करती है। 'ऐच्छिक-अवधान' (Voluntary attention) में ध्यान अपने-आप नहीं हो जाता, उसे 'प्रयत्न' से उत्पन्न करना पड़ता है। 'अनैच्छिक अवधान' का आधार 'रुचि' (Interest) है; 'ऐच्छिक अवधान' का आधार 'प्रयत्न' (Effort) है, 'व्यवसाय' (Will) है। इसमें हमारा ध्यान अपने-आप किसी विषय की तरफ़ नहीं जाता, परन्तु प्रयत्न के द्वारा, व्यवसाय करके, हम ध्यान को उधर खींचते हैं।

'शिक्षा' तथा 'प्रयत्न-रहित' अवधान—

'अनैच्छिक-अवधान' 'प्राकृतिक-रुचि' (Instinctive Interest) की वस्तुओं की तरफ़ जाता है। पहले-पहले बालक का ध्यान स्थूल चीज़ों की तरफ़ खिंचता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि स्थूल चीज़ों के साथ सूक्ष्म चीजों का सम्बन्ध जोड़कर बालक के ध्यान को भावात्मक पदार्थों की तरफ़ ले जाए, उसकी रुचि स्थूल में ही सीमित न रहे, सूक्ष्म में भी उत्पन्न हो जाय। सूक्ष्म वस्तुओं में जब बालक इच्छा-पूर्वक रुचि लेने लगता है, तब उसके अवधान को 'ऐच्छिक-अवधान' कहा जाता है। शिक्षक को चाहिए कि 'ऐच्छिक-अवधान' को बढ़ाते-बढ़ाते ऐसा बना दे कि बालकों के लिए यह स्वाभाविक हो जाय, प्राकृतिक हो जाय, अनैच्छिक, अर्थात् बिना इच्छा के हो जाय।

'सप्रयत्न'-अवधान (Voluntary attention) के चार नियम—

'ऐच्छिक-अवधान', अर्थात् इच्छा या प्रयत्न से किए गए अवधान का नियन्त्रण निम्न चार नियमों से होता है :—

(क) *तैयारी*—मन का 'प्रतिपाद्य विषय के लिए तैयार होना या न होना' ध्यान का पहला नियम है। अगर हम किसी बात के लिए तैयार हैं, तो वह एकदम ध्यान को खींच लेती है, अगर तैयार नहीं हैं, तो उस तरफ़ ध्यान नहीं खिंचता। हम अपने किसी मित्र के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कमरे में जरा-सी आहट होती है, हम तुरन्त उठकर देखने लगते हैं। हम उसके आने के लिए तैयार थे, इसलिए हल्की-सी आहट से भी हमारा ध्यान उसकी तरफ़ खिंच जाता है। अब कल्पना कीजिए कि हम उसके आने की प्रतीक्षा नहीं कर रहे। वह आ जाता है, और ज़ोर-ज़ोर से पुकारता है। हम उसकी आवाज़ से भली प्रकार परिचित हैं, परन्तु कुछ देर तक आवाज़ सुनकर भी नहीं पहचान पाते। जब उसे देखते हैं, तब कह उठते हैं—अरे तुम यहाँ कहाँ ? अगर हम उसकी प्रतीक्षा कर रहे होते, उसके लिए तैयार होते, तब ऐसा न होता। शिक्षक के लिए यह नियम बड़ा आवश्यक है। अगर कोई बात पढ़ाने से पहले बालकों का मन उस विषय के लिए तैयार कर दिया जाय, तो उसका ध्यान बड़ी आसानी से उस विषय की तरफ़ खिंच जाता है। 'रुचि' के प्रकरण

में हम लिख चुके हैं कि जिस विषय में बालक का 'पूर्वानुवर्ती-ज्ञान' (Apperceptive mass) बन चुका हो, उसी में उसे 'रुचि' उत्पन्न होती है। इस नियम को 'अवधान' के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना चाहिए।

(ख) नवीनता—ध्यान का दूसरा नियम 'नवीनता' है। जो चीज़ नई होगी, वह ध्यान को शीघ्र ही खींच लेगी। शिक्षक को चाहिए कि बालक को नई-नई बातें बतलाए। परन्तु क्योंकि शिक्षक को कई बार एक ही बात को बालकों के दिमाग़ में गाड़ने के लिए दोहराना पड़ता है, इसलिए उसे ऐसे समय में एक ही बात के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालना चाहिए। इस प्रकार पुरानी बात भी नए रूप में आकर बच्चे का ध्यान खींच लेती है। 'रुचि' के प्रकरण में भी इस नियम का प्रतिपादन करते हुए कहा गया था कि बालक में 'जिज्ञासा' अर्थात् नई बात को जानने का भाव जन्मसिद्ध है। इस 'जिज्ञासा' का शिक्षक को लाभ उठाना चाहिए।

(ग) प्रबलता—जो 'विषय' (Stimulus) ध्यान को खींचता है, उसके 'सबल' अथवा 'निर्बल' होने पर भी ध्यान का सबल होना अथवा निर्बल होना आश्रित रहता है। 'विषय' बाहर भी हो सकता है, अन्दर भी। गाढ़े-गाढ़े रंग की तस्वीरें बालकों का ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। ये सबल 'बाह्य-विषय' (External Stimuli) हैं। एक बालक परीक्षा में प्रथम आने के उद्देश्य से खूब ध्यान से पढ़ता है। ये सबल 'आन्तर-विषय' (Internal Stimuli) हैं। बालक दण्ड के भय से, पारितोषिक के लोभ से, माता-पिता को प्रसन्न करने की इच्छा से, और ऊँची अवस्था में पहुँचकर, अपने 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' की प्रेरणा से अनेक कार्य करते हैं। ये सब प्रेरणाएँ 'आन्तर-विषय' (Internal Stimuli) हैं, और 'ऐच्छिक-अवधान' में सहायक हैं। 'रुचि' के प्रकरण में हमने लिखा था कि जिस बात का 'स्व' से सम्बन्ध होता है, उसमें 'रुचि' उत्पन्न हो जाती है। 'अवधान' का उक्त नियम 'रुचि' के ही तीसरे नियम से निकला है।

(घ) स्वस्थता—जिस समय ध्यान देना हो उस समय शरीर में तथा मन में ध्यान देने की कितनी शक्ति है इस बात पर भी 'ऐच्छिक-अवधान' आश्रित रहता है। शारीरिक अथवा मानसिक थकावट के समय

ध्यान नहीं जमता। बीमार बच्चे किसी गूढ़ विषय की तरफ़ ध्यान नहीं दे सकते। प्रातःकाल दिमाग़ तथा शरीर ताज़ा होता है, इसलिए उस समय दोपहर की अपेक्षा अधिक ध्यान लगता है। एक ही स्थिति में बैठे-बैठे बालक थक जाते हैं, इसलिए उनका ध्यान उचट जाता है। शिक्षक को चाहिए कि उन्हें खड़ा होने, चलने-फिरने का मौक़ा दे। कभी किसी बालक को 'श्यामपट्ट' पर बुला ले, कभी किसी को। इससे 'ऐच्छिक-अवधान' में सहायता मिलती है।

शिक्षक का काम 'सप्रयत्न' (Voluntary) अवधान को 'रुचि' द्वारा 'प्रयत्न-रहित' (Involuntary) बनाना है—

हमने 'अनैच्छिक' तथा 'ऐच्छिक' अवधान के भेद को बतलाते हुए कहा था कि 'अनैच्छिक' में 'रुचि' (Interest) काम कर रही होती है, 'ऐच्छिक' में 'प्रयत्न' (Effort) अथवा 'व्यवसाय' (Will)। परन्तु यहाँ पर यह समझ लेना ज़रूरी है कि 'प्रयत्न' द्वारा 'अवधान' उत्पन्न करना कृत्रिम साधन है। प्रयत्न से यह हो तो सकता है कि हम किसी चीज़ में लगे रहें, परन्तु उस लगने में क्रियाशीलता, वेग, तेज़ी, तबतक उत्पन्न नहीं हो सकती, जबतक 'रुचि' की सहायता न ली जाय। हम जर्मन पढ़ रहे हैं, बड़ी कोशिश करते हैं, 'प्रयत्न' तथा 'व्यवसाय' के सारे स्रोत बहा देते हैं, परन्तु अन्त में पुस्तक उठाकर अलग रख देते हैं। असल में, 'ऐच्छिक-अवधान' में भी 'प्रयत्न' की जगह 'रुचि' का समावेश करने का उद्योग करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, 'ऐच्छिक-अवधान' को भी 'अनैच्छिक' ही बनाने की कोशिश करनी चाहिए, तभी, असली अर्थ में, किसी विषय में हमारा ध्यान लग सकता है। 'रुचि' प्राकृतिक बातों में, स्थूल बातों में, खाने-पीने की बातों में होती है, अतः 'ऐच्छिक-अवधान' का प्रारम्भ भी स्थूल बातों से ही होगा। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि शिक्षक अन्त तक बालक की प्राकृतिक-इच्छाओं को सामने रखकर ही अपना एक-एक क़दम उठाए। यह तो शिक्षा शुरू करने का तरीक़ा होना चाहिए। आगे चलकर 'रुचि' को 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' में बदल देना चाहिए, और बालक के 'अवधान' का स्रोत यही 'स्थायी-भाव' हो जाना चाहिए।

'अवधान' पर परीक्षण—

हमने देख लिया कि 'अवधान' क्या है? 'अवधान' के विषय में मनोवैज्ञानिकों ने कई परीक्षण किए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि एक समय में मन में कितनी बातें रक्खी जा सकती हैं, एक चीज़ पर कितनी देर ध्यान टिक सकता है, एक ही समय में कितने काम हो सकते हैं—इत्यादि। हम इन परीक्षणों का संक्षिप्त परिचय देकर 'अवधान' के प्रकरण को समाप्त करेंगे :—

(क) 'अवधान का विस्तार (Span of Attention)—मन एक समय में एक ही वस्तु का ग्रहण कर सकता है, या कई का इकट्ठा, इस सम्बन्ध में जो परीक्षण हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि हम पाँच वस्तुओं तक को एक ही समय में अवधान में ला सकते हैं। अगर पाँच बिन्दु, पाँच गोलियाँ, पाँच अक्षर या पाँच रेखाएँ सेकण्ड के $\frac{१}{१००}$ वें भाग से लेकर $\frac{१}{५}$ भाग तक सामने रक्खी जाँय, तो मन उनका एकदम ग्रहण कर लेता है, इनसे अधिक वस्तुओं का नहीं। इसी प्रकार पाँच शब्द, पाँच त्रिभुजें, या पाँच अन्य बड़ी वस्तुएँ सामने लाई जाँय, तो उनका भी मन युगपद्-ग्रहण कर सकता है। 'जेस्टाल्ट-वाद' के अनुसार हमें 'अवयवी' का एक-सा ज्ञान होता है, यह पहले कहा जा चुका है। शब्द, त्रिभुज आदि 'अवयवी' हैं, अक्षरों तथा रेखाओं से बने हैं, इनका युगपद् अर्थात् एकदम ग्रहण 'जेस्टाल्ट-वाद' की पुष्टि करता है।

(ख) 'अवधान का विचलन' (Fluctuation of Attention)—एक वस्तु पर हम कितनी देर तक ध्यान दे सकते हैं? कभी-कभी हमारा ध्यान एक ही वस्तु पर घंटों जमा रहता है। क्या वास्तव में उस समय हमारा ध्यान उसी वस्तु पर जमा होता है? परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि ऐसी बात नहीं है। अगर हम अपने सामने एक सुई रखकर उस पर ध्यान केन्द्रित करने लगें, और अपने एक मित्र को पास बैठा लें, और जब-जब ध्यान उचटे, तब-तब उँगली उठा दें, तो पता चलेगा कि एक मिनट में हमारा ध्यान कितना उचट जाता है। साधारणतया ४ या ६ सेकण्ड तक ही ध्यान केन्द्रित रहता है। कम-से-कम ३ तथा अधिक-से-अधिक २५ सेकण्ड तक ध्यान केन्द्रित रह सकता है। जो लोग समझते हैं कि वे इससे अधिक

समय तक ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं, वे अगर विचार करेंगे, तो उन्हें पता लग जायगा कि अधिक देर तक का ध्यान तब होता है, जब हम विषय के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विचार करने लगते हैं। हम सुई पर देर तक सोचना चाहते हैं, तो कभी उसकी लम्बाई पर सोचने लगते हैं, कभी उसके पतलेपन पर, कभी उसके सम्बन्ध में किसी और विषय पर। शिक्षक के लिए विद्यार्थियों का एक ही विषय पर ध्यान केन्द्रित कराने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

(ग) 'अवधान का विभाग' (Division of Attention)—हम एक ही समय में कितने काम कर सकते हैं ? जिन बातों में ऐच्छिक ध्यान की जरूरत नहीं होती, वे काम तो कई एक-साथ किए जा सकते हैं; चलना और बात करना एक-साथ हो सकते हैं; परन्तु प्रश्न यह है कि 'ऐच्छिक-अवधान' में हम कितना काम एक-साथ कर सकते हैं। इस बात का पता लगाने के लिए निम्न परीक्षण किया जा सकता है। पहले एक मिनट तक अयुग्म संख्या गिनो और देखो कि १, ३, ५, ७, ९ के क्रम से एक मिनट में तुम कितने अंक बोल सकते हो। यह संख्या नोट कर लो। इसके बाद वर्णमाला के अक्षर क, ख, ग आदि लिखो। एक मिनट तक जितने अक्षर लिखे जाँय, उनकी संख्या नोट कर लो। अब दोनों काम एक-साथ एक मिनट तक करके देखो। अक्षर लिखते जाओ, और अयुग्म संख्या बोलते जाओ। इस परीक्षण का परिणाम यह होगा कि पहले की अपेक्षा कम अक्षर लिखे जायँगे, और कम संख्या बोली जायगी। अगर इस समय ध्यान देकर देखा जाय, तो पता लगेगा कि मन दोनों में से कभी एक तरफ़ ध्यान देता है, कभी दूसरी तरफ़। वह दोनों विषयों को करना चाहता है, अतः 'प्रयत्न' की सहायता लेता है। परन्तु 'प्रयत्न' कभी अक्षर लिखने की सहायता करने लगता है, कभी संख्या बोलने की, दोनों की एक-समान सहायता नहीं कर सकता, और इसलिए पहले की अपेक्षा कम तथा निचले दर्जे का काम होता है।

(घ) 'ध्यान में बाधा' (Distraction)—बाधा से ध्यान में विक्षेप पड़ता है, यह सब का अनुभव है। परन्तु कभी-कभी बाधा से 'अवधान' साधारण की अपेक्षा अधिक काम कर बैठता है। जब बाधा उपस्थित होती

है, तब मन उस बाधा का मुक़ाबिला करने के लिए साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक 'व्यवसाय-शक्ति' (Will-power) को उत्पन्न करता है, और मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा काम कर देता है। शिक्षक को चाहिए कि बालक के सामने कोई प्रश्न, कोई समस्या (Problem) रख दे, वह प्रश्न इसके सम्मुख बाधा के रूप में उपस्थित होगा, और वह इसे हल करने के लिए साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक व्यवसाय-शक्ति को उत्पन्न करेगा। इस दृष्टि से 'बाधा' कभी-कभी अवधान का कारण बन जाती है।

(ङ) *'ध्यान का केन्द्रीकरण'* (*Concentration of Attention*)—ध्यान का केन्द्रीकरण तब होता है, जब हम अवधान के क्षेत्र को सीमित कर देते हैं। हम पुस्तक को पढ़ना चाहते हैं। जब तक एक-एक अध्याय पर अपना ध्यान नहीं केन्द्रित कर देते, तब तक ध्यान उथला रहता है, गहराई तक नहीं जाता, और उस विषय का बोध भी यथार्थ-बोध तक नहीं पहुँचता। ध्यान के केन्द्रीकरण के लिए किसी 'प्रयोजन' (Purpose) का मन में होना जरूरी है। 'प्रयोजन' वह केन्द्र है, जिसके इर्द-गिर्द अवधान बड़ी आसानी से चक्कर काटने लगता है। अगर हमें किसी चीज़ पर ध्यान लगाना है, तो उसके सम्बन्ध में मन में कोई-ना-कोई 'प्रयोजन' अवश्य उत्पन्न कर लेना चाहिए। जो शिक्षक बालकों के मन में 'प्रयोजन' (Purpose) उत्पन्न कर देता है, वह उनके ध्यान को केन्द्रित करने में अवश्य सफल होता है।

४. थकान (FATIGUE)

ध्यान न होने का पहला कारण 'रुचि' का न होना है—

ध्यान के केन्द्रित न होने का मुख्य कारण 'रुचि' का न होना है। जब पाठ रोचक न हो, तब बालक इधर-उधर देखने लगते हैं, अध्यापक की बात सुनने में ध्यान नहीं देते। काम रुचिकर हो, तो बालक कितना ही काम कर जाय, वह थकता नहीं है, रुचिकर न हो, तो थोड़े-से में ही थक जाता है। व्याख्याता को अपने व्याख्यान देने में रुचि होती है, अतः उसे समय बीतता पता नहीं लगता; व्याख्यान रुचिकर न हो, तो सुनने

वाले १५ मिनट में ही उकता जाते हैं। अगर विद्यार्थी बहुत जल्दी थक जाते हैं, तो इस अवस्था में शिक्षक का दोष होता है, उसे अपने पाठ को रुचिकर बनाना चाहिए।

ध्यान न होने का दूसरा कारण थकान भी है—

परन्तु कभी-कभी थकान भी ध्यान न देने का कारण होती है। काम करते-करते थक जाना स्वाभाविक है। शिक्षक को इन दोनों में भेद करना चाहिए। ऐसा न हो कि बालक पाठ के अरोचक होने से ध्यान न दे रहे हों, और वह समझने लगे कि वे थकान के कारण पाठ में ध्यान नहीं दे रहे।

थकान का भौतिक आधार 'कार्बनिकाम्ल'—

थकान दो तरह की होती है, शारीरिक तथा मानसिक। शारीरिक थकान शरीर से अधिक काम लेने पर होती है। काम करते समय शरीर की मांसपेशियों में गति होती है। इस गति से मांसपेशी में कुछ रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं। पहले मांसपेशी की प्रतिक्रिया 'क्षारीय' (Alkaline) थी, गति करने के बाद उसकी प्रतिक्रिया 'अम्लीय' (Acid) हो जाती है। शरीर में, गति करने से, मांसपेशियों में लगभग ऐसे रासायनिक परिवर्तन होते हैं जैसे बन्दूक में गोली चलने से होते हैं। गोली चलने से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उससे गोली तेज़ चली जाती है, और बन्दूक की नली गर्म हो जाती है। इसी प्रकार मांसपेशी की गति से जो रासायनिक परिवर्तन होते हैं, उनसे शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है, और साथ ही गर्मी भी उत्पन्न होती है। यह शक्ति ही काम के रूप में दिखाई देती है। परन्तु इस शक्ति को उत्पन्न करने में 'अम्ल' भी उत्पन्न हो जाता है, इस अम्ल का नाम 'कार्बनिक-अम्ल' (Carbonic acid) है। यह अम्ल रुधिर में मिलता जाता है, और यही थकावट का कारण है। जिस प्रकार की रासायनिक-क्रिया शारीरिक-थकावट में होती हैं, इसी प्रकार की मानसिक-थकावट में भी होती है। मन की प्रत्येक गति का आधार दिमाग़ है। दिमाग़ में वह भाग जहाँ चेतना रहती है, जिसे हमने भूरे रंग का पदार्थ या 'कॉरटेक्स' कहा था, वहाँ पर वे ही परिवर्तन होने लगते हैं, जो शारीरिक परिवर्तन में मांसपेशियों में होते हैं। इस प्रकार मस्तिष्क में कार्बनिक-

अम्ल तथा अन्य विष-युक्त पदार्थों का बढ़ जाना मानसिक-थकावट को उत्पन्न कर देता है।

'ओषजन' लेने से 'कार्बनिक-अम्ल' दूर होता है—

'कार्बनिक-अम्ल' को शरीर में से निकालने का साधन फेफड़े हैं। फेफड़ों में 'अम्ल-मिश्रित-रुधिर' को लेकर शिराएँ पहुँचती हैं; फेफड़ों में शुद्ध वायु भी पहुँचती है। शुद्ध वायु का 'ओषजन' (Oxygen) रुधिर में चला जाता है, और शिराओं का 'कार्बनिक-अम्ल' गैस के रूप में, फेफड़ों की वायु द्वारा, साँस के ज़रिये, बाहर निकल जाता है। इसलिए शारीरिक अथवा मानसिक थकावट के बाद कुछ व्यायाम कर लेना अथवा गहरे-गहरे साँस ले लेना थकावट को दूर कर देता है।

थकावट को दूर करने के अन्य उपाय—

शारीरिक-थकावट शरीर के किसी एक हिस्से में (Local fatigue) या सम्पूर्ण शरीर (General fatigue) में हो सकती है। इसी प्रकार मानसिक-थकावट किसी एक विषय में वा सम्पूर्ण मानसिक कार्य में हो सकती है। एकदेशीय थकावट को दूर करने के लिए काम को बदल देना सर्वोत्तम उपाय है, सम्पूर्ण शरीर तथा मन की थकावट को तो आराम से और नींद से ही दूर किया जा सकता है।

परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि काम करते हुए बीच-बीच में थोड़ी-थोड़ी देर आराम कर लेने से क्रिया-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। डॉ० मायर्स (Myers) ने एक फ़ैक्टरी में ८० मिनट के काम के बाद २० मिनट का आराम कराने का परीक्षण किया। परिणाम यह हुआ कि फ़ैक्टरी में काम करने वालों की क्रिया-शीलता पहले से ६० प्रतिशत बढ़ गई। आराम द्वारा क्रिया-शीलता को बढ़ाने के परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि शुरू-शुरू में तो क्रिया-शीलता बहुत तेज़ी से नहीं बढ़ती, परन्तु कुछ सप्ताह या महीने के बाद यह क्रिया-शीलता बहुत बढ़ जाती है। कुछ परीक्षण किये गए जिनमें शुरू-शुरू में क्रियाशीलता में ३ प्रतिशत वृद्धि हुई, उसके बाद वह १७ प्रतिशत हो गई, और अन्त में २६ प्रतिशत तक पहुँचकर वहाँ स्थिर हो गई। जिस प्रकार के विश्राम से क्रियाशीलता में जितनी वृद्धि हुई, उसका विवरण निम्न प्रकार है :—

बिल्कुल आराम करने से	६.३ प्रतिशत
आराम में संगीत सुनने से	३.७ प्रतिशत
चाय पीने द्वारा आराम से	३.४ प्रतिशत
घूम कर आराम करने से	१.५ प्रतिशत

थकान 'अरुचि' तथा 'अनवधान' अर्थात् ध्यान न देने का मुख्य कारण है, इसलिए शिक्षक को इस विषय पर सदा सचेत रहना चाहिए। बालकों के उठने-बैठने का ढंग बदलते रहना चाहिए। लगातार लिखने या लगातार देखने का ही काम नहीं देना चाहिए। भिन्न-भिन्न कार्यों का ऐसा सम्मिश्रण करना चाहिए जिससे एक विषय के बाद दूसरा ऐसा विषय पढ़ाया जाय जिसमें उन अंगों को खुद-ब-खुद आराम मिल जाय जिनसे पहले विषय के अध्ययन के समय काम लिया गया था। इस दृष्टि से समय-विभाग के बनाने में बड़ी बुद्धिमत्ता से काम लेना चाहिए। बीच-बीच में बालकों को आराम भी देना चाहिए, उन्हें लगातार पढ़ाई में जोते नहीं रखना चाहिए।

प्रश्न

(१) 'केन्द्रवर्ती' तथा 'प्रान्तवर्ती' चेतना के सम्बन्ध में क्या जानते हो ?
(२) 'अवधान' की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का वर्णन करो।
(३) 'प्रयोजन' (Purpose) ही रुचि का कारण है—इस कथन की व्याख्या करो।
(४) 'प्राकृतिक' तथा 'अर्जित' रुचि में क्या भेद है ?
(५) 'अर्जित-रुचि' का आधार भी 'प्राकृतिक-रुचि' है—इस कथन की व्याख्या करो।
(६) 'अर्जित-रुचि' के विकास के तीन क्रम क्या हैं ?
(७) शिक्षा का काम 'अर्जित-रुचि' को 'स्वाभाविक-रुचि' में परिणत कर देना है—इस कथन का विस्तार करो।
(८) रुचि उत्पन्न करने के क्या-क्या साधन हैं ?
(९) 'प्रयत्न-रहित'-अवधान के क्या नियम हैं ?
(१०) शिक्षा का काम 'प्रयत्न-रहित'-अवधान उत्पन्न करना है—इस कथन की व्याख्या करो।

(११) 'सप्रयत्न'-अवधान के क्या नियम हैं ?
(१२) 'अवधान' पर जो परीक्षण किए गए हैं, उनका उल्लेख करो।
(१३) कभी-कभी 'बाधा' ध्यान बँटाने के स्थान में ध्यान में सहायक होती है—इस कथन पर अपने विचार लिखो।
(१४) 'थकान' का भौतिक आधार क्या है, इसका विवेचन करो।
(१५) समय-विभाग बनाते हुए थकान को क्यों ध्यान में रखना चाहिए ?
(१६) शिक्षक बालकों की थकान को कैसे दूर करे ?

३०

'स्मृति' तथा 'प्रत्यय-सम्बन्ध'

(MEMORY AND ASSOCIATION OF IDEAS)

ज्ञान का आधार 'प्रतिमा' का स्मरण है—

'सविकल्पक-ज्ञान' (Perception) में पदार्थ हमारे सम्मुख होता है, और हम उस पर विचार करते हैं। परन्तु अगर हम पदार्थ के सम्मुख होने पर ही विचार कर सकें, उसके सम्मुख न होने पर न कर सकें, तब तो बड़ी मुश्किल हो जाय, हर समय पदार्थ को सम्मुख कैसे लाया जाय ? इसलिए मन में एक प्रक्रिया होती है जिससे पदार्थ अपनी प्रतिमा हमारे मन में छोड़ जाता है, और हम पदार्थ के सम्मुख न होते हुए भी उसकी 'प्रतिमा' अपने सम्मुख ला सकते हैं, और उस पर विचार कर सकते हैं। इससे विचार करना बहुत आसान हो जाता है। इसी प्रक्रिया को 'स्मृति' के नाम से पुकारा जाता है। 'मानसिक-प्रतिमा' तथा 'विचार' का आधार 'स्मृति' ही है। जिन चीज़ों को हम पहले देख चुके हैं, उनके संस्कार हमारे दिमाग़ में पड़ जाते हैं, वे हमारी स्मृति के हिस्से बन जाते हैं, और इन संस्कारों, इन स्मृतियों, इन मानसिक-प्रतिमाओं के आधार पर ही हमारी सम्पूर्ण विचार-परम्परा चलती है। इसी दृष्टि से कई लोग 'कल्पना' (Imagination) को भी स्मृति के अन्तर्गत ही गिनते हैं। 'स्मृति' तथा 'कल्पना' ये दोनों विषय परस्पर इतने सम्बद्ध हैं कि हम अगले दो अध्यायों में 'स्मृति' (Memory) तथा 'कल्पना' (Imagination) पर विवेचन करेंगे।

चतुर्थ अध्याय में हमने बतलाया था कि मन की मुख्य शक्तियाँ तीन हैं: 'हौमें', 'नेमे' तथा 'सम्बन्ध'। 'हौमें' का वर्णन 'प्राकृतिक-शक्तियों' के प्रकरण में काफ़ी हो चुका है। इस अध्याय में हमें 'नेमे' तथा 'सम्बन्ध' पर ही विचार करना है।

१. स्मृति (MEMORY)

स्मृति का भौतिक आधार 'संस्कार-लेखन' (Engram complexes) है—

हमने दस साल हुए श्यामलाल को देखा था, आज श्यामलाल हमारे सामने नहीं, परन्तु हम उसकी चर्चा कर रहे हैं, यह कैसे? इसका उत्तर मनोविज्ञान के पण्डित दो तरह से देते हैं। 'आत्म'-वादी तो कहते हैं कि आत्मा के दो रूप हैं—'उद्भूत' (Conscious) तथा 'अनुद्भूत' (Subconscious)। 'उद्भूत'-आत्मा पर जो संस्कार पड़ते जाते हैं, वे 'अनुद्भूत' में संचित होते जाते हैं, और आत्मा को जिस समय जिन संस्कारों की जरूरत होती है, वे उसके 'अनुद्भूत' रूप में से 'उद्भूत' रूप में आ जाते हैं। इस प्रकार वे लोग स्मृति को आत्मा का 'गुण' मानते हैं, आत्मा की 'शक्ति' (Faculty) मानते हैं। परन्तु अगर 'स्मृति' आत्मा की स्वतन्त्र-'शक्ति' (Faculty) हो, तो जिस समय आत्मा किसी बात को याद करना चाहे, वह झट-से याद आ जानी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। हम जिस बात को याद करना चाहते हैं, ध्यान में लाना चाहते हैं, वह कभी-कभी चेतना से परे-परे भागती जाती है, लाख कोशिश करने पर भी हाथ नहीं आती। इसलिए स्मृति आदि को आत्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानने का विचार मनोविज्ञान के क्षेत्र में पुराना समझा जाने लगा है। अब मनोविज्ञान के पण्डित इस विचार को नहीं मानते। वे लोग भूतकाल की स्मृति का उत्तर मस्तिष्क की रचना से देते हैं। उन लोगों का कहना है कि मस्तिष्क में संस्कारों को संचित करने की एक प्रक्रिया होती है, जिसे 'संचय-शक्ति' (Conservation) कहते हैं। प्रत्येक अनुभव मस्तिष्क के भीतर के कोष्ठों में संचित होता रहता है। जब हमने श्यामलाल को दस साल हुए देखा था, तो उसके संस्कार हमारे 'ज्ञान-वाहक-तन्तुओं' में से होकर 'बृहत्-मस्तिष्क' (Cerebrum) के भूरे रंग वाले भाग 'कॉरटेक्स' में जाकर जमा हो गये थे। 'कॉरटेक्स' में लाखों-करोड़ों 'तन्तु-कोष्ठ' (Nerve Cells) हैं। श्यामलाल को देखने से इन कोष्ठों में श्यामलाल के संस्कार पड़ गये थे, और वे

संस्कार 'संचित' (Conserved) हो गए थे। इस समय जब कि हम श्यामलाल को याद कर रहे हैं, वे ही संस्कार जाग गए हैं। परन्तु पूछा जा सकता है कि संस्कारों के 'संचित' होने से क्या अभिप्राय है ? श्यामलाल का हमें जो अनुभव हुआ था, क्या वह अनुभव मस्तिष्क में संचित रहता है ? अगर यह बात है, तब तो 'आत्मवादी' भी तो यही मानते थे कि आत्मा में 'अनुद्भूत-रूप' में संस्कार जमा होते रहते हैं, उन्हीं को 'स्मृति' कहते हैं। इसके उत्तर में मस्तिष्क को स्मृति का भौतिक-आधार मानने वाले कहते हैं कि नहीं, मस्तिष्क में श्यामलाल का 'अनुभव' नहीं संचित होता, मस्तिष्क के तन्तु-कोष्ठों पर श्यामलाल की 'तस्वीर' खिंच जाती है। अर्थात् श्यामलाल को देखकर तन्तु-कोष्ठों में परिवर्तन हो जाता है, श्यामलाल को देखने से पहले वे जैसे थे, वैसे अब नहीं रहते। जिस प्रकार किसी अच्छे गाने वाले का फ़ोनोग्राफ़ में रिकार्ड भरा जाता है फ़ोनोग्राफ़ पर लगी मोम पर कुछ चिह्न-से पड़ जाते हैं, और जब उस रिकार्ड को ग्रामोफ़ोन पर चढ़ाया जाता है, तो वे संस्कार जो पहले लिखे गए थे, उद्भूत रूप में आकर गाने के रूप में प्रकट हो जाते हैं, इसी प्रकार जब हम कोई चीज़ देखते, सुनते, सूँघते या छूते हैं, तब उसका असर मस्तिष्क के फ़ोनोग्राफ़ पर होता है, अर्थात् उसके तन्तु-कोष्ठ में परिवर्तन हो जाता है, और समय आने पर वे तन्तु-कोष्ठ स्मृति को जागृत कर देते हैं। 'अनुभव' संचित नहीं होता, 'तन्तु-कोष्ठों' की रचना में ही परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन को 'संस्कार-लेखन' (Engram Complexes) कहते हैं। अनुभव अपने-आप तो नहीं रहता, परन्तु अपने पीछे 'तन्तु-कोष्ठों' में 'परिवर्तन', 'संस्कार' (Modification, Disposition) छोड़ जाता है। प्रत्येक अनुभव से 'तन्तु-कोष्ठों' की पहले की रचना में 'परिवर्तन' हो जाता है, और क्योंकि उस अनुभव के लिए तन्तु-मार्ग (Nervous Path) बन चुका होता है, इसलिए दुबारा उस अनुभव का ग्रहण आसान हो जाता है, और साथ ही उसका उद्बोधन भी आसान हो जाता है। इस दृष्टि से स्मृति का भौतिक-आधार 'कॉरटेक्स' के 'तन्तु-कोष्ठों' (Nerve Cells) की 'संचय-शक्ति' (Conservation) है, इसी संचय-शक्ति को 'नेमे' कहा जाता है।

'संस्कार' (Impression), 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition), 'प्रत्याह्वान' (Recall)—ये स्मृति की तीन तहें हैं—

इस 'संचय-प्रक्रिया'—'नेमे'—की अपनी भिन्न-भिन्न तहें हैं। हम एक पाठ को याद करते हैं, वह भूल जाता है। क्या बिल्कुल भूल जाता है? अगर हम भूले हुए पाठ को दुबारा याद करें, तो पहले की अपेक्षा जल्दी याद हो जाता है। क्यों? अगर वह बिलकुल भूल गया था, तो अब भी उतनी ही देर लगनी चाहिए थी, जितनी पहले लगी थी। वास्तव में बात यह है कि पहले का याद किया हुआ भूल तो गया, परन्तु उसके कुछ-कुछ 'संस्कार' (Impressions) मस्तिष्क में जरूर बचे रहे, तभी तो दुबारा याद करने पर पाठ जल्दी स्मरण हो गया। यह 'स्मृति' की सबसे पहली तह है। कभी-कभी हम देखते हैं कि ज़बानी बतलाने से हमें एक चीज याद नहीं आती, वही चीज सामने कर देने से हम उसे पहचान जाते हैं। पदार्थ के सम्मुख होने पर उसे पहचानना 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) कहाता है, और यह स्मृति की दूसरी तह है। 'संस्कार' तथा 'प्रत्यभिज्ञा' के बाद स्मृति की तीसरी तह वह है जब हम वस्तु को सम्मुख लाए बिना ही, उसकी 'प्रतिमा' (Imagery) को मन में ला सकते हैं, और उसे पहचान लेते हैं। किसी ने श्यामलाल का नाम लिया, और तुरन्त हमारे मन में श्यामलाल की प्रतिमा उपस्थित हो गई। यह 'प्रत्याह्वान' (Recall) कहाता है, और यही स्मृति की सबसे ऊँची अर्थात् तीसरी तह है।

सब में मुख्य 'प्रत्याह्वान' (Recall) है—

हमने देख लिया कि जो संस्कार 'कॉरटेक्स' के कोष्ठों में संचित हो जाते हैं, उन्हें 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति का बल 'संस्कार' (Impression), 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) तथा 'प्रत्याह्वान' (Recall) तक हो सकता है। स्मृति का असली उद्देश्य 'प्रत्यभिज्ञा', और उससे भी बढ़कर 'प्रत्याह्वान' है, जिसमें वस्तु, अर्थात् 'विषय' के उपस्थित न होने पर हम उसकी प्रतिमा (Imagery) को मन में ला सकते हैं। इसी से संसार के कारोबार चल सकते हैं। इस प्रकार की 'प्रत्याह्वान' (Recall) की प्रक्रिया को नियन्त्रण करने वाले मुख्य तौर से तीन नियम माने जाते हैं:—

'प्रत्याह्वान' (Recall) के तीन नियम—

(क) *'संस्कार-प्रसक्ति'* (*Perseveration*)—जो संस्कार हम पर पड़ते हैं उनमें से सब का गहरा असर नहीं पड़ता, परन्तु कभी-कभी कोई संस्कार अपनी अमिट छाप डाल देता है। हम रेलगाड़ी में सफ़र कर रहे हैं, एक आदमी खिड़की में से बाहर झाँक रहा है, इतने में खिड़की का दरवाज़ा खिसक पड़ा, उसकी उँगली कट गई, ख़ून की धार बह चली। घटना बीत गई, परन्तु रह-रहकर उसकी स्मृति ताज़ी हो उठती है, भुलाए नहीं भूलती, मानो सारा चित्र आँखों के सामने खिंचा रहता है। हम कोई गाना सुन रहे हैं, एक स्वर ऐसा सुनाई पड़ता है कि हम भी गुन-गुनाने लगते हैं, और वह स्वर गाना समाप्त हो जाने के बाद भी अनायास हमारे मुँह से निकलने लगता है। इसे 'संस्कार-प्रसक्ति' (Perseveration) कहते हैं। जो संस्कार मस्तिष्क के कोष्ठों पर पड़े हैं, वे इतने गहरे हैं, इतने ज़बर्दस्त हैं कि हमें उन्हें उद्बुद्ध करने के लिए 'प्रयत्न' या 'व्यवसाय' नहीं करना पड़ता, वे ख़ुद-ब-ख़ुद उद्बुद्ध हो जाते हैं। शिक्षक को नई बात बालक के सम्मुख इस ढंग से रखनी चाहिए कि देखते ही उसके दिमाग़ में घर कर ले, दिमाग़ में मानो प्रसक्त हो जाय, चिपट जाय, उसे छोड़े ही नहीं। जिस चीज़ को बालक ठीक तौर से समझ जाता है, जिस चीज़ के विषय में उसके मन में अस्पष्ट विचार नहीं रहते, बिलकुल स्पष्ट हो जाते हैं, वह अपने-आप स्मृति में जा गड़ती है। इसलिए किसी बात को याद करने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि रटाने के बजाय शिक्षक उसे ख़ूब अच्छी तरह से समझा दे, बालकों के हृदय में उसके विषय में कोई सन्देह न रहे। जिस चीज़ में उनका ध्यान हो जाता है, उसे उन्हें याद नहीं करना पड़ता, वह स्वयं याद हो जाती है। 'अवधान' किसी बात को समझने में सहायक है, इसलिए 'अवधान' भी स्मृति में बड़ी सहायता करता है।

'प्रसक्ति' जहाँ संस्कार की प्रबलता पर निर्भर है, वहाँ मस्तिष्क की अवस्था पर भी बहुत-कुछ अवलम्बित रहती है। किसी बात की तरफ़ हमारा ध्यान है, किसी की तरफ़ नहीं, किसी व्यक्ति में हमारी रुचि है, किसी में नहीं, इन बातों के कारण भी संस्कार कभी सबल और

कभी निर्बल हो जाता है। ताज़े दिमाग़ पर संस्कार आसानी से असर करते हैं, थके पर उतनी आसानी से उनका असर नहीं होता।

(ख) 'रटन' (*Rote Memory*)—किसी चीज़ को दोहराने से वह याद हो जाती है। बचपन में पहाड़े याद कराये जाते हैं, क-ख-ग का क्रम याद कराया जाता है, यह सब 'रटन' है।

कई लोग 'रटन' को 'स्मृति' न गिनकर 'आदत' मानते हैं। बर्गसाँ का कथन है कि 'शरीर' तथा 'आत्मा' अलग-अलग सत्ता रखते हैं। जो लोग 'स्मृति' को शरीर का, अर्थात् मस्तिष्क का ही एक गुण मानते हैं, आत्मा को मानते ही नहीं, उनको बर्गसाँ कहता है कि हमारे देखने में 'स्मृति' के दो रूप आते हैं। एक तो वह रूप है जो मस्तिष्क में स्मृति के केन्द्र के नष्ट हो जाने पर स्मृति को भी नष्ट कर देता है। लिखने के केन्द्र के नष्ट हो जाने से लिखना, बोलने के केन्द्र के नष्ट हो जाने से बोलना नष्ट हो जाता है, यह 'यान्त्रिक-स्मृति' (Mechanical memory) है; परन्तु स्मृति का एक रूप वह भी है, जिसमें केन्द्र नष्ट हो जाने पर भी स्मृति नष्ट नहीं होती, जैसे हमें अपने जीवन की बीती घटनाएँ याद रहती हैं। यह शरीर में नहीं, आत्मा में संचित रहती है, और यही 'शुद्ध-स्मृति' (True memory) है। बर्गसाँ का कथन है कि 'रटन' में हम एक बात को बार-बार दोहराते हैं, उसमें मन के द्वारा विचार-शक्ति का प्रयोग नहीं करते, यह यान्त्रिक-स्मृति है, शुद्ध अर्थों में स्मृति नहीं है। किसी चीज़ का बार-बार दोहराना 'आदत' (Habit memory) है, ठीक अर्थों में 'स्मृति' (True memory) नहीं। प्राचीन शिक्षा-विज्ञान में 'रटन' पर ही अधिक ज़ोर दिया जाता था, आजकल इस पर अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता, सम्बन्ध स्थापित करके याद करना अच्छा समझा जाता है।

(ग) 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (*Association of Ideas*)—स्मृति का तीसरा नियम 'प्रत्यय-सम्बन्ध' का नियम है। हम सैर करने मसूरी गए थे। सुमित्रा हमारे साथ थी, वह बीमार पड़ गई थी, हमने डॉक्टर को बुलाया था। अब 'मसूरी' का नाम सुनकर हमें सुमित्रा याद आ सकती है, सुमित्रा का नाम सुनकर डॉक्टर याद आ सकते हैं, डॉक्टर का नाम सुनकर वह कमरा याद आ सकता है, जिसमें सुमित्रा बीमार पड़ी थी।

डॉक्टर, मसूरी, सुमित्रा के भिन्न-भिन्न प्रत्यय, भिन्न-भिन्न विचार हमारे मस्तिष्क में हैं, और उन सब का परस्पर इस प्रकार का सम्बन्ध है कि किसी एक के सामने आने से कोई-सा भी याद आ जाता है। इसी को 'प्रत्यय-सम्बन्ध' का नियम कहते हैं। स्मृति के लिए यह नियम इतना आवश्यक तथा आधार-भूत है कि इस पर विस्तार से अलग विचार करना असंगत न होगा। इसलिए इस पर हम कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

२. प्रत्यय-सम्बन्ध (ASSOCIATION OF IDEAS)

स्मृति के आधार 'प्रत्यय-सम्बन्ध' का भौतिक-आधार—

हमने 'स्मृति' का भौतिक-आधार बतलाते हुए कहा था कि दिमाग़ के भूरे रंगवाले हिस्से में, जिसे 'कॉरटेक्स' कहते हैं, लाखों और करोड़ों तन्तु-कोष्ठ (Nerve Cells) होते हैं। इन तन्तु-कोष्ठों से मस्तिष्क में ज्ञान के भिन्न-भिन्न केन्द्र बनते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मस्तिष्क में पाँच ज्ञान-केन्द्र हैं। इन ज्ञान-केन्द्रों के अतिरिक्त मस्तिष्क में 'सम्बन्ध-क्षेत्र' (Association areas) भी हैं। देखने का मस्तिष्क में जो केन्द्र है, उसके आस-पास का हिस्सा देखने का 'सम्बन्ध-क्षेत्र' (Association area) है; सुनने का मस्तिष्क में जो केन्द्र है, उसके आस-पास का हिस्सा सुनने में सहायता देने वाला 'सम्बन्ध-क्षेत्र' है। जब हम देखते हैं तो क्या प्रक्रिया होती है? सुमित्रा मसूरी में बीमार पड़ी। इस घटना से मस्तिष्क में क्या परिवर्तन हुआ? मस्तिष्क में दृष्टि के 'तन्तु-कोष्ठों' पर सुमित्रा की छाप पड़ी, मसूरी की, और डॉक्टर की छाप पड़ी, परन्तु यह तो एक प्रक्रिया हुई, दूसरी प्रक्रिया यह हुई कि सुमित्रा और डॉक्टर की आवाज़ की सुनने के 'तन्तु-कोष्ठों' तथा सुनने के 'सम्बन्ध-क्षेत्र' (Association area) पर भी एक-साथ छाप पड़ रही थी। अब देखने और सुनने के जो 'सम्बन्ध-क्षेत्र' (Association areas) थे, उनका परस्पर एक-दूसरे के साथ 'तांतवीय-सम्बन्ध' भी पैदा हो गया। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ काल बाद जब कोई एक 'कोष्ठ' जागृत हुआ, तो उसने पूर्व 'तांतवीय-सम्बन्ध' के कारण दूसरे को भी जगा दिया, और हमें पुरानी सब बातें इकट्ठी याद हो आईं। यही 'तन्तु-कोष्ठों' (Nerve cells) तथा 'सम्बन्ध-क्षेत्रों' (Association areas) का

सम्वन्ध 'प्रत्यय-सम्वन्ध' का भौतिक-कारण है। परीक्षणों से पता चला है कि अगर 'सम्वन्ध-क्षेत्र' (Association area) नष्ट हो जाय, तो मस्तिष्क में ज्ञान-केन्द्र के ठीक रहते हुए भी ठीक ज्ञान नहीं होता। युद्ध में एक जर्मन सिपाही का दृष्टि का केन्द्र ठीक रहा, परन्तु गोली से दृष्टि के आस-पास का 'सम्बन्ध-क्षेत्र' (Association area) चोट खा गया। परिणाम यह हुआ कि वह देख तो सकता था, परन्तु पहचान नहीं सकता था। शहर की गली को वह देख लेता, परन्तु उसे खेत कहता था, मोटर, बस को देखकर उसे गौ कहता था। पैराँ नामक मनोवैज्ञानिक ने लिखा है कि 'सम्वन्ध-क्षेत्र' (Association area) के नष्ट हो जाने पर रोगी 'रूप' को देखता है, उसका 'नाम' नहीं समझ पाता—अर्थात् देखता मात्र है, पहचान नहीं पाता। 'प्रत्यय' (Concepts) कोष्ठों में संचित रहते हैं, 'कोष्ठों' का सम्वन्ध जुड़ गया, तो 'प्रत्ययों' का सम्बन्ध तो अपने-आप जुड़ गया। मस्तिष्क में यह 'सम्वन्ध-शक्ति' (Cohesion) मौजूद रहती है, इसका हम पहले भी जिक्र कर चुके हैं। कई विचारक तो मन की प्रत्येक प्रक्रिया को 'प्रत्यय-सम्वन्ध-वाद' की दृष्टि से ही देखते रहे हैं। इसका ऐतिहासिक विवेचन हम दूसरे अध्याय में कर आये हैं। निम्न-चित्र में 'सम्बन्ध-क्षेत्र' (Association areas) दिखाये गए हैं :—

संबंध-क्षेत्रों का चित्र
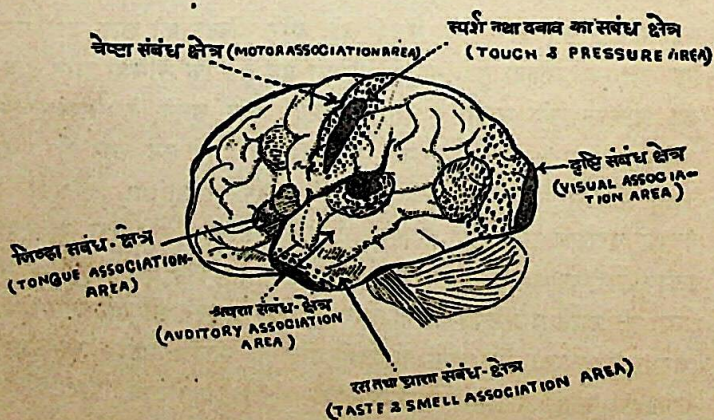
एक 'प्रत्यय' का दूसरे 'प्रत्यय' के साथ सम्बन्ध कैसे होता है ?—

पूछा जा सकता है कि एक 'प्रत्यय' का दूसरे प्रत्यय के साथ सम्बन्ध कैसे होता है ? मनोवैज्ञानिकों ने इस विषय पर निम्न दो नियमों का प्रतिपादन किया है :—

(क) 'अव्यवधानता' (Contiguity)—हम मसूरी गए थे, वहाँ हमारी डॉ० राथके से भेंट हुई थी, वहीं एक दिन पं० जयगोपाल भी मिले थे। अब डॉ० राथके का नाम सुनकर मसूरी की याद आ सकती है, पं० जयगोपाल की याद आ सकती है, मसूरी का नाम सुनकर डॉ० राथके और पं० जयगोपाल दोनों की याद आ सकती है। यह देश-कृत 'अव्यवधानता' का दृष्टान्त है। इसी प्रकार काल-कृत अव्यवधानता हो सकती है। कल हमारे यहाँ प्रो० परमात्माशरण आये थे, उनके साथ उनके एक शिष्य भी थे। अब हम उनके शिष्य को देखकर प्रोफ़ेसर साहब के विषय में पूछने लगते हैं, और प्रोफ़ेसर साहब को देखकर उनके शिष्य के विषय में। काल-कृत अव्यवधान में देश-कृत अव्यवधान अन्तर्निहित रहता है, देश-कृत अव्यवधान में काल-कृत अव्यवधान का अन्तर्निहित रहना जरूरी नहीं। कभी-कभी कार्य से कारण का, और कारण से कार्य का स्मरण हो आता है। यह सम्बन्ध भी अव्यवधानता के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

(ख) 'समानता' (Similarity)—दो समान वस्तुओं अथवा अनुभवों में अगर समानता हो, तो एक के स्मरण से दूसरी का स्मरण हो आता है। हम एक वृद्ध पुरुष को देखते हैं, उसके बाल सफ़ेद हैं, दाढ़ी लहरा रही है, उसे देखते ही हमें अपने पितामह का स्मरण हो आता है! इसी प्रकार एक ही वस्तु से उसके विपरीत गुणों की वस्तु का भी संकेत मिल जाता है। इसे 'वैधर्म्य-सम्बन्ध' (Dissimilarity) कहते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने 'वैधर्म्य-सम्बन्ध' को 'समानता' के अन्दर ही माना है।

'समानता' (Similarity) 'अव्यवधानता' (Contiguity) के अंतर्गत है—

कई लेखक 'समानता' को 'अव्यवधानता' से पृथक् नहीं मानते। डमविल महोदय का कथन है कि 'समानता' में कुछ अंश 'अव्यवधानता' का अवश्य रहता है। जब हम एक वृद्ध पुरुष की लम्बी दाढ़ी देखते हैं, तो क्या हमें 'समानता' के कारण अपने पितामह का स्मरण हो आता है ?

'समानता' तो केवल दाढ़ी में है, अतः केवल दाढ़ी की 'समानता' का स्मरण होना चाहिए। बात यह है कि दाढ़ी की 'समानता' देखकर तो पितामह की दाढ़ी का ही स्मरण होता है, परन्तु क्योंकि पितामह की दाढ़ी के साथ उनके चेहरे, उनके हाथ-पाँव आदि सम्पूर्ण शरीर की 'अव्यवधानता' है, अतः सम्पूर्ण पितामह का स्मरण हो आता है। इसलिए डमविल ने कहा है कि 'समानता' (Similarity) में असली कारण 'अव्यवधानता' (Contiguity) ही होती है।

'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) के पाँच नियम—

'प्रत्यय-सम्बन्ध' के मूलभूत नियम तो उक्त दो ही माने जाते हैं, परन्तु मनोविज्ञान के पण्डितों ने कुछ गौणभूत नियमों का भी प्रतिपादन किया है, जिनके कारण प्रत्ययों के सम्बन्ध के बल का निर्णय होता है। ये नियम 'अव्यवधानता' तथा 'समानता' दोनों में काम करते हैं, और निम्न हैं :—

(क) 'नवीनता' (Recency)—जो बात अभी हाल ही में हो चुकी हो, उसका सम्बन्ध बहुत प्रबल होता है, और उसकी स्मृति भी शीघ्र हो जाती है। हम अभी प्रो० सत्यव्रत जी का 'आर्य-संस्कृति के मूल-तत्त्व' ग्रन्थ पढ़ रहे थे। वैसे तो उनके अनेक ग्रन्थ हैं, परन्तु अगर कोई प्रो० सत्यव्रत जी का नाम ले, तो हमें एकदम 'आर्य-संस्कृति के मूल-तत्त्व' का स्मरण हो आता है। यह इसलिए नहीं कि हमें उनके अन्य किसी ग्रन्थ का ज्ञान ही नहीं, अपितु इसलिए क्योंकि हाल ही में हम इस ग्रन्थ को पढ़ रहे थे।

(ख) 'पुनरावृत्ति' (Frequency)—अगर एक वस्तु या विचार के साथ दूसरे का बार-बार सम्बन्ध होता रहे, तो दोनों में से किसी एक के सम्मुख आने पर दूसरे का हमें ध्यान आ जाता है। पानी का नाम लेते ही ठण्डक का, घास का नाम लेते ही हरियावल का, आकाश का नाम लेते ही नीलिमा का बोध इसी अभ्यास के कारण है। ये अभ्यास तो सर्वगत हैं, कई अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने होते हैं। 'फल' का नाम लेते ही सब्जी बेचने वाले के मन में 'अनार' का, पण्डित के मन में 'कर्म-फल' का, लोहार के मन में 'चाकू के फलके' का विचार उत्पन्न हो जाता है; 'कोश' का नाम लेते ही पण्डित के मन में 'अमर-कोश' का, महाजन के

मन में 'ख़ज़ाने' का, रेशम के कीड़े पालने वाले के मन में 'रेशम के कीड़े के घर' का विचार आ जाता है। यह सब आदत के कारण है, उन शब्दों के साथ जिसका जो सम्बन्ध रहा है, वही विचार उस के मन में आ जाता है।

(ग) 'प्रथमता' (*Primacy*)—जो प्रभाव हम पर पहले पड़ जाता है, वह अक्सर अन्त तक बना रहता है। किसी भले आदमी के विषय में उससे मिलते ही हमारी प्रतिकूल सम्मति बन जाय, तो उसे दूर करना कठिन हो जाता है। बचपन के संस्कार मिटाए नहीं मिटते। पहले प्रभाव में अपने को चिर-स्थायी बनाने की शक्ति होती है।

(घ) 'प्रबलता' (*Vividness*)—विशद अनुभव बड़ी प्रबलता से हम पर प्रभाव जमा लेता है, और उसके प्रभाव में इतना बल होता है कि अन्य प्रतिस्पर्धी-भाव भी उसके प्रभाव को दूर नहीं कर सकते। चाहे उस अनुभव को हुए सालों बीत गए हों, परन्तु वह मूर्तिमान् होकर आँखों के सम्मुख खड़ा हो जाता है, भुलाए नहीं भूलता। 'पुनरावृत्ति' का नियम तो सुनार की चोट करता है, 'प्रबलता' का नियम लोहार की चोट करता है। उस दिन दयाराम बैलगाड़ी को दौड़ा रहा था, बैल ज़ोर से दौड़े जा रहे थे, रास्ते में एक खम्भे से टकराकर गाड़ी उलट गई, दयाराम की टाँग लोहू-लुहान हो गई, हड्डी निकल आई, वह ज़ोर-ज़ोर से चीख़ने लगा, हमने इस सम्पूर्ण दृश्य को देखा, और इसका हम पर यह प्रभाव पड़ा कि अब हम जब भी दयाराम को देखते हैं, पुरानी सब घटना ताज़ी हो आती है।

(ङ) 'रुचि' (*Interest*) *की अधिकता या न्यूनता*—'प्रत्यय-सम्बन्ध' का अन्तिम कारण 'रुचि' है। जिस बात में हमें रुचि होती है, उसका सम्बन्ध मस्तिष्क में स्थापित हो ही जाता है, उसे दोहराने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

३. 'प्रत्यय-सम्बन्ध' पर परीक्षण

किसी विद्यार्थी के 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Associations) किस प्रकार के हैं, इस पर 'परीक्षणात्मक-मनोविज्ञान' में कई परीक्षण किए गए हैं।

वे परीक्षण बड़े रोचक हैं, इसलिए उनका यहाँ दे देना असंगत न होगा। इन परीक्षणों में दो प्रणालियों से काम लिया जाता है: 'क्रमिक-प्रणाली' तथा 'प्रतिक्रिया-प्रणाली'।

'क्रमिक-प्रणाली' तथा 'प्रतिक्रिया-प्रणाली' के परीक्षण—

(क) 'क्रमिक-प्रणाली' (Serial Method) का परीक्षण—जिस व्यक्ति पर परीक्षण किया जाय, उसे कोई एक शब्द देकर कहा जाता है कि इस शब्द के बाद जो शब्द तुम्हें याद आये, लिख दो, उस शब्द के बाद अगला जो शब्द ख़याल आये, उसे भी लिख दो, और इसी प्रकार अगला-अगला शब्द जिस-जिस शब्द को याद कराता जाय, उसे लिखते जाओ। इस प्रकार एक क्रमिक-शृंखला तैयार हो जाती है और उसके आधार पर हम देख सकते हैं कि 'नवीनता', 'अभ्यास', 'प्रथमता', 'प्रबलता', 'रुचि' में से कौन-सा नियम 'सम्बन्ध' को दृढ़ करने में काम कर रहा है। अगर हमने पहला शब्द 'आँख' दिया, उससे अगला किसी ने 'ऐनक' लिख दिया, 'ऐनक' से उसे 'अमेरिका' का ख़याल आया, तो सोचने से इन सब शब्दों का उस व्यक्ति के मस्तिष्क में कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य ढूँढा जा सकता है, जो 'अव्यवधानता' तथा 'समानता' के अन्तर्गत होगा, और जिसके सबल या निर्बल होने में 'नवीनता', 'अभ्यास', 'प्रथमता', 'प्रबलता', 'रुचि' आदि नियमों में से किसी से काम हो रहा होगा।

(ख) 'प्रतिक्रिया-प्रणाली' (Reaction Method) का परीक्षण—इस प्रणाली में पहले एक शब्द कहा जाता या लिखा हुआ दिखाया जाता है, और जिस व्यक्ति पर परीक्षण किया जा रहा है, वह जो शब्द उसे सबसे पहले ध्यान में आया, उसे लिख देता है। इस प्रकार दस-बीस शब्द उसके सामने बोले जाते हैं, और वह भी, उन शब्दों को सुनते ही जो शब्द उसे ध्यान में आते हैं, उन्हें लिख देता है। इन शब्दों पर विचार किया जाय, तो इनमें भी उक्त नियम काम करते हुए दीख जाते हैं।

हमने कहा था कि 'प्रत्यय-सम्बन्ध' स्मृति के तीन नियमों में से एक है, परन्तु यह इतना आवश्यक नियम था कि इस पर हमें विस्तार से लिखना पड़ा। अब हम फिर 'स्मृति' की तरफ़ आते हैं।

४. स्मृति-विषयक परीक्षण

जिस प्रकार 'सम्बन्ध' (Association) के विषय में उक्त परीक्षण किए गए हैं, इसी प्रकार 'स्मृति' (Memory) के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भी कई परीक्षण किए गए हैं। यह पता लगाया गया है कि किसी चीज़ को देखने या सुनने के ठीक बाद कितना याद रह जाता है, जो स्मरण किया जाय, उसमें से कितने समय में कितना भूल जाता है, इत्यादि। 'स्मृति' के सम्बन्ध में ये परीक्षण बड़े महत्त्व के हैं, अतः हम इनका वर्णन करेंगे :—

'तात्कालिक' (Immediate) तथा 'स्थिर' (Permanent) 'स्मृति' (Memory) में भेद—

स्मृति के दो रूप हैं—'तात्कालिक' तथा 'स्थिर'। 'तात्कालिक-स्मृति' (Immediate Memory) वह है जो किसी विषय को देखने, सुनने, याद करने के ठीक बाद हम में पाई जाती है, 'स्थिर-स्मृति' (Delayed या Permanent Memory) वह है, जो याद करने के कुछ देर बाद पाई जाती है। 'तात्कालिक-स्मृति' का आधार तन्तु-कोष्ठों पर संस्कारों की तात्कालिक प्रभाव डालने की शक्ति, 'संस्कार-प्रसक्ति' (Perseveration) है; 'स्थिर-स्मृति' का आधार 'प्रत्यय-सम्बन्ध' है, इसे 'यथार्थ-स्मृति' (True Memory) भी कहते हैं। 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) पर आश्रित स्मृति का आधार 'ज्ञान' होगा, वाकफ़ियत होगी; 'तात्कालिक-स्मृति' का आधार मस्तिष्क के कोष्ठों की 'स्वस्थ-रचना' होगी। 'तात्कालिक-स्मृति' प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न होती है। इसी को परखने के परीक्षणों में 'स्मृति-विस्तार' के परीक्षण भी हैं। स्मृति-विषयक कुछ परीक्षण नीचे दिये जाते हैं :—

(क) स्मृति-विस्तार (Span of Memory)—किसी व्यक्ति की 'तात्कालिक-स्मृति' को परखने के लिए उसके सम्मुख निरर्थक शब्द दोहराये जाते हैं, फिर उसे उन शब्दों को स्मृति द्वारा उद्‌बुद्ध करने को कहा जाता है। कल्पना कीजिए कि हमने किसी के सम्मुख पङ, क्लन, णांग की तरह के बीस निरर्थक शब्द बोले, और पहली ही बार उसने दस

शब्द दोहरा दिये। इस व्यक्ति की 'स्मृति का विस्तार' उस व्यक्ति से अच्छा होगा जो पहली बार में केवल पाँच शब्द दोहरा सकता है। सार्थक शब्दों का प्रयोग इसलिए नहीं किया जाता कि उनका परस्पर किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध जुड़ जाने से हम 'तात्कालिक-स्मृति' को नहीं परख सकते। म्यूमेन ने 'स्मृति-विस्तार' के सम्बन्ध में परीक्षण करके यह परिणाम निकाला है कि १३ वर्ष की आयु तक बालक में 'तात्कालिक-स्मृति' की धीरे-धीरे वृद्धि होती है, १४ से १६ तक यह वृद्धि तेज हो जाती है, और १६ से २५ तक यह अपने उच्च शिखर पर पहुँच जाती है। उसके बाद इसमें कमी आने लगती है। परन्तु जिस व्यक्ति में 'तात्कालिक-स्मृति' अधिक हो उसमें 'स्थिर-स्मृति' भी अधिक होगी यह बात नहीं है। 'स्थिर-स्मृति' में विचारों का परस्पर सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है, और इसलिए 'तात्कालिक-स्मृति' अधिक होने पर भी, बुद्धि का विकास न होने के कारण, किसी में 'स्थिर-स्मृति' की कमी हो सकती है।

(ख) 'स्मृति' तथा 'विस्मृति' (Remembering and Forgetting)—'तात्कालिक-स्मृति' किसी चीज़ को देखने के ठीक उपरान्त उसका स्मरण करना है। परन्तु कुछ देर ठहर कर अगर हम उसी बात को याद करने की कोशिश करें, तो वह बहुत कम याद रह जाती है। भूलने की रफ़्तार के विषय में एब्बिन-हाउस ने १८८५ में कुछ परिणाम निकाले थे, जो बड़े महत्त्व के हैं। परीक्षणों के आधार पर उसने पता लगाया कि याद करने के २० मिनट बाद ५८ प्रतिशत याद रह जाता है, बाकी भूल जाता है। इसी प्रकार १ घंटे बाद ४४ प्रतिशत, ९ घंटे बाद ३६ प्रतिशत, एक दिन बाद ३० प्रतिशत, दो दिन बाद २८ प्रतिशत, छः दिन बाद २५ प्रतिशत और तीस दिन बाद ११ प्रतिशत याद रहता है, बाकी भूल जाता है। इसका यह परिणाम निकला कि पढ़ने के आध घंटे बाद लगभग आधा भूल जाता है, दो-तिहाई आठ घंटे के बाद भूल जता है, तीन-चौथाई छः दिन के बाद भूल जाता है, अर्थात् शुरू-शुरू में भूलने की रफ़्तार ज्यादा होती है, और उत्तरोत्तर कम होती जाती है। इसलिए विद्यार्थियों को चाहिए कि अपने पाठ को आध घंटे के अन्दर-ही-अन्दर दोहरा लें, इस प्रकार परिश्रम कम पड़ता है और मस्तिष्क में संचित अधिक हो जाता है।

(ग) 'प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रत्याह्वान' (Recognition and Recall)—हमने स्मृति की तीन तहें बतलाते हुए कहा था कि स्मृति की पहली सतह तो वह है, जो किसी बात को भूल जाने पर भी 'संस्कारों' (Impressions) के रूप में रहती है, दूसरी वह जिसे 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) कहना चाहिए, तीसरी को 'प्रत्याह्वान' (Recall) कहते हैं। 'प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रत्याह्वान' में भेद यह है कि 'प्रत्यभिज्ञा' में वस्तु के सम्मुख होने पर, हम उसे पहचानते हैं, 'प्रत्याह्वान' में वस्तु के सम्मुख न होने पर 'मानसिक-प्रतिमा' (Imagery) द्वारा हम उसे पहचान लेते हैं। 'प्रत्याह्वान' (Recall) से ही स्मृति का असली उद्देश्य सिद्ध होता है। हमने पाँचों इन्द्रियों से जो-कुछ अनुभव किया है, अगर हम उसका मानसिक-प्रतिमाओं के रूप में 'प्रत्याह्वान' न कर सकें, तो विचार-परम्परा असम्भव हो जाय। जिस बालक में 'प्रत्याह्वान' की जितनी शक्ति अधिक होगी, उसकी स्मृति उतनी ही अधिक होगी। 'प्रत्यभिज्ञा' का भेद अधिक स्पष्ट करने के लिए वेलन्टाइन महोदय ने अपने कुछ विद्यार्थियों पर परीक्षण किये। ६४ बालकों पर परीक्षण किया गया, जिनमें से ५४ में 'प्रत्याह्वान' की अपेक्षा 'प्रत्यभिज्ञा' अधिक पाई गई। इसी प्रकार ७५ बालकों पर परीक्षण किया गया, इनमें भी ६७ में 'प्रत्याह्वान' की अपेक्षा 'प्रत्यभिज्ञा' अधिक पाई गई। परीक्षण इस प्रकार किया जाता है कि २० निरर्थक शब्द लेकर उनमें से पहले १० शब्द बालकों को तीन-चार बार सुनाए जाते हैं। कुछ देर ठहरने के बाद उन्हें इन शब्दों का 'प्रत्याह्वान' करने को कहा जाता है। जो बालक जितने शब्दों का 'प्रत्याह्वान' कर सके, उसके नाम के साथ उतनी संख्या लिख दी जाती है। इसके बाद इन सब को बचे हुए दस शब्दों के साथ मिला कर बीसों शब्दों को इकट्ठा पढ़ दिया जाता है, और उन्हें उन शब्दों को पहचानने के लिए कहा जाता है, जिन्हें वे पहले सुन चुके हैं। ऐसे परीक्षण किए गए और उनका परिणाम यह निकला कि बालक जिन शब्दों का 'प्रत्याह्वान' (Recall) नहीं कर सके थे, उनमें से इस बार बहुतों को पहचान जाते हैं, उनकी 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) कर लेते हैं।

(घ) *'मानसिक प्रतिमा' तथा 'स्मृति'*—हमने अभी कहा कि स्मृति में 'प्रत्याह्वान' सबसे ज्यादा जरूरी है। 'प्रत्याह्वान' में क्या होता है? हमारे सम्मुख पदार्थ नहीं होता, परन्तु हम पहले के संस्कारों के आधार पर उसकी मानसिक कल्पना कर सकते हैं, उसकी प्रतिमा (Image) सामने ला सकते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी उस 'प्रतिमा' के साथ उस समय का 'संवेदन' (Feeling) और 'उद्वेग' (Emotion) भी उत्पन्न हो जाता है। दिवंगत माता की उस दृष्टि को, जो प्राण त्यागते हुए उसने हम पर डाली थी, कौन भुला सकता है, और उसके याद आते ही किसके आँसू नहीं निकल पड़ते। यह 'कल्पना-शक्ति' (Power of Imagery) प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती है, और प्रत्येक इन्द्रिय की अपनी-अपनी होती है। आँखों से देखी हुई, कानों से सुनी हुई, हाथों से छुई हुई, जीभ से चखी हुई, नासिका से सूँघी हुई चीजों की हम मानसिक-कल्पना कर सकते हैं, और उन्हें क्रमशः 'दृष्टि-प्रतिमा', 'श्रवण-प्रतिमा', 'स्पर्श-प्रतिमा', 'रस-प्रतिमा' तथा 'घ्राण-प्रतिमा' कहा जाता है। किसी बात को स्मृति में दृढ़ करने के लिए शिक्षक को कई प्रतिमाओं का सम्बन्ध जोड़ देना चाहिए। 'दवात' बोलते हुए अगर दवात दिखा दी जाय, तो 'श्रवण-प्रतिमा' तथा 'दृष्टि-प्रतिमा' का सम्बन्ध जुड़ जाता है, और बालक की 'स्मृति' में 'दवात'-शब्द पुष्ट हो जाता है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति में 'दृष्टि-प्रतिमा' अधिक स्थिर होती है, और इसलिए शिक्षक को प्रत्येक वस्तु दिखाने का प्रबन्ध करना चाहिए। प्रतिमा-कल्पना की योग्यता को परखने के लिए निम्न परीक्षण किए जा सकते हैं:—

'मानसिक-प्रतिमा' को परखने के परीक्षण—

(१). आँखें बन्द करके अपने सम्मुख एक रेखा की कल्पना करो। अब इस रेखा को कल्पना में ही बढ़ाओ। क्या बढ़ जाती है? अब घटाओ। क्या घट जाती है?

(२) कान बन्द करके कल्पना करो कि गाड़ी सीटी दे रही है। क्या सीटी सुनाई देती है? इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के सम्बन्ध में परीक्षण किये जा सकते हैं। जिसमें 'प्रतिमा-कल्पना' अधिक होगी, उसे स्मृति में अवश्य सहायता मिलेगी। कई बालक एक प्रकार की

'प्रतिमा-कल्पना' कर सकते हैं, दूसरे प्रकार की नहीं, इसलिए जब शिक्षक अनेक बालकों को इकट्ठा पढ़ा रहा हो, तो उसे बालकों के सम्मुख भिन्न-भिन्न इन्द्रियों की 'प्रतिमा-कल्पना' को ध्यान में रखते हुए पढ़ाना चाहिए।

(ङ) *'स्मृति-वृद्धि'*—क्या स्मृति-शक्ति बढ़ सकती है ? स्मृति के मोटे तौर पर दो भाग किए जा सकते हैं: 'रटन्त' (Rote Memory) तथा 'प्रत्यय-सम्बन्ध पर आश्रित स्मृति' (Rational Memory)। रटन्त का अर्थ है, संस्कारों को संचित करने की मस्तिष्क में वर्तमान स्वाभाविक योग्यता। इसे 'सामान्य-स्मृति' (General Memory) भी कहा जा सकता है। 'प्रत्यय-सम्बन्ध' तथा 'रुचि' आदि पर आश्रित स्मृति को 'विशेष-स्मृति' (Specific Memory) कहा जाता है। 'विशेष-स्मृति' के विषय में कोई विवाद नहीं है। हमारे विचार एक दिशा में एक-दूसरे से जितने सम्बद्ध होंगे, जितनी हमारी उनमें रुचि होगी, उतने ही अधिक वे याद भी किये जा सकेंगे। 'सामान्य-स्मृति' के विषय में विद्वानों में मतभेद है। जेम्स का कथन है कि चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय, 'सामान्य-स्मृति' नहीं बढ़ सकती। हाँ, थकावट, बीमारी आदि के कारण न्यूनता-अधिकता आ सकती है। मैक्डूगल तथा मिस स्मिथ ने कुछ परीक्षण किये हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि 'सामान्य-स्मृति' भी बढ़ सकती है। परन्तु अधिकतर यही विचार माना जाता है कि 'सामान्य-स्मृति' नहीं बढ़ती।

'स्मृति-शक्ति' बढ़ सकती है—इस पर वैलन्टाइन के परीक्षण—

इस सम्बन्ध में वेलन्टाइन ने एक परीक्षण किया है। उसने तीस बालकों की एक कक्षा को दस-दस की तीन श्रेणियों में बाँट दिया। एक श्रेणी को १५ दिन तक रोज आधा घंटा कविता रटने को दी गई, दूसरी को उतने ही दिनों, और उतने ही समय तक फ्रेंच भाषा के शब्द रटने को दिये गए, तीसरी श्रेणी को रटने का कोई काम नहीं दिया गया। इसके बाद तीनों श्रेणियों को निरर्थक शब्द, कविता आदि याद करने के लिए दिए गए। जिस श्रेणी ने कविता याद की थी, उसने कविता याद करने में १५ फ़ी सदी उन्नति दिखलाई, जिसने शब्द याद करने में अभ्यास किया

था, उसने निरर्थक शब्द रटने में २० फ़ी सदी उन्नति दिखलाई, और जिस श्रेणी ने याद करने का कोई काम नहीं किया था, उसनें कोई उन्नति दिखलाई नहीं दी। यह तीसरी श्रेणी सारे परीक्षण की जान है, क्योंकि इसी द्वारा यह जाना जाता है कि अगर अभ्यास न किया जाय तो स्मृति में वृद्धि होती है या नहीं। मनोविज्ञान की परिभाषा में इस तीसरी टुकड़ी को 'नियामक-श्रेणी' (Control-group) कहा जाता है। इस परीक्षण से कई लोग यह परिणाम निकाल सकते हैं कि अभ्यास से रटने की शक्ति में उन्नति हो सकती है, परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह उन्नति वास्तव में रटने की शक्ति के बढ़ जाने के कारण नहीं है, अपितु स्मरण करने के उन्नत तरीक़े इस्तेमाल करने के कारण हुई है। जिन बालकों ने कविता तथा शब्द रटे थे, उन्हें रटते-रटते कविता तथा शब्द याद करने के नए-नए ढंग सूझ गए थे, और उन्हीं का उन्होंने कई चीज़ों को याद करने में इस्तेमाल किया था।

(च) 'स्मृति-संक्रमण' (*Transference of Memory*)—अभी जिस परीक्षण का हमने वर्णन किया, इसे कई लोग 'स्मृति-संक्रमण' का दृष्टान्त कहेंगे। हमने कविता याद की, और कविता याद करने की शक्ति बढ़ गई। प्राचीन मनोवैज्ञानिकों का मत था कि कविता अथवा अन्य किसी विषय के याद करने से केवल कविता स्मरण करने की ही नहीं, अपितु सब प्रकार के स्मरण की शक्ति की वृद्धि होती है। भारतवर्ष में भी व्याकरण तथा अमर-कोश के रटने पर बहुत बल दिया जाता रहा। स्मरण-शक्ति ही नहीं, अपितु अन्य शक्तियों के विषय में भी उनका यही विचार था। गणित से गणित-शक्ति को ही नहीं, अपितु 'विचार-शक्ति' को भी उत्तेजन मिलता है। एक विषय में उपार्जित की हुई शक्ति दूसरी में सहायक होती है। इस प्रकार वे लोग मन की भिन्न-भिन्न 'शक्तियाँ' (Faculties) मानकर उनका एक विषय से दूसरे विषय में 'संक्रमण' (Transference) मानते थे, और स्मृति-शक्ति को बढ़ाने के लिए बचपन में खूब घोटा लगवाते थे। आजकल के मनोवैज्ञानिक मन में इस प्रकार की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ नहीं मानते, वे स्मृति, विचार आदि को मानसिक-प्रक्रिया मानते हैं, और मन को भिन्न-भिन्न शक्तियों का समूह

मानने के स्थान पर, भिन्न-भिन्न मानसिक-प्रक्रियाओं को चलाने वाला मानते हैं। अनेक शक्तियाँ मिलकर मन नहीं बनता, मन स्वयं एक अखण्ड सत्ता है, जो अनेक मानसिक-प्रक्रियाओं के रूप में काम करता है। इस दृष्टि से 'स्मृति-संक्रमण' होता तो है, परन्तु उतना ही जितना उस विषय का दूसरे विषय के साथ 'सम्बन्ध' होता है। अगर किसी ने कविता याद की, तो उसकी स्मृति गणित के क्षेत्र में नहीं, भाषा, साहित्य आदि के क्षेत्र में ही सहायक होगी। अगर मनोवैज्ञानिक 'स्मृति-शक्ति' की कोई अलग सत्ता मानें, तब तो उसका 'संक्रमण' भी मानें, परन्तु वे स्मृति को अलग 'शक्ति' के रूप से नहीं मानते, इसलिए स्मृति का संक्रान्त होना भी नहीं मानते। जहाँ 'स्मृति-संक्रमण' दिखाई देता है, वहाँ स्मृति संक्रान्त नहीं होती, अपितु स्मरण करने के तरीक़े जो एक विषय में प्रयुक्त किए जाते हैं, दूसरे में भी सहायक सिद्ध हो जाते हैं।

(छ) स्मरण करने की विधियाँ—स्मृति के विषय में परीक्षणों के आधार पर स्मरण करने की विधियाँ निर्दिष्ट की गई हैं, उन्हीं का उल्लेख कर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

(१) 'विभक्त-स्मरण' (Distributed or Spaced Learning)—परीक्षणों से पता लगा है कि अगर एक विषय को याद करने के लिए हम लगातार दो घंटे लगाने के बजाय रोज बीस-बीस मिनट छः दिन तक लगायें, तो वह अधिक अच्छी तरह याद होता है। एक ही समय में एक-साथ याद करने के बजाय पाठ को भिन्न-भिन्न समयों में विभक्त करके याद करना अधिक लाभकर है। इसका एक कारण तो यह है कि इसमें थकान कम होती है। दूसरी बात यह है कि इसमें 'संस्कार-प्रसक्ति की प्रक्रिया' (Perseveration Process) कई बार दोहराई जाती है, जिससे पाठ दिमाग़ में गड़ जाता है। तीसरी बात यह है कि कई दिनों तक लगातार देखने से भूलने का जो बीच में व्यवधान पड़ सकता है, वह नहीं पड़ता।

(२) 'पठन' तथा 'उदाहार' (Reading and Recitation)—अगर पाठ याद करते हुए कोई लगातार पढ़ता चला जाय, तो इतना याद नहीं होगा जितना पहले कुछ पढ़े, और फिर उसी को बिना किताब देखे

दोहराने का यत्न करे। बिना पुस्तक देखे, पढ़े हुए पाठ के ऊँचे-ऊँचे दोहराने को 'उदाहार' कहते हैं। गेट महोदय ने 'पठन' तथा 'उदाहार' के सम्बन्ध में कई परीक्षण किए हैं और यह परिणाम निकाला है कि 'उदाहार' में जितना समय दिया जाय, उतना ही स्मृति के लिए सहायक होता है।

(३) 'खंडशः' अथवा 'समग्र-स्मरण (*Sectional or Entire Method*)—कविता को किस प्रकार याद करना चाहिए? प्रचलित तरीक़ा यह है कि बालक कविता के खंड अलग-अलग याद कर लेते हैं, इसमें उन्हें छोटी-छोटी पंक्तियाँ याद करने के कारण आसानी पड़ती है। परन्तु पंक्तियाँ तो उन्हें याद हो जाती हैं, सारी कविता इकट्ठी याद नहीं होती। पंक्ति का प्रथम शब्द बतला दिया जाय, तो वे आगे चल देते हैं, वह शब्द न बतलाया गया, तो अटक जाते हैं। इस दृष्टि से कई लोग समग्र कविता को याद करने पर बल देते हैं। इसमें विचारों के परस्पर सम्बन्ध बने रहने के कारण कविता जल्दी याद हो जाती है। ऐसी कविता बहुत लम्बी नहीं होनी चाहिए। परीक्षण-कर्ताओं ने कहा है कि ज्यादा से-ज्यादा २४० पंक्ति तक की कविता को इस प्रकार याद किया जा सकता है। परन्तु छोटे बच्चों के लिए समग्र कविता याद करना कठिन होता है, इसलिए गोपाल स्वामी महोदय ने इन दोनों रीतियों को मिलाने का परामर्श दिया है। उनका कहना है कि अगर कोई कविता याद करनी हो, तो उसके पहले तीन या चार या इससे अधिक विभाग कर लेने चाहिएँ। पहले प्रथम विभाग को स्मरण किया जाय, फिर दूसरे को, तदनन्तर प्रथम तथा द्वितीय को एक-साथ। इसके बाद तृतीय को, और फिर पहले, दूसरे तथा तीसरे को एक-साथ। इसी प्रकार सम्पूर्ण कविता को याद किया जाय। लम्बी कविताओं के लिए यह रीति उत्तम पाई गई है।

प्रश्न

(१) मस्तिष्क की 'संचय-शक्ति' (Mneme) का वर्णन करो।

(२) 'स्मृति' आत्मा की स्वतन्त्र-शक्ति नहीं, प्रत्युत मस्तिष्क की 'संचय-शक्ति' (Mneme) का परिणाम है—इस कथन की व्याख्या करो।

(३) 'संस्कार' (Impression), 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) तथा 'प्रत्याह्वान' (Recall)—इन तीनों को उदाहरण देकर समझाओ।

(४) शिक्षा में 'प्रत्याह्वान' (Recall) के क्या नियम हैं ?
(५) 'प्रत्याह्वान' (Recall) की क्या उपयोगिता है ?
(६) क्या 'रटने' को स्मृति' कहना ठीक है ?
(७) 'प्रत्यय-सम्बन्ध' (Association of Ideas) का भौतिक-आधार क्या है ?
(८) 'अव्यवधानता' (Contiguity) तथा 'समानता' (Similarity) की व्याख्या करो।
(९) स्मृति के पाँच नियम क्या हैं ? उदाहरण देकर समझाओ।
(१०) 'प्रत्यय-सम्बन्ध' को परखने के लिए 'क्रमिक-प्रणाली' तथा 'प्रतिक्रिया-प्रणाली' का वर्णन करो।
(११) 'तात्कालिक' (Immediate) तथा 'स्थिर' (Permanent) स्मृति में क्या भेद है ?
(१२) एब्बिन हाऊस के परीक्षणों से भूलने की रफ़्तार पर क्या प्रकाश पड़ता है ?
(१३) बालक में 'प्रत्याह्वान' (Recall) की अपेक्षा 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition) अधिक पाया जाता है—इस पर वैलन्टाइन के परीक्षणों का उल्लेख करो।
(१४) 'मानसिक-प्रतिमा' (Mental Image) का स्मृति से क्या सम्बन्ध है ? 'मानसिक-प्रतिमा' के कुछ परीक्षणों का उल्लेख करो।
(१५) स्मृति-शक्ति बढ़ सकती है या नहीं, इस पर वैलन्टाइन के परीक्षण का उल्लेख करो।
(१६) 'स्मृति-संक्रमण' (Transference of memory) का "'फ़ैकल्टी साइकौलॉजी' से क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में वर्त्तमान मनोविज्ञान का क्या मत है ?
(१७) स्मरण रखने की विधियों का प्रतिपादन करो। लम्बी कविता को याद करने के लिए श्रीयुत् गोपाल स्वामी ने क्या विधि बताई है ?
(१८) 'परीक्षणात्मक-मनोविज्ञान' (Experimental Psychology) में 'नियामक-श्रेणी' (Control group) का अर्थ समझाओ।

३१

कल्पना
(IMAGINATION)

'प्रत्यय', 'प्रतिमा' तथा 'कल्पना' के दृष्टान्त—

(क) गर्मी के दिन हैं, लूएँ चल रही हैं, हम मकान के दरवाजे बन्द करके बैठे हैं। इतने में सन्ध्या हो गई, हम नहर के किनारे जाकर, घंटा भर, ठण्ड में बैठते हैं, और वहाँ की ठण्डी हवा का आनन्द उठाते हैं—ये सब 'प्रत्यय' हैं।

(ख) नहर के किनारे बैठे हुए हमें आज की लू की याद आ जाती है। दोपहर कैसी गर्मी थी, हमारा शरीर पसीने से तर-ब-तर हो रहा था, हमने दरवाजे बन्द कर दिये थे, हम बाहर आने से घबराते थे। हमारे मन के सामने आज की गर्मी की, मकान की, बन्द दरवाजों की 'प्रतिमा' उठ खड़ी होती है।

(ग) इतने में हम में से एक कह उठता है, गर्मी क्या थी, अंगारे बरस रहे थे, लू क्या थी, आग की लपटें थीं, आज का दिन क्या था, नरक की एक झाँकी थी—यह 'कल्पना' है।

१. 'प्रत्यय', 'प्रतिमा' तथा 'कल्पना' में भेद

'प्रत्यय' (Percept) तथा 'प्रतिमा' (Image) में भेद—

उक्त तीनों अनुभवों में से पहला अनुभव 'सविकल्पक-प्रत्यक्ष' से उत्पन्न होता है, इसे 'प्रत्यय' (Percept) कहते हैं; दूसरा अनुभव 'स्मृति' से उत्पन्न होता है, इसे 'प्रतिमा' (Image) कहते हैं; तीसरा अनुभव 'कल्पना-शक्ति' से उत्पन्न होता है, इसे 'कल्पना' (Imagination) कहते हैं। 'प्रत्यय' (Percept) में विषय इन्द्रिय के सम्मुख होता है, 'प्रतिमा' (Imagery) में विषय सामने नहीं होता; 'प्रत्यय' में विषय स्पष्ट होता

है, 'प्रतिमा' में उतना स्पष्ट नहीं होता; 'प्रत्यय' इन्द्रिय पर आश्रित होता है, आँखें खोलकर और विषय की तरफ़ मुँह करके ही हम देख सकते हैं, 'प्रतिमा' में आँखें बन्द करके, और विषय की तरफ़ पीठ फेरकर भी, हम पूर्वानुभव का स्मरण कर सकते हैं; 'प्रत्यय' विषय के सम्मुख आते ही एकदम उत्पन्न होता है, 'प्रतिमा' धीरे-धीरे उत्पन्न होती है।

'प्रतिमा' (Imagery) तथा 'कल्पना' (Imagination) में भेद—

जिस प्रकार 'प्रत्यय' (Percept) और 'प्रतिमा' (Imagery) में भेद है, इसी प्रकार 'प्रतिमा' (Imagery) और 'कल्पना' (Imagination) में भी भेद है। 'प्रत्यय' से अगला कदम 'प्रतिमा' का है, और 'प्रतिमा' से अगला कदम 'कल्पना' का है। 'प्रतिमा' का आधार 'प्रत्यय' है। पिछले 'प्रत्यय' जैसे हुए थे, वे वैसे ही याद आने लगते हैं। हम बाहर से आये, लू चल रही थी, हमने मकान में घुसते ही दरवाजा बन्द कर दिया। इस अनुभव को स्मरण करने में आज का दिन, अपना मकान तथा अपनी क्रिया—सब 'प्रत्यय' उसी रूप में याद आ जाते हैं। जिस देश तथा जिस काल में हमें अनुभव हुआ है, 'प्रतिमा' उस देश तथा उस काल में बंधी रहती है। 'कल्पना' का आधार 'प्रत्यय' नहीं, 'प्रतिमा' है; परन्तु 'कल्पना' प्रतिमा की तरह देश, काल तथा अन्य पूर्व-सम्बन्धों से बंधी नहीं रहती। जब हम कहते हैं, गर्मी क्या है, आग बरस रही है, तब दिन में से 'गर्मी' को हम अलग करके उसकी जगह 'आग' की कल्पना कर लेते हैं, और वर्षा में से 'बरसने' के विचार को अलग करके 'आग' के साथ जोड़ देते हैं। 'प्रतिमा' में हम पूर्वानुभव को 'पुनरुत्पन्न' (Reproduce) करते हैं; 'कल्पना' में हम पूर्वानुभव के आधार पर एक नई चीज़ 'उत्पन्न' (Produce) करते हैं। 'प्रतिमा' में 'प्रत्यय' सामने नहीं होता, पूर्वानुभव होता है, परन्तु उसमें नवीनता नहीं होती; 'कल्पना' में भी 'प्रत्यय' सामने नहीं होता, इसमें भी पूर्वानुभव होता है, परन्तु पूर्वानुभव वैसे-का-वैसा नहीं होता, उसमें नवीनता होती है। 'प्रतिमा' का केवल भूत से सम्बन्ध होता है, 'कल्पना' का भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों से सम्बन्ध

हो सकता है। 'प्रतिमा' (Image) का वर्णन स्मृति के प्रकरण में हो चुका है, हम यहाँ केवल 'कल्पना' (Imagination) के विषय में लिखेंगे।

२. 'कल्पना' का वर्गीकरण

'कल्पना'-शब्द का विस्तृत अर्थों में भी प्रयोग हो सकता है। 'स्मृति' भी एक दृष्टि से 'कल्पना' ही है। 'स्मृति' तथा 'कल्पना' दोनों का निर्माण पूर्वानुभव 'प्रत्ययों' से ही होता है। इस दृष्टि से 'स्मृति' तथा 'कल्पना' दोनों शुद्ध मानसिक क्रियाएँ हैं। 'स्मृति' में पूर्वानुभव जैसे-का-तैसा होता है, 'कल्पना' में कुछ नवीनता कर दी जाती है। इस दृष्टि को सम्मुख रखते हुए 'कल्पना' का मैक्डूगल तथा ड्रेवर दोनों ने निम्न प्रकार वर्गीकरण किया है :—

मैक्डूगल का 'कल्पना' का वर्गीकरण—

(क) पुनरुत्पादनात्मक-कल्पना (स्मृति) (Reproductive)
(ख) उत्पादनात्मक-कल्पना (कल्पना) (Productive)

रचनात्मक-कल्पना (Constructive) सर्जनात्मक-कल्पना (Creative)

'पुनरुत्पादनात्मक-कल्पना' (Reproductive Imagination) में पहले अनुभव की हुई मानसिक 'प्रतिमाएँ' (Images) हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। इसका दूसरा नाम 'स्मृति' है। 'उत्पादनात्मक-कल्पना' (Productive Imagination) में हम पहले किए हुए अनुभव को आधार बनाकर उसमें अपनी तरफ़ से कुछ नवीनता उत्पन्न कर देते हैं। 'उत्पादनात्मक-कल्पना' दो तरह की हो सकती है। हमें एक मकान बनाना है, उसका पहले से ही मन में नक्शा बना लिया जाता है; इसी प्रकार हमें एक कहानी लिखनी है, उसका भी प्लॉट हम पहले से ही मन में खींच लेते हैं। इन दोनों में से पहली 'रचनात्मक-कल्पना' (Constructive

Imagination) है, क्योंकि हम भौतिक-पदार्थ से एक नवीन पदार्थ—मकान—की रचना कर रहे हैं; दूसरी 'सर्जनात्मक-कल्पना' (Creative Imagination) है, क्योंकि हम भौतिक-तत्वों से कुछ नहीं बनाते, दिमाग़ से ही नई-नई बातें उपजाते हैं, उनका सर्जन करते हैं।

ड्रेवर का 'कल्पना' का वर्गीकरण—

ड्रेवर ने 'कल्पना' पर दूसरी तरह से विचार किया है। पहले तो वह 'मानसिक-प्रत्यक्ष' (Ideal Representation) के ही दो विभाग करता है—'स्मृति' (Reproductive Imagination) तथा 'कल्पना' (Productive Imagination)। 'स्मृति' पर 'कल्पना' के प्रकरण में विचार करना अप्रासंगिक है। 'कल्पना' के वह दो विभाग करता है—'आदानात्मक' (Receptive) तथा 'सर्जनात्मक' (Creative)।

'आदानात्मक' तथा 'सर्जनात्मक' कल्पना का क्या अभिप्राय है?

'आदानात्मक-कल्पना' (Receptive Imagination) हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में काम आती है। अध्यापक बार-बार ऐसी बातों का वर्णन करता है, जो बालकों ने कभी नहीं देखीं। वह ताजमहल का वर्णन करना चाहता है, बालकों ने उसे कभी नहीं देखा, वह कैसे समझाए। ताज को समझाने से पहले वह शहर की बड़ी-से-बड़ी इमारत का वर्णन करता है। फिर संगमरमर के पत्थर को दिखाकर उसका वर्णन करता है। इसके बाद वह कहता है, अगर हमारे शहर की यह बड़ी इमारत सारी-की-सारी संगमरमर की हो, तो कैसी दीखे? और अगर, यह संगमरमर की इमारत बहुत बड़ी हो जाय, तब तो बस ताजमहल ही हो जाय! इस प्रकार 'आदानात्मक'-कल्पना में अध्यापक अपनी बातों का आधार उन्हीं चीज़ों को बनाता है, जो बालक ने देख रखी हैं, जिन्हें बालक जानता है, और धीरे-धीरे उन्हीं बातों से वह बालक के मन में एक ऐसे विषय की कल्पना उत्पन्न कर देता है, जिसे उसने कभी नहीं देखा। 'आदानात्मक-कल्पना' के सहारे हम नई-नई बातों, नई-नई चीज़ों को देखे बिना भी उनकी कल्पना करने लगते हैं। इस कल्पना में शिक्षक को

इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह ऐसी बातों की तरफ़ न चला जाय जिन्हें बालक जानता ही न हो। जब शिक्षक किसी बात को समझाता हुआ ऐसी बातें कहने लगता है, जो बालक की 'आदानात्मक-कल्पना' को भी कुछ सहायता नहीं दे सकतीं, तब बालकों का ध्यान उचट जाता है, वे इधर-उधर देखने लगते हैं। हमारे जीवन में बहुत-सा हिस्सा 'आदानात्मक-कल्पना' का ही होता है। दूसरे लोग कहते हैं; और हम उनके कथन का 'आदान' करते हैं, ग्रहण करते हैं। सारी दुनिया को किसने देख रक्खा है, दूसरों के कथनों के आधार पर ही तो हमारा बहुत-सा ज्ञान निर्भर है।

'आदानात्मक' के अतिरिक्त ड्रेवर ने कल्पना का जो दूसरा विभाग किया है, वह 'सर्जनात्मक' (Creative) है। 'सर्जनात्मक-कल्पना' (Creative) 'आदानात्मक' (Receptive) से ऊँचे दर्जे की है। इसमें हम दूसरे की कही बातों का आदान नहीं करते, परन्तु खुद कुछ सर्जन करते हैं, उत्पन्न करते हैं। 'सर्जनात्मक-कल्पना' (Creative Imagination) के ड्रेवर ने मुख्य तौर से दो विभाग किए हैं—'कार्य-साधक-कल्पना' (Pragmatic Imagination) तथा 'सरस-कल्पना' (Æsthetic Imagination)। 'कार्य-साधक-कल्पना' वह है जिससे कोई उपयोगी कार्य सिद्ध होता हो। एक वैज्ञानिक किसी सिद्धान्त की कल्पना करता है, एक इंजीनियर किसी पुल को बनाने के लिए उसका नक्शा बनाता है, ये दोनों 'कार्य-साधक-कल्पनाएँ' (Pragmatic) हैं। 'सरस-कल्पना' उसे कहते हैं, जो सौन्दर्य-प्रधान हो। कवि कविता का पद्य रचता है, उपन्यासकार उपन्यास लिखता है, चित्रकार चित्र खींचता है, एक और आदमी बैठा-बैठा शेख़चिल्ली के हवाई क़िले बनाता है—ये सब 'सरस-कल्पनाएँ' (Æsthetic) हैं। 'कार्य-साधक' तथा 'सरस'-कल्पना में काफ़ी भेद है। 'कार्य-साधक'-कल्पना का आधार भौतिक पदार्थ हैं। एक इंजीनियर पुल बनाने की कल्पना करता हुआ यह कल्पना नहीं कर सकता कि वह नदी में मट्टी के खम्भे खड़े करके उनके ऊपर पुल बना दे। उसे जगत् की यथार्थता को आधार बनाकर अपनी कल्पना का निर्माण

करना होता है। 'सरस'-कल्पना में मन को अधिक स्वतन्त्रता मिल जाती है, उसे जगत् की यथार्थता का दास नहीं रहना पड़ता। कवि आसमान से अंगारे बरसा सकता है, कल्पना द्वारा चाँद को अपने पास बुला सकता है, अन्तरिक्ष-लोक में उड़ सकता है। 'कार्य-साधक'-कल्पना में कार्य के पूरा होने पर आनन्द आता है, 'सरस'-कल्पना तो ज्यों-ज्यों चलती है, त्यों-त्यों आनन्द भी आता जाता है।

'कार्य-साधक-कल्पना' (Pragmatic) के फिर दो विभाग किए गए हैं : 'विचारात्मक' (Theoretical) तथा 'क्रियात्मक' (Practical)। न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के सिद्धान्त का निकालना बड़ी ऊँची 'विचारात्मक' कार्य-साधक कल्पना है। इंजीनियर का पुल की कल्पना करना 'विचारात्मक' नहीं, 'क्रियात्मक' कार्य-साधक कल्पना है। 'विचारात्मक'-कल्पना में, ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्त, ऊँचे-ऊँचे वाद आ जाते हैं, 'क्रियात्मक'-कल्पना में पुल का, नहर का नक्शा आदि क्रियात्मक बातों से सम्बन्ध रखने वाली कल्पनाएँ आ जाती हैं। 'सरस-कल्पना' के भी दो विभाग किए गए हैं। 'कला-सम्बन्धी' (Artistic) तथा 'मन-तरंग-सम्बन्धी' (Phantastic)। 'कला-सम्बन्धी' सरस-कल्पना में हम व्यक्ति तथा समाज के लिए उपयोगी वस्तुओं का कल्पना द्वारा सर्जन करते हैं। कविता, नाटक, उपन्यास, चित्र—इसी कल्पना के अन्तर्गत हैं। 'मन-तरङ्ग-सम्बन्धी' सरस-कल्पना में हम व्यक्ति तथा समाज के लिए उपयोगी कल्पना का सर्जन नहीं करते। इसमें मन शेख़चिल्ली के हवाई क़िले बनाता है।

'कल्पना' के विषय में ड्रेवर का जो विवेचन हमने दिया है उसे एक ही दृष्टि में समझने के लिए हम अगले पृष्ठ में एक चित्र दे रहे हैं जिससे भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाओं का ब्योरा ठीक-से दिमाग़ में बैठ जायगा। इस चित्र से स्पष्ट हो जायगा कि ड्रेवर पुनरुत्पादक, उत्पादक, आदानात्मक, सर्जनात्मक, कार्य-साधक, सरस, विचारात्मक, क्रियात्मक, कला-सम्बन्धी तथा मन-तरंग-सम्बन्धी—दस प्रकार की कल्पना मानता है।
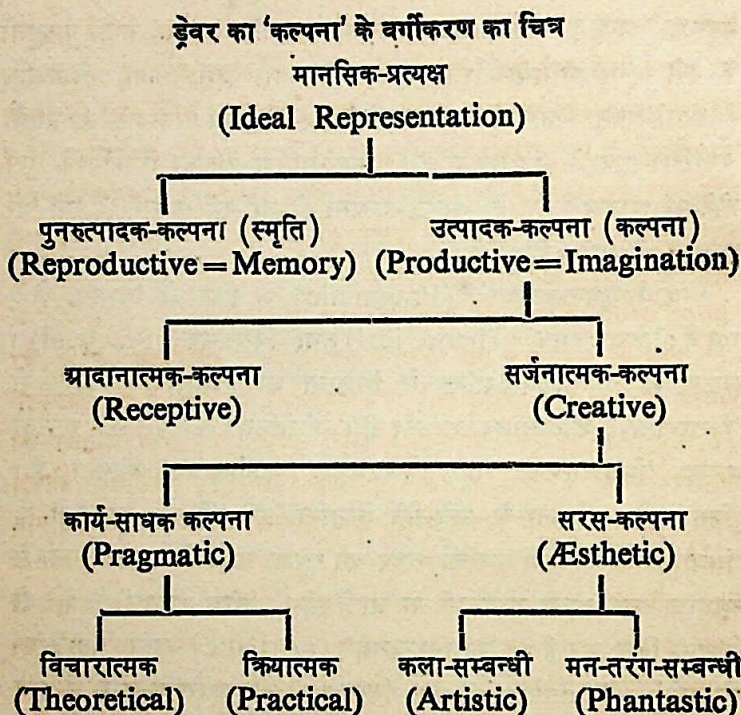
३. 'कल्पना' तथा 'शिक्षा'

बालक के लिए 'कार्य-साधक-कल्पना' अधिक उपयोगी है—

'कार्य-साधक-कल्पना' (Pragmatic Imagination) तथा 'सरस-कल्पना' (Æsthetic Imagination) में से किसे अधिक उत्तेजन देना चाहिए, यह प्रश्न शिक्षक के लिए बड़ा आवश्यक है। आजकल का युग विज्ञान का युग है। जीवन-संग्राम भी दिनोंदिन विकट होता चला जा रहा है। अगर बालक सांसारिक व्यवहार को समझने वाला न हो, तो उसे जीवन में सफलता मिलना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से शिक्षक को बालक में 'कार्य-साधक-कल्पना' (Pragmatic Imagination) उत्पन्न करने की तरफ़ अधिक ध्यान देना चाहिए। 'कार्य-साधक-कल्पना' का

विकास करते हुए उसके 'विचारात्मक' तथा 'क्रियात्मक' दोनों पहलुओं पर ध्यान देना चाहिए। बालक को जीवन में 'सामान्य-ज्ञान' (Generalisations) का उपार्जन करना है, उसे भिन्न-भिन्न वादों तथा सिद्धान्तों को सीखना है। 'विचारात्मक'-कल्पना के बिना वह इस प्रकार का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है? 'विचारात्मक' के साथ-साथ 'क्रियात्मक'-कल्पना का बालक में उत्पन्न करना भी उतना ही जरूरी है। संसार क्रियात्मक लोगों के ही रहने का निवास-स्थान है।

'कल्पना' तथा 'प्रतिमा' का आधार 'प्रत्यय' है—

प्रश्न हो सकता है कि 'कार्य-साधक-कल्पना' को उत्पन्न करने का शिक्षक के पास क्या साधन है? हम पहले ही देख चुके हैं कि 'कल्पना' (Imagination) का आधार 'प्रतिमा' (Image) तथा 'प्रतिमा' का आधार 'प्रत्यय' (Percept) है। 'प्रत्यय' जितना ही स्पष्ट तथा विशद होगा, 'प्रतिमा' उतनी विशद होगी, और जितनी 'प्रतिमा' विशद होगी, उतनी ही 'कल्पना' को सहायता मिलेगी। 'कल्पना' को सबल बनाने के लिए 'प्रतिमा' को सबल बनाना चाहिए, और 'प्रतिमा' को सबल बनाने के लिए 'प्रत्यय' को सबल बनाना चाहिए। 'प्रतिमा' तथा 'कल्पना' का असली आधार 'प्रत्यय' है। इस दृष्टि से शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह बालकों के 'प्रत्ययों' (Percepts) के निर्माण में जितना यत्न हो सके, उतना करे।

मॉन्टीसरी-पद्धति 'शुद्ध-प्रतिमा' बनाती है—

मॉन्टीसरी-पद्धति में बालक को नाना प्रकार के उपकरणों से घेर दिया जाता है, उसकी सब इन्द्रियाँ 'प्रत्यय' ग्रहण करने में जुट जाती हैं। इतना ही नहीं, वह जितने 'प्रत्ययों' का संग्रह करता है, वे शुद्ध होते हैं, निश्चित होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उसकी मानसिक प्रतिमाएँ भी शुद्ध, स्पष्ट तथा निश्चित होती हैं, और इन सबल प्रतिमाओं के आधार पर जो 'कल्पना' बनती है, वह भी सबल होती है। छोटे बालक यों ही इधर-उधर से अपना ज्ञान, अपने 'प्रत्यय' बटोरते हैं, और उनमें अस्पष्टता तथा अशुद्धि रहने के कारण उनकी 'कल्पना' भी अस्पष्ट तथा अशुद्ध बनी रहती है। छोटे बालकों के 'प्रत्ययों' तथा 'प्रतिमाओं'

को मॉन्टीसरी के उपकरणों से शुद्ध तथा धनी बनाया जा सकता है; बड़े बालकों के 'प्रत्ययों' तथा 'प्रतिमाओं' को विज्ञान, वस्तुपाठ आदि के द्वारा परिष्कृत किया जा सकता है, और इस दृष्टि से इन विषयों का बड़ा महत्त्व है।

शिक्षा का काम 'विशेष' से 'सामान्य' की तरफ़ आना है—

बालकों का प्रारम्भिक-ज्ञान स्थूल-पदार्थों (Concrete Objects) का होता है, इसलिए उनके प्रारम्भिक 'प्रत्यय', 'प्रतिमा' तथा 'कल्पना' स्थूल ही होते हैं। 'स्कूल' से अभिप्राय वे अपने स्कूल से समझेंगे, 'माता' से मतलब अपनी माँ से। शिक्षा द्वारा हम क्या करते हैं? शिक्षा द्वारा हम बालक के 'प्रत्ययों' में से 'स्थूलता' का अंश छुटाते जाते हैं, और उसकी जगह 'सूक्ष्मता' का अंश लाते जाते हैं। पहले वह 'स्कूल' सुनकर अपने ही स्कूल की कल्पना कर सकता था। ज्यों-ज्यों वह शिक्षित होता जाता है, त्यों-त्यों 'स्कूल' सुनकर उसके मन में स्कूल का 'सामान्यात्मक-ज्ञान' (General Idea) उत्पन्न होता जाता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक में ऐसी कल्पना-शक्ति उत्पन्न कर दे जिससे वह 'स्थूल' अथवा 'विशेष' (Concrete or Particular) के स्थान में 'सूक्ष्म' अथवा 'सामान्य' (Abstract or General) प्रतिमा को अपने मन में उत्पन्न कर सके। 'सामान्य-प्रतिमा' हमारे मन में शब्दों द्वारा उत्पन्न होती है। हम 'पुस्तक' कहते हैं, और पुस्तक-मात्र का सामान्यात्मक-ज्ञान हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है; हम 'मनुष्य' कहते हैं, और मनुष्य-मात्र का सामान्यात्मक-ज्ञान हमारे मन में आ जाता है। शिक्षक के लिए यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि शुरू-शुरू में बालक के मन में 'सामान्य'-कल्पना नहीं उत्पन्न होती, उसके मन में 'विशेष'-कल्पना उत्पन्न होती है। बालक को उस 'विशेष' (Particular) से 'सामान्य' (General) की तरफ़ ले जाना शिक्षक का काम है।

'सरस-कल्पना' का शिक्षा में स्थान—

'कार्य-साधक-कल्पना' के महत्त्व को दर्शाने से हमारा यह अभिप्राय नहीं कि 'सरस-कल्पना' का कोई महत्त्व नहीं है। 'सरस-कल्पना' का जीवन में बड़ा स्थान है। जीवन में 'सरस-कल्पना' का विकास न हो, तो भवभूति

तथा कालिदास-जैसे कवि भी उत्पन्न न हों। 'सरस-कल्पना' के हमने जो दो भेद किये थे, उनमें से 'कला-सम्बन्धी-कल्पना' तो जीवन के लिए बड़ी उपयोगी है। हाँ, 'मन-तरङ्ग' वाली कल्पना का मनुष्य-जीवन में क्या स्थान है, इस विषय में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। मॉन्टीसरी का कथन है कि बालकों में 'मन-तरङ्गवाली' मन मोदक बनानेवाली कल्पना बहुत अधिक मात्रा में होती है, इसलिए किस्से-कहानी सुनाकर इसे और अधिक नहीं बढ़ाना चाहिए। इसे नियन्त्रित करने के लिए उसे कहानियाँ न पढ़ाकर व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा अधिक देनी चाहिए। ड्रेवर महोदय का कथन है कि मन की इस उड़ान से ही तो बड़े-बड़े कवि तथा चित्रकार बनते हैं, इसलिए इसे दबाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

४. बालक में 'कल्पना' का विकास

हमारे लिए 'काल्पनिक'-जगत् बालक के लिए 'वास्तविक' होता है—

बालक में शक्ति बहुत होती है, परन्तु वह संसार में नया ही आया होता है, इससे परिचित नहीं होता। वह अपनी शक्ति का क्या करे? परिणाम यह होता है कि वह अपना एक काल्पनिक-जगत् बना लेता है, और उसमें वैसे ही विचरता है, जैसे हम इस वास्तविक-जगत् में विचरते हैं। कल्पना के जादू से वह पत्थरों में जान डाल देता है, और उनसे अपनी ही बोली में बोला करता है। बच्चा जब गुड़िया से खेल रहा होता है, तो वह उसे खिलौना नहीं समझता, असली चीज समझता है। जब काठ के घोड़े पर चढ़ता है, तब वह अपने खयाल से सचमुच के घोड़े पर चढ़ता है। हमारी दृष्टि से 'काल्पनिक-जगत्' बालक की दृष्टि से 'वास्तविक-जगत्' होता है। तभी तो वह एक ऐसी बात पर जो हमारी दृष्टि से मामूली होती है, तूल खड़ा कर देता है। छः वर्ष तक उसकी यही हालत रहती है। छः से आठ वर्ष की आयु में वह कल्पना के हवाई क़िले बनाने वाले क्षेत्र से निकलने लगता है, और समझने लगता है कि राक्षसों तथा परियों की कहानियाँ सत्य घटनाओं पर आश्रित नहीं हैं। अब तक उसे जो कहा जाता था वह मान लेता था, अब वह अपने अनुभव के आधार पर कुछ बातों को मानता है, कुछ को नहीं। नौ-दस वर्ष की आयु तक वह

पढ़ना सीख जाता है, अनेक वस्तुओं का उसे सामान्यात्मक ज्ञान होने लगता है। इस समय वीर योद्धाओं की कहानियाँ, बड़-बड़े मार्के के काम, उसकी कल्पना को अधिक आकर्षित करने लगते हैं। उसकी इस कल्पना को इतिहास तथा भूगोल से बहुत सहायता मिल सकती है, इसलिए इन विषयों का इस आयु में पढ़ाया जाना अच्छा है। साहित्य भी कल्पना को अच्छा भोजन देता है। इसी का नतीजा है कि बालकों को पहले किस्से-कहानी पढ़ने का शौक़ होता है, फिर उपन्यास पढ़ने का शौक़ हो जाता है। उपन्यास अगर कला पर आश्रित है, तब तो बुरा नहीं, परन्तु अगर बालक ऐसा साहित्य पढ़ने लग गया है जो 'कला-सम्बन्धी'-कल्पना पर आश्रित न होकर 'मन-तरङ्ग-सम्बन्धी'-कल्पना पर आश्रित है, तो बालक के लिए ठीक नहीं होता। उसे ठाली बैठकर शेख़चिल्ली के हवाई क़िले बनाते रहने की आदत पड़ जाती है, और इस प्रकार वह अपना समय नष्ट किया करता है। शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि बालक को शेख़चिल्ली बनाने वाली इस प्रकार की पुस्तकों को हाथ न लगाने दें। बालक के लिए वे ही पुस्तकें उपयोगी हैं, जो उसकी दोनों प्रकार की 'कार्य-साधक'-कल्पना को उत्तेजित करें, और उनके साथ-साथ 'कला-सम्बन्धी'-कल्पना को भी विकसित करें।

५. कल्पना पर परीक्षण

कल्पना पर अधिक परीक्षण नहीं किए गए। फिर भी दो-एक परीक्षणों का ज़िक्र कर देना अप्रासंगिक न होगा। किसी व्यक्ति को ६ शब्द लिखकर उसे कहा जाय कि इन शब्दों से उसके मन में जो-जो भी कल्पना उत्पन्न होती है, उसे कहता जाय, तो पता चल जायगा कि उसकी कल्पना-शक्ति किस प्रकार की है। इसी प्रकार कुछ आधे अपूर्ण वाक्य देकर उन्हें पूरा करने को कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, "मैं उस स्थान..."—इतना वाक्य देकर इसे पूरा करने को कहा जाय, तो प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न तौर से इसे पूरा करेगा। प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार इस वाक्य को पूरा करेगा, उसके आधार पर उसकी कल्पना-शक्ति का वर्गीकरण हो सकता है।

प्रश्न

(१) प्रत्यय (Percept), प्रतिमा (Image or Imagery) तथा कल्पना (Imagination) के दृष्टान्त देकर इनके आपसी भेद को समझाओ।

(२) मैक्डूगल ने कल्पना का क्या वर्गीकरण किया है ?

(३) ड्रेवर ने कल्पना का क्या वर्गीकरण किया है ?

(४) 'आदानात्मक-कल्पना' (Receptive Imagination) को उदाहरण देकर समझाओ।

(५) कार्य-साधक' (Pragmatic Imagination) तथा 'सरस' (Æsthetic Imagination)—कल्पना में से शिक्षक को किस पर अधिक ध्यान देना चाहिए ?

(६) 'कार्य-साधक-कल्पना' उत्पन्न करने के लिए शिक्षक का साधन 'प्रत्यय' (Percept) है—इस कथन को समझाओ।

(७) 'मॉन्टीसरी-पद्धति' में शुद्ध कल्पना-शक्ति का कैसे उदय होता है ? इसमें 'शुद्ध-प्रतिमा' तथा 'शुद्ध-प्रत्यय' का क्या हाथ है ?

(८) शिक्षा में 'विशेष' से 'सामान्य' (From Particular to General) की तरफ़ आने का क्या अभिप्राय है ?

(९) 'सरस-कल्पना' (Æsthetic Imagination) के शिक्षा में स्थान के सम्बन्ध में मॉन्टीसरी और ड्रेवर के क्या विचार हैं ?

(१०) हमारे लिए 'काल्पनिक-जगत्' बालक के लिए 'वास्तविक-जगत्' होता है—इस कथन को समझाओ।

(११) कल्पना-शक्ति को परखने के लिए कैसे परीक्षण किये जा सकते हैं ?

३२

'सीखना' तथा 'आदत'

(LAWS OF LEARNING AND HABIT)

पिछले अध्यायों में जो-कुछ लिखा जा चुका है, उससे 'सीखने' पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी शिक्षा-मनोविज्ञान की पुस्तक में 'सीखने' पर पृथक् विवेचन करना ही उचित है। शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे वह मनुष्य की आदत का हिस्सा बन जाय, इसलिए इस अध्याय में हम 'सीखने' (Learning) तथा 'आदत' (Habit) दोनों पर विचार करेंगे।

१. सीखना (LEARNING)

'सीखने' में अनेक 'प्रतिक्रियाओं' में से एक चुनी जाती है—

प्राणी अपने को किसी 'स्थिति' (Situation) में पाकर कोई-न-कोई 'प्रतिक्रिया' (Response) करता है। कुत्ता भूखा है, हमारे हाथ में रोटी है, वह रोटी पर लपक पड़ता है। भूखे होने की स्थिति में कुत्ते की यह 'प्रतिक्रिया' है। परन्तु यह प्रतिक्रिया 'प्राकृतिक' (Instinctive) है, सीखी हुई नहीं। बालक के सम्मुख कोई बैठा मिठाई को खा रहा है, वह उसके आगे हाथ बढ़ा देता है। यह भी 'प्राकृतिक-व्यवहार' (Instinctive Behaviour) है, इसे भी सीखना नहीं पड़ता। तो फिर, सीखना क्या है? कल्पना कीजिए कि हमारे हाथ में मिठाई है, बालक उसे छीनने का प्रयत्न करता है, हम उसे कहते हैं, जब माँगोगे तो मिलेगी, छीनने से नहीं मिलेगी। अब बालक मिठाई छीनने के बजाय माँगता है। इस अवस्था में हम कह सकते हैं कि वह एक बात सीख गया है।

एक स्थिति में बालक स्वभाव से जो प्रतिक्रिया करता है, वह 'प्राकृतिक-प्रतिक्रिया' (Instinctive Response) है। परन्तु हो

सकता है कि 'प्राकृतिक-प्रतिक्रिया' सामाजिक-दृष्टि से अनुचित हो। इस-लिए 'प्राकृतिक' की जगह, उसी को आधार बनाकर हम 'उचित-प्रतिक्रिया' (Appropriate Response) बालक को सिखा देते हैं। 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) को आधार बनाकर नई-नई बातें बालकों को कैसे सिखाई जा सकती हैं, इसका विस्तृत विवेचन हम 'प्राकृतिक-शक्तियों' के प्रकरण में कर चुके हैं।

'उचित-प्रतिक्रिया' अनेक सम्भावित प्रतिक्रियाओं में से एक होती है। बालक मिठाई को सामने देखकर कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ कर सकता है। छीन सकता है, माँग सकता है, चुरा सकता है, इन्तजार कर सकता है। इनमें से माँगकर लेने या इन्तजार करने को ही हम उचित कहते हैं, दूसरों को अनुचित। अनेक सम्भावित प्रतिक्रियाओं में से एक का चुन लेना ही 'सीखना' कहाता है।

हम किसी एक प्रतिक्रिया को चुनते हैं, दूसरी को नहीं, इसमें क्या नियम काम करता है? मिठाई को माँगकर लेने से सफलता प्राप्त होती है, छीनने से नहीं होती, इसलिए बालक किसी वस्तु को माँगकर लेना सीख जाता है। इस दृष्टि से 'उचित-प्रतिक्रिया' को सीखने का सबसे अच्छा नियम वही समझा जायगा जिससे सफलता प्राप्त हो। किसी बात को सीखने के मुख्य तौर से चार नियम कहे जाते हैं:—

(क) किसी काम को करके सीखना (Learning by Doing)
(ख) दूसरे को करते देख कर सीखना (Learning by Imitation)
(ग) सूझ से सीखना (Learning by Insight)
(घ) 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' से सीखना (Learning by Conditioned-reflex)

अब हम इन चारों पर कुछ विचार करेंगे:—

थॉर्नडाइक—किसी काम को करके सीखना—

(१) किसी काम को करके सीखना (Learning by Doing) सीखने का बहुत सहज तथा व्यापक तरीका है। थॉर्नडाइक ने इसे 'करना, असफल होना, और फिर करने का तरीका' या 'प्रयत्न-परीक्षा-विधि'

(Learning by Trial and Error Method) यह नाम दिया है। हम बाईसिकल चलाना सीखते हैं। कैसे? हम बार-बार कोशिश करते हैं, बार-बार असफल होते हैं, और अन्त में हम बाईसिकल चलाना सीख जाते हैं।

इस तरीक़े को थॉर्नडाइक ने तीन भागों में बाँटा है। वे तीन भाग ये हैं :—

करके सीखने के तीन अवान्तर-भाग—

(क) *परिणाम का नियम (Law of Effect)*—अगर किसी 'स्थिति' (Situation) में हम ऐसी 'प्रतिक्रिया' (Response) करते हैं जिससे हमें सन्तोष (Satisfaction) हुआ है, तो फिर वैसी ही 'स्थिति' उत्पन्न होने पर हम वैसी ही 'प्रतिक्रिया' पहले की अपेक्षा अधिक आसानी से करेंगे। इसके विपरीत, अगर किसी 'स्थिति' में हम ऐसी 'प्रतिक्रिया' करते हैं, जिससे हमें 'असन्तोष' (Annoyance) हुआ है, तो फिर वैसी ही 'स्थिति' उत्पन्न होने पर हम वैसी 'प्रतिक्रिया' नहीं करेंगे।

'सीखना' बहुत-कुछ किसी बात से 'सन्तोष' अथवा 'असन्तोष' पर ही निर्भर है। पशुओं में प्राकृतिक-इच्छा के पूरा हो जाने से सन्तोष होता है, उसके पूरा न होने से असन्तोष होता है। मनुष्य में इनाम, दण्ड, प्रशंसा, निन्दा आदि अनेक बातों से सन्तोष या असन्तोष होता है।

'परिणाम के नियम' पर कई परीक्षण किए गए हैं। एक भूल-भुलैय्या बनाकर, उसमें कहीं भोजन रखकर, चूहे को छोड़ दिया जाता है। पहले तो चूहा भूल-भुलैय्या में इधर-उधर भटकता है, भोजन के लिए जिन रास्तों पर जाने की जरूरत नहीं, उन पर भी जाता है। जब एक बार वह भोजन को ढूँढ लेता है, तब फिर उसे उसके बाहर लाकर छोड़ दिया जाता है। इस बार भी वह भोजन तक पहुँचने के लिए कई ग़लतियाँ करता है, परन्तु पहले से कम। धीरे-धीरे ऐसी अवस्था आ पहुँचती है, जब हम उसे भूल-भुलैय्या के दरवाज़े पर छोड़ते हैं, और वह सीधा, बिना किसी ग़लत रास्ते पर गए, जहाँ भोजन रखा होता है, वहाँ पहुँच जाता है। इसी प्रकार के परीक्षण बालकों तथा युवाओं पर किए

गए हैं, और यह परिणाम निकाला गया है कि मस्तिष्क की रचना ही इस प्रकार की है कि किसी काम को करने में जिस बात से हमें सन्तोष होता है, वह खुद-ब-खुद सीखी जाती है, जिससे असन्तोष होता है, वह भूल जाती है। चूहों, बच्चों तथा युवकों पर भूल-भुलैय्या के परीक्षण किए गए, और उनसे जो परिणाम निकला, वह निम्नलिखित था :

वार	चूहों की ग़ल्तियाँ	बच्चों की	युवकों की
१ ली वार	५३	३५	१०
२ री ,,	४५	९	१५
३ री ,,	३०	१८	५
४ थी ,,	२२	११	२
५ वीं ,,	११	९	६
६ ठी ,,	८	१३	४
७ वीं ,,	९	६	२
८ वीं ,,	४	६	२
९ वीं ,,	९	५	१
१० वीं ,,	३	५	१
११ वीं ,,	४	१	०

(ख) अभ्यास का नियम (Law of exercise)—अन्य बातों के समान रहने पर, 'स्थिति' के साथ जो 'प्रतिक्रिया' हमने जोड़ी है, उसका अभ्यास किया जायगा, तो वह दृढ़ होती जायगी, अभ्यास न किया जायगा, तो वह शिथिल हो जायगी। सीखने के विषय में थॉर्नडाइक का यह दूसरा नियम है।

(ग) तत्परता का नियम (Law of Readiness)—हम किसी काम को करने के लिए किसी समय 'तत्पर' (Set) होते हैं, किसी समय नहीं। जब हम किसी काम को करने के लिए तैयार होते हैं, तब उसे करने से सन्तोष मिलता है, जब तैयार नहीं होते, तब असन्तोष होता है। भूख लगी हो, भोजन मिल जाय, तो सन्तोष होता है, भूख न लगी हो, और कोई खाने को कहता जाय, तो झुंझलाहट होती है। शिक्षक को चाहिए कि शिक्षा देते हुए बालक की 'तत्परता' का ख़याल रखे। अगर बालक

तत्पर नहीं है, तो उसे तत्पर कर ले। बिना तैयार किए बालक को शिक्षा दी जायगी, तो वह उसे बिना भूख लगे दूध देने की तरह उगल देगा, ग्रहण नहीं करेगा। थॉर्नडाइक का सीखने के विषय में यह तीसरा नियम है।

किसी को करते देखकर सीखना (Learning by Imitation)—

(२) सीखना किसी काम को करके ही होता हो, दूसरी तरह से न होता हो, यह बात नहीं है। दूसरे को करते हुए देखकर भी बहुत-से काम सीखे जाते हैं। इसे 'अनुकरण से सीखना' (Learning by Imitation) कहते हैं। पशु अनुकरण से बहुत कम सीखते हैं। दो बिल्लियों को लेकर परीक्षण किया गया। भूल-भुलैय्या के सब रास्ते एक बिल्ली ने सीख लिए थे, दूसरी ने नहीं। जिसने सब सीख रखा था, उसे कई बार दूसरी के सामने उसमें से गुज़ारा गया, परन्तु दूसरी बिल्ली ने रत्तीभर नहीं सीखा। बन्दर पर जो परीक्षण किए गए, उनका भी यही परिणाम निकला। वनमानुष पर किए गए परीक्षणों से पता लगा कि वह अनुकरण से कई बातें सीख जाता है। मनुष्य में पशुओं से यह बड़ी भारी विशेषता है कि वह अनुकरण से सीखता है। हमारे ज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा अनुकरण पर आश्रित है।

जेस्टाल्टवाद—सूझ से सीखना (Learning by Insight)

(३) कई बातें करके नहीं सीखी जातीं, दूसरे को देखकर भी नहीं सीखी जातीं, अपने-आप बिना बताए आ जाती हैं, इसे 'सूझ से सीखना' (Learning by Insight) कहते हैं। एक चपांझी के सामने सन्दूक में केला रखकर सन्दूक को बाहर से बन्द कर दिया गया। सन्दूक के बाहर एक बटन लगा था, जिसे दबाने से वह खुल जाता था। चपांझी ने बिना सिखाए एकदम बटन को दबाया, और सन्दूक का दरवाज़ा खुल गया। अब एक और बटन भी लगा दिया, और पहले को हटाया नहीं गया। चपांझी ने पहले बटन को दबाया, दरवाज़ा नहीं खुला, परन्तु दूसरे बटन को भी दबाने के बजाय वह पहले को ही दबाता रहा। कुछ देर बाद उसका ध्यान दूसरे बटन की तरफ़ गया, और उसने उस बटन को दबाया। परन्तु इस बार पहला बटन बन्द था, इसलिए अब की बार फिर दरवाज़ा नहीं खुला। दोनों बटनों को एक-साथ दबाने का ख़याल उसे

नहीं सूझा। कई चपांझी ऐसे पाए गए हैं जिन्हें बहुत अधिक सूझ जाता है। एक चपांझी को पिंजरे में बन्द करके बाहर कुछ दूरी पर एक केला रख दिया गया। उसका हाथ वहाँ तक नहीं पहुँचता था। पास दो बाँस की छड़ियाँ रख दी गईं, परन्तु दोनों इतनी छोटी थीं कि जब तक एक दूसरी में फँसाई न जाती, वे केले तक नहीं पहुँच सकती थीं। वह देर तक एक-एक छड़ी को उठाकर केला खींचने की कोशिश करता रहा, परन्तु अन्त में उसने एकदम एक को दूसरी के साथ जोड़ दिया, और उससे केला खींच लिया। पहले वह 'करके, असफल होकर, फिर सीखने' के उपाय (Trial and Error Method) का आश्रय ले रहा था, अब उसे एकदम नई बात सूझ गई थी। बालकों में भी सूझ से कई बातें सीखी जाती हैं। उनके सामने एक-एक बात (Parts) नहीं, सारी-की-सारी परिस्थिति (Whole) आ जाती है, और वे ठीक नतीजे पर स्वयं पहुँच जाते हैं। यह बात 'जेस्टाल्ट-वाद' से, जिसका पहले वर्णन हो चुका है, समझ में आ जाती है।

पवलव तथा वाटसन—'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' से सीखना (Learning by Conditioned Reflex)—

(४) बहुत-सी बातें 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned Reflex) से सीखी जाती हैं। पवलव (१८४९–१९३६) के परीक्षणों का हम तृतीय अध्याय में वर्णन कर आए हैं। भोजन देखकर कुत्ते के मुख में पानी आ जाना स्वाभाविक है, परन्तु घंटी सुनकर उसके मुख में पानी आ जाना, 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned Reflex) का परिणाम है। हमारे ज्ञान का बहुत बड़ा हिस्सा 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' के सिद्धान्त द्वारा समझा जा सकता है। हम किन्हीं चीजों से डरते हैं, किन्हीं के प्रति हमें घृणा है, किन्हीं के प्रति हमारा ख़ास प्रकार का खिचाव है। इन सब का कोई विशेष कारण नहीं होता। किसी दूसरी चीज़ के प्रति बना हुआ हमारा डर, घृणा आदि इस चीज़ से सम्बद्ध हो जाती हैं। ख़रगोश से कौन डरता है? परन्तु वाटसन तथा रेनर ने बच्चे के साथ ख़रगोश का परीक्षण किया। पहले ख़रगोश बच्चे के सामने लाया जाता था, वह उससे नहीं डरता था, परन्तु पीछे जब-जब ख़रगोश उसके सामने लाते थे,

तब-तब जोर को आवाज की जाती थी, बच्चा चौंक जाता था। दो-तीन बार के परीक्षणों के बाद बच्चा खरगोश से डरने लगा। चौंकने का सम्बन्ध जो आवाज के साथ था, आवाज और खरगोश के साथ-साथ रहने के कारण खरगोश के साथ जुड़ गया। 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned Reflex) की प्रक्रिया को निम्न चित्र में प्रकट कर दिया गया है।
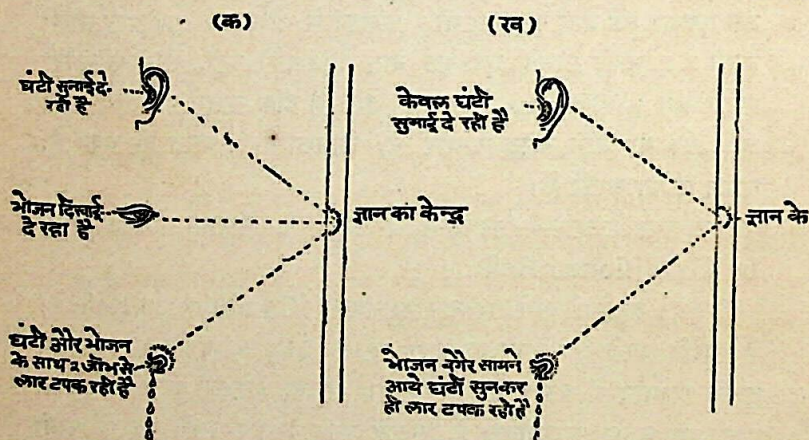
सीखने में सभी से सहायता मिलती है—

विचारकों में परस्पर इस बात पर विवाद है कि असल में 'सीखना' किस प्रकार होता है? थॉर्नडाइक कहता है कि 'खुद करके, असफल होकर, फिर करने' से ही कोई बात सीखी जाती है; कोई अनुकरण पर बल देते हैं; कोई निरीक्षण पर; पवलव, वाटसन आदि 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' को ही सीखने में एकमात्र प्रक्रिया मानते हैं। परन्तु, असल में, सीखने में ये सब प्रक्रियाएँ होती हैं, किसी एक को ही अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

सीखने में 'अवयव' तथा 'अवयव-समूह' बनते जाते हैं—

सीखने में एक बात ध्यान देने की है। जब हम किसी बात को सीखते हैं तब अवयवों से सीखते हैं। कल्पना कीजिए, आप तार देना सीखने लगे। शुरू-शुरू में आप एक-एक अक्षर, एक-एक अवयव को पढ़ते हैं। परन्तु परीक्षणों से पता लगा है कि आगे चलकर तार भेजने में एक-एक अक्षर हमारे सम्मुख नहीं होता, पूरे-पूरे शब्द होते हैं, और इससे भी आगे चलकर हमारे सम्मुख शब्द-समूह होते हैं। पहले अक्षरों के अलग-अलग हिज्जों की आदत पड़ती है, फिर शब्दों की आदत पड़ती है, और बाद को कई इकट्ठे शब्दों की आदत पड़ जाती है। पहले हम 'अवयव' से शुरू करते हैं, परन्तु आगे चलकर, 'अवयव-समूह' (Patterns) से हम काम करते हैं। टाइप करना सीखने में भी यही प्रक्रिया होती है। टाइप करने वाला उँगली चलाता हुआ पहले अलग-अलग अक्षर को सामने रखता है, बाद को वह शब्द पढ़ता है, और टाइप करता जाता है। इससे भी आगे चलकर उसकी आँख दो-तीन शब्द आगे होती है, और उँगलियाँ दो-तीन शब्द पीछे होती हैं। हमारे मन में पहले अवयव विश्लिष्ट रूप में थे, अब कई अवयवों के मिलकर बड़े-बड़े अवयव बन जाते हैं। सीखने की प्रत्येक प्रक्रिया में यह बात अवश्य होती है।

२. आदत (HABIT)

'आदत', 'सहज-क्रिया' तथा 'बुद्धि' में भेद—

'आदत' सीखने का ही एक रूप है, परन्तु दोनों को एक ही नहीं कहा जा सकता। जब हम किसी बात को सीखना शुरू करते हैं; तब हमें सारा ध्यान उधर लगाना पड़ता है; जब हमें उसकी आदत पड़ जाती है, तब बिना ध्यान दिये हम उस काम को करने लगते हैं। आदत एक प्रकार की 'सहज-क्रिया' हो जाती है। 'आदत' (Habit) और 'प्राकृतिक-व्यवहार' (Instinctive Behaviour) दोनों में हम 'सहज-क्रिया' की तरह व्यवहार करते हैं, परन्तु आदत 'अर्जित-सहज-क्रिया' (Acquired Reflex Action) और प्राकृतिक-व्यवहार 'स्वाभाविक-सहज-क्रिया' (Innate Reflex Action) है। 'आदत' तथा 'बुद्धि' में सम्बन्ध यह है कि जिस काम की हमें 'आदत' पड़ जाती है, उसे हम सोचते

नहीं हैं, करते जाते हैं; बुद्धि-पूर्वक कार्य में सोचने की जरूरत पड़ती है। 'आदत' एक यान्त्रिक-प्रक्रिया है और जीवन में हमारे समय की बहुत बचत कर देती है। अगर कपड़े पहनने, चलने, बाईसिकल चलाने आदि में हमें सोचना पड़ता, तो जीवन दूभर हो जाता। हम बाईसिकल भी चलाते जाते हैं, और बात-चीत भी करते जाते हैं, यह 'आदत' के ही कारण है।

बार-बार के संस्कार आदत बनाते हैं—

जब भी हम कोई नई बात सीखते हैं, तभी मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता है, यह हम पहले कह चुके हैं। अगर बार-बार उस बात को दोहराया जाय, तो मस्तिष्क पर गहरे संस्कार पड़ जाते हैं। कभी-कभी इकला संस्कार भी ऐसा प्रबल होता है कि मस्तिष्क में स्थिर हो जाता है। मस्तिष्क की रचना लुचलुची है, और इसलिए इसमें संस्कार संचित रहते हैं। जब किसी एक मार्ग से लगातार संस्कार पड़ते हैं, तब वे ही 'आदत' का रूप धारण कर लेते हैं, और हमें इन संस्कारों द्वारा किए जानेवाले कार्यों में ध्यान नहीं देना पड़ता। पाँव को जूते की आदत पड़ जाती है, जूता बदल गया हो, तो पाँव ही कह देता है कि यह मेरा नहीं है। भौतिक-पदार्थों में भी आदत का यह नियम काम करता दिखाई देता है। अगर किसी पुस्तक का एक ही पृष्ठ बार-बार खोला जाय तो फिर वही आप-से-आप खुलने लगता है। आदतें अच्छी भी हो सकती हैं, बुरी भी। अच्छी आदतों के डालने तथा बुरी को छोड़ने के विषय में जेम्स ने कुछ महत्त्वपूर्ण नियमों का प्रतिपादन किया है। वे निम्न हैं:—
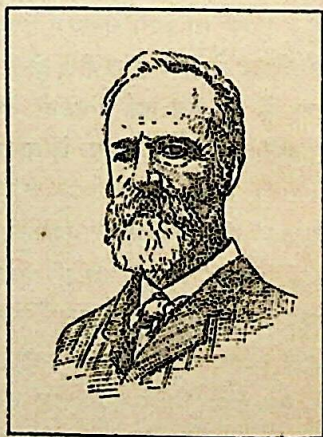
विलियम जेम्स

जेम्स—'आदत' के सम्बन्ध में जेम्स के पाँच नियम—

(क) *प्रबल-प्रारम्भ*—जब किसी नई आदत को डालना हो, या पुरानी को छोड़ना हो, तो उसका प्रारम्भ बड़ी प्रबलता तथा दृढ़ निश्चय से

करो, उसमें मन की सम्पूर्ण संकल्प-शक्ति लगा दो। फिर उस संकल्प को सफल बनाने में जितने उपायों का अवलम्बन कर सको, करो। अगर कोई बुराई न प्रतीत हो, तो बेशक सब के सामने प्रतिज्ञा कर लो, ताकि फिर उसे तोड़ते हुए तुम्हें लज्जा प्रतीत हो।

(ख) अपवाद न होना—जबतक कोई नई आदत पूरी तरह से न पड़ जाय, और पुरानी छूट न जाय, तब तक उसमें अपवाद मत होने दो। युद्ध में छोटी-सी भी विजय आगे आने वाली बड़ी विजयों में सहायक होती है; छोटी-सी भी पराजय पराजयों की तरफ़ ले जाती है। शुरू-शुरू में ढील नहीं डालनी चाहिए। 'एक बार और कर लें, फिर न करेंगे'—यही विचार संकल्प-शक्ति का शत्रु है।

(ग) अवसर न चूकना—जो इरादा करो, उसे पहला मौक़ा मिलते ही पूरा करो। जो लोग केवल इरादे करते रहते हैं, वे संकल्प-शक्ति को और अधिक कमज़ोर बना लेते हैं। अवसर मिलने पर जो उसका लाभ नहीं उठाता, वह आगे चलकर उस अवसर के लिए तरसता है, और अवसर हाथ नहीं आता।

(घ) कहने के बजाय करना—बच्चों को कोरा उपदेश देते रहने से काम नहीं चलता, उन्हें जिस बात का हम उपदेश देते हैं, उसकी जगह काम कराना सब से अच्छा है। शिक्षक बच्चों से जो-कुछ कराना चाहता है, उसे वह काम स्वयं करके भी दिखाना चाहिए ताकि बालक अनुकरण द्वारा उसे सीखकर अपनी आदत बना ले। 'सुलेख लिखो'—यह उपदेश इतना कारगर नहीं हो सकता, जितना सुलेख लिखवाना और इसके साथ खुद अच्छा लेख लिखकर दिखलाना।

(ङ) प्रतिदिन अभ्यास—जो आदत डालनी हो उसका कुछ-न-कुछ अभ्यास आवश्यकता न पड़ने पर भी करते रहो। इस प्रकार का अभ्यास बीमा कराने के समान है। जो व्यक्ति अपने घर का बीमा करा लेता है उसे कुछ-न-कुछ देना पड़ता है। हो सकता है उसे आयु-भर देते ही रहना पड़े। परन्तु अगर दुर्भाग्यवश कभी उसके मकान को आग लग जाय तो उसे पछताना नहीं पड़ता, उसका सारा रुपया वसूल हो जाता है। इसी प्रकार उसके प्रतिदिन के व्यवहार में धीरता, वीरता, त्याग

आदि के इस्तेमाल से इनकी आदत पड़ जाती है, और ये मौक़े पर काम देते हैं। जो आदमी तैरना सीख गया, उसे कभी तैरना काम दे सकता है; जो लाठी चलाना सीख गया, वह कभी दुश्मनों से घिरने पर अपनी जान बचा सकता है।

डनलप—यह बुरा है, ऐसा ज्ञान बुरी आदत छुड़ा देता है—

बुरी आदतों को छोड़ने के विषय में डनलप महोदय ने कुछ ऐसे परीक्षण किए हैं, जिनसे विचित्र परिणाम निकलता है। समझा तो यह जाता है कि बुरी आदत को जितना दोहराया जायगा, उतनी ही वह दृढ़ होती जायगी। डनलप महोदय का कथन है कि बुरी आदत तभी तक रहती है, जब तक हमें इस बात का ख़्याल नहीं होता कि वह बुरी है, जब तक हम उसे अच्छी ही समझते रहते हैं। जिस क्षण हमें उसके बुरे होने का ज्ञान हो जाता है, तभी से हमें उससे 'असन्तोष' (Annoyance) होने लगता है, और वह अपने-आप छूट जाती है। डनलप महोदय को टाइप करते हुए, "the" के स्थान पर "hte" टाइप करने की आदत पड़ गई थी। इसे दूर करने के लिए उन्होंने ध्यान-पूर्वक सैकड़ों बार 'hte' टाइप किया, और इस ध्यान से किया कि वह अशुद्ध है। आगे से जब कभी वह 'the' टाइप करते थे, तो ठीक टाइप होता था, ग़लत नहीं। एक आदमी तुतलाकर बोलता था। उससे कहा गया कि वह जान-बूझकर तुतलाने का अनुकरण करे। जब वह जान-बूझकर तुतलाता था, तब उसे तुतलाने में प्रयास करना पड़ता था, और उसके ध्यान में यह होता था कि यह ठीक तौर से बोलना नहीं है। इस परीक्षण से उसका बोलना ठीक हो गया। इस विषय में अधिक परीक्षण नहीं किए गए, परन्तु इस प्रकार के परीक्षणों से कई मनोरंजक परिणाम निकल सकते हैं, ऐसा अवश्य प्रतीत होता है।

यह जानने के लिए कि नई बात 'सीखने' अथवा 'आदत' पड़ने की क्या रफ़्तार होती है, टाइप आदि सीखने पर कई परीक्षण किए गए हैं, जिनसे निम्न परिणाम निकले हैं:—

सीखने तथा आदत पर परीक्षण : प्रारम्भ में सीखना तेज़ी से होता है—

(क) नई बात एक ही रफ़्तार से ही नहीं सीखी जाती। शुरू-शुरू में नई बात सीखने की रफ़्तार काफ़ी तेज़ होती है, उसके बाद धीमी पड़

जाती है। प्रारम्भ में अभ्यास से, बार-बार करने से, आदत बढ़ती है, अतः शिक्षक को बार-बार के अभ्यास द्वारा नई आदत के डालने का प्रयत्न करना चाहिए। टाइप आदि सीखने में शुरू-शुरू में काफ़ी तेज़ी होती है, बाद को गति रुक जाती है।

सीखने में एक स्थान पर 'समस्थली' (Plateau) आ जाती है—
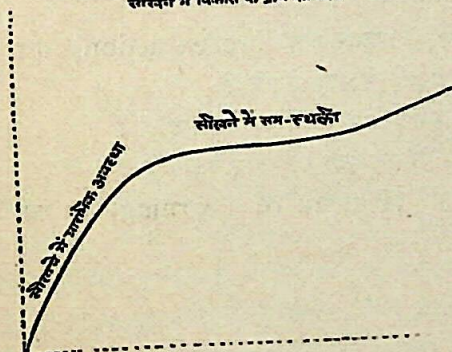
(ख) एक हद तक उन्नति करने के बाद मनुष्य रुक जाता है। इस हद को 'शिक्षण की समस्थली' (Plateau of Learning) कहते हैं। जिस प्रकार पहाड़ पर चढ़ते हुए कहीं-कहीं समस्थली आ जाती है, इसी प्रकार सीखने की तरफ़ उन्नति करते-करते समस्थली आ जाती है, जिससे आगे बढ़ना बालकों के लिए कठिन हो जाता है। कई बालक इस हद से आगे नहीं बढ़ सकते, कई बढ़ सकते हैं। परन्तु इसके लिए शिक्षक को मस्तिष्क को उत्तेजना देने के अन्य उपायों को सोचना पड़ता है।

प्रश्न

(१) 'स्थिति' (Situation) सामने आने पर अनेक 'प्रतिक्रियाएँ' (Responses) हो सकती हैं। उनमें से किसी एक का चुन लेना 'सीखना' है। इस कथन को समझाओ।

(२) थॉर्नडाइक की 'प्रयत्न-परीक्षा-विधि' (Learning by Trial and Error Method या Learning by Doing) क्या है? इसके अन्तर्गत 'परिणाम का नियम' (Law of Effect) क्या है?

(३) सीखने में 'तत्परता के नियम' (Law of Readiness) की व्याख्या करो।

(४) 'सूझ से सीखना' (Learning by Insight) क्या है ?
(५) पवलव तथा वाटसन का 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) से सीखना क्या है ?
(६) टाइप सीखते हुए आँख दो-तीन शब्द आगे होती है, उँगलियाँ दो-तीन शब्द पीछे होती हैं—इस कथन की 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के आधार पर विवेचना करो।
(७) 'आदत' (Habit), 'सहज-क्रिया' (reflex action) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) में क्या भेद है ?
(८) जेम्स ने आदत के सम्बन्ध में क्या नियम बतलाए हैं ?
(९) आदत के विषय में डनलप ने क्या नई बात बताई है ?
(१०) 'शिक्षण की समस्थली' (Plateau of Learning) का क्या अभिप्राय है ?

३३

व्यक्तित्व
(PERSONALITY)

'संगठित' तथा 'असंगठित' व्यक्तित्व में भेद

अब तक हमने मनुष्य के भिन्न-भिन्न मानसिक गुणों का वर्णन किया। मनुष्य में 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts), 'उद्वेग' (Emotions), 'कल्पना' (Imagination), 'बुद्धि' (Intelligence)—आदि अनेक गुण रहते हैं। अगर इन सब का किसी में ठीक-ठीक 'समन्वय' (Co-ordination) है, 'संगठन' (Integration) है, सुव्यवस्था है, तब हम कहते हैं कि इसका 'व्यक्तित्व' प्रशंसा के योग्य है, अगर इन गुणों का 'संगठन' या 'व्यवस्था' ठीक नहीं है, तब हम कहते हैं कि इसके 'व्यक्तित्व' में त्रुटि है। उदाहरणार्थ, 'निवृत्ति' (Repulsion) एक 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) है। अगर कोई व्यक्ति घर का काम-काज जितना चाहिए उतना करता है, परन्तु उसमें लिप्त नहीं होता, उसमें लगा रहता है, परन्तु इतना नहीं रम जाता कि दिन-रात उसे घर की ही लगन लगी रहे, तब तो उसका 'व्यक्तित्व' सुसंगठित है, सुव्यवस्थित है, सामंजस्य-पूर्ण है, परन्तु अगर वह घर से बिलकुल निवृत्त हो जाता है, भाग ही जाता है, बचपन में ही निकल जाता है, तब उसके 'व्यक्तित्व' में समता नहीं है, सामंजस्य नहीं है, कहीं किसी बात की कमी और किसी बात की अधिकता है, कोई 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) उसके 'अज्ञात मन' में कहीं बैठी हुई उसके व्यवहार को दूषित कर रही है। इसी प्रकार 'भय' (Fear) एक 'उद्वेग' (Emotion) है। अगर कोई व्यक्ति जंगल में शेर से डरता है, तब तो ठीक है, परन्तु अगर पिंजड़े में बन्द शेर को देखकर भी चीख उठता है, तब उसके 'व्यक्तित्व' में कुछ

कमी है। हम देश को उन्नत करना चाहते हैं। उन्नत होने पर देश की क्या अवस्था होगी इसकी हम 'कल्पना' (Imagination) करते हैं। यह तो ठीक है, परन्तु अगर कोई बैठा-बैठा कल्पना-ही-कल्पना किया करे, हवाई किले बनाया और ढाया करे, शेख़चिल्ली के पुलाव पकाया करे, और काम कुछ न करे, तो उसका 'व्यक्तित्व' दोष-पूर्ण है, 'समता-रहित' है, 'असंगठित' (Disintegrated) है, 'अव्यवस्थित' है। हमने एक साधारण-सी बात कही, उसे सब बच्चे समझ गए। एक बच्चा ऐसा है जिसे बार-बार समझायें, तब भी नहीं समझता, उसका हमारी बात पर ध्यान ही नहीं टिकता, वह और-और बातें ही सोचा करता है। एक बालक हमारी बात मान जाता है, दूसरा इतना अड़ जाता है कि मार खाने पर भी टस-से-मस नहीं होता। इसका यही कारण है कि एक के 'व्यक्तित्व' का सम-विकास हुआ है, उसकी सब शक्तियाँ अपनी-अपनी ठीक जगह पर काम कर रही हैं, दूसरे का विकास सम नहीं है, विषम है, उसकी कोई शक्ति बहुत बढ़ी हुई है, तो कोई बहुत घटी हुई है, जो शक्ति जिस मात्रा में चाहिए, उस मात्रा में नहीं है। बालक का ज्यों-ज्यों विकास होता जाय, त्यों-त्यों हर मानसिक-शक्ति उसकी मानसिक-रचना में अपने ठीक स्थान पर आकर जड़ जानी चाहिए, मानसिक-शक्तियों के सब मनकों में एकता का, सामंजस्य का सूत्र पिरोया जाना चाहिए, तभी उसका 'व्यक्तित्व' बनता है, नहीं तो 'व्यक्तित्व' के विकास में कमी आ जाती है। एक घर में माता, पिता, पुत्र, नौकर—सब रहते हैं। अगर सब एक होकर अपना-अपना काम करें, तब तो उस घर का काम-काज ठीक से चलता है, परन्तु अगर पुत्र को आवाज दें, तो नौकर भागा आय, और नौकर को आवाज दें, तो पुत्र भागा आय, अगर माता को कुछ कहें, तो पिता समझे उसे कहा गया है, पिता को कुछ कहें, तो माता समझे उसे कहा गया है, तब तो यही कहना होगा कि उस घर में कोई बड़ी भारी कमी है। वह कमी यही तो है कि घर सारा-का-सारा मिलकर एक 'इकाई' (Unit) होकर काम नहीं कर रहा, उसमें 'संगठन' नहीं है, 'सामंजस्य' (Integration) नहीं है। इसके विपरीत अगर घर के सब लोग हमें एक-रूप में दीख पड़ें, पिता का अपना और माता का अपना स्थान हो,

पुत्र और नौकर अपनी-अपनी जगह पर हों, उनमें समता हो, विषमता न हो, यह न मालूम पड़े कि यह क्या झमेला है, तब कहा जायगा कि घर सारा-का-सारा मिलकर 'इकाई' (Unit) बना हुआ है, इस घर में 'सामंजस्य' है। यही बात 'व्यक्ति' के विषय में भी कही जा सकती है। हमारी 'प्राकृतिक-शक्तियों', 'उद्वेगों', 'कल्पना', 'बुद्धि' आदि में समता है, या विषमता है, इनमें सामंजस्य है, या असामंजस्य, ये सब शक्तियाँ एक होकर काम कर रही हैं, या सब अपने-अपने रास्ते पर चल रही हैं, छिन्न-भिन्न हैं? अगर ये मिलकर 'व्यक्ति' को एक 'इकाई' (Unit) बनाते हैं, इनका सम-विकास है, तव 'व्यक्तित्व' 'संगठित' (Integrated) है, अगर ये अलग-अलग चल रही हैं, एक-दूसरे से टक्कर खाती फिरती हैं, मिलकर एक 'इकाई' (Unit) नहीं बनीं, तब 'व्यक्तित्व' 'असंगठित' (Disintegrated) है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि 'संगठित-व्यक्तित्व' (Integrated Personality) ही संसार में सफल हो सकता है, 'असंगठित-व्यक्तित्व' (Disintegrated Personality) सफल नहीं हो सकता।

'व्यक्तित्व' के अंग (FACTORS OF PERSONALITY)

हमने अभी कहा कि हमारे भिन्न-भिन्न मानसिक-गुणों के 'संगठन' (Integration) से 'व्यक्तित्व' बनता है, परन्तु मानसिक-गुणों के अतिरिक्त और भी कई बातें हैं जो 'व्यक्तित्व' के लिए आवश्यक हैं। 'व्यक्तित्व' का निर्माण मुख्य तौर पर निम्न बातों पर होता है और इन्हीं पर हम आगे क्रम-पूर्वक विचार करेंगे :—

(१) शारीरिक-गुण (Physical Traits)
(२) मानसिक-गुण (Mental Traits)
  क. ज्ञान (Knowing), अर्थात् 'बुद्धि' (Intelligence)
  ख. 'इच्छा' (Feeling), अर्थात् 'स्वभाव' (Temperament)
  ग. क्रिया (Willing), अर्थात् 'चरित्र' (Character)
(३) सामाजिक-गुण (Social Traits)
(४) उक्त तीनों गुणों में दृढ़ता (Forcefulness, Persistence)

१. शारीरिक-गुण

शारीरिक-गुणों का मनुष्य के 'व्यक्तित्व' पर बड़ा प्रभाव है। जो व्यक्ति खूब लम्बा-चौड़ा हो, जितना लम्बा-चौड़ा हो, उसी अनुपात में उसका शरीर भरा हुआ हो, उसकी तरफ़ सबकी आँखें लग जाती हैं। दुकानों में ऐसे 'व्यक्तित्व' वाले को प्रायः अच्छी नौकरी दी जाती है, क्योंकि वह ग्राहकों का ध्यान ज्यादा आकर्षित कर लेता है। मधुर आवाज़, सुन्दर चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, गोरा रंग—ये सब शारीरिक गुण हैं, और इनका 'व्यक्तित्व' पर बड़ा भारी असर है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जो नाटे होंगे, वे जीवन में असफल ही होंगे। हम पिछले एक अध्याय में लिख आये हैं कि बायरन लंगड़ा था, परन्तु अच्छा तैराक बन गया; मिल्टन अन्धा था, परन्तु महान् कवि बन गया। अमेरिका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की टाँगें बेकार थीं, परन्तु वह देश के ऊँचे-से-ऊँचे पद पर जा पहुँचा। मनोविश्लेषण-वादी एडलर के विचारों की विवेचना करते हुए तृतीय अध्याय के ७४ पृष्ठ पर हम 'हीनता-ग्रन्थि' (Inferiority Complex) का वर्णन कर आये हैं। एडलर का कथन है कि जब किसी व्यक्ति में कोई 'हीनता' या कमी होती है, तो वह 'शक्ति प्राप्त करने की इच्छा' (Self-assertive Instinct) द्वारा उस कमी को दूर करता-करता कभी-कभी उस कमी का भी लाभ उठा ले जाता है और इसलिए इन विकारों के होते हुए भी कई लोग बहुत आगे निकल जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि एक आँख वाले बहुत चालाक होते हैं, प्रज्ञा-चक्षु एक बार सुनकर ही सब-कुछ याद कर लेते हैं। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि काणे, लूले, लंगड़े और अन्धे ही दुनिया में चमकते हैं। अभिप्राय इतना ही है कि शारीरिक बनावट, बाहर की सजधज, साफ़ कपड़े—सब प्रभावशाली 'व्यक्तित्व' के लिए आवश्यक तो हैं, परन्तु इन्हीं पर पूरा भरोसा छोड़ रखना भी ख़तरे से ख़ाली नहीं है।

२. मानसिक-गुण

'मन' को मनोविज्ञान में तीन भागों में बाँटा गया है—'ज्ञान' (Knowing); 'इच्छा' (Feeling); 'क्रिया' (Willing)। ज्ञान

का रूप ही हमारी 'बुद्धि' (Intelligence) है; 'इच्छा' ही बढ़कर 'उद्वेग' (Emotion) बन जाती है, और 'उद्वेग' से हमारा 'स्वभाव' (Temperament) बनता है। 'क्रिया' का रूप ही हमारा 'चरित्र' (Character) है। मन के 'ज्ञान'-'इच्छा'-'क्रिया'—इन तीन गुणों द्वारा हमारी 'बुद्धि', 'स्वभाव' तथा 'चरित्र' बनते हैं। अतः हम इन तीनों पर थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डालेंगे।

(क) 'बुद्धि' (INTELLIGENCE)

'बुद्धि' के विषय में हम विस्तार से १८वें अध्याय में लिख आये हैं। २०वें अध्याय में हमने 'मन्द-बुद्धि' तथा 'उत्कृष्ट-बुद्धि' बालकों के विषय में भी लिखा है। उस सब को यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि बालकों में 'बुद्धि' की भिन्न-भिन्न मात्रा होती है, और सफल 'व्यक्तित्व' के लिए अच्छी बुद्धि का होना बहुत आवश्यक है। 'मन्द-बुद्धि' बालक प्रायः व्यक्तित्व-हीन होते हैं, परन्तु हाँ, पढ़े-लिखे को ही बुद्धिमान् नहीं कहते, बिना पढ़े-लिखे लोग भी बुद्धिमान् हो सकते हैं। अगर बुद्धि न हो, सब-कुछ हो, तो आदमी शून्य के बराबर है; बुद्धि हो, आचार न हो, तो आदमी समाज के लिए खतरनाक हो सकता है। अतः सुन्दर 'व्यक्तित्व' के लिए इन सब का सामंजस्य, ठीक-ठीक मेल होना आवश्यक है।

(ख) 'स्वभाव' (TEMPERAMENT)

'स्वभाव' हमारे 'उद्वेगों' (Emotions) से बनता है। 'उद्वेगों' को आधार बनाकर मनुष्यों में जो भेद पाए जाते हैं, उनका वर्णन हम सत्रहवें अध्याय में कर चुके हैं। ये व्यक्ति 'भाव-प्रधान' (Emotional type) कहाते हैं। इनके चार भेद हैं:—

१. आशावादी स्वभाव के (Elated type)
२. निराशावादी स्वभाव के (Depressed type)
३. अस्थिर स्वभाव के (Unstable type)
४. चिड़चिड़े अथवा क्रोधी स्वभाव के (Irritable type)

'आशावादी' स्वभाव के कारण मनुष्य किसी बात के बुरे पहलू को नहीं देख सकता, इसलिए जीवन में असफल भी हो जाता है। वह हर बात की गहराई में नहीं जाता, ऊपर-ऊपर ही रहता है। हँसी-मज़ाक में जीवन बिता देता है। 'निराशावादी' हर बात की तह में जाता है। उसे सब चीज़ों का अन्त दिखाई देता है। वह सुख को नहीं देखता, सुख की ओट में छिपे दुःख को देख लेता है। अगर वह ज्ञानी है, तब तो इस प्रकार की वृत्ति से वह तत्व-वेत्ता बन जाता है, अगर सिर्फ़ दुःख-ही-दुःख देखता है, और कुछ नहीं, तो आत्म-घात भी कर लेता है। कइयों को 'निराशा' की बीमारी हो जाती है, जिसे 'मैलंकोलिया' कहते हैं। 'चिड़-चिड़े-स्वभाव' का व्यक्ति हर समय, और हर बात पर, गुस्सा करता है, हर एक से लड़ता है। 'अस्थिर-स्वभाव' का व्यक्ति कभी ख़ुश, कभी नाख़ुश, कभी आशावाद में, कभी निराशावाद में, कभी दुश्मन, कभी दोस्त—'क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः'—स्वभाव का होता है।

मन की ये सब अवस्थाएँ बिल्कुल स्वस्थ 'व्यक्तित्व' की अवस्थाएँ नहीं हैं। 'स्वस्थ-व्यक्तित्व' (Normal or Integrated Personality) के लिए न किसी बात में अधिकता होनी चाहिए, न न्यूनता, हर प्रकार के मानसिक उद्वेग में समता होनी चाहिए, जितना चाहिए उतना, और बस। ये बिल्कुल 'अस्वस्थ-व्यक्तित्व' की अवस्थाएँ भी नहीं हैं। बिल्कुल 'अस्वस्थ-व्यक्तित्व' (Abnormal or Disintegrated Personality) का वर्णन हम आगे ५०६ पृष्ठ पर करेंगे।

(ग) 'चरित्र' (CHARACTER)

मनुष्य के चरित्र का उसके व्यक्तित्व के बनाने में बड़ा भारी भाग है। मैं सच्चा हूँ, या झूठा; दूसरों के साथ ईमानदार हूँ या बेईमान; किसी की चीज़ चुराने में मुझे झिझक है, या नहीं? जो व्यक्ति झूठ बोलता है, बेईमान है, चोर है—जिसका चरित्र ठीक नहीं, उसका 'व्यक्तित्व' भी आकर्षित नहीं करता। महात्मा गांधी कोई सुन्दर व्यक्ति नहीं थे परन्तु उनके चरित्र के कारण ही उनका व्यक्तित्व इतना महान् था कि देश-विदेश में उनकी पूजा होती थी।

'चरित्र' ऐसा भी हो सकता है कि मनुष्य समाज के भय से बुरा काम न करे, ऐसा भी हो सकता है कि उसका आदर्श ही इतना ऊँचा हो कि वह बुरा काम कर ही न सके। जिस व्यक्ति में 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' (Self-regarding Sentiment) पूर्णतया विकसित होकर उच्च-आदर्शों के साथ जुड़ चुका है, उसका 'व्यक्तित्व' ऊँचा है। 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' का विस्तृत वर्णन हम इसी पुस्तक के २३वें अध्याय में कर चुके हैं। समाज के लिए ऐसे व्यक्ति ठीक ही हैं जो सामाजिक भय से बुराई से रुके रहते हैं, परन्तु समाज की असली भलाई इसमें है कि प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र का निर्माण हो, और उसमें उच्च-आदर्शों के प्रति श्रद्धा हो, भक्ति हो, उन्हीं के प्रति उनमें 'आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव' बन चुका हो, वे बुराई को कर ही न सकें। यह नहीं कि झूठ बोलने का मौका सामने न हो, तब ही वे झूठ बोलने के स्थान पर सत्य बोलें; प्रलोभन सामने न होने पर ही संयमी न हों, परन्तु प्रलोभन को सामने देखकर भी न डिगें। चोरी का मौक़ा न होने पर साधु कहाने वाले तो सभी हैं, चोरी का मौका हो, फिर साधु बने रहना वास्तविक चरित्र है।

३. सामाजिक-गुण

बालक प्रारम्भ में दूसरों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करता, वह अपने माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों तक ही अपने को सीमित रखता है। धीरे-धीरे अन्य व्यक्तियों में भी उसकी रुचि बढ़ने लगती है। अपने से दूसरों में रुचि का विकास, दूसरों से मिलना-जुलना ही सामाजिक-गुण है। जो व्यक्ति दूसरों से बेखटके मिलता है, जो सबका प्रिय बन जाता है, उसमें 'मेल-जोल का गुण' (Sociability) पाया जाता है, और इस गुण से उसका 'व्यक्तित्व' सभी को आकर्षित कर लेता है।

इस दृष्टि से मनोविज्ञान के पंडित युँग महोदय ने व्यक्तियों को दो भागों में बाँटा है—'बहिर्मुखी-वृत्ति-वाले' (Extrovert) तथा 'अन्तर्मुखी-वृत्ति-वाले' (Introvert)। हम इन दोनों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(क) 'बहिर्मुखी-वृत्तिवाले' (EXTROVERT)

'बहिर्मुखी-व्यक्ति' लोगों से मिलता-जुलता है, अपनी अपेक्षा दूसरों की चर्चा ज्यादा करता है, हँसी-मजाक में दिन निकाल देता है, अकेला रहना पसन्द नहीं करता, हर समय कई लोगों से घिरा रहता है, सभा-सोसायटियों में सबसे आगे जाकर बैठता है, मन्त्री या प्रधान कुछ-न-कुछ बना रहता है, कुछ काम न भी करे तो भी लोग उसे पदाधिकारी चुना ही करते हैं। खूब रुपया कमाता है, उद्योग-धन्धे जारी करता है, शादी-ब्याह में रुपया खर्च करता है, सब सामाजिक उत्सवों में उसकी हँसी का ठहाका सुनाई देता है।

'बहिर्मुखी'-व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं—'विचार-प्रधान' तथा 'भाव-प्रधान'। जिस 'बहिर्मुखी'-व्यक्ति में 'विचार' की प्रधानता है, उसके विचार बाह्य-जगत् की वस्तुओं की तरफ़ लगे रहते हैं। ऐसे व्यक्ति सभा-सोसायटी में आयेंगे, और आकर ऐसा संगठन तैयार कर देंगे जिससे खूब चन्दा हो, सदस्य बढ़ें, हाजरी ज्यादा हो—अपनी विचार शक्ति से हर चीज का सुधार कर डालेंगे। ऐसे लोग किसी भी संगठन के उत्तम प्रबन्धक का काम कर सकते हैं। जिन 'बहिर्मुखी-व्यक्तियों' में 'विचार' की प्रधानता है, उनके फिर दो भेद किये जा सकते हैं—एक तो सीधा 'विचार' अर्थात् 'तर्क' (Reasoning) से चलने वाले, और दूसरे वे जिन्हें 'दिव्य-दृष्टि' (Intuition) प्राप्त है। 'विचार' द्वारा हम युक्ति-प्रतियुक्ति करके किसी परिणाम पर पहुँचते हैं, 'दिव्य-दृष्टि' द्वारा हम बिना युक्ति-प्रतियुक्ति के सीधे परिणाम पर पहुँचते हैं। पहली कोटि में वकील, बैरिस्टर आते हैं, दूसरी में महात्मा गांधी जैसे लोग आते हैं, जो तर्क-वितर्क में नहीं पड़ते, परन्तु परिणाम पर सीधा पहुँचते हैं। महात्मा गांधी भी 'बहिर्मुखी' थे, राजनीति से ज्यादा बहिर्मुखी चीज क्या हो सकती है, परन्तु 'बहिर्मुखी' होते हुए भी वे दिव्य-दृष्टि से उस परिणाम पर पहुँच जाते थे जिस पर दूसरे लोग तर्क-वितर्क से पहुँचते हैं। जिस 'बहिर्मुखी'-व्यक्ति में 'विचार' की नहीं, 'भाव' की प्रधानता है, उसे 'भाव-प्रधान बहिर्मुखी'-व्यक्ति कह सकते हैं। स्त्रियाँ 'बहिर्मुखी' होती हैं, परन्तु उनमें 'विचार' की अपेक्षा 'भाव'

की प्रधानता होती है। वे अपने निर्णय 'विचारों' से नहीं, 'भावों' से करती हैं। इसी लिए उन्हें झूठे 'भाव' दिखाकर ठगा भी जा सकता है, और इसी लिए स्त्रियों का राजनीति के गुप्त-कार्यों में भाग लेना कभी-कभी धोखा दे जाता है। वे अपनी गुप्त-से-गुप्त बातें भावावेश में आकर दूसरे से कह सकती हैं। जैसे स्त्रियाँ 'बहिर्मुखी' होती हुई प्रायः 'विचार-प्रधान' न होकर 'भाव-प्रधान' होती हैं, वैसे कई पुरुष भी 'भाव-प्रधान' होते हैं।

(ख) 'अन्तर्मुखी-वृत्तिवाले' (INTROVERT)

'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति दूसरों की बाबत इतना नहीं सोचता जितना अपनी बाबत सोचता है। वह सभा-सोसायटी से बचता है, दूसरों से मेल-जोल नहीं बढ़ाता। जलसों में जाता भी है तो छिपकर कहीं बैठ रहता है, किसी को उसके आने का पता भी नहीं चलता। संसार से मानो विरक्त-सा रहता है, निवृत्ति-मार्ग ही उसका मार्ग है।

'बहिर्मुखी' की तरह 'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति भी दो प्रकार के होते हैं—'विचार-प्रधान' तथा 'भाव-प्रधान'। जिस 'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति में 'विचार' की प्रधानता है, वह एकान्त-जीवन व्यतीत करता है, जीवन की तात्त्विक बातों पर विचार करता है, धार्मिक और आध्यात्मिक प्रश्नों पर उसके सुलझे हुए विचार होते हैं, वह दार्शनिक हो जाता है, तत्त्व-वेत्ता हो जाता है। जिन 'अन्तर्मुखी'-व्यक्तियों में 'विचार' की प्रधानता है, उनके फिर दो भेद किये जा सकते हैं—एक तो सीधा 'विचार' से, 'तर्क' (Reasoning) से चलने वाले, और दूसरे वे जिन्हें 'दिव्य-दृष्टि' (Intuition) प्राप्त है। जो 'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति अपने विचारों को 'तर्क' पर आश्रित करते हैं, वे फ़िलासफ़र कहाते हैं, गौतम-कणाद इसी कोटि में हुए हैं; जो 'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति 'दिव्य-दृष्टि' से आध्यात्मिक-तत्वों को देख लेते हैं, वे द्रष्टा, ऋषि, महर्षि, प्रोफ़ेट, पैग़म्बर, कहाते हैं; बुद्ध, ईसा, मुहम्मद इसी कोटि में हुए हैं। जिस 'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति में 'विचार' की नहीं, 'भाव' की प्रधानता है, उसे 'भाव-प्रधान अन्तर्मुखी'-व्यक्ति कह सकते हैं। कवि 'अन्तर्मुखी' होते हैं, परन्तु उनमें 'विचार' की अपेक्षा 'भाव' की प्रधानता होती है। ये प्रायः जीवन में असफल रहते हैं।

'सामाजिक-गुण' के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है, उसे चित्र द्वारा यों प्रकट कर सकते हैं :—
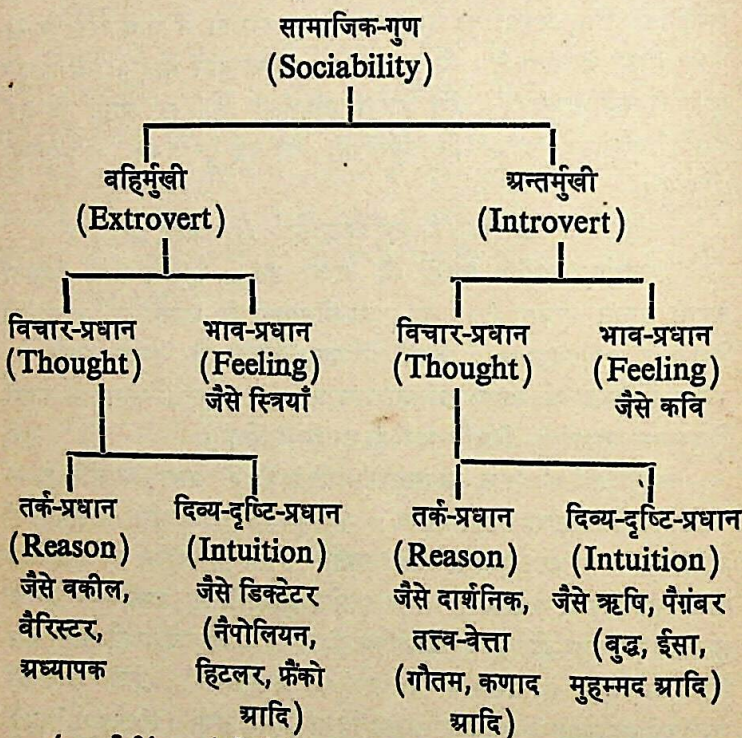
'अन्तर्मुखी' तथा 'बहिर्मुखी'-व्यक्तियों को तीन बातों से बचना चाहिए, नहीं तो उनका जीवन अत्यन्त असफल हो जाने की संभावना है :—

(१) अपने को जीवन में असफल पाकर हम लोग प्रायः अपनी असफलता के लिए दूसरों को दोष दिया करते हैं। हम समझने लगते हैं कि सब लोग धूर्त हैं, बेईमान हैं, हम ही इकले सीधे हैं, सच्चे हैं, ईमानदार हैं। असल में यह बात नहीं है। दूसरों के दृष्टि-कोण को देखना आवश्यक है, इसके लिए अपने को तैयार करना चाहिए। हम क्योंकि दूसरों के दृष्टि-कोण को न देखकर अपने ही दृष्टि-कोण को देखते हैं, इसलिए हमें दुनिया में बुराई-ही-बुराई दीख पड़ती है। हर समय के असन्तोष को दूर

करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि शायद दूसरे ही ठीक हों, हम ग़लत हों !

(२) जब हम दूसरों के सम्पर्क में आते हैं, वे हमारा आदर नहीं करते, तो 'बहिर्मुखी'-व्यक्ति तो ऐसे उपायों में जुट जाता है, जिनसे वह दूसरों से अपना आदर करवा कर छोड़ता है, लड़ता है, झगड़ता है, पार्टी बनाता है, और बहुत-कुछ करता है; 'अन्तर्मुखी'-व्यक्ति समाज से ही दूर हट जाता है। वह सोचता है, मैं इनसे वास्ता ही क्यों रखूँ, अलग ही क्यों न हो जाऊँ जिससे रोज़-रोज़ की टक्कर तो न हो। इन सब बातों का परिणाम भी यह होता है कि हमारे 'व्यक्तित्व' का सम-विकास नहीं हो पाता। इस कठिनाई का भी इलाज समाज में लड़ाई-दंगे खड़े कर देना या समाज से भाग खड़े होना नहीं है, इसका इलाज यही है कि ऐसी परिस्थिति का समझदारी के साथ सामना किया जाय, न लड़ा-झगड़ा जाय, और न समाज से भागा ही जाय।

(३) कभी-कभी यह देखकर कि समाज हमारी प्रतिष्ठा नहीं करता, हम ऐसे बेढंगे काम कर बैठते हैं, जिससे बरबस लोगों का ध्यान हमारी तरफ़ खिंचे। कविता-सम्मेलन हो रहा है, हम तो कविता बना नहीं सकते, 'वाह-वाह' इतनी ज़ोर से करते हैं जिससे लोगों का ध्यान कवियों की तरफ़ जाने के बजाय हमारी तरफ़ खिंचे। कभी-कभी कई व्यक्ति कोई बड़ा अपराध इसलिए कर बैठते हैं कि समाचार-पत्रों में उनका नाम प्रकाशित हो जाए। परन्तु यह समझ रखना चाहिए कि ख्याति प्राप्त करने के ये तरीक़े ठीक नहीं हैं, योग्यता बढ़ा कर, अपने 'व्यक्तित्व' का सम-विकास करने से ही मनुष्य का भला है, दूसरे उपायों से नहीं।

४. उक्त तीनों गुणों में दृढ़ता

अभी तक हमने 'व्यक्तित्व' के जिन तीन गुणों का वर्णन किया, वे सब अगर मध्यम-मध्यम हों, तो उनका 'व्यक्तित्व' के विकास में धीमा-धीमा असर होगा, अगर उन सब गुणों में 'दृढ़ता' (Forcefulness) हो, तब वे दृढ़-व्यक्तित्व का निर्माण करेंगे। बड़े-बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति अगर किसी काम को दृढ़ता से नहीं करते, लगातार नहीं करते, तो सब

गुणों के रहते हुए भी वे असफल रह जाते हैं; कम प्रतिभाशाली अगर एक काम के पीछे पड़ जाँय, तो वे सफल हो जाते हैं।

'असंगठित-व्यक्तित्व' (DISINTEGRATED PERSONALITY)

अभी तक हमने 'संगठित-व्यक्तित्व' (Integrated Personality) का वर्णन किया। जिस मात्रा में हमारे शारीरिक तथा मानसिक गुणों का सम-तोलन होगा, हमारे 'व्यक्तित्व' की 'इकाई' (Unit) के साथ मिलकर जिस मात्रा में वे हमारा अंग बन जायेंगे, न कम होंगे, न अधिक, न बिगड़े-तिगड़े, उसी मात्रा में हमारा 'व्यक्तित्व' सफल होगा। परन्तु कभी-कभी 'व्यक्तित्व' में बिल्कुल सम-तोलन नहीं रहता वह 'व्यक्तित्व' की रुग्णावस्था है। रुग्णावस्था को समझ लेना स्वस्थावस्था को समझने में सहायक है, अतः हम संक्षेप से व्यक्तित्व की रुग्णावस्था अर्थात् 'असंगठित-व्यक्तित्व' (Disintegrated Personality) पर भी कुछ लिख देना आवश्यक समझते हैं।

'असंगठित'-व्यक्तित्व का सबसे अच्छा उदाहरण 'अनेक-व्यक्तित्व' (Multiple Personality) का है। हम सब स्वस्थ मनुष्यों में तो एक व्यक्तित्व रहता है; हम अपने को एक अनुभव करते हैं, अनेक नहीं; परन्तु कई व्यक्तियों का व्यक्तित्व एक नहीं, एक ही शरीर में अनेकता का हो जाता है। 'अनेक-व्यक्तित्व' के उदाहरणों में 'एकान्तर-व्यक्तित्व' (Alternating Personality) तथा 'सम-कालीन-व्यक्तित्व' (Simultaneous Personality) के दृष्टान्त हमारे कथन को बहुत अधिक स्पष्ट कर देंगे, अतः हम इन दोनों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

डोरिस नाम की तीन साल की एक लड़की थी। वह खेलते-खेलते अपने पिता के बिस्तर पर सो गई। इतने में उसका पिता शराब के नशे में चूर हुआ आया। क्रोध में आकर उसने अपनी पुत्री को उठाकर फ़र्श पर पटक दिया। तब से उस लड़की की विचित्र अवस्था हो गई। वह बिल्कुल चुप रहने लगी, मेहनती और सत्य-निष्ठ बन गई। परन्तु बीच-बीच में ऐसे अवसर आते जब वह शरारती और बेक़ाबू-सी हो जाती। विचित्रता यह थी कि भली अवस्था की डोरिस को अपनी शरारती अवस्था की स्मृति बिल्कुल नहीं रहती थी; हाँ, शरारती अवस्था की डोरिस को भली

अवस्था की स्मृति बनी रहती थी। डोरिस का 'व्यक्तित्व' एक नहीं रहा था, उसमें दो 'व्यक्तित्व' उत्पन्न हो गए थे, जो आगे-पीछे आते रहते थे। मनोविज्ञान की परिभाषा में 'अनेक-व्यक्तित्व' (Multiple Personality) के इस उदाहरण को 'एकान्तर-व्यक्तित्व' (Alternating Personality) कहते हैं। 'एकान्तर' का अर्थ है, कुछ अन्तर देकर, कुछ समय छोड़कर। डोरिस का व्यक्तित्व कुछ समय छोड़कर, एक व्यवधान देकर, एक अन्तर देकर आता था, अतः उसमें 'एकान्तर-व्यक्तित्व' दिखाई देता था।

'एकान्तर-व्यक्तित्व' की तरह 'समकालीन-व्यक्तित्व' (Simultaneous Personality) की घटना भी 'अनेक-व्यक्तित्व' (Multiple Personality) को दर्शाने वाली एक मनोवैज्ञानिक घटना है। डॉ० मौरटन प्रिंस ने एक स्त्री पर कई परीक्षण किये। एक तो उस स्त्री का 'प्रथम-व्यक्तित्व' (Primary Personality) था; एक 'द्वितीय-व्यक्तित्व' (Secondary Personality) था। डॉ० प्रिंस उसे 'मोह-निद्रा' (Hypnotism) द्वारा 'प्रथम' से 'द्वितीय' और 'द्वितीय' से 'प्रथम' अवस्था में ले आते थे। जब वह 'द्वितीय' (Secondary) अवस्था में थी, तब उसे कहा गया कि तुमने गणित का एक प्रश्न हल करना है, यह भी बता दिया कि इस प्रश्न के हल करने की विधि यह है, यह नहीं बताया गया कि असली प्रश्न क्या है, उस प्रश्न में अंक कौन-कौन से हैं ? इसके बाद उसे कुछ ही क्षण के लिए 'प्रथम' (Primary) अवस्था में ला दिया गया, और उस प्रश्न के अंक बहुत साधारण तौर पर उसे दिखाये गए, इतने साधारण तौर पर कि 'प्रथम'-अवस्था में वह उन्हें ठीक तौर पर देख भी न पाई, और क्योंकि 'प्रथम'-अवस्था में उसे मालूम भी नहीं था कि ये अंक उसे क्यों दिखाये गए, इसलिए उसके लिए देखना-न-देखना एक-समान था। अब उसे फिर 'द्वितीय' (Secondary) अवस्था में लाया गया, तो वह स्त्री चिल्ला उठी कि मैं तो इस प्रश्न को कभी से हल किये तैयार हूँ, इस बात की इंतजार में ही थी कि मुझे अपनी अवस्था में लाया जाय, और मैं उत्तर दूँ। इस परीक्षण से सिद्ध हुआ कि 'व्यक्तित्व' की 'प्रथम'-अवस्था और 'द्वितीय'-अवस्था—दोनों का काम अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से चल रहा था। जब 'द्वितीय'-अवस्था को समाप्त कर दिया गया, तब भी वह अपना

काम 'प्रथम'-अवस्था के साथ-साथ कर रही थी, तभी तो 'प्रथम'-अवस्था के आ जाने पर भी अपने प्रश्न के हल करने में, जो 'द्वितीय'-अवस्था में हो रहा था, वह लगी हुई थी।

'प्रथम' तथा 'द्वितीय'-व्यक्तित्व (Primary and Secondary Personality) पर जो परीक्षण किए गए हैं, उनसे पता चलता है कि 'द्वितीय'-व्यक्तित्व की अवस्था को तो 'प्रथम'-व्यक्तित्व' की अवस्था का ज्ञान बना रहता है, 'प्रथम'-व्यक्तित्व की अवस्था को 'द्वितीय'-व्यक्तित्व की अवस्था का ज्ञान नहीं बना रहता। 'प्रथम'-व्यक्तित्व हमारी 'ज्ञात-चेतना' (Conscious Self) है, 'द्वितीय'-व्यक्तित्व हमारी 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious Self) है। 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious Self) हमारी 'ज्ञात-चेतना' (Conscious Self) के विषय में सब-कुछ जानती है, 'ज्ञात-चेतना' हमारी 'अज्ञात-चेतना' के विषय में नहीं जानती। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद की 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात'-चेतना के सम्बन्ध में हम इस पुस्तक के तृतीय अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं, यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि स्वस्थ व्यक्तियों में 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात' चेतना की, दूसरे शब्दों में 'प्रथम'-व्यक्तित्व (Primary Personality) तथा 'द्वितीय'-व्यक्तित्व (Secondary Personality) की जो व्यवस्था दीखती है, अस्वस्थ व्यक्तियों में वह टूट जाती है, और उनमें जागती हुई हालत में ही 'ज्ञात' तथा 'अज्ञात'-चेतना, अथवा 'प्रथम' तथा 'द्वितीय'-व्यक्तित्व की, जैसा ऊपर के दो दृष्टान्तों में बतलाया गया, अदला-बदली होती रहती है। स्वस्थ-व्यक्तियों में उक्त प्रकार की अदला-बदली नहीं होती।

'संगठित-व्यक्तित्व' (Integrated Personality) तथा 'असंगठित-व्यक्तित्व' (Disintegrated Personality) के विषय में हमने जो-कुछ लिखा उससे क्या स्पष्ट हुआ? हमने जो-जो दृष्टान्त दिए वे तो बीमारी की अवस्था के दृष्टान्त हैं। हर व्यक्ति में 'व्यक्तित्व' के अंग-भंग की यह चरम-सीमा नहीं पाई जाती। हाँ, कुछ-कुछ अंग-भंग हम सब में पाया जाता है। हम देखते हैं कि हमारी इच्छाएँ हमें सदा एक ही दिशा की तरफ़ नहीं ले जातीं। कभी-कभी तो यह भी देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न

इच्छाओं में संग्राम छिड़ जाता है। कोई इच्छा एक तरफ़ ले जाती है, तो कोई दूसरी तरफ़। कभी-कभी तो हम अपने अनेक परिचित मित्रों के असंगत व्यवहार को देखकर कह उठते हैं, अरे भाई! तुम इतने बदल गए, क्या तुम वही हो, जो पहले थे? चरित्र में ऐसी असंगत अवस्थाएँ 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) के कारण उत्पन्न हो जाती हैं। हम तृतीय अध्याय के ६७ पृष्ठ पर बतला आये हैं कि जब हमारे भीतर दो विरोधी इच्छाएँ होती हैं, एक को सामाजिक-भय या किसी अन्य कारण से हम दबा देते हैं, तब वह दबी हुई इच्छा हमारे भीतर एक 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) उत्पन्न कर देती है, जो भीतर-ही-भीतर रड़का करती है, कारण का ज्ञान न होने पर भी हमें दुःख पहुँचाती है। 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) के बनने के कई कारण हैं। इनमें मुख्य कारण यह है कि हमारी 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious self) जो-कुछ चाहती है, 'ज्ञात-चेतना' (Conscious Self) वह नहीं होने देना चाहती, इसलिए नहीं होने देना चाहती, क्योंकि समाज में उसे बुरा समझा जाता है। परिणाम यह होता है कि 'चेतना' के भीतर एक तनातनी छिड़ जाती है, संग्राम छिड़ जाता है। हम भूल जाते हैं कि हमारे भीतर कोई तनातनी छिड़ी हुई है, परन्तु 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) के रूप में वह जारी रहती है। यह 'भावना-ग्रन्थि'—मन के भीतर की दुविधा—'अन्तर्द्वन्द्व'—(Conflict of Personality) से उत्पन्न हुई होती है। जब तक यह दुविधा बनी रहती है, तब तक 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) भी बनी रहती है। 'दुविधा' से उत्पन्न हुई 'भावना-ग्रन्थि' जब हमारे भीतर चुपके-चुपके रगड़ पहुँचा रही होती है, तब मन की इसी अवस्था को 'स्नायु-रोग' (Neurosis) कहते हैं। यह अवस्था हम सब की रहती है। जब तक मन में 'अन्तर्द्वन्द्व' (Conflict) रहेगा, 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) रहेगी, 'स्नायु-रोग' (Neurosis) रहेगा, तब तक हमारा 'व्यक्तित्व' (Personality) किसी भी प्रकार 'संगठित-व्यक्तित्व' (Integrated Personality) नहीं कहा जा सकता। 'संगठित-व्यक्तित्व' के लिए 'अन्तर्द्वन्द्व' का, 'भावना-ग्रन्थियों' का, 'स्नायु-रोग' का मिट जाना आवश्यक है।

हम प्रायः देखते हैं कि पढ़ते हुए हमारे मन के दो टुकड़े हो जाते हैं। एक मन से हम पुस्तक पढ़ते जाते हैं, दूसरे मन से बाजार की सर करते जाते हैं। अनेक पृष्ठ पढ़ जाने के बाद हमें पता चलता है कि हम इतना पढ़ गए, परन्तु पल्ले कुछ नहीं पड़ा। तभी शिक्षक कहा करते हैं—'एक मन करके सुनो!' मन को 'एक' करना सचमुच मनोवैज्ञानिक सत्य है। स्वस्थ मनुष्य का मन, उसकी चेतना तो एक 'इकाई' (Unit) होनी चाहिए, उसमें अनेकता का, भिन्नता का, विषमता का आना उसे अस्वस्थ बना देता है। 'व्यक्तित्व-विच्छेद' (Splitting of Personality) का वर्णन हम २९५ पृष्ठ पर कर आए हैं। हमारी चेतना टूटी न रहे, छिन्न-भिन्न न रहे, एक रहे, तभी 'व्यक्तित्व' सुन्दर बनता है, मनुष्य को सुख देने वाला बनता है, नहीं तो 'असंगठित' या 'विच्छिन्न'-व्यक्तित्व से दुःख-ही-दुःख पहुँचता है।

प्रश्न

(१) 'संगठित-व्यक्तित्व' (Integrated Personality) तथा 'असंगठित-व्यक्तित्व' (Disintegrated Personality) से क्या समझते हो?

(२) 'व्यक्तित्व' के निर्माण में कौन-कौन से आवश्यक अंग हैं?

(३) 'बहिर्मुखी' (Extrovert) तथा 'अन्तर्मुखी' (Introvert) व्यक्तियों का 'श्रेणी-विभाग' (Classification) करो और बतलाओ कि प्लेटो, हिटलर, महाकवि कालिदास तथा उपाली वेश्या को किस-किस श्रेणी में रखोगे?

(४) 'एकान्तर-व्यक्तित्व' (Alternating Personality) तथा 'समकालीन-व्यक्तित्व' (Simultaneous Personality) के दृष्टान्त देकर समझाओ कि इनसे स्वस्थ-व्यक्तित्व को समझने पर क्या प्रकाश पड़ता है?

(५) व्यक्तित्व की 'प्रथम' (Primary) तथा 'द्वितीय' (Secondary) अवस्था से क्या समझते हो? 'प्रथम'-अवस्था (Primary state) का 'ज्ञात-चेतना' (Conscious self) तथा 'द्वितीय'-अवस्था (Secondary state) का 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious self) से क्या सम्बन्ध है?

(६) 'व्यक्तित्व-विच्छेद' (Splitting of Personality) से क्या समझते हो?

(७) 'स्वस्थ-व्यक्तित्व' का क्या अभिप्राय है?

३४

शिक्षा-मनोविज्ञान के कुछ परीक्षण

(SOME EXPERIMENTS IN EDUCATIONAL PSYCHOLOGY)

'मनोविज्ञान' अब बहुत-कुछ 'परीक्षणात्मक-मनोविज्ञान' (Experimental Psychology) का रूप धारण कर गया है। इसी कारण 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में भी अनेक परीक्षण किये जाते हैं। उनमें से निम्न परीक्षणों का वर्णन हम यहाँ करेंगे :—

१. मुक्त साहचर्य (निरन्तर विधि)—Free Association—(Continuous Method)
२. मुक्त साहचर्य (एक-शब्द या शब्द-सूची प्रतिक्रिया-विधि)—Free Association (Word-List Method)
३. अंशतः अवरोधित साहचर्य—Partly Constrained Association.
४. पूर्णतः अवरोधित साहचर्य—Completely Constrained Association.
५. अवधान का विस्तार—Span of Attention.
६. पठन का युगपद्-ज्ञान—Perception in Reading.
७. स्मृति के उपाय—Methods of Memorizing.
८. सीखना—दर्पणालेखन-विधि द्वारा तथा सीखने का उभय पार्श्व स्थानान्तरण—Learning by Mirror Drawing and Bilateral Transfer of Learning.
९. सीखना—स्थानापन्न-पूर्ति-विधि द्वारा—Learning by Method of Substitution.
१०. क्रमिक वर्ण-विरोध–Visual after-image—Successive Colour Contrasts.

११. यौगपदिक वर्ण-विरोध—Visual after-image—Simultaneous Colour Contrasts.
१२. परिमाण-भार-भ्रम—Size-weight illusion.
१३. स्थानात्मक सीमा या प्रत्यय-माप का परीक्षण—Spatial threshold or Aesthesiometric index.
१४. तात्कालिक-स्मृति का विस्तार (श्रवणाश्रित)—Span of Immediate Memory (Auditory).
१५. तात्कालिक-स्मृति का विस्तार (दर्शनाश्रित)—Span of Immediate Memory (Visual).
१६. स्थिर-स्मृति के परीक्षण—Permanent Memory.

इन परीक्षणों का वर्णन करते हुए हम यह बतायेंगे कि परीक्षण करते हुए हमारे सम्मुख क्या 'समस्या' है, परीक्षण में 'उपकरण तथा सामग्री' क्या हो, 'परीक्षण की विधि' क्या हो, और परीक्षण से जो परिणाम निकलते हैं, उनका 'उपयोग' क्या किया जा सकता है। इस वर्णन में 'परीक्षण-कर्ता' (Experimenter) को हम 'त' कहेंगे जिस पर परीक्षण किया जा रहा है उस 'परीक्षार्थी' (Subject) को 'थ' कहेंगे।

१. मुक्त-साहचर्य (निरन्तर-विधि)

FREE-ASSOCIATION (CONTINUOUS METHOD)

समस्या (Problem)—किसी व्यक्ति की विचार-श्रृंखला का अध्ययन। उसके एक विचार के बाद दूसरे विचार आने में नियामक कारण क्या हैं?—यह हमारी समस्या है जिस पर हमने परीक्षण करना है।

उपकरण तथा सामग्री (Apparatus and Material)—दो कार्ड लो। एक पर 'क' और दूसरे पर 'ख' लिख दो। प्रत्येक कार्ड पर छः-छः 'उत्तेजक-शब्द' (Stimulus words) लिखो, और एक कार्ड एक विद्यार्थी के और दूसरा दूसरे विद्यार्थी के हाथ में दे दो। दोनों विद्यार्थी एक-दूसरे की लिस्ट न देखें।

परीक्षण की विधि (Procedure)—उक्त प्रकार की कई टोलियाँ बना लो। प्रत्येक टोली में दो-दो विद्यार्थी होंगे, और दो-दो कार्ड होंगे

जिन पर 'उत्तेजक-शब्द' लिखे होंगे। इन दो-दो की टोली में एक 'परीक्षक'—परीक्षण करने वाला होगा, और दूसरा 'परीक्षार्थी—अर्थात् वह होगा जिस पर परीक्षण किया जा रहा है। परीक्षण-कर्ता को हम 'त' कहेंगे, परीक्षार्थी, अर्थात् जिस पर परीक्षण किया जा रहा है, उसे 'थ' कहेंगे। शिक्षक जब कहे—'तय्यार' तब सब टोलियों के 'थ' अपनी आँखें बन्द कर लेंगे। अब सब टोलियों के 'त' अपने-अपने कार्डों के 'उत्तेजक-शब्दों' की सूची में से पहला शब्द बोलेंगे। इस 'उत्तेजक-शब्द' को सुनते ही सब टोलियों के 'थ' के ध्यान में जो-जो शब्द या विचार आते जायेंगे, वे उन्हें जल्दी-जल्दी बोलते जायेंगे, निरन्तर, लगातार बोलते जायेंगे—इसीलिए शब्द-सम्बन्धों के परीक्षण की इस विधि को 'निरन्तर-विधि' (Continuous Method) कहा जाता है। वे शब्द या विचार उन्हें ध्यान में क्यों आ रहे हैं, दूसरे क्यों नहीं आ रहे—इत्यादि किसी बात का ख़याल किये बग़ैर, कहीं अटके बग़ैर, जब तक शिक्षक रुकने को न कहे, तब तक सब शब्द या विचार ज्यों-ज्यों ध्यान में आते जाँय, बोलते चले जाओ। एक-डेढ़ मिनट के बाद जब शिक्षक रुकने को कहे, सब 'थ' रुक जाँय। 'त' जैसे-जैसे शब्द बोलता चला जाय, 'थ' उन्हें लिखता चला जाय। अब 'त' और 'थ' मिलकर उन शब्दों की जाँच-पड़ताल करें, और यह पता लगाने का प्रयत्न करें कि जितने शब्द बोले गए, उनका आपस का क्या सम्बन्ध है।

एक 'उत्तेजक-शब्द' के साथ परीक्षण हो चुकने के बाद दूसरे 'उत्तेजक-शब्द' को लेकर परीक्षण करो। इसके बाद 'त' तथा 'थ' अपना कार्य बदल लें—'त' 'थ' का काम करे, और 'थ' 'त' का काम करे। इस प्रकार दो 'उत्तेजक-शब्दों' को लेकर परीक्षण करो, और फिर 'त' तथा 'थ' का स्थान बदल दो। दो-दो 'उत्तेजक-शब्द' लेकर तीन बार 'त' और 'थ' परीक्षण करें, 'त' और 'थ' अपना-अपना काम बदलते रहें, और 'उत्तेजक-शब्दों' के परिणाम-स्वरूप जो शब्दावली तैयार हो, वह क्यों हुई, उन शब्दों का आपस में क्या सम्बन्ध है—इस पर प्रत्येक टोली के 'त' अर्थात् परीक्षण-कर्ता और 'थ' अर्थात् परीक्षार्थी मिलकर विचार करें।

परिणाम का प्रयोग (*Treatment of Results*)—एक 'उत्तेजक-शब्द' से दूसरे जो शब्द या विचार ध्यान में आते हैं, उनका आपस-का कोई सम्बन्ध होता है। ध्यान से सब शब्दों पर विचार करने से ज्ञात होगा कि उनमें 'अन्यवधानता' (Contiguity), 'समानता' (Similarity), 'नवीनता' (Recency), 'प्रथमता' (Primacy), 'प्रबलता' (Vividness) तथा 'रुचि' (Interest) आदि में से कोई-न-कोई नियम काम कर रहा है। इनका वर्णन हम इस पुस्तक के ४५७—४५९ पृष्ठ पर कर आये हैं।

२. मुक्त-साहचर्य (एक-शब्द या शब्द-सूची प्रतिक्रिया-विधि)

FREE ASSOCIATION (WORD-LIST METHOD)

'मुक्त-साहचर्य' के विषय में अभी हमने उस परीक्षण का वर्णन किया जिसमें एक 'उत्तेजक-शब्द' की प्रतिक्रिया में जो-जो शब्द या विचार ध्यान में आते जाँय, उन्हें निरन्तर बोलते जाते हैं। अब हम उस परीक्षण का वर्णन करते हैं, जिसमें 'त' अर्थात् परीक्षण-कर्ता एक शब्द बोलता है, और 'थ' अर्थात् परीक्षार्थी उसके उत्तर में, एक ही शब्द, जो एकदम उसके ध्यान में आता है, बोल देता है, निरन्तर शब्द नहीं बोलता।

समस्या—हमारे पास 'उत्तेजक-शब्दों' की एक सूची है। इन शब्दों में से किसी एक के बोलते ही एकदम पहला कौन-सा शब्द ध्यान में आता है, यह देखना है। यही हमारी समस्या है।

उपकरण तथा सामग्री—एक स्टॉप-वाच लो। शब्दों की एक सूची लो। सबसे अच्छा यह हो कि केन्ट-रोज़ानोफ़ या युँग महोदय की तय्यार की हुई सूची हमारे पास हो। इन लोगों ने सौ शब्दों की एक सूची बनाई थी, और एक हज़ार स्वस्थ (Normal) व्यक्तियों पर इन शब्दों से परीक्षण किये थे। इन स्वस्थ व्यक्तियों की इन शब्दों से जो प्रतिक्रिया हुई थी, उसे उन्होंने क्रमबद्ध कर लिया था। स्वस्थ व्यक्तियों की एक ही शब्द के सम्बन्ध में लगभग एक-सी प्रतिक्रिया पाई गई थी। इन शब्दों द्वारा परीक्षण करके केन्ट-रोज़ानोफ़ यह पता लगाते थे कि अमुक व्यक्ति स्वस्थ (Normal) है, या अस्वस्थ (Abnormal)। युँग महोदय के भी सौ शब्द थे,

लगभग वैसे ही थे, जैसे केन्ट-रोज़ानोफ़ के, परन्तु युंग यह देखता था कि 'उत्तेजक-शब्द' (Stimulus-word) के बाद 'प्रतिक्रिया-शब्द' (Response-word) कितनी देर में कहा गया है। अगर ३० सेकण्ड के भीतर-भीतर उत्तर नहीं मिला, तो समझा जाता था कि उस व्यक्ति के मन में, उसके अनजाने, उस शब्द के साथ कोई ऐसा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, जो प्रतिक्रिया को रोक रहा है। अर्थात् उस 'उत्तेजक-शब्द' ने व्यक्ति के आभ्यन्तर-जीवन की किसी ऐसी 'उद्वेगात्मक भावना-ग्रन्थि' (Emotional Complex) को स्पर्श कर दिया है, जिसे वह नहीं जानता, इसीलिए 'प्रतिक्रिया-शब्द' के प्रकट होने में 'बाधा' (Interference) उत्पन्न हो गई है। ऐसे शब्द को युंग अत्यधिक महत्त्व देता था और ऐसे शब्दों को व्यक्ति की मानस-रचना की खोज में साधन समझता था।

परीक्षण-विधि—पहले कुछ शब्दों को लेकर अभ्यास करो। 'त' कहता है—'तय्यार'। फिर दो सेकण्ड के बाद सूची का प्रथम शब्द पढ़ता है। 'थ' इस 'उत्तेजक-शब्द' का 'प्रतिक्रिया-शब्द' बोलता है। जब 'थ' उत्तर देता है, उसी समय 'त' स्टॉप-वाच को रोक कर 'प्रतिक्रिया' के समय को दर्ज कर लेता है। 'थ' से कहा जाता है कि 'उत्तेजक-शब्द' और 'प्रतिक्रिया-शब्द' में परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस पर विचार करे। प्रतिक्रिया का सामान्य समय एक से दो सेकण्ड होना चाहिए। तीस सेकण्ड तक प्रतिक्रिया न हो, तो असफल-प्रतिक्रिया समझनी चाहिए। यह असफल-प्रतिक्रिया कई कारणों से हो सकती है, जिनमें से एक कारण 'थ' के भीतर 'उद्वेगात्मक भावना-ग्रन्थि' (Emotional Complex) का इस शब्द की प्रतिक्रिया में 'बाधा' (Interference) उत्पन्न करना हो सकता है।

उक्त अभ्यास कर चुकने के बाद अब अपनी सूची लेकर असली परीक्षण उक्त विधि के अनुसार करो। प्रति २५ शब्दों पर परीक्षण करने के बाद 'त' का काम 'थ' और 'थ' का काम 'त' करे।

परिणाम का प्रयोग—'थ' को चाहिए कि 'प्रतिक्रिया-शब्दों' का 'उत्तेजक-शब्दों' के साथ क्या सम्बन्ध है, इस पर विचार करे। 'प्रतिक्रिया-शब्दों' का 'नवीनता', 'पुनरावृत्ति', 'प्रथमता', 'प्रबलता' आदि

में विभाग करे। जिन 'प्रतिक्रिया-शब्दों' को उसने देर में कहा, उस देरी का कारण पता लगाये, यह ढूँढे कि उस देरी का उसके जीवन की भीतरी गुत्थी के साथ तो कोई सम्बन्ध नहीं है। 'स्वतन्त्र-कथन' या 'मुक्त-साहचर्य' (Free Association) का हम तीसरे अध्याय में वर्णन कर आये हैं।

३. अंशतः अवरोधित तथा ४. पूर्णतः अवरोधित साहचर्य
PARTLY AND COMPLETELY CONSTRAINED ASSOCIATION

समस्या—'थ' की प्रतिक्रिया का अध्ययन जब कि 'उत्तेजक-शब्द' (Stimulus-word) तथा 'प्रतिक्रिया-शब्द' (Response-word) का कोई निश्चित सम्बन्ध हो।

उपकरण तथा सामग्री—शब्दों की सूची तथा स्टॉप-वाच।

परीक्षण-विधि—(१) 'त' बीस शब्दों की एक सूची तय्यार करता है, जिसमें पशु-पक्षियों, वृक्षों, वनस्पतियों, धातुओं आदि के नाम हैं, और 'थ' से उसी वर्ग के किसी शब्द का उत्तर देने को कहता है। गाय कहा तो घोड़ा-भैंस आदि प्रतिक्रिया-शब्द होंगे; कौआ कहा तो तोता-मैना आदि। यह परीक्षण 'अंशतः अवरोधित-साहचर्य' (Partly constrained association) का है क्योंकि यहाँ साहचर्य बिल्कुल जकड़ा हुआ—'अवरोधित'—नहीं है, अंशतः अवरोधित है।

(२) पूर्णतः अवरोधित साहचर्य (Completely constrained association) के परीक्षण में ऐसे शब्द चुने जाते हैं जो इतने जकड़े हुए, 'अवरोधित' हों कि उनका एक ही उत्तर हो सके। उदाहरणार्थ, विरोधी शब्द। जैसे, दिन-रात, सफ़ेद-काला, ऊँचा-नीचा। अथवा, अवयव-अवयवी। जैसे, जिल्द-पुस्तक। अथवा, घास : हरियाली; आकाश : नीलिमा।

परिणाम का प्रयोग—'प्रतिक्रिया-शब्द' के बोलने में जितना समय लगे, उसे स्टॉप-वाच द्वारा नोट कर लेना चाहिए। ठीक 'प्रतिक्रिया-शब्द' तक पहुँचने में क्या मानसिक-प्रक्रिया होती है, इस पर भी विचार करना चाहिए। बुद्धि-योग्यता (Intelligence test) आदि का पता लगाने के लिए ऐसे परीक्षण बहुत उपयोगी हैं। इनका वर्णन बुद्धि-परीक्षा के अध्याय में पहले हो चुका है।

५. अवधान का विस्तार—(टैकिस्टोस्कोप द्वारा परीक्षण)

SPAN OF ATTENTION (WITH THE HELP OF TACHISTOSCOPE)

समस्या—अवधान की एक प्रक्रिया में कितने अक्षर एकदम ध्यान में आ जाते हैं—ऐसे अक्षर जिनका आपस का कोई सम्बन्ध नहीं है। आपस का सम्बन्ध होगा तब तो वे अक्षर शब्द बन जायेंगे, असम्बद्ध अक्षर न रहेंगे, और अध्ययन के परीक्षण में आ जायेंगे। अक्षर हों, या कोई-से अन्य चिह्न हों।

उपकरण तथा सामग्री—टैकिस्टोस्कोप (Tachistoscope)—यह उपकरण, जैसा चित्र में दिखाया गया है, ऐसे बना होता है कि कोई भी वस्तु—अक्षर, चित्र आदि—बहुत थोड़ी देर के लिए सामने खुलती है, और फिर एकदम ढक्कन से ढक जाती है। जिस खिड़की में वस्तु दीखती है, उस पर एक ढक्कन लगा होता है। इस ढक्कन को बिजली का बटन दबाने से खोला और बन्द किया जा सकता है—कैमरे में जैसे फ़ोटो लेने के लिए उसके मुख को खोलते और क्षण भर में ही बन्द कर देते हैं। टैकिस्टोस्कोप न हो तो एक बड़ा गत्ता लेकर वस्तु को ढका जा सकता है, और स्टॉपवाच से इसके सामने से गत्ता हटाने के समय को मापा जा सकता है, परन्तु इसमें समय का उतना ठीक माप नहीं हो सकता जितना टैकिस्टोस्कोप से। इस यन्त्र के अलावा १५ खाली कार्ड लो।

परीक्षण-विधि—परीक्षण-कर्ता खाली कार्डों में से तीन पर दो-दो अक्षर, तीन पर तीन-तीन अक्षर, तीन पर चार-चार, तीन पर पाँच-पाँच और तीन पर छः-छः अक्षर लिखे। 'त' पहले दो अक्षरों वाले कार्ड को टैकिस्टोस्कोप की उस खिड़की के सामने रखे जिसके खुलने पर ही कार्ड दीखता है, बन्द होने पर नहीं दीखता। 'थ' टैकिस्टोस्कोप के सामने बैठे। अब 'त' कहे—'तय्यार' और $\frac{1}{5}$ सेकण्ड के लिए 'त' टैकिस्टोस्कोप के ढक्कन को हटा दे जिससे 'थ' को यन्त्र की खिड़की में से दो अक्षरों वाला कार्ड दीखने लगे, परन्तु वह उनकी गिनती न कर सके। $\frac{1}{5}$ सेकंड में खिड़की को बन्द कर दे, और 'थ' से पूछे कि कितने अक्षर पढ़े गए। इसके बाद तीन अक्षरों वाले,
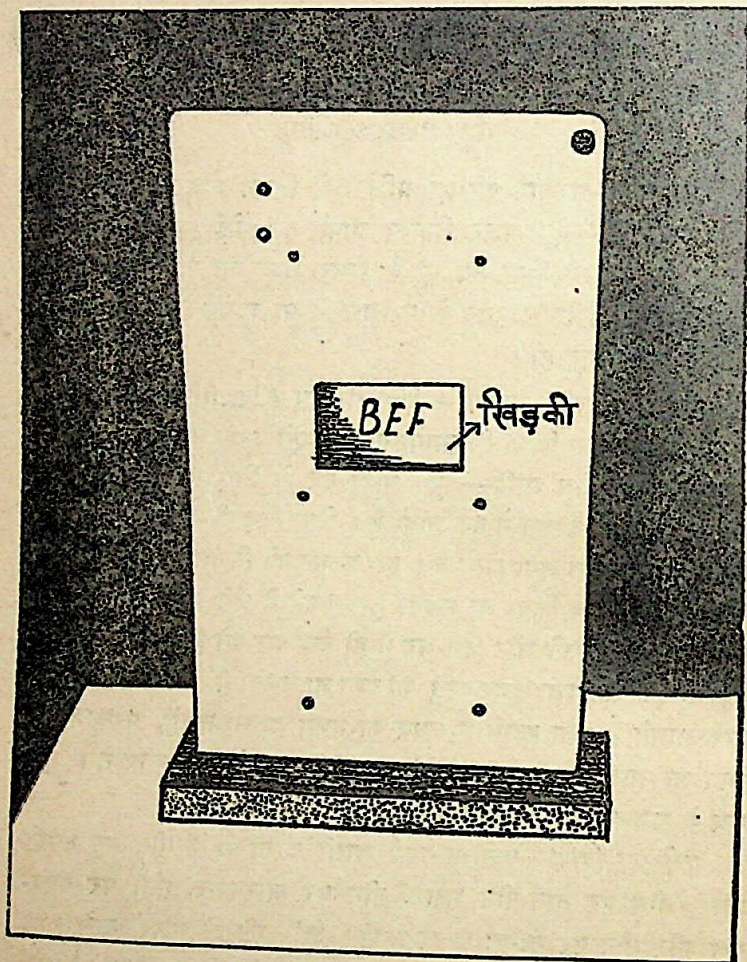
टैकिस्टोस्कोप

फिर चार अक्षरों वाले कार्ड को १/२ सेकंड तक रखे। जिससे आगे 'थ' सब अक्षर इकट्ठे न पढ़ सके, वहाँ परीक्षण समाप्त कर दे। अगर 'थ' चार अक्षरों वाले कार्ड को नहीं पढ़ सकता, तो चार अक्षरों वाला ही कार्ड एक बार फिर उसके सामने रखे। इस प्रकार तीन बार उसी कार्ड को

रखने पर भी वह अगर पढ़ न सके, तो समझ ले कि 'थ' का 'अवधान का विस्तार' (Span of attention) तीन वस्तुओं को एक बार में ग्रहण करने का है, इससे अधिक का नहीं। अब 'थ' का काम 'त' और 'त' का काम 'थ' करे।

परिणाम का प्रयोग—यह देखा गया है कि एक बार में ५ वस्तुओं से ज्यादा अक्षरों, बिन्दुओं या चिह्नों को मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकता। शब्द में ८ टक-टक से ज्यादा ग्रहण नहीं कर सकता। इसका वर्णन 'अवधान' के अध्याय में पहले किया जा चुका है।

६. पठन का युगपद्-ग्रहण (टैकिस्टोस्कोप द्वारा परीक्षण)

PERCEPTION IN READING WITH THE HELP OF TACHISTOSCOPE

समस्या—पढ़ते हुए कितने अक्षरों का बना हुआ शब्द एकदम ध्यान में आ जाता है, या कितने शब्दों का युगपद् अर्थात् एकदम ग्रहण हो सकता है—यह समस्या है।

उपकरण तथा सामग्री—टैकिस्टोस्कोप तथा बहुत-से खाली कार्ड लो।

परीक्षण-विधि—जैसे पिछले परीक्षण में दो अक्षरों के कार्डों से शुरू किया था, वैसे इस परीक्षण में ५ अक्षरों के किसी एक शब्द से शुरू करो। ५ अक्षरों वाले शब्द के ४ कार्ड, ६ अक्षरों वाले शब्द के तीन कार्ड—इस तरह १२ अक्षरों तक के शब्दों के तीन-तीन कार्ड बनाओ। इसी प्रकार छोटे-छोटे वाक्यों के कार्ड बनाये जा सकते हैं। इन शब्दों अथवा वाक्यों का टैकिस्टोस्कोप द्वारा वैसे ही परीक्षण करो जैसे 'अवधान के विस्तार' में अभी बताया गया है। ये परीक्षण तब तक करते चले जाओ जब तक यह न पता चले कि 'थ' अर्थात् परीक्षार्थी का शब्दों एवं वाक्यों के पढ़ने में 'अवधान का विस्तार' क्या है?

परिणाम का प्रयोग—शिक्षक को इन परीक्षणों से पता चल जाता है कि विद्यार्थी की ग्रहण-शक्ति कितनी है। 'अवधान'-सम्बन्धी परीक्षणों का वर्णन हम इस पुस्तक के 'अवधान' के अध्याय में कर आये हैं।

७. स्मृति के उपाय
METHODS OF MEMORIZING

समस्या—कविता को 'खण्डशः' (By Section) अथवा 'समग्र' (Entire) याद करें, तो दोनों में से कौन-से उपाय द्वारा जल्दी और देर तक याद रहता है—यह हमारी समस्या है।

उपकरण तथा सामग्री—दो कविताएँ—'क' तथा 'ख'—प्रत्येक २०–२५ पंक्ति की लो। कविता का प्रत्येक खण्ड लगभग चार पंक्तियों का हो। समय जानने के लिए कोई-सी घड़ी ले लो।

परीक्षण-विधि—दो परीक्षार्थी जिन्हें हम 'त'-'थ' कहते आये हैं, एक-एक कविता ले लें। ये दोनों इकट्ठे, घड़ी का समय देखकर, समग्र कविता को याद करना शुरू करें। अर्थात् बार-बार सारी कविता को पढ़ें, तबतक जबतक कि वह याद न हो जाय। एक बार पढ़ने के बाद पुस्तक बन्द करके जितना याद रह गया है, उसे बोलने का यत्न करें, जहाँ रुकें, वहाँ फिर पुस्तक देखकर सारा पढ़ डालें। हर बार के समग्र-कविता के पाठ का एक कागज पर निशान बनाते जायें, जिससे पता चले कि कितनी बार सारी कविता को पढ़ा। जब सारी कविता याद हो जाय, तो पुस्तक बन्द कर दें, तीन मिनट तक ठहरें, और फिर सारी कविता को स्मृति से एक कागज पर लिख डालें। इस प्रकार 'समग्र-विधि' से सारी कविता याद करने में जितनी बार रुकना पड़ा, और जितना समय लगा, दोनों बातों को नोट कर लें।

पहले स्मरण के बाद १० मिनट तक आराम करें, फिर दोनों परीक्षार्थी कविताओं को एक-दूसरे से बदल लें, और उन्हें 'खण्डशः'—अर्थात् टुकड़े-टुकड़े करके याद करना शुरू करें। जब एक हिस्सा याद हो जाय, तो तीन मिनट तक ठहर कर उसे कागज पर लिख डालें, और जितने समय में याद हुआ, उसे नोट कर लें। याद करते हुए इस खण्ड को जितनी बार पढ़ना पड़े, उसे भी दर्ज करें। जब दोनों परीक्षार्थियों को खण्डशः सारी कविता याद हो जाय, तब सारी को इकट्ठा बोलने का यत्न करें, और जहाँ भूलें, वहीं पुस्तक देख लें, और इस प्रकार 'खण्डशः' सारी कविता याद करनें

में जितनी बार रुकना पड़ा, और जितना समय लगा, दोनों बातों को नोट कर लें।

प्रत्येक कविता के शब्द गिन लें। 'समग्र-विधि' और 'खण्डशः-विधि' में कितनी बार दोहराने से कविता याद हुई, कितने समय में याद हुई, कितने शब्द ठीक-ठीक याद रहे—याद रहने वाले शब्दों का प्रतिशत क्या बनता है—यह सब नीचे के चित्र-कोष्ठ पर लिखें :—

कविता	कविता के शब्दों की संख्या	विधि : समग्र या खण्डशः	दोहराने की संख्या	समय	ठीक शब्द	ठीक शब्दों का प्रतिशत
क						
ख						

इस प्रकार स्मरण किया हुआ स्थिर रूप से कहाँ तक याद रहता है, इसे परखने के लिए एक सप्ताह बाद फिर इन कविताओं को दोहराओ और जितना याद रहे, उसका शब्दों की संख्या में प्रतिशत निकालो।

परिणाम का प्रयोग—अगर 'क' कविता में १०० शब्द हैं, और 'समग्र-विधि' से याद करने में २० तथा 'खण्डशः-विधि' से १० ग़ल्तियाँ हुई हैं, तो ठीक शब्दों की संख्या क्रमशः ८० और ९० प्रतिशत है, और इसलिए 'खण्डशः' याद करना अधिक उपयोगी है। यह परीक्षण केवल दो परीक्षार्थियों में ही नहीं, सारी कक्षा पर भी किया जा सकता है, और कक्षा में विद्यार्थियों की अनेक टुकड़ियाँ बनाकर भी किया जा सकता है। इस विषय पर इस पुस्तक के 'स्मृति' के अध्याय में भी लिखा जा चुका है।

८. 'दर्पणालेखन'-विधि द्वारा सीखना तथा सीखने का उभय-पार्श्व स्थानान्तरण

LEARNING BY MIRROR-DRAWING AND BI-LATERAL TRANSFER OF LEARNING

आँख तथा हाथ की 'सहकारिता' (Co-ordination) है । जैसा आँख देखती है वैसा ही हाथ करता है। बच्चा इससे सीखता है, हम सीख चुके हैं। चीज जहाँ पड़ी है वहाँ पर जितना चाहिए उतना बढ़कर हम उसे उठा लेते हैं, जितना नहीं बढ़ना चाहिए उतना नहीं बढ़ते। परन्तु अगर चीज आँख के सामने न हो, उस चीज का प्रतिबिंब दर्पण में पड़ रहा हो, तो दर्पण में उसे देखकर हमें भी नये सिरे से हाथ तथा आँख की 'सहकारिता' (Co-ordination) सीखनी होगी। यह 'सहकारिता' थॉर्नडाइक के कथनानुसार 'प्रयत्न करके, असफल होकर, फिर सीखने के तरीके' (Trial and Error Method) से सीखी जाती है जिसे 'प्रयत्न-परीक्षा' कहा जाता है। इस तरह हम 'प्रयत्न-परीक्षा' या 'अभ्यास' के द्वारा सीखते हैं।

इतना ही नहीं, हमारे शरीर के दाँयें और बाँयें भागों में भी आपसी संबंध है। शरीर के दाँयें या बाँयें भाग के किसी भी एक अंग से सीखी हुई शारीरिक क्रिया का प्रभाव दूसरे भाग के उसी अंग पर पड़ता है। इसे 'सीखने का उभय-पार्श्व स्थानान्तरण' (Bi-laterel transfer of learning) कहते हैं। ब्रे महोदय ने अपने परीक्षणों से तो यह सिद्ध कर दिया है कि एक भाग के एक अंग का दूसरे भाग के सभी अंगों पर प्रभाव पड़ता है। लैशले महोदय के अनुसार 'उभय-पार्श्व स्थानान्तरण' (Bi-lateral transference) का कारण सीखे हुए अंग को नियन्त्रित करने वाले मस्तिष्क के दूसरे भाग में स्थित 'मस्तिष्कीय अर्धभाग' (Cerebral hemisphere) पर पड़ा प्रभाव है जो आवश्यकता पड़ने पर बिना सीखे हुए भाग के अंगों की भी उसी प्रकार सहायता करने लगता है।

समस्या—(क) एक समस्या तो यह है कि सीखने की क्रिया में अभ्यास अर्थात् 'प्रयत्न-परीक्षा' (Trial and Error Method) का क्या प्रभाव पड़ता है, (ख) दूसरी समस्या यह है कि शरीर के एक भाग के

अंग से सीखी हुई बात का दूसरे भाग के अंग पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसी को 'सीखने का 'उभय-पार्श्व स्थानान्तरण' (Bi-lateral transfer of learning) कहते हैं।

उपकरण तथा सामग्री—स्टॉप वाच, पेंसिल, दोहरी लाइन वाले सितारे बने हुए १६ कागज (क) समस्या के लिए तथा १६ काग़ज (ख) समस्या के लिए तथा 'दर्पणालेखन-यंत्र' (Mirror-drawing apparatus)। जैसा चित्र में दीख रहा है, दर्पणालेखन-यंत्र में एक आधार या तख्ता होता है जिस पर सितारे वाला काग़ज (A) रखा जाता है। एक शीशा (b) सामने लगा होता है जिसमें सितारे का प्रतिबिम्ब पड़ता है तथा एक 'पर्दा' (Screen), जो चित्र में (c) के तौर से दिखाया गया है, इस प्रकार लगाया जाता है कि 'थ' को सितारे का प्रतिबिम्ब शीशे में दिखाई देता है किन्तु आधार पर रखा हुआ वास्तविक सितारा नहीं दिखाई देता। चित्र में (A) सितारा इसलिए दिखाया गया है ताकि इस तरह के (a) जैसे सितारे, जैसा एक तख्ते पर रखा है, बनाये जायें।
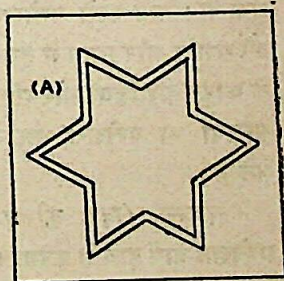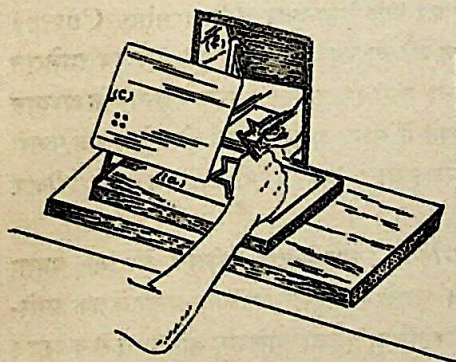
'दर्पणालेखन'-विधि तथा 'सीखने का उभय-पार्श्व स्थानान्तरण'

परीक्षण-विधि—क्योंकि हमारी समस्याएँ दो हैं इसलिए हम पहले (क) समस्या की परीक्षण-विधि दे रहे हैं, फिर (ख) समस्या की परीक्षण-विधि दे रहे हैं।

समस्या (क) की परीक्षण-विधि—परीक्षण-कर्ता 'त' सितारे की आकृति को दर्पणालेखन-यंत्र के तख्ते या आधार पर पिनों से लगा देता है। स्क्रीन (c) को इस प्रकार थमा देता है कि आकृति तो 'थ' की आँखों से छिप जाय किन्तु 'थ' को आकृति का प्रतिबिंब दर्पण में दीखे। अब 'थ' दर्पण में आकृति के प्रतिबिंब को देखकर तख्ते पर लगे दोहरी लाइन वाले सितारे के बीच में दाहिने हाथ से पेंसिल फेरे। पेंसिल तख्ते पर लगे सितारे पर हो और आँख दर्पण में पड़ रहे प्रतिबिंब पर हो। जहाँ से पेंसिल फेरना शुरू करे वहाँ एक चिह्न बना दो और सितारे की दोनों रेखाओं के बीच पेंसिल फेरते हुए जहाँ से शुरू किया था वहाँ आ जाओ। इस प्रकार सितारे वाले १६ कागज़ों पर एक-एक कर के पेंसिल फेर जाओ। जितने समय में 'थ' यह काम करे, 'त' उसे स्टॉप-वाच द्वारा प्रत्येक आलेखन का अलग-अलग समय नोट कर ले।

सितारे की दोनों रेखाओं को पेंसिल का छूना या काटना अशुद्धि समझा जाता है, प्रत्येक आलेखन में जितना समय लगा और अशुद्धियां हुईं इन दोनों बातों के आधार पर सीखने का 'वक्र-रेखा-चित्र' (Learning Curve) बनाओ। अब पहले आलेखन की अशुद्धि और समय की सोलहवें आलेखन की अशुद्धि और समय से तुलना करो। इस प्रकार पता चलेगा कि अभ्यास के कारण अशुद्धियाँ और सीखने में समय दोनों ही कम हो गये। अब पहली समस्या का परीक्षण समाप्त हुआ। अब दूसरी समस्या का परीक्षण लेते हैं।

समस्या (ख) की परीक्षण-विधि—इस परीक्षण में 'थ' पहला आलेखन बायें हाथ से करेगा। उसके बाद दूसरे से लेकर पन्द्रहवें तक आलेखन दायें हाथ से करेगा। फिर अन्तिम १६वाँ आलेखन बाँये हाथ से करेगा। प्रत्येक आलेखन का समय 'त' स्टॉप-वाच से अलग-अलग नोट करेगा। बांये हाथ से किये प्रथम तथा सोलहवें आलेखन की अशुद्धियों तथा समय की तुलना करने से पता चलेगा कि अशुद्धि तथा समय की मात्रा पहले की अपेक्षा सोलहवें में कम हो गई। अर्थात् अभ्यास तो दाहिने हाथ ने किया, किन्तु उसका प्रभाव बायें हाथ पर भी पड़ा। यह 'सीखने के उभय-पार्श्व स्थानान्तरण' (Bi-lateral transfer of learning) का परीक्षण है।

ये दोनों परीक्षण एक ही 'थ' (Subject) पर एक ही दिन या लगातार न किये जायें क्योंकि इससे परीक्षण पर एक ही दिन के अभ्यास का प्रभाव पड़ सकता है और परिणाम में ग़लती आ सकती है।

परिणाम का प्रयोग—'शिक्षा-मनोविज्ञान' के 'सीखने' के अध्याय में सीखने के सम्बन्ध में थॉर्नडाइक के 'प्रयत्न करके, असफल होकर, फिर सीखने के उपाय'—'प्रयत्न-परीक्षा-विधि'—(Trial and Error Method) का उल्लेख किया गया है। सीखना इसी उपाय से होता है, अतः इस उपाय का 'शिक्षा' में उपयोग करना हितकर है।

६. स्थानापन्न-पूर्ति-विधि द्वारा सीखना

LEARNING BY METHOD OF SUBSTITUTION

समस्या—सीखना किस गति से होता है? शुरू-शुरू में सीखने की क्या गति होती है, विराम ले-लेकर सीखने में क्या गति रहती है—इन सब बातों के आधार पर 'सीखने का वक्र-रेखा-चित्र' (Learning Curve) बन सकता है। सीखने की गति क्या होती है—यह इस परीक्षण द्वारा जानने का प्रयत्न है।

उपकरण तथा सामग्री—स्टॉप-वाच लो। अक्षरों का निम्न प्रकार का नक्शा बनाओ जिसके ऊपर कुछ अक्षर तथा प्रत्येक अक्षर के नीचे उसका अंक दिया हो। अक्षरों के नीचे इतना स्थान रहे ताकि 'थ' अक्षरों के नीचे अंक लिख सके।

१. प्रथम श्रृंखला

प	र	ख	ह	द	च	ग	ल
१	२	३	४	५	६	७	८

ख	द	ह	ल	च	द	ह	ग	र	प	ग	ल	ख	च
च	ग	ह	र	प	ख	ल	च	प	द	ख	र	ग	ह
र	प	ग	च	ल	द	ह	द	र	ग	च	ह	प	ल

प्रथम पंक्ति के अक्षरों के हेर-फेर से ऊपर जैसी १५–२० पंक्तियाँ बना लो।

२. द्वितीय शृङ्खला

य	भ	ट	ध	ग	स	थ	अ
१	२	३	४	५	६	७	८

भ थ स ट य ग अ थ भ ध स ग अ ट य
ट ध ग स थ अ स भ य ग य थ ध भ ट
ग स अ ध ट भ ग ध थ स भ ट य अ थ

द्वितीय शृंखला की प्रथम पंक्ति के हेर-फेर से इस प्रकार की १५–२० पंक्तियाँ बना लो।

परीक्षण-विधि—'त' से इशारा पाकर 'थ' प्रत्येक अक्षर के नीचे वह अंक लिखने लगता है, जो उस अक्षर को दिया गया है। उदाहरणार्थ, प्रथम शृंखला में ख के नीचे ३, द के नीचे ५—इत्यादि। 'थ' के ३० सेकंड तक इस प्रकार अक्षरों के नीचे उनके स्थानापन्न अंकों की पूर्ति करने के बाद 'त' कहता है, 'बस', और 'थ' रुक जाता है। जहाँ तक 'थ' लिख चुका होता है, वहाँ वह एक चिह्न बना देता है। इसके बाद 'थ' ३० सेकंड तक विश्राम करता है। इस प्रकार १२ बार वह अक्षरों के नीचे उनके स्थानापन्न अंक लिखने का प्रयास करता है—प्रत्येक प्रयास ३० सेकंड तक का होता है, और इसके बाद 'थ' ३० ही सेकंड का विश्राम लेता है।

अगर पृथक् व्यक्तियों पर परीक्षण किया जा रहा है, तो एक व्यक्ति को प्रथम शृंखला, और दूसरे को द्वितीय शृंखला दी जा सकती है। इस प्रकार की कई शृंखलाएँ बनाई जा सकती हैं। अनेक शृङ्खलाएँ बनाकर यह परीक्षण विद्यार्थियों के समूह पर भी किया जा सकता है।

परिणाम का प्रयोग—इस परीक्षण में क्योंकि अक्षरों के स्थान में उनके अंक लिखे जाते हैं, और बार-बार एक अक्षर के नीचे उसका अंक लिखा जाता है, इसलिए ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता है, त्यों-त्यों अक्षरों के नीचे स्थानापन्न अंकों की पूर्ति (Substitution) जल्दी-जल्दी होने लगती है। पहले आध मिनट में कितनी 'स्थान-पूर्ति' (Substitution) हुई, दूसरे में कितनी, तीसरे में कितनी—इस प्रकार 'सीखने का वक्र-रेखा-चित्र' (Learning Curve) बन सकता है। यह 'रेखा-चित्र' बनाते हुए प्रत्येक आध मिनट में जो अंक ठीक लिखे गए हैं, उनकी संख्या

अलग लिख लो, जो अशुद्ध लिखे गए हैं, उनकी संख्या अलग लिख लो, और इस प्रकार पता लगाओ कि पहले प्रयास से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में—और इस प्रकार आगे-आगे क्या फ़र्क पड़ता गया है।

इस परीक्षण से यह पता चलता है कि किसी बात को सीखने में बालक को कितना समय लग जाता है।

१० तथा ११. क्रमिक तथा यौगपदिक वर्ण-विरोध

VISUAL AFTER-IMAGE OR SUCCESSIVE AND SIMULTANEOUS COLOUR CONTRASTS

(क) क्रमिक वर्ण-विरोध की घटनाएँ

(PHENOMENA OF SUCCESSIVE COLOUR CONTRASTS)

समस्या—जब हम किसी रंग को कुछ देर तक देखते रहें तब उस रंग को देखना छोड़ देने के बाद सफ़ेद दीवार पर देखने से कौन-सा रंग दिखाई देगा, कौन-सा रंग अपने-आप दीखने लगेगा—यह हम जानना चाहते हैं, यह हमारी समस्या है।

उपकरण तथा सामग्री—एक टेबल लो, भूरे रंग का बड़ा-सा काग़ज लो। टेबल पर भूरा काग़ज लगेगा, उसके ऊपर हरा चौकोर काग़ज और हरे चौकोर काग़ज के ऊपर लाल 'क' का अक्षर; लाल चौकोर काग़ज के ऊपर हरा 'क' का अक्षर। इसी तरह पीला चौकोर काग़ज और पीले चौकोर काग़ज के ऊपर नीला 'क' का अक्षर; नीला चौकोर काग़ज और नीले चौकोर काग़ज के ऊपर पीला 'क' का अक्षर।

परीक्षण-विधि—टेबल पर भूरे रंग का काग़ज लगा दो और उस काग़ज पर बीच में पेंसिल से एक निशान बना दो। फिर भूरे रंग के काग़ज पर लाल चौकोर काग़ज रखो और लाल चौकोर काग़ज पर हरा 'क' का अक्षर रख दो। 'क' का हरा अक्षर लाल चौकोर काग़ज पर इस प्रकार रखो जिससे भूरे रंग के काग़ज पर जहाँ निशान बनाया था वहाँ 'क' का अक्षर आये। अब 'परीक्षार्थी' इस हरे 'क'-अक्षर पर १५–२० सेकण्ड तक लगातार देखे। फिर 'परीक्षण-कर्ता' 'क' के अक्षर तथा उसके पीछे

के लाल चौकोर काग़ज़ को हटा दे और परीक्षार्थी भूरे रंग के काग़ज़ के उस स्थान को कुछ देर तक देखता रहे जहाँ निशान बना था। जैसे यह परीक्षण लाल और हरे रंग से किया गया, वैसे ही इस परीक्षण को पीले-नीले तथा काले-सफ़ेद से भी करो। इसके बाद 'परीक्षार्थी' 'परीक्षण-कर्ता' बन जाय, और 'परीक्षण-कर्ता' 'परीक्षार्थी' बन जाय और उक्त परीक्षण को जैसे पहले किया था, वैसे करे।

परिणाम का प्रयोग—इस परीक्षण का यह परिणाम निकलेगा कि हरे 'क' के अक्षर को लाल चौकोर काग़ज़ पर देखने के बाद जब इन दोनों काग़ज़ों को हटा लिया जायगा, तो भूरे रंग के काग़ज़ पर कुछ न होते हुए भी लाल चौकोर काग़ज़ के स्थान पर हरा चौकोर तथा हरे 'क' के स्थान पर लाल 'क' दीखने लगेगा। इसी प्रकार पीले की जगह नीला, सफ़ेद की जगह काला और नीले की जगह पीला और काले की जगह सफ़ेद रंग दीखेगा। ये रंग एक के बाद दीखते हैं, और एक-दूसरे के विरोध में हैं, इसलिए इस घटना को 'क्रमिक वर्ण-विरोधी घटना' कहा जाता है।

(ख) यौगपदिक वर्ण-विरोधी घटनाएँ

VISUAL AFTER-IMAGE OR PHENOMENA OF SIMULTANEOUS COLOUR CONTRASTS

समस्या—पहले के उदाहरण में हमने हरे 'क' को हटा लिया और हमें लाल 'क' दीखने लगा, परन्तु अगर हरे 'क' को हटाया न जाय, अर्थात् अगर वह सामने बना रहे, तब हरे 'क' के साथ-साथ अर्थात्, 'युगपद्' (Simultaneous) हमें कौन-से रंग दीखेंगे—यह हमारी समस्या है।

उपकरण तथा सामग्री—लाल, हरा, नीला, पीला, काला, सफ़ेद—इन छः रंगों के चौकोर काग़ज़ लो। इसी प्रकार काला, भूरा तथा सफ़ेद रंगों के कुछ आयताकार छोटे-छोटे काग़ज़ बना लो। भूरे रंग का एक छोटा तथा काले रंग का एक बड़ा क्रौस काट लो। छहों रंग के चौकोरों को ढकनेवाला एक बड़ा पतला काग़ज़ (टिश्यू पेपर) ले लो। टेबल पर रखने के लिए एक बड़ा भूरे रंग का काग़ज़ मंगा लो।

परीक्षण-विधि—'परीक्षण-कर्ता' पहले टेबल पर भूरे रंग का काग़ज लगा दे। फिर उसके ऊपर लाल रंग का चौकोर काग़ज लगाये। इस चौकोर लाल काग़ज के केन्द्र में, इसके बीच अब आयताकार काला टुकड़ा रखे और उसे पतले टिश्यू पेपर से ढक दे। 'परीक्षार्थी' को काले आयताकार टुकड़े पर दृष्टि केन्द्रित करने को कहे और उसे इस काले टुकड़े के किनारों के साथ-साथ जो रंग दिखाई दे उसे लिखने को कहे। इसी प्रकार लाल के बाद हरा, नीला, पीला, काला, सफ़ेद—इन चौकोर काग़जों पर आयताकार काले टुकड़े का परीक्षण करे। फिर इन्हीं चौकोर काग़जों पर क्रमशः भूरे और सफ़ेद आयताकार टुकड़ों का परीक्षण करे। जब ये सब परीक्षण हो जायें, तब 'परीक्षण-कर्ता' 'परीक्षार्थी' की जगह ले ले, और 'परीक्षार्थी' 'परीक्षण-कर्ता' की जगह ले ले और ये लोग उसी प्रकार परीक्षण करें।

परिणाम का प्रयोग—इन परीक्षणों का परिणाम यह निकलता है कि अगर किसी रंगीन वस्तु पर हम कुछ देर तक देखते रहें, तो कुछ देर पीछे उस वस्तु के आस-पास, उसके किनारे उस रंग के उल्टे रंग से रंजित दीखने लगते हैं। भूरे रंग के आयताकार टुकड़े अगर लाल रंग के चौकोर काग़ज पर रखे जायें, तो भूरे रंग के काग़ज के किनारे हरे रंग के दीखने लगते हैं। यही अन्य परस्पर-विरोधी रंगों के विषय में कहा जा सकता है। टिश्यू-पेपर इसलिए रखा जाता है जिससे जिस किसी भी रंग के काग़ज पर हम परीक्षण कर रहे हैं उसके किनारे ढक जायें और सारा-का-सारा काग़ज एक-सा दीखे। क्रमिक-वर्ण-विरोध और यौगपदिक-वर्ण-विरोध में यह भेद है कि क्रमिक में 'बाह्य-उत्तेजक' (Stimulus) हटा लिया जाता है, यौगपदिक में वह हटाया नहीं जाता।

१२. परिमाण-भार-भ्रम

SIZE-WEIGHT ILLUSION

समस्या—अगर एक ही भार और शक्ल की दो चीजें हमारे सामने हों, परन्तु एक का परिमाण बड़ा और दूसरी का छोटा हो, तो उन दोनों को उठाने में बड़े परिमाण की वस्तु हल्की और छोटे परिमाण की भारी लगती है। इसका कारण यह है कि बड़े परिमाण की वस्तु को उठाने के लिए हमारी मांस-पेशियाँ ज्यादा शक्ति से काम करती हैं, और छोटे परिमाण का

भार भी थोड़ा समझ कर मांस-पेशियाँ कम शक्ति से काम करती हैं। इसलिए अगर शक्ल में एक-सी छोटी-बड़ी समान-भार की दो वस्तुओं को हमने उठाना हो, तो समान-भार होने पर भी छोटी वस्तु ज्यादा भारी महसूस होती है, बड़ी वस्तु कम भारी महसूस होती है। बड़ी का इस प्रकार कम भारी प्रतीत होना एक भ्रम है और इसे 'परिमाण-भार-भ्रम'
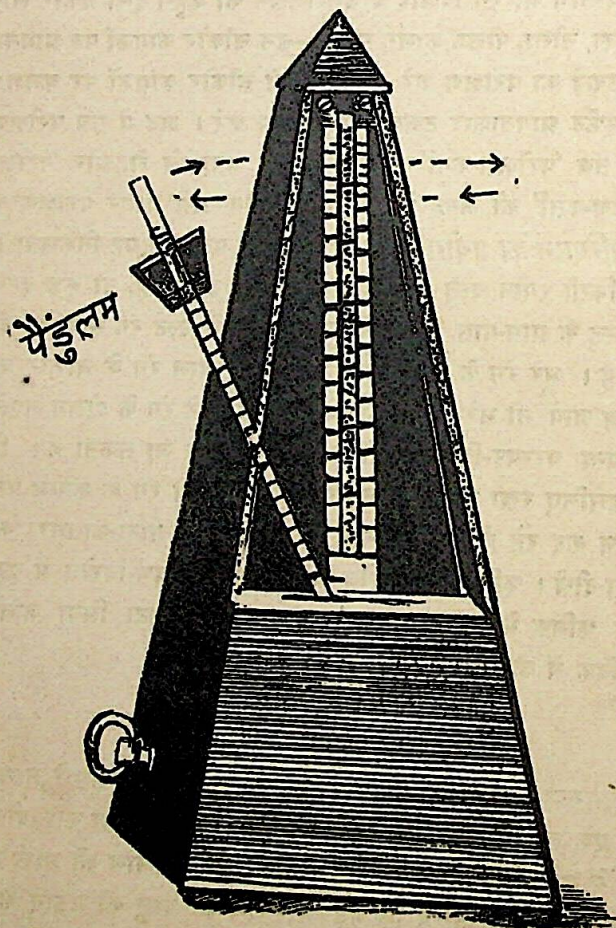
मैट्रोनोम

(Size-weight illusion) कहते हैं। यह भ्रम की मात्रा हर-एक की एक-सी नहीं होती। किस को कितना 'परिमाण-भार-भ्रम' है—इसे मापना हमारी समस्या है।

उपकरण तथा सामग्री—१० डब्बे एक ही शक्ल के लो जिनका परिमाण तो समान हो, परन्तु भार अलग-अलग हो। सब से कम भार का डब्बा ६४ ग्राम का हो, उसके बाद दो-दो ग्राम वजन का भेद डालते जाओ। डब्बों पर १, २, ३, ४ आदि नंवर डाल दो। एक पर्दे की जगह बना लो जहाँ से 'परीक्षार्थी' को यह न पता चले कि कौन-सा डब्बा भार की परीक्षा के लिए लाया जा रहा है। एक मैट्रोनोम लो। मैट्रोनोम, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है, उस उपकरण को कहते हैं जिसमें क्लॉक की तरह परन्तु क्लॉक से उल्टा ऊपर को मुँह किये एक पैंडुलम लगा होता है और जिससे किसी काम के विषय में यह जाना जा सकता है कि वह शीघ्र हुआ या उसके करने में देर लगी। इससे चाहें तो एक सेकण्ड में एक बार या दो सेकण्ड में एक बार जैसे पैंडुलम की घड़ी 'टन' करती है वैसे 'टन' का शब्द करा सकते हैं।

परीक्षण-विधि—हल्के डब्बे से परीक्षण शुरू करो। इन डब्बों में से एक डब्बा स्टैण्डर्ड डब्बा माना जायगा। मान लो कि ७० ग्राम का डब्बा स्टैण्डर्ड डब्बा है जिससे हम जानना चाहते हैं कि दूसरे डब्बे हल्के हैं या भारी। स्टैण्डर्ड डब्बे का ज्ञान परीक्षार्थी को पहले से होना चाहिए। हल्के डब्बे को जब परीक्षार्थी को दिया जाता है तब जिस डब्बे को हाथ में लेकर वह निश्चित तौर से कह सकता है कि यह स्टैंडर्ड से हल्का है वह उसके भार के ज्ञान की पहली सीमा है। जब दो बार परीक्षण करने पर उसी डब्बे को वह स्टैंडर्ड से कम भार का कहे तब उस सीमा को उस व्यक्ति के लिए निश्चित मान लिया जाता है। इसी प्रकार स्टैंडर्ड डब्बे के भार से ज्यादा भार वाले डब्बों को परीक्षार्थी को दिया जाता है। जिस डब्बे को लेकर वह निश्चित रूप से कह सकता है कि यह स्टैंडर्ड से भारी है वह उसके भार के ज्ञान की दूसरी सीमा है। यह सीमा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर परीक्षण करने से सब की भिन्न-भिन्न पायी जाती है। कोई ७० ग्राम के बाद ७२ ग्राम पर अनुभव करेगा, कोई ७४ पर, कोई ७६ पर, इसी प्रकार नीचे की

तरफ़ जाते हुए कोई ६८ पर, कोई ६६ पर, कोई ६४ पर अनुभव करेगा। 'परीक्षार्थी' तथा 'परीक्षण-कर्ता' एक-दूसरे के काम को बदल कर देख सकते हैं।

परिणाम का प्रयोग—उक्त परीक्षण में दो बातें प्रकट होंगी। एक तो यह कि वस्तु का परिमाण अगर कम हो जाय परन्तु भार वही रहे, तो बड़े परिमाण की वस्तु अपने से छोटी के समान भार की होने पर भी उससे हल्की प्रतीत होगी। दूसरे यह कि यह ज्ञान सब का एक-सा न होकर भिन्न-भिन्न होता है।

१३. स्थानात्मक-सीमा या प्रत्यय-माप का परीक्षण

SPATIAL THRESHOLD OR AESTHESIOMETERIC INDEX

समस्या—अगर त्वचा पर एसथैशियोमीटर (प्रत्यय-मापक यंत्र) या परकार की दो नोकों से एक-साथ छूआ जाय, तो एक नोक से दूसरी नोक की कुछ दूरी तक तो दो नोकें अनुभव होती हैं, परन्तु अगर उन दोनों को पास-पास लाया जाय, तो एक सीमा ऐसी आ जाती है जब दो नोकों का अनुभव होने के स्थान में दोनों नोक एक ही नोक अनुभव होने लगती हैं। अंगुली के सिरे पर परकार के नोकों की दूरी १ मिलीमीटर से बढ़े तो दो नोकें अनुभव होती हैं, इससे कम में दोनों नोकों का अनुभव एक नोक का-सा होता है, होठों पर यह दूरी ५ मिलीमीटर, माथे पर २३ मिलीमीटर, हथेली की पीठ पर ३२ मिलीमीटर, पीठ के मध्य-भाग पर ७० मिलीमीटर पायी गई है। इस दूरी को त्वचा के स्थान की दूरी होने के कारण 'स्थानात्मक-सीमा' (Spatial threshold) तथा अनुभव अर्थात् प्रत्यय की माप होने के कारण 'प्रत्यय-माप सूचक' (Aesthesiometeric index) कहते हैं। दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। हम किसी व्यक्ति की पीठ या त्वचा के किसी भाग के बिना रोयेंवाले स्थान की स्थानात्मक-सीमा का पता लगाना चाहते हैं, यही हमारी समस्या है। रोयेंवाले स्थान पर परीक्षण इसलिए नहीं किया जाता क्योंकि रोयें हिलने से संवेदना पर प्रभाव पड़ जाता है।

उपकरण तथा सामग्री—प्रत्यय-मापक-यंत्र (Aesthesiometer[1]) यह यंत्र, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है, परकार की तरह का होता है जिसमें दो नोकें होती हैं, और ऊपर एक स्केल लगा होता है, जिस पर मिली-मीटर के १०० तक के चिह्न बने होते हैं और इन चिह्नों में से जिस चिह्न को सूचित करना हो उस पर सूई लगा दी जाती है। एसथैशियोमीटर के अतिरिक्त मैट्रोनोम भी लो।
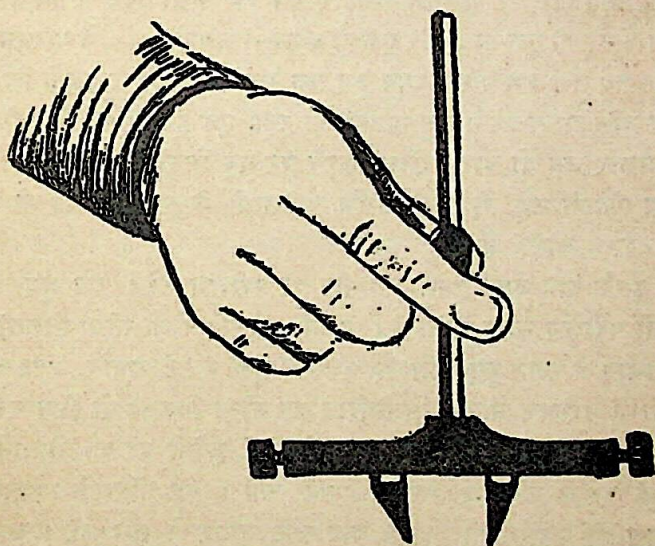
ऐसथैशियोमीटर या प्रत्यय-मापक-यंत्र

परीक्षण-विधि—'परीक्षार्थी' आँखें बन्द कर टेबल के सामने बैठ कर उसके ऊपर आराम से हाथ रख दे। हथेली के पिछले भाग की हमने 'स्थानात्मक-सीमा' देखनी है। 'परीक्षण-कर्ता' हथेली की पीठ पर उस

---

1. Aesthesiometer : Gr. : Aisthesis=Perception; metron=measure. An instrument for testing the tactile sensibility of the human body in health and disease.

जगह स्याही से निशान बना दे जिस स्थान पर परीक्षण करना है। जैसे ही मैट्रोनोम से 'टन' की आवाज़ हो वैसे ही एसथैशियोमीटर की दोनों नोकों को हथेली की पीठ पर मैट्रोनोम के दो 'टन' होने तक रखो, अर्थात् दो सेकण्ड तक रखो।

पहली बार का परीक्षण दायीं हथेली की पीठ पर करो। 'परीक्षण-कर्ता' कहे—'तय्यार' और फिर मैट्रोनोम के 'टन' करते ही 'परीक्षार्थी' के हाथ की पीठ पर 'एसथैशियोमीटर' की ४० मिलीमीटर के फ़ासले की दोनों नोकों को एक-साथ और एक ही दबाव से लगाये। ४० के बाद मिली-मीटर तब तक कम करता जाय जब तक 'परीक्षार्थी' यह न कह दे कि अब दोनों नोकें अलग-अलग अनुभव नहीं हो रहीं, एक ही अनुभव हो रही हैं। इस प्रकार जब दो बार परीक्षण करने पर वह मिलीमीटरों की दूरी की संख्या एक ही कहे, तो समझ ले कि 'परीक्षार्थी' के हाथ की पीठ की यही 'स्थानात्मक-सीमा' है।

इसके बाद बायीं हथेली की पीठ पर परीक्षण करे। यह शुद्ध तथा असली परीक्षण माना जाता है। दायीं हथेली पर जो सीमा निकली थी उसे ध्यान में रखते हुए पहले बड़े नंबर से शुरू करे। अर्थात्, अगर दायीं हथेली के परीक्षण में ३० मिलीमीटर वह सीमा निकली थी जिस पर दो नोकों का अनुभव बन्द हो गया था, तो बायीं हथेली पर ४० मिलीमीटर से शुरू कर के उसे ३५, फिर ३० तक लाये। यह सीमा के उतराव से परीक्षण की पद्धति है। इसके बाद छोटे नम्बर से शुरू करे। अर्थात्, २० से शुरू करके उसे २५, फिर ३० तक लाये। यह सीमा के चढ़ाव से परीक्षण की पद्धति है। उतराव-चढ़ाव से परीक्षण करके उसे ठीक या ग़लत सिद्ध करना 'सीमा-पद्धति' (Method of Limits) कहाता है। बड़े नम्बर से शुरू करने का अर्थ है कि 'परीक्षार्थी' को उस सीमा में दो नोकें अनुभव हो रही हैं। नम्बर कम करते-करते हम उस सीमा पर आ पहुँचेंगे जहाँ परीक्षार्थी कह देगा—'एक'—अर्थात्, अब दो नोकें अनुभव न होकर दोनों 'एक' अनुभव हो रही हैं। छोटे नम्बर से शुरू करने का अर्थ है कि 'परीक्षार्थी' को उस सीमा में दो नोकों की एक ही नोक अनुभव हो रही है। नम्बर ज्यादा करते-करते हम उस सीमा पर आ पहुँचेंगे

जहाँ परीक्षार्थी कह देगा--'दो'—अर्थात्, अब दो नोकें एक अनुभव होने के स्थान में दो अनुभव होने लगी हैं। तो फिर 'स्थानात्मक-सीमा' क्या हुई ? ऊपर से नीचे आने में जिस मिलीमीटर पर परीक्षार्थी 'एक' कहता है, और नीचे से ऊपर जाने में जिस मिलीमीटर पर वह 'दो' कहता है, इन दोनों मिलीमीटरों का मध्य-मान ही 'स्थानात्मक-सीमा' कहाती है।

परिणाम का प्रयोग—जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, इन परीक्षणों से हथेली की पीठ, उंगली की नोक, ओष्ठ आदि भिन्न-भिन्न स्थानों की 'स्थानात्मक-सीमा' अलग-अलग है, इसका ज्ञान हो जाता है।

१४. तात्कालिक-स्मृति का विस्तार (श्रवणाश्रित)

SPAN OF IMMEDIATE MEMORY (AUDITORY)

समस्या—हम यह जानना चाहते हैं कि 'परीक्षार्थी' की कानों से सुनने पर (श्रवणाश्रित) तात्कालिक-स्मृति का विस्तार कितने अंकों (Digits) या अक्षरों (Letters) का है।

उपकरण तथा सामग्री—एक स्टॉप वाच, एक मैट्रोनोम तथा भिन्न-भिन्न अंकों या अक्षरों की तीन लिस्टें जिनमें एक-एक अंक या एक-एक अक्षर क्रमशः बढ़ता चला जाय। अंक या अक्षर तीन अंकों या अक्षरों से शुरू हों, बाद को एक-एक अंक या अक्षर बढ़ता जाय—यहाँ तक कि बढ़ते-बढ़ते इनकी संख्या १२ तक पहुँच जाय। अक्षरों में स्वर न हों, व्यंजन ही हों क्योंकि स्वरों के होने से शब्द बन जाते हैं जिन्हें 'परीक्षार्थी' याद रख सकता है।

अंकों की तीन लिस्टें निम्न प्रकार की हो सकती हैं :—

४९७	१५९	७३५
८७६४	७३८६	६४९३
५१९८२	१९५८७	३७५८१
४५७२९३	१६८७३५	५९७३५८
आदि-आदि	आदि-आदि	आदि-आदि

परीक्षण-विधि—'परीक्षण-कर्ता' पहली लिस्ट के प्रथम अंकों को पढ़ता है और मैट्रोनोम की प्रत्येक टन के साथ जो एक-एक सेकण्ड के बाद होती है,

एक-एक अंक को बोलता है। 'परीक्षार्थी' उस लिस्ट के अंकों को दोहराता है। उसे कहा जाता है कि अंकों को याद रखने के लिए उनकी शक्ल को ध्यान में न लाये, सिर्फ़ जैसा सुना वैसा दोहरा दे। इस प्रकार वह १२ अंकों तक की राशियों को मैट्रोनोम की टन-टन के पीछे बोलता है और 'परीक्षार्थी' दोहराता है। जहाँ 'परीक्षार्थी' ग़लती करता है वहीं 'स्टॉप-वाच' से उसे रोक कर अगली लिस्ट पढ़ी जाती है। इस प्रकार तीनों लिस्टें पढ़ी जाती हैं और तीनों को परीक्षार्थी फ़ौरन दोहराता है।

परिणाम का प्रयोग—'परीक्षार्थी' तीनों लिस्टों की राशियों में जितने अंक तत्काल दोहरा सकता है उन अंकों का मध्य-मान उसकी 'तात्कालिक-स्मृति का विस्तार' (श्रवणाश्रित) समझा जाता है। परीक्षणों से पता चला है कि श्रवणाश्रित तात्कालिक-स्मृति का कालेजों में पढ़ने वाले छात्रों का मध्यमान ७ तथा ४ से ६ वर्ष के बच्चों का मध्यमान ४ अंक या अक्षर है।

१५. तात्कालिक-स्मृति का विस्तार (दर्शनाश्रित)

SPAN OF IMMEDIATE MEMORY (VISUAL)

समस्या—हम यह जानना चाहते हैं कि 'परीक्षार्थी' की आँखों से देखने पर (दर्शनाश्रित) तात्कालिक-स्मृति का विस्तार कितने अंकों या अक्षरों का है।

उपकरण तथा सामग्री—इस परीक्षण के लिए 'स्मृति-यंत्र' (Memory apparatus) का प्रयोग किया जाता है। यह यंत्र लिपमैन का स्मृति-यंत्र कहलाता है। इस यंत्र में आवश्यकतानुसार बिजली द्वारा गोलाई में घूमने वाला एक ढोलक-सा होता है। उस पर अक्षरों की सूची चिपका दी जाती है। सूची की प्रत्येक पंक्ति घूमते हुए ढोलक द्वारा यंत्र की खिड़की से क्रमशः निश्चित सेकंडों के लिए दिखाई देती है जिन्हें 'थ' तुरंत याद करने का प्रयत्न करता है। सामग्री निम्न प्रकार बनाई जा सकती है। सूचियां तीन-चार, जैसा चाहें, बना सकते हैं:

प ल त	स व ह	च घ र
ट क र ज	घ द क छ	स ल भ ख
भ र स ब च	ज ह य ल म	र ध ज ठ प
इत्यादि	इत्यादि	इत्यादि
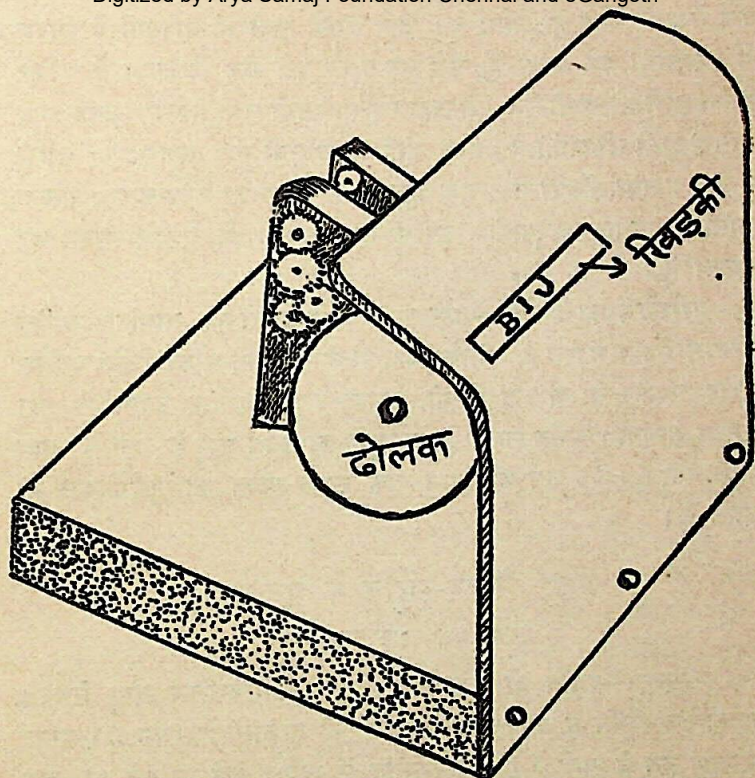
लिपमैन का स्मृति-यंत्र

परीक्षण-विधि—उक्त तीनों सूचियों में से प्रत्येक सूची को बारी-बारी से यंत्र के ढोलक पर चढ़ा कर 'परीक्षार्थी' के सामने सूची की एक-एक पंक्ति को यंत्र की खिड़की से दो-दो सेकंड के लिए दिखाया जाता है।

जब पहली पंक्ति दिखा दी जाती है और वह सामने से हटा ली जाती है तब 'परीक्षार्थी' को तुरंत उसे दोहराने को कहा जाता है। फिर दूसरी, फिर तीसरी—इस प्रकार पंक्तियाँ दिखाई जाती हैं। शुरू-शुरू में तो ३, ४, ५ अक्षर होते हैं जिन्हें वह तुरंत आसानी से दोहरा देता है, परन्तु ज्यों-ज्यों अक्षरों की संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसके लिए इन अक्षरों को याद

रख सकना कठिन हो जाता है। जहाँ पहली सूची की पंक्तियों के स्मरण में परीक्षार्थी रुक जाता है, वहाँ वह सूची बन्द कर दी जाती है। फिर दूसरी सूची ली जाती है। इसे जहाँ वह आगे नहीं चला सकता, उसके बाद तीसरी सूची ली जाती है। अगर कोई पहली सूची में ८ अक्षर तक, दूसरी में ७ तक तथा तीसरी में ६ तक पहुँचता है, तो उसका मध्य-मान ७ समझा जाता है, अर्थात् आनुपातिक रूप में वह ७ अक्षरों को तत्काल स्मरण कर सकता है।

परिणाम का प्रयोग—सामान्यतः ६–७ अक्षरों तक साधारण व्यक्ति तत्काल दोहरा सकता है, इसके बाद जिसकी स्मृति-शक्ति जितने अधिक अक्षर तत्काल स्मरण रख सकेगी, उसका स्मृति-विस्तार उतना ही बड़ा समझा जायगा। न्यूमैन कहता है कि स्मृति का संबंध आयु के बढ़ने के साथ पाया गया है। २५ वर्ष की आयु तक स्मृति-शक्ति का पूर्ण-विकास हो जाता है।

१६. स्थिर-स्मृति के परीक्षण

PERMANENT MEMORY

समस्या—स्मृति दो तरह की होती है, तात्कालिक तथा स्थिर। तात्कालिक-स्मृति में व्यक्ति सुने या देखे को तत्काल दोहराता है। इसके परीक्षण हम दे आये हैं। स्थिर-स्मृति में व्यक्ति देखे या सुने को कुछ अर्से बाद दोहराता है। हम किसी व्यक्ति की स्थिर-स्मृति को जानना चाहते हैं, यह हमारी समस्या है। स्थिर-स्मृति को जानने के कुछ परीक्षण किये जाते हैं जिनमें से दो निम्न हैं :—

(१) सीखने और कम दोहराने के तरीके का स्थिर-स्मृति संबंधी परीक्षण (The Learning and Saving Method)—निरर्थक-शब्दों की एक सूची बनाओ। इस सूची को काग़ज़ की एक लम्बी पत्ती पर लिखो। इस पत्ती को एक सिलिन्डर पर इस प्रकार लपेट दो कि जब इसे घुमा कर पत्ती को खोला जाय, तब एक-एक निरर्थक-शब्द दिखाई दे। अब 'परीक्षार्थी' को सामने बैठाकर इस पत्ती को खोलते जाओ और प्रत्येक शब्द 'परीक्षार्थी' के सामने कुछ देर तक रखो। जब वह सब शब्द देख

ले, तब उसे इन निरर्थक-शब्दों की सूची को दोहराने को कहो। अगर पहली बार में न दोहरा सके, तो दूसरी बार सिलिन्डर को घुमाकर दिखाओ, तीसरी बार घुमाओ, जब तक वह सब शब्दों को ठीक-ठीक न दोहरा दे तब तक घुमाओ और जितनी बार दिखाने पर उसे सब शब्द क्रम बार याद हो जायें, वह संख्या लिख लो। दो-तीन सप्ताह बाद जब वह इस सूची को भूल जाय, तब फिर इसी सूची को उसी तरह से दिखा कर याद कराओ।

परिणाम यह निकलेगा कि दूसरी बार याद करने में 'परीक्षार्थी' को पहली बार से कम बार उन शब्दों को देखना पड़ेगा क्योंकि पहली बार की स्मृति के कुछ स्थिर संस्कार उसमें अब भी बने होंगे।

(२) प्रेरणा करने के तरीके का स्थिर-स्मृति संबंधी परीक्षण (The Prompting Method)—इस तरीके में भी 'परीक्षार्थी' को निरर्थक-शब्दों—सहप, टकख आदि—की सूची पहले परीक्षण की तरह बार-बार दिखाई जाती है, और एक बार दिखाने के बाद उसे सारी सूची को दोहराने के लिए कहा जाता है। इस प्रकार दिखाते-दिखाते जब वह आधी सूची याद कर लेता है, तब सूची दिखाना बन्द कर दिया जाता है। कुछ देर बाद उसे सारी सूची दोहराने को कहा जाता है और वह प्रेरणा करने वाले की सहायता से सारी सूची दोहरा देता है। जहाँ-जहाँ वह अटकता है, वहाँ-वहाँ उसे सहारा दिया जाता है। सारी सूची याद करने के लिए जिस व्यक्ति को जितनी बार सहारा दिया जाता है उसी को सामने रखते हुए उस व्यक्ति की स्थिर-स्मृति की कल्पना कर ली जाती है। जिसे कम सहारा देना पड़े, उसकी ज्यादा और जिसे अधिक सहारा देना पड़े उसकी कम स्थिर स्मृति मानी जाती है।

शब्द-सूची तथा अनुक्रमणिका
(Glossary and Index)

नामानुक्रमणिका
(Name Index)